आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांचतक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार जीवकाण्ड की
पं.टोडरमलजी कृत भाषाटीका

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

(जीवकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि)

का

हिन्दी अनुवाद

भाग १

– अनुवादिका –

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

एम.बी.बी.एस., डी.सी.एच., डी.जी.पी.

– सम्पादक –

पं. दिनेशभाई शहा

एम.ए., एल.एल.बी.

– प्रकाशक –

वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९, निर्मला निवास, सायन (पूर्व), मुंबई ४०००२२

टेलि. : ०२२–२४०७३५८१

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका–जीवकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि

हिन्दी टीका

तृतीय संस्करण	८ मार्च २०१८	१००० प्रत
दो संस्करण		२६०० प्रत
		योग ३६०० प्रत

दातारों की नामावली

दातार	**रुपये**
जिनेश एवं निशा शेठ, अहमदाबाद	५१,०००
श्रीमद् राजचन्द्र आध्यात्मिक साधना केन्द्र, कोबा	२१,०००
प्रशांत मणिलाल गाला, देवलाली	२०,०००
नवरंगपुरा मुमुक्ष मंडल, अहमदाबाद	१५,०००
प्रवीण रहाटे, ऑस्ट्रेलिया	१०,०००
दीपाली पाटील, बेंगलोर	८,६५०
नवलगुंड, हुबळी	५,१००
श्रीमती लक्ष्मी शशांक शहा, मुंबई	५,०००
श्रीमती अलका राजीव जैन, दिल्ली	५,०००
श्रीमती वर्षा रमणिक सत्रा, मुंबई	५,०००
सुमतिकुमार सेठिया, दिल्ली	५,०००
सुमेरचंद बेलोकर, मुंबई	५,०००
त्रिलोक कोठारी, मुंबई	२,५००
श्रीमती नीता डेढिया, मुंबई	२,५००
रवीन्द्रकुमार जैन, दिल्ली	१,९००
प्रियंका, करण, मंजू भरत दोशी, ठाणा	१,५००
श्रीमती प्रगति रमेश शहा, फलटण	१,०००
श्रीमती अनिता सूर्यकांत कुसनाले, सांगली	५००

मूल्य रु. १५० (भाग १ और २)

अहो नेमिचन्द्राचार्य का करुणाभाव अपार ।
चामुण्डराय के प्रश्न पर लिखा गोम्मटसार ।।

कर्णाटकभाषा में चामुण्डराय टीकाकार ।
केशववर्णी संस्कृत टीका है तदनुसार ।।

महाबुद्धिमान टोडरमल सद्दृष्टि के धार ।
ढूंढारी में ग्रंथ लिखा करी के अतिविस्तार ।।

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नाम सुना बहुबार ।
पढ़ने को ललचायी मैं साहस करी अपार ।।

पति के साथ कर दिया ग्रंथ पठन को पार ।
पढ़ते गये, करते गये चर्चा बारम्बार ।।

टोडरमलजी पंडित मिले हमें परोक्ष गुरुवर ।
ज्ञानखजाना खोल दिया लूटे हम जीभर ।।

पढ़ा पढ़ाया ग्रंथ को मैंने अनेकों बार ।
तब हमरी बुद्धि हुयी छापे इसे दुबार ।।

मन्दबुद्धि मैं, अनुवाद का विषय अति गम्भीर ।
टोडरमलजी के शब्दों ने दिया परंतु धीर ।।

'उज्ज्वल' मेरी मति हुयी मैंने पाया सार ।
'जीवकाण्ड' सब जीव पढ़े मोक्षमार्ग सु धार ।।

–डॉ. श्रीमती उज्ज्वला शहा

– हमारे प्रकाशन –

१) जैनतत्त्व परिचय	– मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश	रु.	१५
२) कारण कार्य रहस्य	– मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश	रु.	१५
३) करणानुयोग परिचय	– मराठी, हिन्दी, गुजराती	रु.	१५
४) पंचलब्धि	– मराठी, हिन्दी, गुजराती	रु.	१५
५) भक्तामरस्तोत्र प्रवचन	– मराठी	रु.	१५
६) स्वानुभव	– मराठी	रु.	६
७) परमात्मा कसे बनाल!	– मराठी	रु.	६
८) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि	– हिन्दी	रु.	१५०
९) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि	– हिन्दी	रु.	१५०
१०) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लब्धिसार – क्षपणासार एवं अर्थसंदृष्टि	– हिन्दी	रु.	१००
११) जैन भूगोल	– हिन्दी, गुजराती	रु.	५०

– प्राप्तिस्थान –

अमित जैन

द्वारा डीटीडीसी कुरियर अँड कार्गो लिमिटेड

३३१२ लाल गल्ली, दिल्ली गेट,

दरियागंज, दिल्ली ११०००२

टेलि. : ९८११३९३३५६/९८९९५५४१६९

वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९, निर्मला निवास, सायन (पूर्व), मुंबई ४०००२२

टेलि. : ०२२–२४०७३५८१

Email - ujwaladinesh@yahoo.com

– प्रकाशकीय –

प्रकाशकीय शुरु करने के पूर्व मुझे पुरानी याद आयी और उसे कहे बिना मैं आगे बढ़ न सकूंगा इसलिये कहता ही हूँ ।

सन १९९३ की बात है । बुक स्टॉल पर अन्य ग्रंथों के साथ करणानुयोग के कुछ ग्रंथ भी मौजूद थे । डॉ. श्रीमती उज्ज्वला के आग्रह पर हमने पं. टोडरमलजी लिखित 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' के तीनों ग्रंथ जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड और लब्धिसार-क्षपणासार खरीद लिये । खरीदते समय बहुत उत्साह था और सोच यह थी क्यों न हम करणानुयोग का भी अभ्यास करें ?

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका-जीवकाण्ड पढ़ना प्रारंभ किया । पचास एक पृष्ठ पढ़ने के बाद यह बात समझने में आने लगी कि मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ । मैंने अपनी पत्नी से कहा ''उज्ज्वला, अब बस भी करो, अपना द्रव्यानुयोग ही अच्छा है, इसे यहीं रोक देते हैं ।'' लेकिन उसने कहा ''नहीं ! हम पढेंगे ही, ऐसे बीच में ही छोड़ देना अच्छी बात नहीं है ।'' स्त्री हठ के सामने किसकी चली है ? और वह भी शास्त्राभ्यास के लिये ? और था तो वह हठ अच्छे के लिये ।

जैसे जैसे हम आगे पढ़ते गये - वहां अनवस्था कुण्डों की और उनके सरसों की गिनती पढ़ते-सुनते हुये मेरी भी अनवस्था (दुरवस्था) होने लगी । प्रमादों के भेद गिनते गिनते इससे अप्रमत्त अवस्था प्राप्त करना अधिक सुलभ होगा ऐसा लगने लगा । इसतरह अनेक वैचारिक रोक आने पर भी ग्रंथ आद्योपांत पढ़ा और जब आखिर में बीस प्ररूपणावाले यंत्र (Table) ग्रंथ में पढ़ने से पूर्व हम स्वयं सुलझाकर बाद में पुस्तक में देखते तब पता लगा की करणानुयोग में भी हम काफी कुछ समझने लगे हैं ।

पं. टोडरमलजी की यह असामान्य कृति हम जैसे मंदबुद्धियों पर इतना गहरा असर कर रही है तो यही ग्रंथ हिन्दी में क्यों न अनुवादित किया जाय ? ऐसा विचार हमें सताने लगा । गये अनेक सालों से यह ग्रंथ अनुपलब्ध था तो इसे क्यों न हम छापें-यह विचार भी आगे आने लगा। पं. टोडरमलजी की जो अगाध, असामान्य बुद्धि का फायदा अन्य जनों को कि जो ढूंढारी भाषा में पढ़ने से पिछे हटते थे, हिन्दी में यह ग्रंथ मिल जाय तो कितनी अच्छी बात होगी यह सोचकर हम दोनों ने यह ग्रंथ छपवाने का निर्धार किया ।

संयोगवश हमारे घर पर जो रोज सुबह करणानुयोग का स्वाध्याय होता है, उस स्वाध्याय

में आनेवाले स्वाध्यायियों में से श्री. विनोदभाई सावला ने स्वयं डी.टी.पी. एवं मुद्रण व्यवस्था का सम्पूर्ण कार्यभार सम्हालने का बीडा उठाया । १०००-१२०० पृष्ठों की डी.टी.पी. करना और वह भी कम से कम गलतियों के साथ वह तो केवल विनोदजी ही जाने ! जिनवाणी के प्रति अत्यंत लगन, मेहनत और आत्मीयता के साथ उन्हों ने यह काम कुशलता से पूरा किया । और वह भी विनामूल्य ! उनके उपकार मानना यह उनका अपमान करने जैसा है ।

इतने अधिक पृष्ठों की प्रूफ रीडींग हमने ६-६ बार की उसमें श्री विनोदजी का भी सराहनीय सहकार रहा ।

इस ग्रंथ के साथ पं. टोडरमलजी लिखित 'अर्थसंदृष्टि' भी हम छाप रहे हैं । उससे जो गणित विभाग है वह और अधिक स्पष्ट हो जाता है । केवलज्ञान की सूक्ष्मता का ज्ञान होकर अचंबा होता है और मैं भी केवलज्ञान स्वभावी हूँ इस विचार को अधिकाधिक बल मिलता है और जो सिद्धांत हम द्रव्यानुयोग में सीखते हैं उसमें दृढ़ता, गहराई और गांभीर्य प्राप्त होता है । और तो क्या सच कहो तो द्रव्यानुयोग के पांडित्य का अभिमान चूरचूर हो जाता है । और भी कितना लिखें! पं. टोडरमलजी का जितना उपकार माने उतना कम ही है । और ऐसे शास्त्र को छापने का परम सौभाग्य हम दोनों को मिल रहा है उसका तो क्या वर्णन करें ?

ब्र. विमलाबहन, जबलपुर से हमें अर्थसंदृष्टि के ग्रंथ प्राप्त हुये थे और इन तीनों ही ग्रंथों के साथ अर्थसंदृष्टिसह हमारा स्वाध्याय हुआ था तथा आपकी भी मनस्वी इच्छा थी कि अर्थसंदृष्टि फिर से छपे ।

'अर्थसंदृष्टि' के साथ ग्रंथ छपवाने के बारे में अनेक मत और अनेक कठिनाइयां आयी। फिर भी हमने छपवाने का निर्णय पक्का किया और इसी कारण यह ग्रंथ पाठकों के सुविधा के लिये दो भागों में छापने का निर्णय लिया ।

एक बात मैं कहे बिना नहीं रह सकता कि आप इस ग्रंथ को आद्योपांत अवश्य पढ़े । अगर बीच में कुछ बात नहीं समझ में आये तो आगे पढ़ते रहने पर पूर्व में न समझ में आयी हुयी बात अवश्य सुलझ जाती है । यह स्वानुभव की बात है !

आशा करता हूँ कि जिनवाणी की सेवा करने का सुअवसर हमें ऐसा ही मिलता रहे ।

-पं. दिनेशभाई शहा

– मेरी बात –

इ.स. २००६ के जनवरी महिने की बात है । सर्वत्र श्रवणबेलगोला के गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबली के महामस्तकाभिषेक की जोरों शोरों से चर्चा एवं तैयारी हो रही थी । चामुण्डराय ने भगवान बाहुबली की महाकाय मूर्ति बनवाकर दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में एक अभूतपूर्व बेजोड़ कार्य किया है । विश्वभर की सारी जैन–अजैन जनता उससे परिचित है ही । चामुण्डराय ने ऐसा ही दूसरा एक अमूल्य बेजोड़ कार्य किया है परंतु उसकी खबर भी अनेकों को नहीं है ।

चामुण्डराय को तत्त्वज्ञान का बहुत अभ्यास था । करणानुयोग को भी वे बहुत गहराई से जानते थे । आपने सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रजी से प्रश्न पूछा था कि, 'सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायिकादि इकतालीस जीवपदों में नामकर्म के सत्त्व का निरूपण कैसा है ? कृपा करके समझाइये' । इस प्रश्न का निमित्त पाकर अनेक जीवों के सम्बोधनार्थ आचार्यश्री ने गोम्मटसार ग्रंथ की रचना की । चामुण्डराय ने उस पर कर्णाटकभाषा में टीका लिखी । उसके अनुसार केशववर्णी नामक ब्रह्मचारी ने संस्कृत टीका लिखी । कन्नड लिपी में लिखी हुयी इस संस्कृत टीका के आधार से पं. टोडरमलजी ने देशभाषा में – ढूंढारी भाषा में – भावार्थ सहित भाषाटीका लिखी । इसीका नाम है 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' जो जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड और लब्धिसार एवं क्षपणासार के रूप में तीन भागों में प्रसिद्ध है ।

मूल ग्रंथ में तो जहां वहां गणित एवं संदृष्टियां पायी जाती हैं । इन्हें समझ में न आने से लोग आगे पढ़ना ही छोड देते हैं, इसकारण पं. टोडरमलजी ने इनका अलग संकलन करके,इन संदृष्टियों का अर्थ समझाते हुये 'अर्थसंदृष्टि' ग्रंथों की रचना की । जीवकाण्ड आदि तीनों भागों पर तीन 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' अलग अलग हैं । अत्यंत क्लिष्ट परंतु रोचक विषय को उन्हों ने सरल करके समझाया है । आधुनिक विज्ञान एवं गणित के विद्यार्थियों को भी आश्चर्यचकित करनेवाले करणसूत्र एवं चिह्नों द्वारा असंख्यात–अनंतों के गणित जरूर समझने जैसे हैं । लोगों को लगता है कि log और calculas हमारे आजकल के वैज्ञानिकों की खोज है, परंतु हमारे ग्रंथों में तो इन सभी के करणसूत्र–फॉर्म्युले प्राकृत में उपलब्ध हैं ।

पं. टोडरमलजी ने ये सारे ग्रंथ ढूंढारी भाषा में लिखे हैं । उनकी ढूंढारी भाषा समज समझ में आती है तथा उन्हीं की भाषा में ग्रंथ पढ़ना अधिक योग्य और रोचक लगता है । सन १९९३ से लेकर हमने ४–५ बार इसका आद्योपांत स्वाध्याय किया है, मैंने इसे बहुत विस्तार और सूक्ष्मता

से पढ़ाया भी है । अर्थसंदृष्टि अधिकार पढ़ाते समय पुनश्च इसके साथ पढ़ाया है । इसी जीवकाण्ड के आधार से मैंने 'करणानुयोग परिचय' पुस्तक लिखी है जो हिन्दी, गुजराती, मराठी भाषाओं में उपलब्ध है और वाचकों ने उसे खूब सराहा है । 'पंचलब्धि' पुस्तक भी 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका-लब्धिसार एवं क्षपणासार' ग्रंथ के आधार से ही लिखी है । हमारे 'धवला' शास्त्र के प्रवचनों में इन सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की अनमोल सहायता रही । पं. टोडरमलजी ने प्रत्येक विषय को मूलतः समझाया है जिसके आधार से हम धवला की गंभीर चर्चा को आसानी से समझ पाये । अन्यथा धवला के सभी पुस्तकों का आद्योपांत स्वाध्याय तथा कम्प्युटर सी.डी. रेकोर्डिंग सम्भव ही नहीं होता ।

गत अनेक सालों से 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' ग्रंथ उपलब्ध नहीं था । अन्य ग्रंथ छपवाने के प्रयत्न निष्फल गये इसलिये हम दोनों -मैं और मेरे पति पं. दिनेशजी - ने इसे छपवाने का निर्धार किया । प्रथम तो इसे ढूंढारी भाषा में छपवाने के लिये डी.टी.पी. (मुद्रण) का कार्य शुरु भी किया था । उसी दरम्यान हमारे दैनिक सामूहिक स्वाध्याय में मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ का स्वाध्याय शुरु हुआ । एक बहन ने उसके ग्रंथ भंडार में से ढूंढारी भाषा का मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ लाकर मुझे दिखाया । उसे देखने से विचार आया कि इसका हिन्दी अनुवाद होने से आज वह घर घर तक पहुंचा है और रोजाना स्वाध्याय में पढ़ा भी जा रहा है, यदि 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' का भी हिन्दी में अनुवाद किया जाय तो कितना अच्छा होगा ! यह विचार दिनेशजी से कहने की ही देरी थी, उन्हों ने तो सभी प्रकार से मुझे प्रोत्साहित किया । मुझे ही भय था कि क्या मैं इस विशालकाय-प्रचंड कार्य को पूरा कर सकूंगी ? इसको तो कितने दिन लगेंगे ? क्या इतना जीवन शेष है ? रोज डेढ़ घण्टे धवला का, दो-अढ़ाई घण्टे मोक्षमार्गप्रकाशक तथा समयसार का स्वाध्याय, रसोई, घर-गृहस्थी में से मैं समय कैसे जुटा पाऊंगी ? परंतु पं. टोडरमलजी के 'पीठिका' में लिखे हुये शब्द याद आये, उन्हीं शब्दों ने मुझे बहुत धीरज दिया । १२ जनवरी २००६ को इसका अनुवाद शुरु किया, फिर तो क्या कहना, १० अप्रैल २००६ को यह कार्य सम्पूर्ण हुआ ।

इस अनुवाद दरम्यान मैंने पुस्तक में अनेक बदलाव लाये हैं - कहीं तो सरलता के लिये, कहीं भावार्थ के अनुसार यंत्र समझ में आये इसलिये, कहीं तो पूर्व पुस्तक की अशुद्धियां अन्य ग्रंथों तथा अर्थसंदृष्टि अधिकार के आधार से ख्याल में आयी थी उसे सुधारा है । अनुवाद के लिये जो 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका-जीवकाण्ड' पुस्तक ली है, वह 'श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट' ने इ. सन १९८९ में छापी हुयी है । सभी गाथायें, श्लोक तथा सम्पूर्ण टीका और भावार्थ इसी पुस्तक से लिये हैं परंतु कलकत्ता से छपी पुस्तक जो कारंजावालों से प्राप्त हुयी थी तथा जैन

ज्ञानपीठवालों ने छापी हुयी गोम्मटसार जीवकाण्ड पुस्तक से मिलान करके जहां जो शुद्ध प्रतीत हुआ उसे लिया है । टीका में भी कहीं संख्यात या असंख्यात या अन्य शब्दों का निर्णय करने के लिये इन सभी पुस्तकों के उपरांत 'मंदप्रबोधिनी' नामक संस्कृत टीका तथा पं. टोडरमलजी कृत 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' का बारम्बार आधार लिया है ।

अनेक कठिन विषयों का अनुवाद करते हुये मैंने बीच बीच में विशेषार्थ लिखा है । उसे अलग टाईप में छापा है, ताकि ये बातें मूल पुस्तक में नहीं है यह बात ख्याल में आ सके । कहीं एक दो वाक्य या शब्द ब्रॅकेट में लिखे हैं तो कहीं विस्तार से समझाया है, कहीं दृष्टांत देकर भी समझाने का प्रयत्न किया है ।

इस पुस्तक में मैंने जहां फेरफार किये हैं वे निम्नानुसार हैं –

पं. टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड और जीवकाण्ड सम्बन्धी अर्थसंदृष्टि ऐसी दो पृथक् पुस्तके लिखी हैं । यहां दोनों मिलाकर एकसाथ छाप रहे हैं ।

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका पीठिका के बाद पं. टोडरमलजी ने जीवकाण्ड सम्बन्धी प्रकरण, कर्मकाण्ड सम्बन्धी प्रकरण, अर्थसंदृष्टि सम्बन्धी प्रकरण, लब्धिसार-क्षपणासार सम्बन्धी प्रकरण और परिकर्माष्टक सम्बन्धी प्रकरण लिखे हैं । हमने उनमें से जीवकाण्ड सम्बन्धी प्रकरण और परिकर्माष्टक सम्बन्धी प्रकरण का अनुवाद यहां लिया है । अर्थसंदृष्टि सम्बन्धी प्रकरण अर्थसंदृष्टि अधिकार के पूर्व अर्थात् इस पुस्तक के द्वितीय भाग में लिया है । ग्रंथ बहुत बड़ा होने से इसे दो भागों में विभाजित किया है तथा दोनों भागों की अनुक्रमणिका अलग अलग बना दी है । ज्ञानमार्गणा अधिकार तक के अधिकार प्रथम भाग में हैं, शेष अधिकार, यंत्ररचना, अर्थसंदृष्टि सम्बन्धी प्रकरण और अर्थसंदृष्टि अधिकार द्वितीय भाग में हैं ।

प्रथम भाग की विषय-सूची प्रथम भाग में तथा द्वितीय भाग की विषय-सूची द्वितीय भाग में विस्तार के साथ दी है । अर्थसंदृष्टि की भी विषय-सूची नयी बनाकर जोड़ दी है ।

पुस्तक का नाम, पृष्ठ संख्या तो लिखी ही है, साथ में हर पृष्ठ पर विवक्षित अधिकार का नाम लिख दिया है ताकि किसी भी विषय को ढूंढना हो तो आसानी से ढूंढ़ सकते हैं ।

मूल पुस्तक गाथा ४९ की टीका में अधःप्रवृत्तकरण सम्बन्धी अंकुश रचना आड़ी दिखायी है । उसे ऊर्ध्वरचना जैसी टीका में लिखी है तदनुसार सुधारित करके बनायी है । उसी प्रकार

लांगलरचना एवं निर्वर्गणाकांडक की रचना ऊर्ध्वरूप ठीक करके बनायी है ।

उसी प्रकरण में अधःकरण रचना दिखानेवाला चार्ट (यंत्र) भावार्थ के साथ मैंने रखा है क्योंकि उसको साथ देखे बिना समझ में नहीं आता ।

गाथा ५३ की टीका में अपूर्वकरण की अंकसंदृष्टिवाले यंत्र में समयों की संख्या(क्रमांक) साथ में लिखी है ।

पर्याप्ति अधिकार में संख्यामान आदि गणित के विषय में मैंने कहीं कहीं विशेषार्थ लिखा है तथा संख्यायें अंकों में लिखी हैं । विषय के अनुसार परिच्छेदों की पुनर्रचना की है । कहीं पर संदृष्टि भी लिखी है ।

चौदह धाराओं के वर्णन में उनकी क्रमसंख्या तथा नाम लिखकर पश्चात् वर्णन शुरु किया है, ताकि विषय सहज ख्याल में आ सके ।

जीवसमास के प्रकरण में जहां चौंसठ अवगाहना का यंत्र बनाया है, वहां कोठों के ऊपर क्रमांक लिखे हैं, अन्यथा पढ़ने समय उसे ढूंढ़ने में घोटाला हो सकता है ।

योगमार्गणा में गाथा २५६ की टीका में औदारिक शरीर सम्बन्धी उत्कृष्ट संचय के विषय में पं. टोडरमलजी ने लिखा है – 'अंतर में वह जीव गमनविकुवणा नहीं करता – नखच्छेद नहीं करता – इसका अर्थ मेरे ठीक समझ में नहीं आया है'। हमारे धवला के स्वाध्याय में इसका उत्तर हमें मिला जो अनुवाद में मैंने कोष्टक (ब्रॅकेट) में लिखा है ।

गाथा ३२६ की टीका में पर्यायसमासज्ञान के भेद बताते हुये षट्गुणीवृद्धि समझानेवाले यंत्र की रचना में पंक्तियों और कोठों के क्रमांक लिखे हैं ताकि उसका वर्णन पढ़ते समय आसानी से उसको जान सके । वर्णन में भी जहां वहां संदृष्टि लिखकर सरल बनाने की कोशिश की है ।

गाथा ३६५-३६६ की टीका में प्रथम पूर्वों के नाम लिखकर पश्चात् उनका वर्णन शुरु किया है । पर्यायसमासज्ञान के भेदों में प्रक्षेपक, प्रक्षेपकप्रक्षेपक, पिशुलि आदि समझाने के हेतु 'क्ष' के रूप में संदृष्टि बनाकर मैंने लिखी है अर्थात् जो कुछ नया लिखा है वह ब्रॅकेट में लिखा है। जघन्य ज्ञान कहां कहां दो गुणा होता है समझने के लिये भी संदृष्टि बनाकर आसान बनाने की चेष्टा की है ।

गाथा ४०३-४०४ की टीका में देशावधि के प्रथम कांडक में उत्कृष्ट क्षेत्र घनांगुल का

संख्यातवां भाग ही होना चाहिये क्योंकि असंख्यात बार घनांगुल के असंख्यातवें और घनांगुल के संख्यातवें भाग की वृद्धि होनेपर वृद्धि का प्रमाण घनांगुल के संख्यातवें भाग ही होगा । आगे गाथा ४०८ की टीका में उसे घनांगुल का संख्यातवां भाग ही लिखा है । गाथा ४०९ की टीका में भी स्पष्ट वैसा ही कहा है ।

मूल पुस्तक में गाथा ४०८ की टीका में प्रथम कांडक का उत्कृष्ट काल आवली का संख्यातवां (असंख्यातवां) भाग लिखा है, गाथा ४०३, ४०४ में भी आवली का असंख्यातवां भाग लिखा है । संस्कृत टीका तथा संस्कृत संदृष्टि में उसे आवली का संख्यातवां भाग कहा है, जो ठीक प्रतीत होता है ।

लेश्यामार्गणा में लेश्या के अधिकारों के नाम तथा क्रमांक सुविधा की दृष्टि से मैंने लिखे हैं ।

लेश्या के प्रकरण के अनुसार अनेक नये परिच्छेद बनाये हैं, विषयानुसार परिच्छेदों का अंत और प्रारंभ बदल दिया है, परंतु मूल लिखान (मॅटर) में कोई फेरफार नहीं किया है ।

गाथा ५२५ की टीका में लेश्याओं के वर्णन में नरक पृथ्वियों के क्रमांक, नाम, अन्य नाम तथा पटलों की संख्या बतानेवाला चार्ट मैंने बनाया है जो मूल पुस्तक में नहीं है, परंतु वाचकों की सुविधा के लिये बनाया है ।

गाथा ५४४ की टीका में लेश्या के क्षेत्राधिकार में शुक्ललेश्या के क्षेत्र के प्रकरण में जीवों की संख्या निकालने के लिये चार जगह पल्य के असंख्यातवें भाग का भागहार मूल पुस्तक में लिखा है, वह संख्यात का भागहार होना चाहिये, जो पीत, पद्म लेश्या के अनुसार है तथा जीवकाण्ड के अर्थसंदृष्टि अधिकार में भी संख्यात से ही भाग दिया हुआ है । इसलिये वहां मैंने संख्यात का भागहार लिखा है ।

उसीप्रकार यहां एक जीव की अवगाहना शुक्ललेश्यावाले देवों की अपेक्षा संख्यात घनांगुल लिखी है वह घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण है, इसे भी 'अर्थसंदृष्टि' के आधार से ठीक करके लिखा है । मूल पुस्तक में इसी पृष्ठपर चार पंक्ति नीचे लिखा है कि, 'वेदना समुद्घात तथा कषाय समुद्घातवाले जीवों की अवगाहना में साढ़े चार गुणा घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण अवगाहना होती है' – इससे भी ऊपर की बात सही सिद्ध होती है ।

गाथा ५४५ की टीका में मूल पुस्तक में तिर्यक्लोक के क्षेत्रफल में जगत्प्रतर लिखा था उसे मैंने प्रतरराजू किया है क्योंकि एक राजू गुणित एक राजू प्रतरराजू होता है ।

गाथा ५६० की टीका में पांच परिवर्तनरूप संसार में मैंने दृष्टांत द्वारा समझाने का प्रयास किया है । वैसे यह विषय गहन है । योगस्थान, कषायाध्यवसानस्थान, अनुभागबंधअध्यवसानस्थान, स्थितिस्थान आदि का वर्णन आगे कर्मकाण्ड में आया है, यहां समझना थोड़ा कठिन होता है; फिर भी अतीत काल की अनंतता का एहसास जरूर होता है ।

अंतराधिकार के वर्णन में जहां मार्गणाओं में गुणस्थान और जीवसमास समझाये हैं, वहां उनके वर्णन में मैंने मार्गणाओं के नाम शुरु में लिखकर पश्चात् वर्णन जैसा है वैसा लिखा है, ताकि विषय सहज ख्याल में आये ।

अंतराधिकार में सम्यक्त्वमार्गणा में बहुत बड़ा वाक्य है उसे छोटे वाक्यों में विभाजित करके अंतर और अंतरायाम को दूसरा वाक्य बनाकर लिखा है । मूल में जितना लिखा है उसे सम्पूर्णतया अनुवादित किया है, मात्र अलग अलग छोटे वाक्य बनाये हैं ।

अंत में जो बीस प्ररूपणाओं के यंत्र बनाये हैं, जो करीबन सौ पृष्ठों के हैं, उनके हर पृष्ठ पर बीसों कोठों के ऊपर प्ररूपणा के नाम लिखे हैं जो मूल में नहीं लिखे थे । उन कोठों में भी जो अशुद्धियां थी उन्हें ग्रंथों के आधार से शुद्ध करके लिखा है । छपाईकाम दरम्यान ऐसी अशुद्धियां हो जाती हैं इसलिये प्रूफ रीडींग भी बहुत बारिकाई से करने की कोशिश की है ।

जीवकाण्ड का अर्थसंदृष्टि अधिकार भी इसी ग्रंथ के साथ जोड़कर छापने की हमारी दोनों की भावना थी । उसे छपवाने का काम अत्यंत जटिल और उसका प्रूफ रीडींग भी उतना ही कष्टकारी था । जीवकाण्ड के साथ छापेंगे तो जिज्ञासु इसका लाभ अवश्य ले सकेंगे इस भावना से इस अनुपलब्ध बेजोड़ निधि को संजोये रखने की कोशिश की है । इसी के कारण जो अनपेक्षित विलम्ब हुआ उसके लिये हम क्षमापार्थी हैं ।

'अर्थसंदृष्टि' – मेरा अभिमत

जिनागम में 'अर्थसंदृष्टि' एक अद्भूत, अलौकिक, चमत्कारिक, आश्चर्यकारी बात है जो आचार्यों की परम्परा से चली आ रही है । करणानुयोग के ग्रंथों में ये पायी जाती हैं परंतु वहां इसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता । पं. टोडरमलजी ने यह महान कार्य करके हम मंदबुद्धियों

पर बड़ा उपकार किया है । इन संदृष्टियों का –चिह्नों का Symbols का आपने शुरु में अर्थ बताया, उनकी संकलनादि विधियां बताकर पश्चात् विषय के अनुक्रम से संदृष्टियों का अर्थ खोलकर बताते गये ।

हमें जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार–क्षपणासार के तीन संदृष्टि अधिकार ब्र. विमलाबहन, जबलपुरवालों से प्राप्त हुये थे । उनकी झेरोक्स कापियां बनाकर हम १०–१२ स्वाध्यायियों ने मूल ग्रंथों के साथ इनका आद्योपांत स्वाध्याय किया तब मूल ग्रंथों की बात तथा गणित का विषय और भी सरल एवं रोचक प्रतीत हुआ ।

संदृष्टि का अभ्यास करते समय मूल ग्रंथों की अनेक बातें अत्यंत स्पष्ट रीति से ख्याल में आती हैं, उनकी सूक्ष्मता ज्ञान में झलकती हैं इस बात का प्रकर्षता से अनुभव हुआ, इसलिये यह जिनागम की धरोहर जन जन तक पहुंचनी चाहिये इस भावना से हम दोनों ने इसे छापने का निर्धार किया ।

संदृष्टि के बारे में अनेक सुझाव आये थे; जैसे कि नयी संदृष्टि तैयार करें क्योंकि आवली और अंगुल दोनों के लिये संदृष्टि २ है या अंग्रेजी अक्षरों में नयी संदृष्टियां बनायी जायें । परंतु परम्परागत संदृष्टियों को समझने से मूल ग्रंथ तथा अन्य ग्रंथों की संदृष्टि समझना हमारा प्रयोजन है, वह पूरा नहीं होता । पं. टोडरमलजी ने स्वयं 'अर्थसंदृष्टि सम्बन्धी प्रकरण' में यह बात स्पष्ट की है । आपने ये अधिकार जनसामान्य के लिये ही लिखे हैं ।

कुछ लोग कहते हैं ये सब जानने से क्या फायदा है ? कितने ही विद्वान (!) भी इसे फालतु की बात समझकर करणानुयोग के ग्रंथों की स्वयं उपेक्षा करते हैं और वैसा उपदेश भी देते हैं । तो क्या तीर्थंकर की दिव्यध्वनी में ये बातें बेकार है इसलिये आयी ? क्या अनेक सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्यों को इस बात का पता नहीं था ? स्वयं पं. टोडरमलजी ने करणानुयोग तो समझाया ही उसे और सरल बनाने के लिये कितनी मेहनत और लगन से सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका के तीनों भाग, उनके अर्थसंदृष्टि अधिकार, त्रिलोकसार आदि अनेक ग्रंथ लिखे । सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका में स्वयं पं. टोडरमलजी ने अन्य अन्य अनुयोगों के पक्षपाती तथा अन्य कुतर्क करनेवालों को खूब अच्छी तरह से समझाया है ।

करणानुयोग को जान जाओ तो उसके लाभ का स्वयं को पता लग जाता है । अज्ञान की निवृत्ति ही ज्ञान का सबसे बड़ा लाभ है, यही प्रयोजन है । दुनियाभर की खबरें देनेवाले टी.वी.

चैनल्स देखते समय हमें कभी प्रश्न नहीं उठता कि इन बातों को जानने से क्या लाभ है ? लोगों के प्रश्नों से ही उनके अभिप्राय एवं रुचि का पता चलता है ।

Modern Mathematics के विशेषज्ञों को भी आश्चर्यचकित करनेवाले इन गणित के ग्रंथों को पढ़कर हम उन्हें समझे तथा आनेवाली पीढ़ियों के लिये इन्हें सुरक्षित रखें ।

हमारी प्रवचनार्थ की हुयी विदेशयात्रा दरम्यान मैंने यह अनुवाद का कार्य सम्पूर्ण किया। वहां के लोग इसको देखकर आश्चर्यचकित होते थे । अमरिका के श्री अतुल खारा, श्रीमती चारु खारा ने मेरी अनुवादित प्रति की झेरोक्स तथा स्कॅनिंग करके दी ताकि मेरा लिखान कहीं खो जाय तो काम आयें । डी.टी.पी. करने में कठिनाइयां प्रतीत होने लगी तब सम्पूर्ण लिखान दुबारा लिखकर उसे हस्तलिखित रूप से ही छपवाने की हमने ठान ली थी परंतु यह कार्य 'श्रीमती उज्ज्वला राज' ने अत्यंत सफलतापूर्वक सम्पन्न किया ।

संदृष्टि अधिकार में मैंने अनेक स्थानों पर विशेषार्थ के रूप में गणित को विस्तार से समझाने का प्रयास किया है । मूल में तो विषय लिखा ही है परंतु उसे क्रम से समझाने का प्रयास किया है । मूल ग्रंथ तो जैसा का वैसा अनुवादित किया है, मैंने लिखी हुयी बातें कोष्टक–ब्रॅकेट में लिखी हैं । उसमें जो कोई त्रुटियां हो वे मेरी हैं, यदि अर्थ समझने में सरलता हो तो वह पं. टोडरमलजी का उपकार है ।

ऐसे महान कार्य को हम अल्पबुद्धि कैसे ठीक रीति से कर सकते हैं ? जो रचना बनी है आपके सामने है । अधिकाधिक लोग इसे पढ़कर जीव का सर्वांगीण स्वरूप जानकर अपना निर्णय करने में अग्रसर हो इसी भावना के साथ विराम लेती हूँ ।

–डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

विषय-सूची

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका पीठिका **१-४६**

मंगलाचरण, सामान्य प्रकरण १
प्रथमानुयोग पक्षपाती का निराकरण ६
चरणानुयोग पक्षपाती का निराकरण ७
द्रव्यानुयोग पक्षपाती का निराकरण १०
शब्दशास्त्र पक्षपाती का निराकरण १३
अर्थ पक्षपाती का निराकरण १४
कामभोगादि पक्षपाती का निराकरण.............. १५
शास्त्राभ्यास की महिमा.......................... १७
जीवकाण्ड संबंधी प्रकरण १९
परिकर्माष्टक संबंधी प्रकरण ३३

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा **४७-६४**

भाषा टीकाकार का मंगलाचरण.................. ४७
ग्रन्थकर्ता का मंगलाचरण व प्रतिज्ञा ५३
बीस प्ररूपणाओं के नाम व सामान्य कथन ५९

पहला अधिकार :
गुणस्थान प्ररूपणा **६५-१५९**

गुणस्थान और तद्विषयक औदयिक
भावों का कथन.................................. ६५
मिथ्यात्व का स्वरूप ७०
सासादन का स्वरूप ७३
सम्यग्मिथ्यात्व का स्वरूप....................... ७४
असंयत का स्वरूप ७६
देशसंयत का स्वरूप ८१
प्रमत्त का स्वरूप................................ ८२
अप्रमत्त का स्वरूप १११
अपूर्वकरण का स्वरूप १३२
अनिवृत्तिकरण का स्वरूप...................... १३७
सूक्ष्मसाम्पराय का स्वरूप १३९
उपशांतकषाय का स्वरूप १४७
क्षीणकषाय का स्वरूप १४८
सयोगकेवली का स्वरूप १४८
अयोगकेवली का स्वरूप...................... १४९
सिद्ध का स्वरूप १५६

दूसरा अधिकार :
जीवसमास प्ररूपणा **१६०-२१६**

जीवसमास का लक्षण १६०
जीवसमास के भेद १६३
योनि अधिकार १७१
अवगाहना अधिकार........................... १७७

तीसरा अधिकार :
पर्याप्ति प्ररूपणा **२१७-२६१**

अलौकिक गणित............................. २१७
दृष्टांत द्वारा पर्याप्ति अपर्याप्ति का
स्वरूप व भेद.................................. २५२
पर्याप्ति, निर्वृत्ति अपर्याप्ति का स्वरूप २५४
लब्धि अपर्याप्तक का स्वरूप २५६

चौथा अधिकार :
प्राण प्ररूपणा **२६२-२६५**

प्राण का लक्षण, भेद, उत्पत्ति की सामग्री, स्वामी तथा एकेन्द्रियादि जीवों के प्राणों का नियम २६२

पांचवां अधिकार :
संज्ञा प्ररूपणा २६६–२६८

संज्ञा का स्वरूप, भेद, आहारादि संज्ञा का स्वरूप तथा संज्ञाओं के स्वामी २६६

छठवां अधिकार :
गतिमार्गणा अधिकार २६९–२९४

मंगलाचरण और मार्गणाधिकार के वर्णन की प्रतिज्ञा २६९

मार्गणा शब्द की निरुक्ति का लक्षण २६९

चौदह मार्गणाओं के नाम २७०

सांतरमार्गणा, उसका स्वरूप व संख्या २७१

नारकादि गतिमार्गणा का स्वरूप २८३

सिद्धगति का स्वरूप २८६

नारकी जीवों की संख्या का कथन २८७

सातवां अधिकार :
इन्द्रियमार्गणा प्ररूपणा २९५–३०७

मंगलाचरण, इन्द्रिय शब्द की निरुक्ति, इन्द्रिय के भेद २९५

एकेन्द्रियादि जीवों की इन्द्रिय संख्या, उनका विषय तथा क्षेत्र २९८

इन्द्रिय रहित जीवों का स्वरूप ३०३

एकेन्द्रियादि जीवों की संख्या ३०४

आठवां अधिकार :
कार्यमार्गणा प्ररूपणा ३०८–३३७

मंगलाचारण, कायमार्गणा का स्वरूप व भेद.... ३०८

स्थावरकाय की उत्पत्ति का कारण ३०९

शरीर के भेद, लक्षण और संख्या............... ३०९

सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित जीवों का स्वरूप ३१४

साधारण वनस्पति का स्वरूप ३१६

त्रसकाय का प्ररूपण ३२३

वनस्पतिवत् अन्य जीवों के प्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठितपना.......................... ३२४

स्थावरकाय तथा त्रसकाय जीवों के शरीर का आकार ३२५

कायरहित सिद्धों का स्वरूप ३२६

पृथ्वीकायिक आदि जीवों की संख्या........... ३२७

नौवां अधिकार :
योगमार्गणा प्ररूपणा ३३८–३९१

योग का सामान्य लक्षण, योग का विशेष लक्षण, योग विशेषों का लक्षण ३३८

दस प्रकार के सत्य का उदाहरणपूर्वक कथन ३४२

मन–वचनयोग के भेदों का कारण.............. ३४६

सयोग केवली को मनोयोग की संभावना ३४७

काययोग का स्वरूप वा भेद ३४८

योगरहित आत्मा का स्वरूप................... ३५६

शरीर में कर्म–नोकर्म का भेद ३५६

औदारिकादि शरीर के समयप्रबद्ध की संख्या.... ३५७

विस्रसोपचय का स्वरूप........................ ३६०

औदारिक पांच शरीरों की उत्कृष्ट स्थिति....... ३६२

औदारिक समयप्रबद्ध का स्वरूप ३७३

औदारिकादि शरीर विषयक विशेष कथन....... ३७५

योगमार्गणाओं में जीवों की संख्या ३८६

दसवां अधिकार :
वेदमार्गणा प्ररूपणा ३९२–३९८

तीन वेद और उनके कारण व भेद ३९२

वेदरहित जीव ३९५

वेद की अपेक्षा जीवों की संख्या ३९६

ग्यारहवां अधिकार :
कषायमार्गणा प्ररूपणा ३९९–४२०

मंगलाचरण तथा कषाय के निरुक्तिसिद्ध लक्षण, शक्ति की अपेक्षा क्रोधादि के ४ भेद तथा दृष्टांत, गतियों के प्रथम समय में क्रोधादि का नियम ३९९

कषायरहित जीव ४०४

कषायों के स्थान ४०६

कषायस्थानों का यंत्र, कषाय की अपेक्षा जीवसंख्या ४१५

बारहवां अधिकार :
ज्ञानमार्गणा प्ररूपणा ४२१–५३०

ज्ञान का निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण, पांच ज्ञानों का क्षायोपशमिक क्षायिक-रूप से विभाग, मिथ्याज्ञान का कारण और स्वामी ४२१

मिश्रज्ञान का कारण और मनःपर्ययज्ञान का स्वामी, दृष्टांत द्वारा तीन मिथ्याज्ञान का स्वरूप, मतिज्ञान का स्वरूप, उत्पत्ति आदि ४२४–४३५

श्रुतज्ञान का सामान्य लक्षण, भेद ४३५

पर्यायज्ञान, पर्यायसमास, अक्षरात्मक श्रुतज्ञान ४३८

श्रुतनिबद्ध विषय का प्रमाण, अक्षरसमास, पदज्ञान, पद के अक्षरों का प्रमाण, प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान ४७०

अनेक प्रकार के श्रुतज्ञान का विस्तृत स्वरूप, अंगबाह्य श्रुत के भेद, अक्षरों का प्रमाण, अंगों व पूर्वों के पदों की संख्या, श्रुतज्ञान का महात्म्य ४७२

अवधिज्ञान के भेद ५१०

उसके स्वामी और स्वरूप ५२१

अवधि का द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा वर्णन, अवधि का सबसे जघन्य द्रव्य........... ५२५

नरकादि में अवधि का क्षेत्र ५४३

मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप, भेद, स्वामी और उसका द्रव्य ५४९

केवलज्ञान का स्वरूप, ज्ञानमार्गणा में जीवसंख्या ५५८

* * *

Pt. Dineshbhai Shah & Dr Ujwala Shah

Website : **www.jainsiddhant.org**

FREE DOWNLOADING

Nearly 12000 hours audio lectures given by Pt. Dineshbhai Shah and Dr Ujwala Shah are available on above website.

These lectures are on various subjects for beginners as well as on majority of Jain Granths. List is available on the website. Also these lectures are available on Pendrives. Further information will be given on website.

YouTube - jain tatva - video

We have conducted many shibirs at Deolali.

These videos are available on above YouTube chanel.

Facebook page " Dr Ujwala Shah "

Live broadcast of daily lectures given by both the speakers is available for three & half hours per day.

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजीकृत

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

पीठिका

।। मंगलाचरण ।।

बंदौ ज्ञानानंदकर, नेमिचन्द गुणकंद ।
माधव वंदित विमलपद, पुण्यपयोनिधि नंद ।। १ ।।

दोष दहन गुन गहन घन, अरि करि हरि अरहंत ।
स्वानुभूति रमनी रमन, जगनायक जयवंत ।। २ ।।

सिद्ध सुद्ध साधित सहज, स्वरससुधारसधार ।
समयसार शिव सर्वगत, नमत होहु सुखकार ।। ३ ।।

जैनी वानी विविध विधि, वरनत विश्वप्रमान ।
स्यात्पद-मुद्रित अहित-हर, करहु सकल कल्यान ।। ४ ।।

मैं नमो नगन जैन जन, ज्ञान-ध्यान धन लीन ।
मैन मान बिन दान धन, एन हीन तन छीन ।। ५ ।।

इहविधि मंगल करन तैं, सबविधि मंगल होत ।
होत उदंगल दूरि सब, तम ज्यौं भानु उदोत ।। ६ ।।

सामान्य प्रकरण

अथ मंगलाचरण द्वारा श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ, उसकी देशभाषामय टीका करने का उद्यम करता हूँ । सो यह ग्रंथसमुद्र तो ऐसा है जो सातिशय बुद्धि-बल संयुक्त जीवों के द्वारा भी जिसका अवगाहन होना दुर्लभ है । और मैं मन्दबुद्धि अर्थ प्रकाशनेरूप इसकी टीका करने का विचार कर रहा हूँ ।

सो यह विचार ऐसा हुआ जैसे कोई अपने मुख से जिनेन्द्रदेव के सर्व गुण वर्णन करना चाहे, वह कैसे बन सकता है ?

यहां कोई कहता है - नहीं बनता है तो उद्यम क्यों कर रहे हो ?

उसको कहते हैं – जैसे जिनेन्द्रदेव के सर्व गुण कहने की सामर्थ्य नहीं, तथापि भक्त पुरुष भक्ति के वश से अपनी बुद्धि अनुसार गुण वर्णन करता है, उसीप्रकार इस ग्रंथ का सम्पूर्ण अर्थ प्रकाशने की सामर्थ्य नहीं है, तथापि अनुराग के वश से मैं अपनी बुद्धि अनुसार (गुण) अर्थ प्रकाशूंगा ।

पुनश्च कोई कहता है कि – अनुराग है तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रंथाभ्यास करो, मन्दबुद्धियों को टीका करने का अधिकारी होना उचित नहीं है ।

उसको कहते हैं – जिसप्रकार किसी विद्यालय में बहुत बालक पढ़ते हैं उनमें कोई बालक विशेष ज्ञान रहित है, तथापि अन्य बालक से अधिक पढ़ा है, सो अपने से कम पढ़नेवाले बालकों को अपने समान ज्ञान होने के अर्थ कुछ लिख देना आदि कार्य का अधिकारी होता है । उसी प्रकार मुझे विशेष ज्ञान नहीं है, तथापि काल दोष से मुझ से भी मन्दबुद्धि हैं और होंगे । उनके मेरे समान इस ग्रंथ का ज्ञान होने के लिये टीका करने का अधिकारी हुआ हूँ ।

पुनश्च कोई कहता है कि – यह कार्य करने का विचार तो किया, परंतु जैसे छोटा मनुष्य बड़ा कार्य करने का विचार करे, वहां उस कार्य में भूल होती ही है, वहां वह हास्य का स्थान बन जाता है । वैसे तुम भी मन्दबुद्धि होकर, इस ग्रंथ की टीका करने का विचार कर रहे हो सो भूल होगी, वहां हास्य का स्थान बन जाओगे ।

उसको कहते हैं – यह तो सत्य है कि मैं मन्दबुद्धि होकर ऐसे महान ग्रंथ की टीका करने का विचार कर रहा हूँ, सो भूल तो होगी, परंतु सज्जन हास्य नहीं करेंगे । जैसे औरों से अधिक पढ़ा हुआ बालक कहीं भूल करता है तब बड़े ऐसा विचार करते हैं कि बालक है, भूलेगा ही भूलेगा, परंतु अन्य बालकों से भला है, ऐसा विचार कर हास्य नहीं करते । वैसे मैं यहां कहीं भूल करूंगा वहां सज्जन पुरुष ऐसा विचार करेंगे कि मन्दबुद्धि था, सो भूले ही भूले, परंतु कितने ही अति-मन्दबुद्धियों से भला है, ऐसा विचार कर हास्य नहीं करेंगे ।

सज्जन तो हास्य न करेंगे, परंतु दुर्जन तो हास्य करेंगे ?

उसको कहते हैं कि – दुष्ट तो ऐसे ही हैं, जिनके हृदय में औरों के निर्दोष भले गुण भी विपरीतरूप ही भासते हैं । सो उनके भय से जिसमें अपना हित हो

ऐसे कार्य को कौन नहीं करेगा ?

पुनश्च कोई कहता है - पूर्व ग्रंथ थे ही, उनका अभ्यास करने-कराने से ही हित होता है, मन्दबुद्धियों द्वारा ग्रंथ की टीका करने की महंतता क्यों प्रकट करते हो ?

उसको कहते हैं - ग्रंथ का अभ्यास करने से ग्रंथ की टीका रचना करने में उपयोग विशेष लगता है, अर्थ भी विशेष प्रतिभासित होता है । पुनश्च अन्य जीवों को ग्रंथ अभ्यास कराने का संयोग होना दुर्लभ है और संयोग हो तो किसी ही जीव के अभ्यास होता है । और ग्रंथ की टीका बने तो परम्परा अनेक जीवों को अर्थ का ज्ञान होता है । इसलिये अपना और अन्य जीवों का विशेष हित होने के लिये टीका करते हैं, महंतता का तो कोई प्रयोजन ही नहीं है ।

पुनश्च कोई कहता है कि - इस कार्य में विशेष हित होता है सो सत्य, परंतु मन्दबुद्धि के कारण कहीं भूल से अन्यथा अर्थ लिखनेपर, वहां महत् पाप उपजने से अहित भी तो होता है ?

उसको कहते हैं - यथार्थ सर्व पदार्थों के ज्ञाता तो केवली भगवान हैं, दूसरों को ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान है, उनको कोई अर्थ अन्यथा भी प्रतिभासे, परंतु जिनदेव का ऐसा उपदेश है - कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों के वचन की प्रतीति से, वा हठ से, वा क्रोध, मान, माया, लोभ से, वा हास्य भयादिक से यदि अन्यथा श्रद्धान करे वा उपदेश दे, तो वह महापापी है और विशेष ज्ञानवान गुरु के निमित्त बिना वा अपने विशेष क्षयोपशम बिना कोई सूक्ष्म अर्थ अन्यथा प्रतिभासित हो और यह ऐसा जाने कि जिनदेव का उपदेश ऐसा ही है - ऐसा जानकर कोई सूक्ष्म अर्थ का अन्यथा श्रद्धान करे वा उपदेश दे तो इसको महत् पाप नहीं होता । वही ग्रंथ में भी आचार्य ने कहा है -

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ।। २७ ।। जीवकाण्ड।

पुनश्च कोई कहता है कि - आपने विशेष ज्ञानी से ग्रंथ के यथार्थ सर्व अर्थ का निर्णय करके टीका करने का प्रारम्भ क्यों नहीं किया ?

उसको कहते हैं – कालदोष से केवली, श्रुतकेवली का तो यहां अभाव ही हुआ तथा विशेष ज्ञानी भी विरले ही पाये जाते हैं । जो कोई हैं तो वे दूर क्षेत्र में हैं उनका संयोग दुर्लभ है । पुनश्च आयु, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि तुच्छ रह गये हैं । इसलिये जितना बन सके उतना अर्थ का निर्णय किया, अवशेष जैसे हैं, वैसे प्रमाण हैं ।

पुनश्च कोई कहता है कि – आपने कहा वह सत्य, परंतु इस ग्रंथ में जो भूल होगी, उसके शुद्ध होने का कुछ उपाय भी है ?

उसको कहते हैं – एक उपाय यह करते हैं – विशेष ज्ञानवान पुरुषों का प्रत्यक्ष तो संयोग नहीं है, इसलिये उनसे परोक्ष ही ऐसी बिनती करता हूँ कि मैं मन्दबुद्धि हूँ, विशेष ज्ञानरहित हूँ, अविवेकी हूँ, शब्द, न्याय, गणित, धार्मिक आदि ग्रंथों का मुझे विशेष अभ्यास नहीं है इसलिये मैं शक्तिहीन हूँ; तथापि धर्मानुराग वश टीका करने का विचार किया, इसलिये इसमें जहां जहां भूल हो, अन्यथा अर्थ हो जाय, वहां-वहां मेरे ऊपर क्षमा करके उस अन्यथा अर्थ को दूर करके यथार्थ अर्थ लिखना । इसप्रकार बिनती करके जो भूल होगी, उसके शुद्ध होने का उपाय किया है ।

पुनश्च कोई कहता है कि – आपने टीका करने का विचार किया, वह तो अच्छा किया, परंतु ऐसे महान ग्रंथ की टीका संस्कृत ही चाहिये । भाषा में तो इसकी गम्भीरता भासित नहीं होती ।

उसको कहते हैं – इस ग्रंथ की 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीका तो पहले से है ही । परंतु वहां संस्कृत, गणित, आम्नाय आदि के ज्ञान रहित जो मन्दबुद्धि हैं, उनका प्रवेश नहीं होता । पुनश्च यहां कालदोष से बुद्धि आदि के तुच्छ होने से संस्कृतादि ज्ञान रहित जीव बहुत हैं, उन्हें इस ग्रंथ के अर्थ का ज्ञान होने के लिये भाषा टीका करते हैं । इसलिये जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञानयुक्त हैं, वे मूलग्रंथ और संस्कृत टीका से अर्थ धारण करेंगे तथा जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञान रहित हैं वे इस भाषा टीका से अर्थ धारण करें । पुनश्च जो जीव संस्कृतादि ज्ञान सहित हैं, परंतु गणित आम्नायादिक के ज्ञान के अभाव से मूलग्रंथ और संस्कृत टीका में प्रवेश नहीं पा सकते, वे इस भाषा टीका से अर्थ को धारण करके, मूलग्रंथ और संस्कृत टीका में प्रवेश करें । और यदि भाषा टीका से मूलग्रंथ और संस्कृत टीका में अधिक अर्थ हो, तो उसे जानने का अन्य उपाय बनें सो करें ।

यहां कोई कहता है – संस्कृत ज्ञानवालों का भाषा अभ्यास में अधिकार नहीं है ।

उसको कहते हैं – संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा वांचने से कोई दोष तो नहीं उत्पन्न होते, अपना प्रयोजन जैसे सिद्ध हो वैसे ही करना । पहले अर्धमागधी आदि भाषामय महान ग्रंथ थे । जब जीवों के बुद्धि की मंदता हुयी, तब संस्कृतादि भाषामय ग्रंथ बने । अब जीवों के विशेष बुद्धि की मंदता हुयी, इसलिये देशभाषामय ग्रंथ करने का विचार हुआ । संस्कृतादि का अर्थ भी अब भाषा द्वारा जीवों को समझाते हैं, यहां भाषा द्वारा ही अर्थ लिखा है तो कुछ दोष नहीं है ।

इसप्रकार विचार कर श्रीमद् **गोम्मटसार** द्वितीय नाम **पंचसंग्रह** ग्रंथ की **'जीवतत्त्व-प्रदीपिका'** नामक संस्कृत टीका के अनुसार **'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका'** नामक यह देशभाषामयी टीका करने का निश्चय किया है । सो श्री अरहंत देव, जिनवाणी और निर्ग्रंथ गुरुओं के प्रसाद से और मूलग्रंथकर्ता श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों के प्रसाद से यह कार्य सिद्ध हो ।

अब इस शास्त्र के अभ्यास में जीवों को सन्मुख करते हैं । हे भव्य जीव! तुम अपने हित की वांछा करते हो, तो तुमको जैसे बने वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करना । क्योंकि आत्मा का हित मोक्ष है । मोक्ष के बिना अन्य जो है, वह परसंयोगजनित, विनाशिक और दुःखमय है । और मोक्ष है, वही निजस्वभाव है, अविनाशी है, अनंत सुखमय है । इसलिये मोक्षपद प्राप्त करने का उपाय तुमको करना चाहिये । सो मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं । इनकी प्राप्ति जीवादिक का स्वरूप जानने ही से होती है ।

वही कहते हैं – जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसे बिना जाने श्रद्धान का होना आकाश के फूल के समान है । प्रथम जाने, पश्चात् वैसी ही प्रतीति करके श्रद्धान को प्राप्त होता है । इसलिये जीवादिक का जानना, श्रद्धान होने के पूर्व में होता है, वही उनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का कारण जानना । तथा श्रद्धान होनेपर जो जीवादिक का जानना होता है, उसीका नाम सम्यग्ज्ञान है । पुनश्च श्रद्धानपूर्वक जीवादि जाननेपर स्वयमेव उदासीन होकर, हेय का त्याग करता है, उपादेय का ग्रहण करता है, तब सम्यक्चारित्र होता है । अज्ञानपूर्वक क्रियाकांड से सम्यक्चारित्र नहीं

होता । इसतरह जीवादिक को जानने ही से सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के उपायों की प्राप्ति होती है – ऐसा निश्चय करना । इस शास्त्र के अभ्यास से जीवादिक का जानना यथार्थ होता है । क्योंकि संसार है वह जीव और कर्म के संबंधरूप है तथा विशेष जाननेपर इनका संबंध का जो अभाव होता है वही मोक्ष है । और इस शास्त्र में जीव और कर्म का ही विशेष निरूपण है । अथवा जीवादिक षट्द्रव्य, सात तत्त्व आदि का भी इसमें यथार्थ निरूपण है । इसलिये इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना ।

अब यहां कितने ही जीव इस शास्त्र के अभ्यास में अरुचि होने के कारण विपरीत विचार प्रगट करते हैं, उनको समझाते हैं । वहां वे जीव प्रथमानुयोग, चरणानुयोग वा द्रव्यानुयोग का केवल पक्ष करके इस करणानुयोगरूप शास्त्र के अभ्यास का निषेध करते हैं ।

उनमें से **प्रथमानुयोग का पक्षपाती कहता है** कि इस काल में जीवों की बुद्धि बहुत मंद है, उनके तो ऐसे सूक्ष्म व्याख्यानरूप शास्त्र में से कुछ समझ में नहीं आता, इसलिये तीर्थंकरादि की कथा का उपदेश दिया जाय तो ठीक तरह से समझ कर पाप से डरकर धर्मानुरागरूप होगा, इसलिये प्रथमानुयोग का उपदेश कार्यकारी है।

उसको कहते हैं – अब भी सभी जीव तो एक से नहीं हुये हैं, उनकी हीनाधिक बुद्धि देखी जाती है । इसलिये जैसा जीव हो, वैसा उपदेश देना । अथवा मंदबुद्धि भी सिखानेपर अभ्यास से बुद्धिमान होते दिखते हैं । इसलिये जो बुद्धिमान हैं, उनको तो यह ग्रंथ कार्यकारी है ही और जो मंदबुद्धि हैं वे विशेष बुद्धिमानों से सामान्य-विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप सीखकर इस शास्त्र के अभ्यास में प्रवर्तन करें ।

यहां मंदबुद्धि कहते हैं कि – इस गोम्मटसार शास्त्र में तो गणित समस्या अनेक अपूर्व कथन द्वारा बहुत कठिन है ऐसा सुनते हैं, हम इसमें किसतरह प्रवेश पा सकते हैं ?

उनको कहते हैं – भय मत करना, इस भाषा टीका में गणित आदि का अर्थ सुगमरूप करके कहा है, इसलिये प्रवेश पाना कठिन नहीं रहा । पुनश्च इस शास्त्र में कथन कहीं सामान्य है, कहीं विशेष है, कहीं सुगम है, कहीं कठिन है; वहां यदि सर्व अभ्यास बनता है, तो अच्छा ही है और यदि नहीं बनता तो अपने बुद्धि के

अनुसार जैसा बने वैसा ही अभ्यास करो । अपने उपाय में आलस नहीं करना।

पुनश्च तूने कहा - प्रथमानुयोग संबंधी कथादिक सुनने से पाप से ड़रते हैं और धर्मानुरागरूप होते हैं ।

वहां तो दोनों कार्य शिथिलता सहित होते हैं । यहां पुण्य-पाप के कारण-कार्यादिक विशेष जानने से वे दोनों कार्य दृढ़ता से होते हैं । इसलिये इसका अभ्यास करना । इसप्रकार प्रथमानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब **चरणानुयोग का पक्षपाती कहता है** कि इस शास्त्र में कहा हुआ जीव-कर्म का स्वरूप जैसा है वैसा ही है, उसको जानने से क्या सिद्धि होती है ? यदि हिंसादिक का त्याग करके व्रत का पालन किया जाय, उपवासादि तप किया जाय, अरहंतादिक की पूजा, नामस्मरण आदि भक्ति की जाय, दान दिया जाय वा विषयादिक से उदासीन हो जाय इत्यादि शुभ कार्य किये जाय तो आत्महित हो । इसलिये इनका प्ररूपण करनेवाले चरणानुयोग का उपदेश करना ।

उसको कहते हैं - हे स्थूलबुद्धि ! तूने व्रतादिक शुभ कार्य कहे, वे करने योग्य ही हैं । परंतु वे सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसे हैं जैसे अंक बिना बिंदी । और जीवादिक का स्वरूप जाने बिना सम्यक्त्व का होना ऐसा है जैसे बांझ का पुत्र । इसलिये जीवादिक जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना । तथा तूने जैसे व्रतादिक शुभ कार्य कहे और उनसे पुण्यबंध होता है, वैसे जीवादिक का स्वरूप जाननेरूप ज्ञानाभ्यास है, वह प्रधान शुभ कार्य है, इससे सातिशय पुण्य का बंध होता है । पुनश्च उन व्रतादिकों में भी ज्ञानाभ्यास की ही प्रधानता है, उसे कहते हैं -

जो जीव प्रथम जीवसमासादिक जीवादिक के विशेष जानकर पश्चात् यथार्थ ज्ञान करके हिंसादिक का त्याग करके व्रत धारण करता है, वही व्रती है । तथा जीवादिक के विशेष जाने बिना कथंचित् हिंसादिक के त्याग से अपने को व्रती मानता है, वह व्रती नहीं है । इसलिये व्रत पालने में ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है ।

पुनश्च तप दो प्रकार के हैं - एक बहिरंग, एक अंतरंग । वहां जिससे शरीर का दमन हो, वह बहिरंग तप है और जिससे मन का दमन हो, वह अंतरंग तप है । इनमें बहिरंग तप से अंतरंग तप उत्कृष्ट है । उपवासादि तो बहिरंग तप है, ज्ञानाभ्यास अंतरंग तप है । सिद्धांत में भी छह प्रकार के अंतरंग तपों में चौथा स्वाध्याय

नामक तप कहा है । उससे उत्कृष्ट व्युत्सर्ग और ध्यान ही है । इसलिये तप करने में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है । पुनश्च जीवादिक के विशेषरूप गुणस्थानादिकों का स्वरूप जाननेपर ही अरहंतादिकों का स्वरूप यथार्थ रीति से पहचाना जाता है तथा अपनी अवस्था पहचानी जाती है । ऐसी पहचान होनेपर जो अंतरंग तीव्र भक्ति प्रकट होती है, वही बहुत कार्यकारी है । तथा जो कुलक्रमादिक से भक्ति होती है, वह किंचित् मात्र फल की दाता है । इसलिये भक्ति में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है ।

पुनश्च दान चार प्रकार का है – उनमें आहारदान, औषधदान, अभयदान तो तात्कालिक क्षुधा के दुःख को, रोग के दुःख को और मरणादि के भय के दुःख ही को दूर करते हैं । और ज्ञानदान है वह अनंत भवसंतान संबंधी दुःख दूर करने का कारण है । तीर्थंकर, केवली, आचार्यादिकों के भी ज्ञानदान की प्रवृत्ति है । इसलिये ज्ञानदान उत्कृष्ट है, सो स्वयं का ज्ञानाभ्यास हो जाय तो अपना भला कर लेता है और अन्य जीवों को ज्ञानदान देता है । ज्ञानाभ्यास बिना ज्ञानदान देना कैसे हो सकता है ? इसलिये दान में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है ।

पुनश्च जिसप्रकार जन्म से ही कितने ही पुरुष ठगों के घर गये – वहां उन ठगों को अपना मानते हैं । उनमें से कदाचित् कोई पुरुष किसी निमित्त से अपने कुल का और ठगों का यथार्थ ज्ञान होने से ठगों से अंतरंग में उदासीन हुआ उनको पर जानकर संबंध छुड़ाना चाहता है । बाह्य में जैसा निमित्त है वैसा प्रवर्तन करता है। पुनश्च कोई पुरुष उन ठगों को अपना ही जानता है और किसी कारण से किसी ठग से अनुरागरूप प्रवर्तता है, किसी ठग से लड़ कर उदासीन होकर आहारादि का त्यागी होता है ।

उसप्रकार अनादि से सर्व जीव संसार को प्राप्त हैं, वहां कर्मों को अपना मानते हैं । उनमें से कोई जीव किसी निमित्त से जीव का *(अपना)* और कर्म का यथार्थ ज्ञान होने से कर्मों से उदासीन हुआ उनको पर जानकर उनसे संबंध छुड़ाना चाहता है । बाह्य जैसा निमित्त है वैसा प्रवर्तन करता है । इसतरह जो ज्ञानाभ्यास से उदासीनता होती है वही कार्यकारी है । पुनश्च कोई जीव उन कर्मों को अपने जानता है और किसी कारण से किसी शुभ कर्म से अनुरागरूप प्रवर्तता है, किसी अशुभ कर्म से दुःख का कारण जानकर उदासीन हुआ विषयादिक का त्यागी होता है । इसतरह ज्ञान बिना जो उदासीनता होती है वह पुण्यफल की दाता है, मोक्षकार्य

को नहीं साधती । इसलिये उदासीनता में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है ।

इसीप्रकार अन्य भी शुभकार्यों में ज्ञानाभ्यास ही प्रधान जानना । देखो ! महामुनियों के भी ध्यान-अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं । इसलिये शास्त्र अध्ययन से जीव कर्म का स्वरूप जानकर स्वरूप का ध्यान करना ।

पुनश्च यहां कोई तर्क करे कि - कोई जीव शास्त्र अध्ययन तो बहुत करता है और विषयादिक का त्यागी नहीं होता, तो उसको शास्त्र अध्ययन कार्यकारी है या नहीं ? यदि है, तो महंत पुरुष क्यों विषयादिक का त्याग करते हैं ? और यदि नहीं है, तो ज्ञानाभ्यास की महिमा कहां रही ?

उसका समाधान - शास्त्राभ्यासी दो प्रकार के हैं - एक लोभार्थी, एक धर्मार्थी। वहां जो अंतरंग अनुराग के बिना ख्याति, पूजा, लाभादिक के लिये शास्त्राभ्यास करता है, वह लोभार्थी है, वह विषयादिक का त्याग नहीं करता । अथवा ख्याति, पूजा, लाभादिक के लिये विषयादिक का त्याग भी करता है, तो भी उसका शास्त्राभ्यास कार्यकारी नहीं है ।

तथा जो अंतरंग अनुराग से आत्महित के लिये शास्त्राभ्यास करता है, वह धर्मार्थी है । प्रथम तो जैन शास्त्र ऐसे हैं कि जिनका धर्मार्थी होकर जो अभ्यास करता है, वह विषयादिक का त्याग करता ही है । उसके तो ज्ञानाभ्यास कार्यकारी है ही । परंतु कदाचित् पूर्वकर्म के उदय की प्रबलता से न्यायरूप विषयों का त्याग न बन सके, तो भी उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होने से ज्ञानाभ्यास कार्यकारी होता है । जैसे असंयत गुणस्थान में विषयादिक के त्याग बिना भी मोक्षमार्गपना होता है।

यहां प्रश्न - जो धर्मार्थी होकर जैन शास्त्रों का अभ्यास करता है, उसके विषयादिक का त्याग न हो, ऐसा तो बन नहीं सकता । क्योंकि विषयादिक का सेवन परिणामों से होता है और परिणाम स्वाधीन हैं ।

वहां समाधान - परिणाम ही दो प्रकार के हैं ह्न एक बुद्धिपूर्वक, एक अबुद्धिपूर्वक। वहां अपने अभिप्राय के अनुसार हो वे बुद्धिपूर्वक और दैव *(कर्म)*-निमित्त से अपने अभिप्राय से अन्यथा हो वे अबुद्धिपूर्वक । जिसप्रकार सामायिक करते हुये धर्मात्मा का अभिप्राय ऐसा है कि मैं मेरे परिणाम शुभरूप रखूं । वहां जो शुभपरिणाम ही हो, वे तो बुद्धिपूर्वक और कर्मोदय से स्वयमेव अशुभ परिणाम हो, वे अबुद्धिपूर्वक जानना ।

उसीप्रकार धर्मार्थी होकर जो जैनशास्त्रों का अभ्यास करता है उसका अभिप्राय तो विषयादिक के त्यागरूप वीतराग भाव का ही होता है । वहां जो वीतराग भाव हुआ, तो वह बुद्धिपूर्वक है और चारित्रमोह के उदय से सराग भाव हो जाय, तो वह अबुद्धिपूर्वक है । इसलिये बिना वश जो सराग भाव होते हैं, उनसे उसके विषयादिक की प्रवृत्ति दिखायी देती है । क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति का कारण परिणाम है ।

यहां तर्क – यदि ऐसा है, तो हम भी विषयादिक का सेवन करेंगे और कहेंगे कि हमारे उदयाधीन कार्य हो रहे हैं ।

उसको कहते हैं – रे मूर्ख ! कुछ कहने से तो होता नहीं ! सिद्धि तो अभिप्राय के अनुसार है । इसलिये जैन शास्त्र के अभ्यास से अपने अभिप्राय को सम्यक्रूप करना । और अंतरंग में विषयादिक के सेवन का अभिप्राय हो, तो धर्मार्थी नाम नहीं पाता ।

इसतरह चरणानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब द्रव्यानुयोग का पक्षपाती कहता है कि द्ध इस शास्त्र में जीव के गुणस्थानादिरूप विशेष और कर्म के विशेष इनका वर्णन किया है, उसको जानने से अनेक विकल्प तरंग उठते हैं तथा कुछ सिद्धि नहीं है । इसलिये अपने शुद्ध स्वरूप को अनुभवना तथा स्व और पर का भेदविज्ञान करना, इतना ही कार्यकारी है अथवा इनके उपदेशक जो अध्यात्मशास्त्र, उनका ही अभ्यास करना योग्य है ।

उसको कहते हैं – हे सूक्ष्माभासबुद्धि ! तूने कहा वह सत्य है, परंतु अपनी अवस्था देखना । यदि स्वरूपानुभव में वा भेदविज्ञान में उपयोग निरंतर रहता है, तो अन्य विकल्प क्यों करने ? वहां ही स्वरूपानंद सुधारस का स्वादी होकर संतुष्ट होना। परंतु निचली अवस्था में वहां निरंतर उपयोग रहता नहीं । उपयोग अनेक अवलंबन को चाहता है । इसलिये जिस काल में वहां उपयोग नहीं लगता, तब गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना ।

पुनश्च तूने कहा कि – अध्यात्मशास्त्रों का ही अभ्यास करना, वह योग्य ही है । परंतु वहां भेदविज्ञान करने के लिये स्व-पर का सामान्यपने स्वरूप निरूपण है और विशेष ज्ञान बिना सामान्य का जानना स्पष्ट नहीं होता । इसलिये जीव के और कर्म के विशेष अच्छी तरह जानने से ही स्व-पर का जानना स्पष्ट होता है।

उन विशेषों को जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास करना । क्योंकि सामान्यशास्त्र से विशेषशास्त्र बलवान है । वही कहा है -**''सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् ।''**

वहां वह कहता है कि - अध्यात्मशास्त्रों में तो गुणस्थानादि विशेषों से रहित शुद्धस्वरूप का अनुभवना उपादेय कहा है । यहां गुणस्थानादि सहित जीव का वर्णन है। इसलिये अध्यात्मशास्त्र और इस शास्त्र में तो विरोध भासित होता है, वह किसप्रकार है?

उसको कहते हैं - नय दो प्रकार के हैं - एक निश्चय, एक व्यवहार । वहां निश्चयनय से जीव का स्वरूप गुणस्थानादि विशेष रहित अभेद वस्तुमात्र ही है। और व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेषों से संयुक्त अनेक प्रकार का है । वहां जो जीव सर्वोत्कृष्ट, अभेद, एक स्वभाव को अनुभवते हैं, उनको तो वहां शुद्ध उपदेशरूप जो शुद्ध निश्चयनय, वही कार्यकारी है ।

पुनश्च जो स्वानुभवदशा को प्राप्त नहीं हुये हैं वा स्वानुभवदशा से छूटकर सविकल्पदशा को प्राप्त हुये हैं ऐसे अनुत्कृष्ट जो अशुद्ध स्वभाव, उसमें स्थित जीवों को व्यवहारनय प्रयोजनवान है । वही आत्मख्याति नामक अध्यात्मशास्त्र में कहा है -

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।। समयसार गाथा १२ ।

इस सूत्र के व्याख्यान का अर्थ विचार कर देखना ।

पुनश्च सुनो ! तुम्हारे परिणाम तो स्वरूपानुभव दशा में तो प्रवर्तते नहीं और विकल्प जानकर गुणस्थानादि भेदों का विचार न करोगे तो तुम इतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट होकर अशुभोपयोग में ही प्रवर्तन करोगे, वहां तुम्हारा बुरा होगा । पुनश्च सुनो ! सामान्यपने से तो वेदांत आदि शास्त्राभासों में *(शास्त्र नहीं शास्त्र का आभास है)* भी जीव का स्वरूप शुद्ध कहा है, वहां विशेष को जाने बिना यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे हो? इसलिये गुणस्थानादि विशेष जाननेपर जीव की शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र अवस्था का ज्ञान होता है, तब निर्णय करके यथार्थ को अंगीकार करता है । पुनश्च सुनो ! जीव का गुण ज्ञान है, सो विशेष जानने से आत्मगुण प्रकट होता है, अपना श्रद्धान भी दृढ़ होता है । जैसे सम्यक्त्व है, वह केवलज्ञान प्राप्त होनेपर परमावगाढ़ नाम पाता है। इसलिये विशेष जानना ।

पुनश्च वह कहता है – आपने कहा वह सत्य है, परंतु करणानुयोग से विशेष जाननेपर भी द्रव्यलिंगी मुनि अध्यात्म श्रद्धान के बिना संसारी ही रहता है और अध्यात्म का अनुसरण करनेवाले तिर्यंचादिक को अल्प श्रद्धान से भी सम्यक्त्व होता है । और तुषमाष भिन्न इतने मात्र श्रद्धान से शिवभूति मुनि मुक्त हुये । इसलिये हमारी बुद्धि से तो विशेष विकल्पों का साधन होता नहीं । प्रयोजनमात्र अध्यात्म का अभ्यास करेंगे ।

इसको कहते हैं – द्रव्यलिंगी जैसे करणानुयोग से विशेष जानते हैं, वैसे अध्यात्मशास्त्रों का ज्ञान भी उनको होता है, परंतु मिथ्यात्व के उदय से अयथार्थ साधन करते हैं, तो शास्त्र क्या करें ? शास्त्र में तो परस्पर विरोध है नहीं। कैसे ? वह कहते हैं–

करणानुयोग शास्त्रों में भी तथा अध्यात्मशास्त्रों में भी रागादिक भाव आत्मा के कर्म निमित्त से उत्पन्न होते हैं कहा । द्रव्यलिंगी उनका स्वयं कर्ता होकर प्रवर्तता है । पुनश्च शरीराश्रित सर्व शुभाशुभ क्रियायें पुद्गलमयी कही हैं, द्रव्यलिंगी उन्हें अपनी जानकर उनमें ग्रहण–त्याग की बुद्धि करता है । पुनश्च सर्व ही शुभाशुभ भाव आस्रव, बंध के कारण कहे । द्रव्यलिंगी शुभभावों को संवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण मानता है । पुनश्च शुद्धभाव संवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण कहा, उसको द्रव्यलिंगी पहचानता ही नहीं है । पुनश्च शुद्धात्मस्वरूप मोक्ष कहा, उसका द्रव्यलिंगी को यथार्थ ज्ञान नहीं है । इसतरह अन्यथा साधन करता है, तो शास्त्रों का क्या दोष है ?

पुनश्च तुमने तिर्यंचादिक के सामान्य श्रद्धान से कार्यसिद्धि कही परंतु उनके भी अपने क्षयोपशम के अनुसार विशेष का जानना होता है अथवा पूर्व पर्यायों में विशेष का अभ्यास किया था, उस संस्कार के बल से होता है । जिसप्रकार किसी ने कहीं गड़ा हुआ धन पाया इसलिये हम भी ऐसे ही पायेंगे मानकर सभी को व्यापारादिक का त्याग नहीं करना चाहिये । उसीप्रकार किसी ने अल्प श्रद्धान से ही कार्य सिद्ध किया इसलिये हम भी ऐसे ही कार्य सिद्ध करेंगे मानकर सभी को विशेष अभ्यास का त्याग करना योग्य नहीं है क्योंकि यह राजमार्ग नहीं है । राजमार्ग तो यह ही है कि नानाप्रकार के विशेष जानकर तत्त्वों का निर्णय होनेपर ही कार्यसिद्धि होती है।

पुनश्च तुमने कहा मेरी बुद्धि से विकल्पसाधन नहीं होता, तो जितना बन सके उतना ही अभ्यास करो । तुम पापकार्य में तो प्रवीण हो और इस अभ्यास में कहते

हो मेरी बुद्धि नहीं है, यह तो पापी का लक्षण है ।

इसतरह द्रव्यानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब अन्य विपरीत विचारवालों को समझाते हैं –

वहां **शब्द–शास्त्रादिक का पक्षपाती कहता है कि** व्याकरण, न्याय, कोश, छंद, अलंकार, काव्यादिक ग्रंथों का अभ्यास किया जाय तो अनेक ग्रंथों का स्वयमेव ज्ञान होता है और पंडितपना प्रकट होता है और इस शास्त्र के अभ्यास से तो एक इसी का ज्ञान हो और पंडितपना विशेष प्रकट न हो, इसलिये शब्द–शास्त्रादिक का अभ्यास करना ।

उसको कहते हैं – यदि तुम लोक में ही पंडित कहलाना चाहते हो, तो तुम उसी का अभ्यास किया करो और यदि अपना कार्य करना चाहते हो तो ऐसे जैनग्रंथों का अभ्यास करना ही योग्य है । तथा जैनी तो जीवादिक तत्त्वों के निरूपक जैन ग्रंथ हैं, उन्हीं का अभ्यास होनेपर पंडित मानेंगे ।

पुनश्च वह कहता है कि – मैं जैन ग्रंथों का विशेष अभ्यास करने के लिये ही व्याकरणादि का अभ्यास करता हूँ ।

उसको कहते हैं – यदि ऐसा है तो भला ही है, परंतु इतना है कि जिसतरह चतुर किसान अपनी शक्ति के अनुसार हलादिक द्वारा थोड़े बहुत खेत को संवारकर योग्य समय में बीज बोवे तो उसको फल की प्राप्ति होगी । उसीतरह तुम भी अपनी शक्ति के अनुसार व्याकरणादिक के अभ्यास से थोड़ी बहुत बुद्धि को संवारकर जब तक मनुष्यपर्याय और इन्द्रियों की प्रबलता आदि वर्तते हैं, तब तक – उतने समय में तत्त्वज्ञान के कारणभूत जो शास्त्र, उनका अभ्यास करोगे, तो तुम्हें सम्यक्त्वादि की प्राप्ति होगी ।

इससे विपरीत जिसतरह अनाड़ी किसान यदि हलादिक से खेत को संवारते–संवारते ही समय खो देगा, तो उसको फल की प्राप्ति होनेवाली नहीं है, वृथा ही खेदखिन्न होगा । उसीप्रकार तुम भी यदि व्याकरणादिक से बुद्धि को संवारते–संवारते ही समय खो दोगे, तो सम्यक्त्वादि की प्राप्ति होनेवाली नहीं है, वृथा ही खेदखिन्न हो जाओगे ।

पुनश्च इस काल में आयु, बुद्धि आदि अल्प है इसलिये प्रयोजनमात्र अभ्यास करना, शास्त्रों का तो पार है नहीं । और सुनो ! कितने ही जीव व्याकरणादि के ज्ञान बिना भी तत्त्वोपदेशरूप भाषा शास्त्रों से वा उपदेश सुनकर वा सीखने से तत्त्वज्ञानी होते हुये देखे जाते हैं और कितने ही जीव केवल व्याकरणादिक के ही अभ्यास में जन्म गंवाते हैं और तत्त्वज्ञानी नहीं होते देखे जाते हैं ।

और सुनो ! व्याकरणादि के अभ्यास करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, धर्मार्थी होकर उनका अभ्यास करे तो किंचित् पुण्य उपजता है । परंतु तत्त्वोपदेशक शास्त्रों के अभ्यास से सातिशय महान पुण्य उपजता है । इसलिये भला यही है कि ऐसे तत्त्वोपदेशक शास्त्रों का अभ्यास करना । इसतरह शब्द-शास्त्रादिक के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया ।

पुनश्च अर्थ का पक्षपाती कहता है कि - इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या है ? सर्व कार्य धन से होते हैं, धन से ही प्रभावना आदि धर्म उत्पन्न होते हैं। धनवान के निकट अनेक पंडित आकर उपस्थित होते हैं । अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है । इसलिये धन प्राप्ति का उद्यम करना ।

उसको कहते हैं - अरे पापी ! धन कुछ अपने उत्पन्न कराने से उत्पन्न नहीं होता, भाग्य से होता है । ग्रंथाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है । इसलिये धन प्राप्त होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा ? और यदि नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा? इसलिये धन का होना, न होना तो उदयाधीन है, शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होते हो ? और सुनो ! धन है वह तो विनाशिक है, भय संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है, नरकादि का कारण है ।

और यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है वह अविनाशी है, भय रहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग मोक्ष का कारण है । इसलिये महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में लगते हैं । और तुम पापी शास्त्राभ्यास को छोड़कर धन उत्पन्न करने की बढ़ाई करते हो, सो तुम अनंत संसारी हो ।

तथा तुमने कहा - प्रभावना आदि धर्म भी धन ही से होते हैं। समाधान- सो प्रभावना आदि धर्म हैं वे किंचित् सावद्य क्रिया संयुक्त हैं । उनसे समस्त सावद्य

रहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है । यदि ऐसा न होता तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावना आदि धर्म साधते थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यास में क्यों लगते हैं ? तथा शास्त्राभ्यास से प्रभावनादि भी विशेष होती हैं ।

तथा तुमने कहा - धनवान के निकट पंडित भी आकर उपस्थित होते हैं । सो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो वहां ऐसा होता है । और शास्त्राभ्यासवालों की तो इन्द्रादिक सेवा करते हैं । यहां भी बड़े बड़े महंत पुरुष दास होते देखे जाते हैं । इसलिये शास्त्राभ्यासवालों से धनवान को महंत मत जानो ।

तथा तुमने कहा - धन से सर्व कार्यसिद्धि होती है । सो धन से तो इस लोक संबंधी कुछ विषयादिक कार्य ऐसे सिद्ध होते हैं, जिनसे बहुत काल तक नरकादि दुःख सहन करने पड़ते हैं और शास्त्राभ्यास से ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं, जिनसे इस लोक में तथा परलोक में अनेक सुखों की परम्परा होती है । इसलिये धन उपजाने के विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यास करना । और यदि सर्वथा ऐसा न बन सके तो संतोष सहित धन उपजाने का साधन कर शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना । इसतरह धनोत्पादन के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया ।

पुनश्च कामभोगादिक का पक्षपाती कहता है कि - शास्त्राभ्यास करने में सुख नहीं है, बड़ाई नहीं है । इसलिये जिनके द्वारा यहां ही सुख उत्पन्न हो ऐसे जो स्त्रीसेवन, खाना, पहनना इत्यादि विषय, उनका सेवन करना चाहिये अथवा जिनके द्वारा यहां ही बड़ाई हो ऐसे विवाहादिक कार्य करना चाहिये ।

उसको कहते हैं - विषयजनित जो सुख है, वह दुःख ही है । क्योंकि विषयसुख है वह परनिमित्त से होता है । पहले, पीछे और तत्काल आकुलता सहित है, जिसके नाश होने के अनेक कारण मिलते हैं । आगामी नरकादि दुर्गति को प्राप्त करानेवाला है । ऐसा होनेपर भी तुम्हारे चाहने से मिलता नहीं, पूर्व पुण्य से मिलता है, इसलिये विषम है । जैसे खाज से पीड़ित मनुष्य अपने अंग को कठोर वस्तु से खुजाता है, वैसे इन्द्रियों से पीड़ित जीव, उनकी पीड़ा सही नहीं जाती तब किंचित् मात्र उस पीड़ा के प्रतिकार से भासित होते हैं ऐसे जो विषयसुख, उनमें झंपापात करते हैं, वह परमार्थरूप सुख नहीं है ।

पुनश्च शास्त्राभ्यास करने से हुआ जो सम्यग्ज्ञान, उससे उत्पन्न जो आनन्द, वह

सच्चा सुख है । क्योंकि वह सुख स्वाधीन है, आकुलता रहित है, किसी से नष्ट नहीं होता, मोक्ष का कारण है, विषम नहीं है । जैसे खाज की पीड़ा नहीं होती, तब सहज ही सुखी होता है, वैसे वहां इन्द्रियां पीड़ने के लिये समर्थ नहीं होती, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है । इसलिये विषयसुख छोड़कर शास्त्राभ्यास करना। यदि सर्वथा न छूटे तो जितना बन सके उतना छोड़कर, शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना।

पुनश्च तुमने विवाहादिक कार्य में बड़ाई होने की बात कही, तो कितने दिन वह बड़ाई रहेगी ? जिसके लिये महापापारंभ द्वारा नरकादि में बहुत काल तक दुःख भोगना होगा । अथवा तुमसे भी उन कार्यों में धन लगानेवाले बहुत हैं, इसलिये विशेष बड़ाई भी होनेवाली नहीं है ।

शास्त्राभ्यास से तो ऐसी बड़ाई होती है कि जिसकी सर्वजन महिमा करते हैं, इन्द्रादिक भी प्रसंशा करते हैं और परम्परा स्वर्ग-मोक्ष का कारण है । इसलिये विवाहादिक कार्यों के विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यास का उद्यम रखना । सर्वथा न छूटे तो बहुत विकल्प न करना । इसतरह कामभोगादिक के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास में सन्मुख किया । इसीप्रकार अन्य जीव भी जो विपरीत विचार से इस ग्रंथ के अभ्यास में अरुचि प्रकट करते हैं, उन्हें यथार्थ विचार से इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख होना योग्य है ।

यहां अन्यमती कहते हैं - तुमने अपने ही शास्त्रों का अभ्यास करने के लिये दृढ़ किया । हमारे मत में नाना युक्ति आदि से संयुक्त शास्त्र हैं, उनका भी अभ्यास क्यों नहीं कराते ?

उसको कहते हैं - तुम्हारे मत के शास्त्रों में आत्महित का उपदेश नहीं है। क्योंकि कहीं शृंगार का, कहीं युद्ध का, कहीं कामसेवनादि का, कहीं हिंसादि का कथन है । ये सब तो बिना उपदेश के सहज ही हो रहे हैं । इनको त्यागने से हित होता है, वे उनका उलटा पोषण करते हैं, इसलिये उनसे हित कैसे होगा ?

वहां वह कहता है - ईश्वर ने ऐसी लीला की है, उसको गाते हैं, उससे भला होता है ।

वहां कहते हैं - यदि ईश्वर को सहज सुख नहीं होगा, तब तो संसारीवत् लीला करके सुखी हुआ । यदि वह सहज सुखी होता तो किसलिये विषयादि सेवन

और युद्धादि करता ? क्योंकि मंदबुद्धि भी बिना प्रयोजन किंचित् मात्र भी कार्य नहीं करते । इससे जाना जाता है कि वह ईश्वर हम सरिखा ही है, उसका यश गाने से क्या सिद्धि है ?

पुनश्च वह कहता है कि - हमारे शास्त्रों में वैराग्य, त्याग, अहिंसादिक का भी उपदेश है ।

वहां कहते हैं - वह उपदेश पूर्वोपर विरोध सहित है । कहीं विषयों का पोषण करते हैं, कहीं निषेध करते हैं । कहीं वैराग्य दिखाकर पश्चात् हिंसादिक के करने का पोषण किया है । वहां वातुलवचनवत् प्रमाण क्या ?

पुनश्च वह कहता है कि - वेदांत आदि शास्त्रों में तो तत्त्व का ही निरूपण है।

वहां कहते हैं - वह निरूपण प्रमाण से बाधित है, अयथार्थ है । उसका निराकरण जैन के न्यायशास्त्रों में किया है, वह जानना । इसलिये अन्यमत के शास्त्रों का अभ्यास नहीं करना ।

इसतरह जीवों को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया, उनको कहते हैं-

हे भव्य ! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं । शब्द का और अर्थ का वांचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं । वहां जैसे बने वैसे अभ्यास करना। यदि सर्व शास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम और दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है । वहां जिसका बने उसीका अभ्यास करना । परंतु अभ्यास में आलसी मत होना ।

देखो ! शास्त्राभ्यास की महिमा जिसके होनेपर परम्परा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होकर मोक्षरूप फल उत्पन्न होता है । वह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं -

१) क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है । २) पांच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है । ३) अति चंचल मन भी एकाग्र होता है । ४) हिंसादि पांच पाप नहीं होते । ५) अल्प ज्ञान होनेपर भी त्रिलोक के त्रिकाल संबंधी समस्त चराचर पदार्थों का जानना होता है । ६) हेय उपादेय की पहचान होती है । ७) आत्मज्ञान

सन्मुख होता है (ज्ञान आत्मसन्मुख होता है) । ८) अधिक अधिक ज्ञान होनेपर आनंद उत्पन्न होता है । ९) लोक में महिमा, यश विशेष होता है । १०) सातिशय पुण्य का बंध होता है । - इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रकट होते हैं । इसलिये शास्त्राभ्यास अवश्य करना ।

पुनश्च हे भव्य ! शास्त्राभ्यास करने का समय*(अवसर)* पाना महादुर्लभ है । किस कारण ? सो कहते हैं -

एकेन्द्रियादि असंज्ञीपर्यंत जीवों के तो मन ही नहीं है । और नारकी वेदना से पीड़ित, तिर्यंच विवेकरहित, देव विषयासक्त, इसलिये मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलनेपर शास्त्राभ्यास होता है । सो मनुष्यपर्याय की प्राप्ति होना ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से महादुर्लभ है ।

वहां द्रव्य से*(संख्या से)* लोक में मनुष्य जीव बहुत थोड़े हैं, तुच्छ संख्यातमात्र ही हैं*(पर्याप्त मनुष्यों की अपेक्षा)* और अन्य जीवों में निगोदिया अनंत हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं ।

पुनश्च क्षेत्र से मनुष्यों का क्षेत्र बहुत छोटा है, अढ़ाई द्वीपमात्र ही है । तथा अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्वलोक है, औरों का कितनेक राजूप्रमाण है ।

पुनश्च काल से मनुष्यपर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल अल्प है, कर्मभूमि की अपेक्षा पृथक्त्व कोडि पूर्व मात्र ही है । तथा अन्य पर्यायों में उत्कृष्ट रहने का काल- एकेन्द्रियों में तो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन मात्र और दूसरों में संख्यात पल्यमात्र है।

पुनश्च भाव से तीव्र शुभाशुभपना रहित ऐसे मनुष्यपर्याय के कारणभूत परिणाम होना अत्यंत दुर्लभ है । अन्य पर्याय के कारणभूत अशुभरूप और शुभरूप परिणाम होना सुलभ है ।

इसतरह शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याप्त कर्मभूमिया मनुष्यपर्याय, उसका दुर्लभपना जानना ।

वहां सुवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इन्द्रियों की सामर्थ्य, निरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता इत्यादिक की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महादुर्लभ है। वह प्रत्यक्ष देखते हैं । और इतनी सामग्री मिले बिना ग्रंथाभ्यास बन नहीं सकता।

सो तुमने भाग्य से यह अवसर पाया है । इसलिये तुमको हठ से भी तुम्हारे हित के लिये प्रेरित करते हैं । जैसे बने वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो । तथा अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ । तथा जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो । पुस्तक लिखवाना और पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करना इत्यादिक शास्त्राभ्यास के बाह्य कारण, उनका साधन करना । क्योंकि इनके द्वारा भी परम्परा कार्यसिद्धि होती है और महत् पुण्य उपजता है ।

इसतरह इस शास्त्र के अभ्यासादि में जीवों को रुचिवान किया ।

* * *

गोम्मटसार जीवकाण्ड संबंधी प्रकरण

जो यह **सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका** नामक भाषा टीका, उसमें संस्कृत टीका से कहीं अर्थ प्रकट करने के लिये और कहीं प्रसंगरूप और कहीं अन्य ग्रंथ के अनुसार अधिक भी कथन करेंगे और कहीं अर्थ स्पष्ट नहीं प्रतिभासेगा वहां न्यून कथन होगा ऐसा जानना। इस भाषा टीका में मुख्यपने जो जो मुख्य व्याख्यान है, उसको अनुक्रम से संक्षेप में कहते हैं । क्योंकि इसको जानने से अभ्यास करनेवालों को सामान्यपने इतना तो जानना होगा कि इसमें ऐसा कथन है । और क्रम जाने तो जिस व्याख्यान को जानना हो, उसको वहां शीघ्र अवलोकन कर अभ्यास करे और जिन्होंने अभ्यास किया है, वे इसको देखकर अर्थ का स्मरण करें । सर्व अर्थ की सूचनिका करने से तो विस्तार होगा, कथन तो आगे है ही, इसलिये मुख्य कथन की सूचनिका क्रम से करते हैं ।

वहां इस भाषा टीका में सूचनिका द्वारा कर्माष्टक आदि गणित का स्वरूप दिखाकर संस्कृत टीका के अनुसार मंगलाचरण आदि का स्वरूप कहकर मूल गाथाओं की टीका करने में आयेगी ।

वहां इस शास्त्र में दो महा अधिकार हैं - एक जीवकाण्ड, एक कर्मकाण्ड। वहां जीवकाण्ड में बाइस अधिकार हैं ।

उनमें **प्रथम गुणस्थानाधिकार** है । उसमें गुणस्थानों के नाम और सामान्य लक्षण कहकर उनमें सम्यक्त्व, चारित्र अपेक्षा औदयिकादि होनेवाले भावों का निरूपण

करके क्रम से मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों का वर्णन है । वहां मिथ्यादृष्टि में पांच मिथ्यात्व आदि का, सासादन में उसके काल और स्वरूप का, मिश्र में उसके स्वरूप का और मरण न होने का, असंयत में वेदक आदि सम्यक्त्वों का और उसके स्वरूपादिक का, देशसंयत में उसके स्वरूप का वर्णन है । पुनश्च प्रमत्त के कथन में उसके स्वरूप का और पंद्रह तथा अस्सी तथा साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद भेदों का और वहां प्रसंग पाकर संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, समुद्दिष्ट द्वारा और गूढ यंत्र द्वारा अक्षसंचार विधान का कथन है । जहां भेदों को पलट-पलटकर परस्पर लगाते हैं वहां अक्षसंचार विधान होता है । पुनश्च अप्रमत्त के कथन में स्वस्थान और सातिशय दो भेद कहकर, सातिशय अप्रमत्त के अधःकरण होता है उसके स्वरूप, काल, परिणाम, समय-समय संबंधी परिणाम, एक-एक समय में अनुकृष्टि विधान तथा वहां होनेवाले चार आवश्यक इत्यादिक का विशेष वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर श्रेणीव्यवहाररूप गणित का कथन है । उसमें सर्वधन, उत्तरधन, मुख, भूमि, चय, गच्छ इत्यादि संज्ञाओं का स्वरूप तथा प्रमाण लाने के लिये करणसूत्रों का वर्णन है । पुनश्च अपूर्वकरण के कथन में उसके काल, स्वरूप, परिणाम, समय-समय संबंधी परिणामादिक का कथन है । पुनश्च अनिवृत्तिकरण के कथन में उसके स्वरूपादिक का कथन है । पुनश्च सूक्ष्मसाम्पराय के कथन में प्रसंग पाकर कर्म प्रकृतियों के अनुभाग अपेक्षा अविभागप्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि, नाना गुणहानियों का और पूर्वस्पर्धक, अपूर्वस्पर्धक, बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि का वर्णन है । इत्यादि विशेष कथन है, सो जानना । पुनश्च उपशांतकषाय, क्षीणकषाय के कथन में उनके दृष्टांतपूर्वक स्वरूप का, सयोगी जिन के कथन में नवकेवललब्धि आदि का, अयोगी में शैलेश्यपना आदि का कथन है । ग्यारह गुणस्थानों में गुणश्रेणी निर्जरा का कथन है । वहां द्रव्य को अपकर्षण द्वारा उपरितन स्थिति, गुणश्रेणी आयाम और उदयावली में जिसतरह दिया जाता है, उसका और गुणश्रेणी आयाम के प्रमाण का निरूपण है । वहां प्रसंग पाकर अंतर्मुहूर्त के भेदों का वर्णन है । पुनश्च सिद्धों का वर्णन है ।

दूसरा जीवसमास अधिकार है उसमें - जीवसमास का अर्थ और होने का विधान कहकर चौदह, उन्नीस और सत्तावन जीवसमासों का वर्णन है । पुनश्च चार प्रकार के जीवसमास कहकर, वहां स्थानभेद में एक आदि उन्नीस तक जीवस्थानों का और इन्हीं के पर्याप्तादि भेद से स्थानों का और अट्ठानबे तथा चार सौ छह जीवसमासों

का कथन है । योनिभेद में शंखावर्तादि तीन प्रकार की योनियों का और सम्मूर्च्छनादि जन्मभेदपूर्वक नौ प्रकार के योनि के स्वरूप और स्वामीत्व का तथा चौरासी लक्ष योनि का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर चारों गतियों में सम्मूर्च्छनादि जन्म तथा पुरुषादि वेद संभवते हैं, उनका निरूपण है । पुनश्च अवगाहना के भेदों में सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त आदि जीवों की जघन्य, उत्कृष्ट शरीर की अवगाहना का विशेष वर्णन है । वहां एकेन्द्रियादिकों की उत्कृष्ट अवगाहना कहने का प्रसंग पाकर गोलक्षेत्र, शंखक्षेत्र, आयत, चतुरस्रक्षेत्र का क्षेत्रफल निकालने का और अवगाहना में प्रदेशों की वृद्धि जानने के लिये असंख्यातभाग आदि चतुःस्थानपतितवृद्धि का और इस प्रसंग से दृष्टांतपूर्वक षट्स्थानपतित आदि वृद्धि–हानि का तथा सर्व अवगाहनाओं के भेद जानने के लिये मत्स्यरचना का वर्णन है । पुनश्च कुल के भेदों में एक सौ साढ़े निन्यानबे लाख कोटि कुलों का वर्णन है ।

तीसरा पर्याप्ति अधिकार है उसमें – पहले मान का वर्णन है । वहां लौकिक और अलौकिक मान के भेद कहे । द्रव्यमान के दो भेदों में से संख्यामान में संख्यात, असंख्यात, अनंत के इक्कीस भेदों का वर्णन है । संख्या के विशेषरूप चौदह धाराओं का वर्णन है । उनमें से द्विरूपवर्गधारा, द्विरूपघनधारा, द्विरूपघनाघनधारा इनके स्थानों में जो पाये जाते हैं, उनका विशेष वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर पणट्ठी, बादाल, एकट्ठी का प्रमाण और वर्गशलाका, अर्धच्छेदों का स्वरूप, अविभागप्रतिच्छेद का स्वरूप, उक्तं च गाथाओं द्वारा अर्धच्छेदादि के प्रमाण होने का नियम तथा अग्निकायिक जीवों का प्रमाण लाने का विधान इत्यादि का वर्णन है । दूसरे उपमामान के पल्य आदि आठ भेदों का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या लाने के लिये परमाणु से लेकर अंगुल तक के अनुक्रम का, तीन प्रकार के अंगुलों का, जिस जिस अंगुल से जिसका प्रमाण कहा जाता है उसका और गोलगर्त का क्षेत्रफल लाने का वर्णन है । उद्धारपल्य से द्वीप समुद्रों की संख्या लाते हैं, अद्धापल्य से आयु आदि का प्रमाण कहते हैं, उसका वर्णन है । सागर की सार्थक संज्ञा जानने के लिये लवणसमुद्र के क्षेत्रफल आदि का वर्णन है । सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत्श्रेणी, जगत्प्रतर, जगत्घन(लोक) का प्रमाण लाने के लिये विरलन आदि विधान का वर्णन है । पल्यादिक की वर्गशलाका और अर्धच्छेदों के प्रमाण का वर्णन है। उनका प्रमाण जानने के लिये उक्तं च *(कहा ही है)* गाथारूप करणसूत्रों का कथन

है । उसके पश्चात् पर्याप्ति प्ररूपणा है । वहां पर्याप्त-अपर्याप्त के लक्षण का, छह पर्याप्तियों के नाम, स्वरूप, प्रारंभ और सम्पूर्ण होने के काल और स्वामीत्व का वर्णन है । पुनश्च लब्धिअपर्याप्त का लक्षण और उसके निरंतर क्षुद्रभवों के प्रमाणादि का वर्णन है । वहीं पर प्रसंग पाकर प्रमाण, फल, इच्छारूप त्रैराशिक गणित का कथन है । सयोगी जिन के अपर्याप्तपना संभवने का और लब्धिअपर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त, पर्याप्त के संभवनेवाले गुणस्थानों का वर्णन है ।

चौथा प्राणाधिकार है इसमें - प्राणों के लक्षण, भेद, कारण और स्वामीत्व का कथन है ।

पांचवां संज्ञा अधिकार है इसमें - चार संज्ञाओं का स्वरूप, भेद, कारण और स्वामीत्व का कथन है ।

छठवां मार्गणा महा अधिकार है इसमें - मार्गणा की निरुक्ति और चौदह भेदों का, सांतर मार्गणा के अंतराल का, प्रसंग पाकर तत्त्वार्थसूत्र की टीका के अनुसार नाना जीव, एक जीव अपेक्षा गुणस्थानों में और गुणस्थानों की अपेक्षा सहित मार्गणाओं में काल और अंतर का कथन करके इसी में **छठवां गतिमार्गणा अधिकार** है । वहां गति के लक्षण, भेद, चार भेदों के निरुक्ति के साथ लक्षण, पांच प्रकार के तिर्यंच, चार प्रकार के मनुष्य और सिद्धों का वर्णन है । पुनश्च सामान्य नारकी, जुदे-जुदे सात पृथ्वियों के नारकी, पांच प्रकार के तिर्यंच, चार प्रकार के मनुष्य, व्यंतर, ज्योतिषी, भवनवासी, सौधर्मादिक देव, सामान्य देवराशि इन जीवों की संख्या का वर्णन है । वहां पर्याप्त मनुष्यों की संख्या कहने का प्रसंग पाकर **'कटपयपुरस्थवर्णैः'** इत्यादि सूत्र द्वारा ककारादि अक्षररूप अंक और शून्य की संख्या का वर्णन है ।

सातवां इन्द्रियमार्गणा अधिकार है इसमें - इन्द्रियों के निरुक्ति सहित लक्षण का, लब्धिउपयोगरूप भावेन्द्रिय का, बाह्य अभ्यंतर भेद सहित निर्वृत्ति-उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय का, इन्द्रियों के स्वामी का तथा उनके विषयभूत क्षेत्र का, प्रसंग पाकर सूर्य के चार क्षेत्रादिक का *(भ्रमणक्षेत्र का)*, इन्द्रियों के आकार और अवगाहना का और अतीन्द्रिय जीवों का वर्णन है । पुनश्च एकेन्द्रियादिकों के उदाहरणरूप नाम कहकर उनकी सामान्य संख्या का वर्णन करके विशेषपने से सामान्य एकेन्द्रिय, सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय तथा सामान्य त्रस, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन जीवों का प्रमाण तथा इनमें पर्याप्त अपर्याप्त जीवों के प्रमाण का वर्णन है ।

आठवां कायमार्गणा अधिकार है इसमें - काय के लक्षण और भेदों का वर्णन है । पांच स्थावरों के नाम तथा काय, कायिक जीवरूप भेद, बादर-सूक्ष्मपने के लक्षणादि और शरीर की अवगाहना का वर्णन है ।

पुनश्च वनस्पति के साधारण-प्रत्येक भेदों का, प्रत्येक के सप्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित भेदों का, उनकी अवगाहना का, एक स्कंध में उनके शरीरों के प्रमाण का, योनिभूत बीज में जीव उपजने का, वहां सप्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित होने के काल का, प्रत्येक वनस्पति में सप्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित जानने के लिये उनके लक्षण का, साधारण वनस्पति निगोदरूप वहां जीवों के उपजने, पर्याप्ति धरने, मरने के विधान का, निगोद शरीर की उत्कृष्ट स्थिति का, स्कंध, अंडर, पुलवी, आवास, देह, जीव इनके लक्षण प्रमाणादिका और नित्य निगोदादि के स्वरूप का वर्णन है । त्रस जीवों का और उनके क्षेत्र का वर्णन है । वनस्पतिवत् औरों के शरीर में सप्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठितपने का, स्थावर, त्रस जीवों के आकार का तथा कायसहित, कायरहित जीवों का वर्णन है । अग्नि, पृथ्वी, अप्, वायु, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित प्रत्येक, साधारण वनस्पति जीवों की और उनमें सूक्ष्म-बादर जीवों की और उनमें भी पर्याप्त-अपर्याप्त जीवों की संख्या का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर पृथ्वी आदि जीवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन है । त्रस जीवों की और उनमें पर्याप्त-अपर्याप्त जीवोंकी संख्या का वर्णन है । बादर अग्निकायिक आदि की संख्या का विशेष निर्णय करने के लिये उनके अर्धच्छेदादि का और प्रसंग पाकर **'दिण्णछेदेणवहिद'** इत्यादि करणसूत्र का वर्णन है ।

नौवां योगमार्गणा अधिकार है इसमें - योग के सामान्य लक्षण का, सत्य आदि चार प्रकार के मन, वचन, योग का वर्णन है । वहां सत्य वचन के विशेष जानने के लिये दस प्रकार के सत्य का और अनुभय वचन के विशेष जानने के लिये आमंत्रणी आदि भाषाओं का, सत्यादिक भेद होने के कारण का, केवली के मन, वचन योग संभवने का, द्रव्यमन के आकार का इत्यादि विशेष वर्णन है । पुनश्च काययोग के सात भेदों का वर्णन है । वहां औदारिकादिकों के निरुक्तिपूर्वक लक्षण का, मिश्र योग होने के विधान का, आहारक शरीर होने के विशेष का, कार्मणकाययोग के काल का विशेष वर्णन है । युगपत् योगों की प्रवृत्ति होने के विधान का वर्णन है । योगरहित आत्मा का वर्णन है । पांच शरीरों में कर्म-नोकर्म भेद का, पांच शरीर की वर्गणा और समयप्रबद्ध में परमाणुओं के प्रमाण और क्रम से सूक्ष्मपना और

उनकी अवगाहना का वर्णन है । विस्रसोपचय के स्वरूप और उनके परमाणुओं के प्रमाण का वर्णन है । कर्म-नोकर्म के उत्कृष्ट संचय होने के काल और सामग्री का वर्णन है । औदारिक आदि पांच शरीरों का द्रव्य तो समयप्रबद्धमात्र कहकर उनकी उत्कृष्ट स्थिति, वहां होनेवाली गुणहानि, नानागुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि, दो गुणहानि इनका स्वरूप और प्रमाण कहकर, करणसूत्रादिक से वहां चयादिक का प्रमाण लाकर समय-समय संबंधी निषेकों का प्रमाण कहकर, एक समय में कितने परमाणु उदयरूप होकर निर्जरित होते हैं, कितने सत्ता में अवशेष रहते हैं उसको जानने के लिये अंकसंदृष्टि की अपेक्षा से त्रिकोण यंत्र का कथन है । पुनश्च वैक्रियिकादिकों का उत्कृष्ट संचय किसके कैसे होता है उसका वर्णन है । योगमार्गणा में जीवों की संख्या के वर्णन में वैक्रियिक शक्ति से संयुक्त बादर पर्याप्त अग्निकायिक, वायुकायिक और पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच, मनुष्य इनके प्रमाण का, भोगभूमियां आदि जीवों की पृथक् विक्रिया और औरों की अपृथक् विक्रिया होती है उसका कथन है । त्रियोगी, द्वियोगी, एकयोगी जीवों का प्रमाण कहकर त्रियोगियों में आठ प्रकार के मन-वचनयोगी और काययोगी जीवों का, द्वियोगियों में वचन-काय योगियों के प्रमाण का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर सत्यमनोयोगादि और सामान्य मन-वचन-काय योगों के काल का वर्णन है । काययोगियों में सात प्रकार के काययोगियों का जुदा-जुदा प्रमाण वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर औदारिक, औदारिक मिश्र, कार्माण के काल का, व्यंतरों में सोपक्रम, अनुपक्रम काल का वर्णन है । जीवों की संख्या उत्कृष्टपने युगपत् होने की अपेक्षा यह कथन है।

दसवां वेदमार्गणा अधिकार है इसमें - भाव-द्रव्य वेद होने के विधान का, उनके लक्षण का, भाव-द्रव्यवेद समान या असमान होते हैं उनका, वेदों के कारण बताकर ब्रह्मचर्य अंगीकार करने का, तीनों वेदों के निरुक्ति सहित लक्षण का और अवेदी जीवों का वर्णन है । वहां संख्या के वर्णन में देवराशि कही । वहां स्त्री-पुरुषवेदियों का, तिर्यंचों में द्रव्य-स्त्री आदि का प्रमाण, समस्त पुरुष, स्त्री, नपुंसकवेदी के प्रमाण का वर्णन है । संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज, नपुंसकवेदी इत्यादि ग्यारह स्थानों में जीवों के प्रमाण का वर्णन है ।

ग्यारहवां कषायमार्गणा अधिकार है इसमें - कषाय का निरुक्ति सहित लक्षण तथा सम्यक्त्वादि घातनेरूप दूसरे अर्थ में अनंतानुबंधी आदि का निरुक्ति सहित लक्षण का वर्णन है । कषायों के एक, चार, सोलह, असंख्यात लोकमात्र भेद कहकर क्रोधादि की

उत्कृष्टादि चार प्रकार की शक्तियों के दृष्टांत और फल की मुख्यता से वर्णन है। पर्याय धारण करने के पहले समय में कषाय होने का नियम है या नहीं उसका वर्णन है । अकषाय जीवों का वर्णन है । क्रोधादि के शक्ति अपेक्षा चार, लेश्या अपेक्षा चौदह, आयु बंध-अबंध अपेक्षा बीस भेद हैं उनका और सर्व कषायस्थानों का प्रमाण कहकर उन भेदों में जितने जितने स्थान होते हैं उनका वर्णन है । यहां जीवों की संख्या के वर्णन में नारकी, देव, मनुष्य, तिर्यंच गति में जुदे-जुदे क्रोधी आदि जीवों के प्रमाण का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर उन गतियों में क्रोधादि के काल का वर्णन है ।

बारहवां ज्ञानमार्गणा अधिकार है उसमें - ज्ञान का निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहकर उसके पांच भेदों का और क्षयोपशम के स्वरूप का वर्णन है । तीन मिथ्याज्ञानों का, मिश्र ज्ञानों का, तीन कुज्ञानों के परिणमन के उदाहरण का वर्णन है । मतिज्ञान के वर्णन में इसके नामान्तर का, इन्द्रिय मन से उपजने का, वहां अवग्रहादि होने का, व्यंजन-अर्थ के स्वरूप का, व्यंजन में नेत्र, मन, ईहादिक नहीं होते उसका, पहले दर्शन होकर पश्चात् अवग्रहादि होने के क्रम का, अवग्रहादि के स्वरूप का, अर्थ-व्यंजन के विषयभूत बहु-बहुविध आदि बारह भेदों का, वहां अनिसृति में चार प्रकार के परोक्ष प्रमाण के गर्भितपना आदि का, मतिज्ञान के एक, चार, चौबीस, अट्ठाइस और इनसे बारह गुणे भेदों का वर्णन है । श्रुतज्ञान के वर्णन में श्रुतज्ञान के लक्षण, निरुक्ति आदि का, अक्षर-अनक्षररूप श्रुतज्ञान के उदाहरण, भेद और प्रमाण का वर्णन है । भावश्रुतज्ञान की अपेक्षा बीस भेदों का वर्णन है । वहां पहले जघन्यरूप पर्यायज्ञान के वर्णन में उसके स्वरूप का, उसके आवरण का उदय नहीं होता उसका, यह जिसके होता है उसका, इसका दूसरा नाम लब्धिअक्षर है उसका वर्णन है । पर्यायसमास ज्ञान के वर्णन में षट्स्थानपतित वृद्धि का वर्णन है । वहां जघन्य ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण कहकर और अनंतादिक प्रमाण और अनंतभागादिक की सहनानी कहकर, जिसप्रकार अनंतभागवृद्धि आदि षट्स्थानपतित वृद्धि होती है उसके क्रम का यंत्रद्वार से वर्णन करके अनंतभागादि वृद्धिरूप स्थानों में अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण लाने के लिये प्रक्षेपक आदि का विधान, वहां प्रसंग पाकर एक बार, दो बार आदि संकलनधन लाने का विधान, साधिक जघन्य जहां दोगुणा होता है उसका विधान, पर्यायसमास में अनंतभाग आदि वृद्धि होने का प्रमाण इत्यादि विशेष वर्णन है । अक्षर आदि अठारह भेदों का क्रम से वर्णन है । वहां अर्थाक्षर के स्वरूप का, तीन प्रकार के

अक्षरों का, शास्त्र के विषयभूत भावों के प्रमाण का, तीन प्रकार के पदों का, चौदह पूर्वों में वस्तु और प्राभृत नामक अधिकारों के प्रमाण का इत्यादि वर्णन है । बीस भेदों में अक्षर, अनक्षर श्रुतज्ञान के अठारह, दो भेदों का और पर्याय ज्ञानादि की निरुक्ति सहित स्वरूप का वर्णन है ।

द्रव्यश्रुत के वर्णन में द्वादशांग के पदों की, प्रकीर्णक के अक्षरों की संख्या का, चौंसठ मूल अक्षरों की प्रक्रिया का, अपुनरुक्त सर्व अक्षरों के प्रमाण और अक्षरों में प्रत्येक, द्विसंयोगी आदि भंगों द्वारा प्रमाण लाने का विधान, सर्व श्रुत के अक्षरों का प्रमाण, अक्षरों में अंगों के पद और प्रकीर्णकों के अक्षरों का प्रमाण लाने का विधान इत्यादि का वर्णन है । आचारांग आदि ग्यारह अंग, दृष्टिवाद अंग के पांच भेद, परिकर्म के पांच भेद, वहां सूत्र और प्रथमानुयोग का एक-एक भेद, पूर्वगत के चौदह भेद, चूलिका के पांच भेद, इन सभी के पदों का जुदा-जुदा प्रमाण तथा इनमें जो जो व्याख्यान पाया जाता है उसकी सूचनिका का कथन है । वहां प्रसंग पाकर तीर्थंकर की दिव्यध्वनी होने के विधान, वर्धमान स्वामी के समय में दस-दस जीव अंतःकृत केवली और अनुत्तरगामी हुये उनके नाम, तीन सौ तिरेसठ कुवादों के धारकों में कितनेक कुवादियों के नाम, सप्तभंग का विधान, अक्षरों के स्थान प्रयत्नादिक, बारह भाषा, आत्मा के जीवादि विशेषण इत्यादि अनेक कथन हैं । सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णकों के स्वरूप का वर्णन है। श्रुतज्ञान की महिमा का वर्णन है ।

अवधिज्ञान के वर्णन में निरुक्तिपूर्वक स्वरूप कहकर उसके भवप्रत्यय, गुणप्रत्यय भेदों का, वे भेद किसके होते हैं, किन आत्मप्रदेशों से उपजते हैं उसका, गुणप्रत्यय के छह भेदों का, उनमें अनुगामी-अननुगामी के तीन-तीन भेदों का वर्णन है । सामान्यपने अवधि के देशावधि, परमवाधि, सर्वावधि भेदों का, उनमें भवप्रत्यय-गुणप्रत्यय के संभवपने का, ये किसके होते हैं उसका, वहां प्रतिपाती-अप्रतिपाती विशेष का, इनके भेदों के प्रमाण का वर्णन है । जघन्य देशावधि के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का वर्णन करके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्वितीयादि उत्कृष्ट पर्यंत क्रम से भेद होने का विधान, वहां द्रव्यादिक के प्रमाण का और सर्व भेदों के प्रमाण का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर ध्रुवहार, वर्ग, वर्गणा, गुणकार इत्यादि अनेक वर्णन है । वहां ही क्षेत्र-काल अपेक्षा उस देशावधि के उन्नीस काण्डकों का वर्णन है ।

परमावधि के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जघन्य से उत्कृष्ट

तक क्रम से भेद होने का विधान, वहां द्रव्यादिक का प्रमाण और सर्व भेदों के प्रमाण का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर संकलित धन लाने का और **'इच्छिदरासिच्छेदं'** इत्यादि दो करणसूत्रों का आदि अनेक वर्णन है ।

सर्वावधि अभेद है । उसके विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का वर्णन है। जघन्य देशावधि से सर्वावधि तक द्रव्य और भाव अपेक्षा भेदों की समानता का वर्णन है । नरक में अवधि का और उसके विषयभूत क्षेत्र का, मनुष्य, तिर्यंच में जघन्य उत्कृष्ट अवधि होने का, देव में भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी इनके अवधिगोचर क्षेत्र, काल का, सौधर्मादिक द्विक में क्षेत्रादिक का और द्रव्य का भी वर्णन है ।

मनःपर्ययज्ञान के वर्णन में उसके स्वरूप का, दो भेदों का, ऋजुमति तीन प्रकार, विपुलमति छह प्रकार उसका, मनःपर्यय जहां से उपजता है और जिनके होता है उसका, दो भेदों में विशेष है उसका, जीव द्वारा चिंतन किये हुये द्रव्यादिक को जाने उसका, ऋजुमति के विषयभूत द्रव्य का, मनःपर्यय संबंधी ध्रुवहार का, विपुलमति के जघन्य से उत्कृष्ट तक द्रव्य अपेक्षा भेद होने का विधान, भेदों का प्रमाण और द्रव्य का प्रमाण कहकर जघन्य उत्कृष्ट क्षेत्र, काल, भाव का वर्णन है ।

केवलज्ञान सर्वज्ञ है उसका वर्णन है । यहां जीवों की संख्या के वर्णन में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञानी का, चारों गति संबंधी विभंगज्ञानियों का, कुमति-कुश्रुत ज्ञानियों के प्रमाण का वर्णन है ।

तेरहवां संयममार्गणा अधिकार है इसमें - उसके स्वरूप का तथा संयम के भेदों के निमित्त का वर्णन है । संयम के भेदों के स्वरूप का वर्णन है । वहां परिहारविशुद्धि का विशेष, ग्यारह प्रतिमा, अट्ठाइस विषय इत्यादि का वर्णन है । यहां जीवों की संख्या के वर्णन में सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यातसंयम धारी और संयतासंयत और असंयत जीवों के प्रमाण का वर्णन है ।

चौदहवां दर्शनमार्गणा अधिकार है इसमें - उसके स्वरूप का, दर्शन के भेदों के स्वरूप का वर्णन है । यहां जीवों की संख्या के वर्णन में शक्ति चक्षुदर्शनी, व्यक्त चक्षुदर्शनी का और अवधि, केवल, अचक्षु दर्शनी इनके प्रमाण का वर्णन है ।

पंद्रहवां लेश्यामार्गणा अधिकार है इसमें - द्रव्य, भाव दो प्रकार की लेश्या कहकर भावलेश्या का निरुक्ति सहित लक्षण और उससे बंध होने का वर्णन है । सोलह

अधिकारों के नाम हैं । निर्देशाधिकार में छह लेश्याओं के नाम हैं । वर्णाधिकार में द्रव्यलेश्या के कारण का, लक्षण का, छहों द्रव्य लेश्याओं के वर्ण के दृष्टांत का, जिनके जो-जो द्रव्यलेश्या होती है उसका व्याख्यान है । प्रमाणाधिकार में कषायों के उदयस्थानों में संक्लेश विशुद्धि स्थानों के प्रमाण का, उनमें भी कृष्णादि लेश्याओं के स्थानों के प्रमाण का, संक्लेश विशुद्धि की हानि-वृद्धि से अशुभ, शुभ लेश्या होने के अनुक्रम का वर्णन है । संक्रमणाधिकार में स्वस्थान-परस्थान संक्रमण कहकर संक्लेश विशुद्धि के वृद्धि हानि से जैसा संक्रमण होता है उसका, संक्लेश विशुद्धि में जैसे लेश्या के स्थान होते हैं और वहां जैसे षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि होती है, उसका वर्णन है । कर्माधिकार में छहों लेश्यावाले जीव कार्य में जिसप्रकार प्रवर्तते हैं उसके उदाहरण का वर्णन है । लक्षणाधिकार में छहों लेश्यावालों के लक्षण का वर्णन है।

गतिअधिकार में लेश्या के छब्बीस अंश, उनमें आठ मध्यम अंश आयुबंध के कारण, वे आठ अपकर्षकालों में होते हैं उन अपकर्षों के उदाहरणपूर्वक स्वरूप का, उनमें आयु न बंधे तो जहां बंधे उसका, सोपक्रमायुष्क, निरुपक्रमायुष्क जीवों के अपकर्षरूप काल का, वहां आयु बंधने का विधान और गति आदि विशेष का, अपकर्षों में आयु बांधनेवाले जीवों के प्रमाण का वर्णन करके पश्चात् लेश्या के अठारह अंशों में से जिस-जिस अंश में मरण होनेपर, जिस-जिस स्थान में उपजता है उसका वर्णन है ।

स्वामीअधिकार में भावलेश्या की अपेक्षा सात नरकों के नारकियों में, मनुष्य-तिर्यंच में, वहां भी एकेन्द्रिय-विकलत्रय में, असंज्ञी पंचेन्द्रिय में, लब्धिअपर्याप्त तिर्यंच मनुष्य में, अपर्याप्त तिर्यंच-मनुष्य-भवनत्रिक देव सासादनवालों में, पर्याप्त अपर्याप्त भोगभूमिया में, मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में, पर्याप्त भवनत्रिक-सौधर्मादि देवों में जो -जो लेश्या पायी जाती है, उसका वर्णन है । वहां असंज्ञी के लेश्या के निमित्त से गति में उपजने का विशेष कथन है ।

साधन अधिकार में द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के कारण का वर्णन है । संख्याधिकार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, मान द्वारा कृष्णादि लेश्यावाले जीवों के प्रमाण का वर्णन है।

क्षेत्राधिकार में सामान्यपने से स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा और विशेषपने से दो प्रकार के स्वस्थान, सात प्रकार के समुद्घात, एक उपपाद इन दस स्थानों में संभवनेवाले स्थानों की अपेक्षा कृष्णादि लेश्याओं के स्थान अर्थात् क्षेत्र का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर विवक्षित लेश्याओं के संभवनेवाले स्थान, उनमें जीवों के

प्रमाण का, उन स्थानों में क्षेत्र के प्रमाण का, समुद्घातादिक के विधान का, क्षेत्रफलादिक का, मरनेवाले आदि देवों के प्रमाण का, केवलीसमुद्घात में दंड-कपाटादि का, वहां लोक के क्षेत्रफल इत्यादि का वर्णन है ।

स्पर्शाधिकार में पूर्वोक्त सामान्य-विशेषपने से लेश्याओं के तीन काल संबंधी क्षेत्र का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर मेरु से सहस्रार तक सर्वत्र पवन के सद्भाव का और जम्बूद्वीप समान लवणसमुद्र के खण्ड, लवणसमुद्र के समान अन्य समुद्र के खण्ड करने के विधान का, जलचर रहित समुद्रों के मिलाये गये क्षेत्रफल के प्रमाण का, देवादिक के उपजने-गमन करने का इत्यादि वर्णन है ।

कालअधिकार में कृष्णादि लेश्यायें जितने काल रहती हैं उसका वर्णन है । अंतराधिकार में कृष्णादि लेश्या का जघन्य, उत्कृष्ट जितने काल तक अभाव रहे उसका वर्णन है। वहां प्रसंग पाकर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय में उत्कृष्ट रहने के काल का वर्णन है । भावाधिकार में छहों लेश्याओं में औदयिकभाव के सद्भाव का वर्णन है। अल्पबहुत्व अधिकार में संख्या के अनुसार लेश्याओं में परस्पर अल्पबहुत्व का व्याख्यान है । इसतरह सोलह अधिकार कहकर लेश्यारहित जीवों का व्याख्यान है ।

सोलहवां भव्यमार्गणा अधिकार है उसमें - दो प्रकार के भव्य और अभव्य और भव्य-अभव्यपना रहित जीवों के स्वरूप का वर्णन है । यहां संख्या के कथन में भव्य-अभव्य जीवों के प्रमाण का वर्णन है । यहां प्रसंग पाकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परिवर्तन (परावर्तन) के स्वरूप का और जैसे क्रम से परिवर्तन होता है उसका, परिवर्तन के काल का, अनादि से जितने परिवर्तन हुये उनके प्रमाण का वर्णन है । वहां गृहीतादि पुद्गलों के स्वरूप, संदृष्टि का और योगस्थान आदि का वर्णन है ।

सत्रहवां सम्यक्त्वमार्गणा अधिकार है उसमें - सम्यक्त्व के स्वरूप का, सराग-वीतराग भेदों का, षट् द्रव्य, नौ पदार्थों के श्रद्धानरूप लक्षण का वर्णन है । षट् द्रव्य के वर्णन में सात अधिकारों का कथन है ।

नाम अधिकार में द्रव्य के एक वा दो भेद का, जीव-अजीव के दो-दो भेदों का, पुद्गल के निरुक्ति सहित लक्षण का, पुद्गल परमाणु के आकार के वर्णनपूर्वक रूपी-अरूपी अजीव द्रव्य का कथन है ।

उपलक्षणानुवाद अधिकार में छहों द्रव्यों के लक्षणों का वर्णन है । वहां गति आदि क्रिया जीव-पुद्गल की है, उसका कारण धर्मादिक है, उसका दृष्टांतपूर्वक वर्णन है । वर्तनाहेतुत्व काल के लक्षण का दृष्टांतपूर्वक वर्णन है । मुख्य काल के निश्चय होने का, काल के धर्मादिक को कारणपने का, समय आवली आदि व्यवहारकाल के भेदों का, वहां प्रसंग पाकर प्रदेश के प्रमाण का, अंतर्मुहूर्त के भेदों का, व्यवहारकाल जानने के निमित्तों का, व्यवहारकाल के अतीत, अनागत, वर्तमान भेदों के प्रमाण का और व्यवहार निश्चयकाल के स्वरूप का वर्णन है ।

स्थिति अधिकार में अपने सर्व पर्यायों के समुदायरूप अवस्थान का वर्णन है।

क्षेत्राधिकार में जीवादिक जितना क्षेत्र रोकते हैं, उसका वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर तीन प्रकार के आधार और जीव के समुद्घातादि क्षेत्र का, संकोच विस्तार शक्ति का, पुद्गलों के अवगाहन शक्ति का और लोकालोक के स्वरूप का वर्णन है ।

संख्याधिकार में जीव द्रव्यादि का, उनके प्रदेशों का और व्यवहारकाल के प्रमाण का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मान से वर्णन है ।

स्थान स्वरूपाधिकार में द्रव्यों का और द्रव्य के प्रदेशों के चल, अचलपने का वर्णन है । अणुवर्गणा आदि तेइस पुद्गल वर्गणाओं का वर्णन है । वहां उन वर्गणाओं में जिनते-जितने परमाणु पाये जाते हैं उसका, आहारादि वर्गणा से जो-जो कार्य उत्पन्न होता है उसका, जघन्य, उत्कृष्ट, प्रत्येकादि वर्गणा जहां पायी जाती है उसका, महास्कंधवर्गणा के स्वरूप का, अणुवर्गणा आदि लोक में जितनी जितनी पायी जाती हैं उसका वर्णन है । पुद्गल के स्थूल-स्थूल आदि छह भेदों का और स्कंध, प्रदेश, देश इन तीन भेदों का वर्णन है ।

फल अधिकार में धर्मादिक का गति आदि साधनरूप उपकार, जीवों का परस्पर उपकार, पुद्गलों का कर्मादिक और सुखादिक उपकार इनका प्रश्नोत्तरादि सहित वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर कर्मादिक पुद्गल ही है उसका, कर्मादिक जिस-जिस पुद्गल वर्गणा से उत्पन्न होते हैं उसका, स्निग्ध-रूक्ष के गुणों के अंशों से जिसप्रकार पुद्गल का संबंध होता है उसका वर्णन है । इसतरह षट् द्रव्यों का वर्णन करके वहां काल बिना पंचास्तिकाय हैं, उसका वर्णन है । नौ पदार्थों के वर्णन में जीव-अजीव का तो

षट् द्रव्यों में वर्णन हुआ । पुनश्च पापजीव, पुण्यजीव का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर चौदह गुणस्थानों में जीवों के प्रमाण का वर्णन है । वहां उपशम, क्षपक श्रेणीवाले निरंतर आठ समयों में जितने-जितने होते हैं उसका, युगपत् बोधितबुद्धि आदि जीव जितने-जितने होते हैं उसका और सकल संयमियों के प्रमाण का वर्णन है । पुनश्च सात नरक के नारकी, भवनत्रिक, सौधर्मद्विकादि देव, तिर्यंच, मनुष्य जितने-जितने मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में पाये जाते हैं, उनका वर्णन है । गुणस्थानों में पुण्यजीव, पापजीव के भेद का वर्णन है । पौद्‌गलिक द्रव्य पुण्य पाप का वर्णन है । आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्षरूप पुद्‌गलों के प्रमाण का वर्णन है । इसतरह षट् द्रव्यादि का स्वरूप कहकर, उनके श्रद्धानरूप सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन है ।

वहां क्षायिक सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन है। वहां क्षायिक सम्यक्त्व होने के कारण का, उसके स्वरूप का, उसकी प्राप्ति होनेपर जितने भवों में मुक्ति होती है उसका, उसकी महिमा का, उसका प्रारंभ, निष्ठापन जहां होता है, उसका वर्णन है।

वेदक सम्यक्त्व के कारण और स्वरूप का वर्णन है । उपशम सम्यक्त्व के स्वरूप का, कारण का, पंचलब्धि आदि सामग्री का और जिसके उपशम सम्यक्त्व होता है उसका वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर आयुबंध होने के पश्चात् सम्यक्त्व, व्रत होने न होने का वर्णन है । सासादन, मिश्र, मिथ्यारुचि का वर्णन है । यहां जीवों की संख्या के वर्णन में क्षायिक, उपशम, वेदक सम्यग्दृष्टियों के और मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र जीवों के प्रमाण का वर्णन है । नौ पदार्थों के प्रमाण का वर्णन है। वहां जीव और अजीव में पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुण्य-पापरूप जीव, पुण्य-पापरूप अजीव और आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष इनके प्रमाण का निरूपण है।

अठारहवां संज्ञीमार्गणा अधिकार है उसमें - संज्ञी के स्वरूप का, संज्ञी असंज्ञी जीवों के लक्षण का वर्णन है । यहां संख्या के वर्णन में संज्ञी-असंज्ञी जीवों के प्रमाण का वर्णन है ।

उन्नीसवां आहारमार्गणा अधिकार है उसमें - आहारक के स्वरूप और निरुक्ति का, अनाहारक जिनके होता है उनका, वहां प्रसंग पाकर सात समुद्‌घात के नाम और स्वरूप का, आहारक-अनाहारक के काल का वर्णन है । वहां आहारक, अनाहारक जीवों के प्रमाण का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर **'प्रक्षेपयोगोद्धृतमिश्रपिंड'** इत्यादि सूत्र द्वारा मिश्र के व्यवहार का कथन है ।

बीसवां उपयोग अधिकार है इसमें – उपयोग के लक्षण का, साकार-अनाकार भेदों का, उपयोग है वह व्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव दोष रहित जीव का लक्षण है उसका और केवलज्ञान-केवलदर्शन बिना साकार-अनाकार उपयोगों का काल अंतर्मुहूर्त मात्र है उसका वर्णन है । यहां जीवों की संख्या साकारोपयोग में ज्ञानमार्गणावत् और अनाकारोपयोग में दर्शनमार्गणावत् है, उसका वर्णन है ।

इक्कीसवां ओघादेशयो प्ररूपणा प्ररूपण अधिकार है इसमें – गति आदि मार्गणा के भेदों में यथासंभव गुणस्थान और जीवसमासों का वर्णन है । वहां द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में पर्याप्त अपर्याप्त अपेक्षा गुणस्थानों का विशेष कहा है । गुणस्थानों में संभवनेवाले जो जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाओं के भेद, उपयोग, उनका वर्णन है । वहां मार्गणा और उपयोग के स्वरूप का भी कुछ वर्णन है । वहां योग, भव्य मार्गणाओं के भेदों का और सम्यक्त्व मार्गणा में प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का, आदि का विशेष वर्णन है । गति आदि कितनी ही मार्गणाओं में पर्याप्त, अपर्याप्त अपेक्षा कथन है ।

बाइसवां आलाप अधिकार है इसमें – मंगलाचरण करके सामान्य, पर्याप्त, अपर्याप्त की अपेक्षा तीन आलाप और अनिवृत्तिकरण में पांच भागों की अपेक्षा पांच आलाप, उनका गुणस्थानों में और गुणस्थान अपेक्षा चौदह मार्गणा के भेदों में यथासंभव कथन है । वहां गतिमार्गणा में कुछ विशेष कथन है । पुनश्च गुणस्थान-मार्गणास्थानों में गुणस्थानादि बीस प्ररूपणा यथासंभव आलापों की अपेक्षा निरूपण है । वहां पर्याप्त अपर्याप्त एकेन्द्रियादि जीवों के संभवनेवाले पर्याप्ति, प्राण, जीवसमासादिक का कुछ वर्णन करके यथायोग्य सर्व प्ररूपणा जानने का उपदेश है । उनको जानने के लिये यंत्र द्वारा कथन है । वहां प्रथम यंत्र में जैसा अनुक्रम है, समस्या है और विशेष है उसका कथन है । पश्चात् एक-एक रचना में बीस-बीस प्ररूपणा के कथनस्वरूप छह सौ चौदह यंत्रों की रचना है । वहां कितनेक रचना समान जानकर अनेक रचनाओं की एक रचना है । मनःपर्ययज्ञानादिक में एक होनेपर अन्य नहीं होता उसका, उपशमश्रेणी उतरकर मरण होनेपर उपजने का, सिद्धों में संभवनेवाली प्ररूपणा का, निक्षेपादि द्वारा प्ररूपणा जानने के उपदेश का वर्णन है । पुनश्च आशीर्वाद है एवं टीकाकार के वचन है ।

इसतरह जीवकाण्ड नामक महाअधिकार के बाइस अधिकारों में क्रम से व्याख्यान की सूचनिका जाननी

परिकर्माष्टक संबंधी प्रकरण

इस करणानुयोगरूप शास्त्र का अभ्यास करने के लिये गणित का ज्ञान अवश्य चाहिये, क्योंकि अलंकारादिक जानने से प्रथमानुयोग का, गणितादिक जानने से करणानुयोग का, सुभाषितादिक जानने से चरणानुयोग का, न्यायादि जानने से द्रव्यानुयोग का विशिष्ट ज्ञान होता है, इसलिये गणित ग्रंथों का अभ्यास करना । और यदि न बन सके तो परिकर्माष्टक तो अवश्य जानना चाहिये । क्योंकि इसको जानने से अन्य गणित कर्मों का भी विधान जानकर, उनको जाननेपर इस शास्त्र में प्रवेश पाते हैं । इसलिये इस शास्त्र का अभ्यास करने के लिये प्रयोजनमात्र परिकर्माष्टक का वर्णन यहां करते हैं।

वहां परिकर्माष्टक में संकलन, व्यवकलन, गुणकार, भागहार, वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल ये आठ नाम जानना । ये लौकिक गणित में भी होते हैं और अलौकिक गणित में भी होते हैं । लौकिक गणित तो प्रवृत्ति में प्रसिद्ध ही है और अलौकिक गणित जघन्य संख्यातादिक और पल्यादिक का व्याख्यान आगे जीवसमासाधिकार पूर्ण होने के पश्चात् होगा, वहां जानना । अब संकलनादि का स्वरूप कहते हैं ।

किसी प्रमाण को किसी प्रमाण में जोड़ना, उसे संकलन कहते हैं । जैसे सात में पांच जोड़नेपर बारह होते हैं । और पुद्गलराशि में जीवादिक द्रव्यों का प्रमाण जोड़नेपर सर्व द्रव्यों का प्रमाण होता है ।

किसी प्रमाण में से किसी प्रमाण को घटाना, उसे व्यवकलन कहते हैं । जैसे बारह में से पांच घटानेपर सात होते हैं । और संसारी राशि में से त्रस राशि घटानेपर स्थावरों का प्रमाण होता है ।

किसी प्रमाण को किसी प्रमाण से गुणा करना, उसे गुणकार कहते हैं । जैसे पांच को चार से गुणा करनेपर बीस होते हैं । और जीवराशि को अनंत से गुणा करनेपर पुद्गलराशि होती है ।

किसी प्रमाण को किसी प्रमाण का जहां भाग देते हैं, वहां भागहार कहते हैं। जैसे बीस को चार का भाग देनेपर पांच होते हैं । और जगत्श्रेणी को सात का भाग देनेपर राजू होता है ।

किसी प्रमाण को दो जगह मांडकर परस्पर गुणा करते हैं, वहां उस प्रमाण का

वर्ग कहते हैं । जैसे पांच को दो जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर पांच का वर्ग पच्चीस होता है । और सूच्यंगुल को दो जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल का वर्ग प्रतरांगुल होता है ।

किसी प्रमाण को तीन जगह लिखकर परस्पर गुणा करनेपर उस प्रमाण का घन कहते हैं । जैसे पांच को तीन जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर पांच का घन एक सौ पच्चीस होता है । और जगत्श्रेणी को तीन जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर लोक (जगत्घन) होता है ।

जो प्रमाण जिसका वर्ग करनेपर होता हो, उस प्रमाण का वह वर्गमूल होता हैं । जैसे पच्चीस पांच का वर्ग करनेपर होता है इसलिये पच्चीस का वर्गमूल पांच है । और प्रतरांगुल है वह सूच्यंगुल का वर्ग करनेपर होता है, इसलिये प्रतरांगुल का वर्गमूल सूच्यंगुल है ।

जो प्रमाण जिसका घन करनेपर होता है, उस प्रमाण का वह घनमूल कहते हैं । जैसे एक सौ पच्चीस पांच का घन करनेपर होता है इसलिये एक सौ पच्चीस का घनमूल पांच है । और लोक है वह जगत्श्रेणी का घन करनेपर होता है, इसलिये लोक का घनमूल जगत्श्रेणी है ।

अब कितनेक संज्ञाविशेष कहते हैं । संकलन में जोड़ने योग्य राशि का नाम धन है । मूलराशि को उस धन से अधिक कहते हैं । जैसे पांच अधिक कोटि और जीवराश्यादिक से अधिक पुद्गल, इत्यादि जानना ।

व्यवकलन में घटानेयोग्य राशि का नाम ऋण है । मूलराशि को उस ऋण से हीन वा न्यून वा शोधित वा स्फोटित इत्यादि कहते हैं । जैसे पांच से हीन कोटि वा त्रसराशि से हीन संसारी, इत्यादि जानना । कहीं मूलराशि का नाम धन भी कहते हैं ।

गुणकार में जिसको गुणा करते हैं, उसको गुण्य कहते हैं । जिससे गुणा करते हैं, उसे गुणकार या गुणक कहते हैं ।

गुण्यराशि को गुणकार द्वारा गुणित वा हत वा अभ्यस्त वा घ्नत आदि कहते हैं । जैसे पांच गुणित लक्ष वा असंख्यात गुणित लोक कहते हैं । कहीं गुणकार प्रमाण गुण्य कहते हैं । जैसे पांच गुणा वीस को पांच वीसी कहते हैं और असंख्यात गुणा

लोक को असंख्यातलोक कहते हैं, इत्यादि जानना । गुणा करने का नाम गुणन वा हनन वा घात इत्यादि कहते हैं ।

भागहार में जिसको भाग देते हैं उसका नाम भाज्य वा हार्य इत्यादि है । और जिसका भाग देते हैं, उसका नाम भागहार वा हार वा भाजक इत्यादि है । भाज्यराशि को भागहार से भाजित, भक्त, हत वा खण्डित इत्यादि कहते हैं । जैसे पांच से भाजित कोटि वा असंख्यात से भाजित पल्य इत्यादि जानना । भागहार का भाग देकर एक भाग ग्रहण करना हो वहां तितनेवां भाग वा एक भाग कहते हैं । जैसे वीस का चौथा भाग वा पल्य का असंख्यातवां भाग वा असंख्यातैक भाग इत्यादि जानना । पुनश्च जहां एक भाग बिना अवशेष भाग ग्रहण करना हो, वहां बहुभाग कहते हैं । जैसे बीस के चार बहुभाग वा पल्य के असंख्यात बहुभाग इत्यादि जानना।

वर्ग का नाम कृति भी है । वर्गमूल का नाम कृतिमूल वा मूल वा पद वा प्रथम मूल भी है । प्रथम मूल के मूल को द्वितीय मूल कहते हैं । द्वितीय मूल के मूल को तृतीय मूल कहते हैं । ऐसे चतुर्थादि मूल जानना । जैसे पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस का प्रथम मूल दो सौ छप्पन, द्वितीय मूल सोलह, तृतीय मूल चार, चतुर्थ मूल दो है । इसीतरह पल्य वा केवलज्ञानादि के प्रथमादि मूल जानना । ऐसे अन्य भी अनेक संज्ञाविशेष यथासंभव जानना ।

अब यहां विधान कहते हैं । वह प्रथम लौकिक गणित की अपेक्षा से कहते हैं । वहां ऐसा जानना **'अंकानां वामतो गतिः'** अंकों का अनुक्रम बायीं तरफ से होता है । जैसे दो सौ छप्पन (२५६) के तीन अंकों में छह आदि अंक, पांच दूसरा अंक, दो अंतिम अंक कहते हैं । ऐसे ही अन्यत्र जानना । पुनश्च प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि अंकों को क्रम से एक स्थानीय, दस स्थानीय, शत स्थानीय, सहस्र स्थानीय आदि कहते हैं । प्रवृत्ति में इन्हीं को इकाई, दहाई, सैंकडा (सौ), हजार आदि कहते हैं ।

संकलनादि होनेपर प्रमाण लाने के लिये गणित कर्म को कारण जो करणसूत्र, उनके द्वारा गणित शास्त्रों में अनेक प्रकार के विधान कहे हैं, उन्हें वहां से जानना अथवा त्रिलोकसार की भाषाटीका बनी है वहां लौकिक गणित को प्रयोजन जानकर पीठबंध में कुछ वर्णन किया है, उसे वहां से जानना ।

इस शास्त्र में गणित के कथन की मुख्यता नहीं है वा लौकिक गणित का बहुत विशेष प्रयोजन नहीं है, इसलिये यहां बहुत वर्णन नहीं करते । विधान का स्वरूप मात्र दिखाने के लिये एक प्रकार से किंचित् वर्णन करते हैं ।

वहां संकलन में जिनका संकलन करना हो, उनके एकस्थानीय आदि अंकों को क्रम से यथास्थान जोड़नेपर जो-जो अंक आते हैं, वे-वे अंक जोड़ में क्रम से यथास्थान लिखना । प्रवृत्ति में जैसा जोड़ देने का विधान है, वैसा ही यह जानना। जो एक स्थानीय आदि अंक जोड़नेपर दो, तीन आदि अंक आवे, तो प्रथम अंक को जोड़ में प्रथम लिखना । द्वितीय आदि अंकों को दस स्थानीय आदि अंकों में जोड़ना । इसको प्रवृत्ति में हाथिलागा कहते हैं । इसतरह करते हुये जो अंक होगा वह जोड़ा हुआ प्रमाण जानना ।

यहां उदाहरण - जैसे दो सौ छप्पन और चौरासी (२५६+८४) जोड़ते हैं । वहां एक स्थानीय छह और चार जोड़नेपर दस हुये । वहां जोड़ में एक स्थानीय शून्य लिखा और रहा एक, उसको और दस स्थानीय पांच, आठ इनको जोड़नेपर चौदह हुये । वहां जोड़ में दस स्थानीय चार लिखा और रहा एक, उसको शत स्थानीय दो को जोड़नेपर तीन हुआ, उसे जोड़ में शत स्थानीय लिखा । ऐसे जोड़नेपर तीन सौ चालीस हुये । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

व्यवकलन में मूलराशि के एकस्थानीय आदि अंकों में से ऋण राशि के एक स्थानीय आदि अंकों को यथाक्रम घटाना । यदि मूलराशि के एक स्थानीय आदि अंकों से ऋणराशि के एक स्थानीय आदि अंक अधिक प्रमाणवाले हो तो धनराशि के दस स्थानीय आदि अंक में से एक घटाकर धनराशि के एक स्थानीय आदि अंक में दस जोड़कर उसमें से ऋणराशि का अंक घटाना । सो प्रवृत्ति में जैसे बाकी काढ़ने का विधान है वैसे ही यह जानना । ऐसे करनेपर जो हो, वह अवशेष प्रमाण जानना।

यहां उदाहरण - जैसे छह सौ पचहत्तर मूलराशि में से बानबे (६७५-९२) ऋण घटाना हो, वहां एक स्थानीय पांच में से दो घटानेपर तीन रहे और दस स्थानीय सात में से नौ घटते नहीं है इसलिये शत स्थानीय छह में से एक घटाकर उसके दस सात में जोड़नेपर सत्रह हुये, उसमें से नौ घटानेपर आठ रहे । शत स्थानीय छह में से एक घटानेपर पांच रहे, उसमें से ऋण अंक घटाने के लिये है नहीं इसलिये पांच ही रहे। ऐसे पांच सौ तिरासी प्रमाण आया । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

गुणकार के गुण्य के अंतिम अंक से लेकर आदि अंक तक एक-एक अंक को क्रम से गुणकार के अंकों से गुणा करके यथास्थान लिखने और जोड़नेपर गुणित राशि का प्रमाण आता है ।

यहां उदाहरण - जैसे गुण्य दो सौ छप्पन और गुणकार सोलह (२५६×१६)। वहां गुण्य का अंतिम अंक दो को सोलह से गुणा करना । वहां छह तो दो के ऊपर और एक उसके पीछे १६ ऐसे स्थापन करके एक से दो को गुणा करनेपर
२५६

दो आये उसे एक के नीचे लिखना और छह से दो को गुणा करनेपर बारह आये, उसमें से दो तो गुण्य की जगह लिखना और एक को पहले दो लिखे थे उसमें जोड़ना तब (३२५६) ऐसे हुये । पुनश्च इसीतरह गुण्य का उपांत अंक पांच उसको सोलह से गुणा करना । वहां ऐसे १६ स्थापित करके एक से पांच को गुणा करनेपर
३२५६

पांच आये वह तो एक के नीचे दो है उसमें जोड़ना और छह से पांच को गुणा करनेपर तीस आये वहां शून्य पांच की जगह लिखकर, तीन पिछले अंक में जोड़ना, ऐसे करनेपर ऐसा ४००६ हुआ । पुनश्च गुण्य के आदि अंक छह को सोलह से गुणा करना । वहां ऐसे १६ स्थापित कर एक से छह को गुणा करनेपर छह आये,
४००६

उसे तो एक के नीचे शून्य है उसमें जोड़ना और छह को छह से गुणा करनेपर छत्तीस हुये वहां छह को तो गुण्य के छह की जगह लिखना और तीन को पिछला अंक छह उसमें जोड़ना, ऐसे करनेपर ४०९६ हुये । इसप्रकार गुणित राशि चार हजार छानबे आयी । ऐसे ही अन्यत्र विधान जानना ।

भागहार में भाज्य के जितने अंकों में भागहार का भाग देना संभव है उतने अंकों को उसका भाग देकर प्राप्त अंक को जुदा लिखकर उस प्राप्त अंक से भागहार को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना जिसको भाग दिया था उसमें से घटाकर अवशेष वहां लिखना । पुनश्च वैसे ही भाग देनेपर जो अंक प्राप्त हो उसको पहले जो अंक लिखा था उसके आगे लिखकर उससे भागहार को गुणा करके उसीप्रकार से घटाना। इसतरह जब तक भाज्य राशि निःशेष हो जाय तब तक करनेपर जुदे लिखे अंकप्रमाण एक भाग आता है ।

यहां उदाहरण – जैसे भाज्यराशि चार हजार छानबे, भागहार सोलह । वहां भाज्य के अंतिम अंक चार को तो सोलह का भाग संभव नहीं है इसलिये दो अंक चालीस है उसको भाग देना, वहां $\frac{४०९६}{१६}$ ऐसे लिखना । यहां तीन आदि अंकों से सोलह को गुणा करनेपर चालीस से अधिक हो जाते हैं इसलिये दो प्राप्त हुये, सो दो जुदे लिखकर उससे सोलह को गुणा करके चालीस में से घटानेपर ऐसा ८९६ हुआ ।

पुनश्च यहां नवासी को सोलह का भाग देनेपर $\frac{८९६}{१६}$ पांच आये, उसे दो के आगे लिखकर, उससे सोलह को गुणा करके नवासी में से घटानेपर ऐसा ९६ रहा। इसको सोलह का भाग देनेपर छह आये, उसे पांच के आगे लिखकर उससे सोलह को गुणा करनेपर छानबे हुये, उसे घटानेपर भाज्यराशि निःशेष हुयी । इसतरह जुदे लिखे अंक, उनसे एक भाग का प्रमाण दो सौ छप्पन आता है । पुनश्च **'भागो नास्ति लब्धं शून्यं'** इस वचन से जहां भाग टूट जाय वहां शून्य आता है । जैसे भाज्य तीन हजार छत्तीस(३०३६), भागहार छह(६), वहां तीस को छह का भाग देनेपर पांच आये, उससे छह को गुणा करके घटानेपर तीस निःशेष हुआ । सो यहां भाग टूटा, इसलिये पांच के आगे शून्य लिखना । पुनश्च अवशेष छत्तीस को छह का भाग देनेपर छह आये उसे शून्य के आगे लिखकर, उससे छह को गुणा करके घटानेपर सर्व भाज्य निःशेष हुआ । इसतरह लब्ध का प्रमाण पांच सौ छह प्राप्त हुआ । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

वर्ग में गुणकारवत् विधान जानना । क्योंकि दो जगह समान राशि लिखकर एक को गुण्य, एक को गुणकार स्थापित कर परस्पर गुणा करनेपर वर्ग होता है । जैसे सोलह को सोलह से गुणा करनेपर सोलह का वर्ग दो सौ छप्पन होता है ।

घन में भी गुणकारवत् ही विधान है । क्योंकि तीन जगह समान राशि मांडकर परस्पर गुणा करना । वहां पहले राशिरूप गुण्य को दूसरे राशिरूप गुणकार से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उसको गुण्य स्थापित कर उसे तीसरे राशिरूप गुणकार से गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, वही उस राशि का घन जानना । जैसे सोलह को सोलह से गुणा करनेपर दो सौ छप्पन, उसको सोलह से गुणा करनेपर चार हजार छानबे होते हैं, वही सोलह का घन है । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

dJ_b _ dJê$n am{e H$ àW_ AH$ H$ D$na {df_ H$s, Xga AH$ H$ D$na g_ H$s, Vrga AH$ H$ D$na {df_ H$s, MmW AH$ H$ D$na g_ H$s BgVah H$_ g A{V_ AH$ VH$ C^r AmSr afm HaH ghZmZr ({M•) H$aZm h¡& `{X A{V_ AH$ g_ hm Vm dhm CnmV Ama A{V_ XmZm AH$m H$s {df_ gkm OmZZm h¡& dhm A{V_ EH$ `m Xm Om {df_ AH$, CgH$ à_mU _ g {Og AH$ H$m dJ g^dVm h CgH$m dJ HaH AV H$ {df_ à_mU _ g KQmZm h¡& Adef ah Cg dhm {b I Zm h¡& {OgH$m dJ {H$`m Wm Cg _b AH$ H$m OXm {b I Zm h¡& Adef ah AH$m g{hV Om Cg {df_ AH$ H$ AmJ g_ AH$ CgH$ à_mU H$m OXm ñWm{nV Om AH$, Cgg XJU à_mUê$n ^mJhma H$m ^mJ XZna Om AH$ Am` Cg Cg OX ñWm{nV AH$ H$ AmJ {b I Zm h¡& Ama Cg AH$ g J{UV ^mJhma H$ à_mU H$m Cg ^mÁ` _ g KQmZna Adef dhm {b I XZm h¡& Bg Adef g{hV Om Cg g_ H$ AmJ {df_ AH$, Bg_ g Om AH$ nm`m Wm CgH$m dJ H$aZna Om à_mU hm dh KQmZm, Adef dhm {b I Zm h¡& nZü Bg Adef g{hV Om Cg {df_ H$ AmJ g_ AH$, CgH$m CZ OX {b I h` gd AH$ê$n à_mU g XJU à_mUê$n ^mJhma H$m ^mJ XH$a àmßV AH$ H$m CZ OX {b I h` AH$m H$ AmJ {b I Zm h¡& Ama Bg àmßV AH$ g ^mJhma H$m J{UV H$a, ^mÁ` _ g KQmH$a Adef dhm {b I Zm h¡& nZü Bg Adef g{hV Om g_ AH$ H$ AmJ {df_ AH$, Cg_ g àmßV AH$ H$m dJ KQmZm h¡& Eg hr H$_ g O~ VH$ d{JV am{e {Z…ef hm Om`, V~ VH$ H$aZna dJ_b H$m à_mU AmVm h¡&

`hm CXmhaU - Og d{JV am{e ngR hOma nmM gm NÎmrg (65536)

`hm {df_ g_ H$s ghZmZr Egr &-&-& 65536 H$aZr h¡& A{V_ {df_ Nh _ g VrZ H$m dJ Vm ~hV hmVm h Bg{b` Xm H$m dJ Mma KQmH$a Adef Xm dhm {b I Zm h¡& Ama _b AH$ Xm OXr n{º$ _ {b I Zm h¡& Cg Adef g{hV AJbm AH$ Egm (25) h¡& CgH$m OX {b I h` Xm g XJU Mma H$m ^mJ XZna Nh Am` naV AmJ dJ KQmZ H$m {Zdmh Zht h¡& Bg{b` àmßV nmM H$m OX {b I h` Xm H$ AmJ {b I Zm h¡& Ama àmßV AH$ nmM g ^mJhma Mma H$m JUm H$aH$ ^mÁ` _ g KQmZna n ƒ rg H$s OJh nmM ah, Cg g{hV AJbm {df_ AH$ Egm (55)h¡&

उसमें से प्राप्त अंक पांच का वर्ग पच्चीस घटानेपर अवशेष तीस, उससहित अगला सम अंक ऐसा ३०३, उसको जुदे लिखे अंकों से दुगुणा प्रमाण पचास का भाग देनेपर छह आये, उसे जुदे लिखे अंकों के आगे लिखना और छह से भागहार पचास को गुणा करके भाज्य में से घटानेपर अवशेष ३ रहा, उस सहित आगे का विषम अंक ऐसा (३६) इसमें से प्राप्त अंक छह का वर्ग घटानेपर राशि निःशेष हुयी । ऐसे जुदे लिखे हुये अंकों से पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस का वर्गमूल दो सौ छप्पन आया। ऐसे ही अन्यत्र विधान जानना ।

पुनश्च घनमूल में घनरूप राशि के अंकों के ऊपर पहला घन, दूसरा तीसरा अघन, चौथा घन, पांचवां-छठवां अघन ऐसे क्रम से उभी आडी रेषारूप सहनानी करना। यदि अंतिम घन अंक न हो तो अंतिम अंक और उपांत अंक इन दो अंकों की घन संज्ञा जानना । और वे दोनों घन न हो तो अंत के तीन अंकों की घन संज्ञा जानना । वहां एक, दो या तीन अंकरूप जो अंत का घन उसमें जिसका घन संभवे उसका घन करके उसको अंत के घन अंकरूप प्रमाण में से घटानेपर अवशेष जो रहे उसे वहां लिखना । और जिसका घन किया था उस मूल अंक को जुदी पंक्ति में लिखना । उस अवशेष सहित अगले अंक को उस मूल अंक के वर्ग से तीनगुणे भागहार का भाग देना, जो अंक आये उसको जुदे लिखे हुये अंक के आगे लिखना और प्राप्त अंक से भागहार को गुणा करके भाज्य में से घटाकर अवशेष वहां लिख देना । पुनश्च इस अवशेष सहित अगला अंक, उसमें प्राप्त अंक के वर्ग को पूर्व पंक्ति में स्थित अंकों से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उसे तीनगुणा करके घटाना । अवशेष वहां लिखना । इस अवशेष सहित अगले अंक में से उस प्राप्त अंक का घन घटाना । पुनश्च अवशेष सहित अगले अंक को जुदा लिखकर अंकों के प्रमाण के वर्ग को तीनगुणा करके निर्वाह हो वैसे भाग देना । प्राप्त अंक पंक्ति में आगे लिखना। इसी अनुक्रम से जब तक धनराशि निःशेष हो जाय तब तक करनेपर घनमूल का प्रमाण आता है ।

यहां उदाहरण - जैसे घनराशि पंद्रह हजार छह सौ पच्चीस (१५६२५) । यहां घन-अघन की सहनानी करनेपर ऐसा होता है -

-|--|
१५६२५

। यहां अंतिम अंक घन नहीं है इसलिये दो अंकरूप अंतघन (१५) । यहां तीन का घन करनेपर बहुत हो

जाय, इसलिये दो का घन आठ घटानेपर अवशेष सात लिखना और घनमूल दो जुदी पंक्ति में लिखना । उस अवशेष सहित अगला अंक ऐसा (७६) । उसको मूल अंक का वर्ग चार, उसका तीनगुणा बारह, उसका भाग देनेपर छह आये परंतु आगे निर्वाह नहीं है इसलिये पांच आया उसे दो के आगे पंक्ति में लिखना और इस पांच से भागहार बारह को गुणा करके भाज्य में से घटानेपर अवशेष सोलह (१६), उस सहित अगला अंक ऐसा (१६२) उसमें प्राप्त अंक पांच, उसका वर्ग पच्चीस, उसको पूर्व पंक्ति में स्थित दो, उससे गुणा करनेपर हुये पचास, उसके तीनगुणे डेढ़ सौ (१५०) घटानेपर अवशेष रहे बारह, उस सहित अगला अंक एक सौ पच्चीस (१२५) इसमें से पांच का घन घटानेपर राशि निःशेष हुयी । इसतरह पंद्रह हजार छह सौ पच्चीस का घनमूल पच्चीस प्रमाण आया । ऐसे ही सर्वत्र जानना ।

इसतरह वर्णन करके अब भिन्न परिकर्माष्टक कहते हैं । वहां अंश और हार इनके संकलनादि जानना । अंश और हार किसे कहते हैं ? जैसे छह पंचमांश कहे, वहां एक के पांच भाग करके उस समान छह अंश जानने । वा छह का पांचवां भाग जानना । वहां छह को अंश वा लव कहते हैं और पांच को हार, हर वा छेद कहते हैं । वहां अंश को ऊपर लिखते हैं और हार को नीचे लिखते हैं । जैसे छह पंचमांश को $\frac{६}{५}$ ऐसा लिखते हैं । ऐसे ही अन्यत्र जानना । वहां भिन्न संकलन–व्यवकलन के लिये भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबंध, भागापवाह ये चार जाति हैं । उनमें से यहां विशेष प्रयोजनभूत समच्छेद विधानवाली भागजाति कहते हैं ।

जुदे जुदे अंश और उनके हार लिखकर एक–एक अंश को अन्य अंशों के हारों से गुणा करना तथा सर्व हारों को परस्पर गुणा करना । ऐसा करनेपर यदि संकलन करना हो तो अंशों को परस्पर जोड़ देना और यदि व्यवकलन करना हो तो मूलराशि के अंश में से ऋणराशि के अंश घटा देना और हार सबके समान हुये इसलिये हारों को परस्पर गुणा करनेपर जितने हुये उतने ही रखना । ऐसे समान हार वा छेद होने से इसका नाम समच्छेद विधान है ।

यहां उदाहरण – वहां संकलन में पांच षष्टांश (पांच बटे छह), दो तृतीयांश (दो बटे तीन) और तीन चतुर्थांश (तीन बटे चार) इनको जोड़ना हो वहां $\left|\frac{५}{६}\right|\frac{२}{३}\left|\frac{३}{४}\right|$ ऐसा लिखकर पांच अंश को अन्य के तीन और चार हारों से, दो अंश को अन्य के छह, चार हारों से और तीन अंश को अन्य के छह, तीन हारों से गुणा करनेपर

क्रम से साठ, अड़तालीस और चौवन अंश होते हैं । और हारों को परस्पर गुणा करनेपर सर्व बहत्तर हार $\left|\frac{६०}{७२}\right|\frac{४८}{७२}\left|\frac{५४}{७२}\right|$ ऐसे हुये । यहां सर्व अंशों का जोड़ एक सौ बासठ अंश और बहत्तर हार हुये $\frac{१६२}{७२}$। वहां अंश को हार का भाग देनेपर दो आये और अठारह का बहत्तरवां भाग रहा । उसको अठारह से अपवर्तन करनेपर एक का चौथा भाग हुआ । ऐसे इनका जोड़ सवा दो आया । कोई यथासंभव प्रमाण का भाग देकर भाज्य और भाजक राशि के महत् प्रमाण को थोड़ा करना या निःशेष करना, उसे अपवर्तन कहते हैं । सो यहां अठारह का भाग देनेपर भाज्य अठारह था वहां एक हुआ और भागहार बहत्तर था, वहां चार हुये, इसलिये अठारह से अपवर्तन हुआ ऐसा कहा । ऐसे ही अन्यत्र अपवर्तन का स्वरूप जानना ।

पुनश्च व्यवकलन में जैसे तीन में से पांच चतुर्थांश घटाना है । वहां **'कल्प्यो हरो रूपमहारराशेः'** इस वचन से जिसके हार नहीं हो वहां एक हार मानना, सो यहां तीन का हार नहीं है, इसलिये एक हार मानकर ऐसे लिखना $\left|\frac{३}{१}\right|\frac{५}{४}\right|$ यहां तीन अंश को अन्य के चार हार से और पांच अंश को अन्य के एक हार से गुणा करके और हारों का परस्पर गुणा करके $\left|\frac{१२}{४}\right|\frac{५}{४}\right|$ऐसे हुये । यहां बारह अंशो में से पांच घटानेपर सात अंश हुये और हार चार हुये । वहां अंश को हार का भाग देनेपर एक और तीन का चौथा भाग पौण इतना फल आया ।

पुनश्च भिन्न गुणकार में गुण्य और गुणकार के अंश को अंश से और हार को हार से गुणा करना । जैसे दस चतुर्थांश $\frac{१०}{४}$ को चार तृतीयांश $\frac{४}{३}$ से गुणा करना हो वहां $\left|\frac{१०}{४}\right|\frac{४}{३}\right|$ ऐसा लिखकर गुण्य-गुणकार के अंश और हारों को गुणा करनेपर चालीस अंश और बारह हार $\frac{४०}{१२}$ हुये । वहां अंश को हार का भाग देनेपर तीन आये । अब शेष चार का बारहवां भाग उसको चार से अपवर्तन करनेपर एक का तीसरा भाग आया। ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

पुनश्च भिन्न भागहार में भाजक के अंश को हार करना और हार को अंश करना । ऐसे पलटकर भाज्य-भाजक का गुण्य-गुणकारवत् विधान करना । जैसे सैंतीस के आधे को तेरह के चौथाई का भाग देना हो वहां ऐसे $\frac{३७}{२} \div \frac{१३}{४}$ लिखना और भाजक के अंश और हार पलटकर $\frac{३७}{२} \times \frac{४}{१३}$ ऐसे लिखना । पुनश्च गुणनविधि करनेपर एक सौ अड़तालीस अंश और छब्बीस हार $\frac{१४८}{२६}$ हुये । वहां हार का अंश को भाग देनेपर पांच आये और अवशेष अठारह छब्बीसवां भाग, उसको दो से अपवर्तन करनेपर

नौ तेरहवां भागमात्र हुआ । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

पुनश्च भिन्न वर्ग और घन का विधान गुणकारवत् जानना । क्योंकि समान दो राशियों को परस्पर गुणा करनेपर वर्ग होता है और समान तीन राशियों को परस्पर गुणा करनेपर घन होता है । जैसे तेरह का चौथा भाग दो जगह मांडकर $\left|\frac{१३}{४}\right|\frac{१३}{४}\right|$ परस्पर गुणा करनेपर उसका वर्ग एक सौ उनहत्तर का सोलहवां भागमात्र $\frac{१६९}{१६}$ होता है । तथा तीन जगह मांडकर $\left|\frac{१३}{४}\right|\frac{१३}{४}\left|\frac{१३}{४}\right|$ परस्पर गुणा करनेपर इक्कीस सौ सत्तानबे का चौंसठवां भागमात्र $\frac{२१९७}{६४}$ घन होता है ।

पुनश्च भिन्न वर्गमूल, घनमूल में अंशों का और हारों का पूर्वोक्त विधान से जुदा-जुदा मूल ग्रहण करना । जैसे वर्गित राशि एक सौ उनहत्तर का सोलहवां भाग $\frac{१६९}{१६}$ । वहां पूर्वोक्त विधान से एक सौ उनहत्तर का वर्गमूल तेरह और सोलह का चार ऐसे तेरह का चौथा भाग मात्र $\frac{१३}{४}$ वर्गमूल आया । पुनश्च घनराशि इक्कीस सौ सत्तानबे का चौंसठवां भाग $\frac{२१९७}{६४}$ । वहां पूर्वोक्त विधान से इक्कीस सौ सत्तानबे का घनमूल तेरह, चौंसठ का चार ऐसे तेरह का चौथा भागमात्र $\frac{१३}{४}$ घनमूल आया । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

अब शून्य परिकर्माष्टक लिखते हैं । शून्य अर्थात् बिंदी, उसके संकलनादिक कहते हैं । वहां शून्य में अंक जोड़नेपर अंक ही होता है । जैसे पचास में पांच जोड़ना है वहां एक स्थानीय शून्य में पांच जोड़नेपर पांच होते हैं, दस स्थानीय पांच है ही, ऐसे पचपन हुये ।

अंक में से शून्य घटानेपर अंक ही रहता है । जैसे पचपन में से दस घटानेपर एक स्थानीय पांच में से शून्य घटानेपर पांच ही रहे, दस स्थानीय पांच में से एक घटानेपर चार रहे ऐसे पैंतालीस हुये ।

गुणकार में अंक को शून्य से गुणा करनेपर शून्य होता है । जैसे बीस को पांच से गुणा करना है वहां गुण्य के दो को पांच से गुणा करनेपर दस हुये । और शून्य को पांच से गुणा करनेपर शून्य ही आया । ऐसे सौ हुये ।

पुनश्च अंक को शून्य से भाग देनेपर खहर कहते हैं । क्योंकि जैसे-जैसे भागहार घटता हो, वैसे-वैसे लब्धराशि बढ़ती जाती है । जैसे दस को एक के छठवें भाग का भाग देनेपर साठ आते हैं, एक के बीसवें भाग से भाग देनेपर दो सौ आते

हैं, सो बिंदी अर्थात् शून्य का भाग देनेपर फल का प्रमाण अवक्तव्य है । इसका हार शून्य है इतना ही कह सकते हैं । शून्य का वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल में गुणकारादिवत् शून्य ही होता है । इसतरह लौकिक गणित की अपेक्षा परिकर्माष्टक का विधान कहा ।

पुनश्च अलौकिक गणित अपेक्षा विधान है वह सातिशय ज्ञानगम्य है । क्योंकि वहां अंकादिक का अनुक्रम व्यक्तरूप नहीं है । वहां कहीं तो संकलनादि होनेपर जो प्रमाण हुआ उसका नाम कहते हैं । जैसे उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक जोड़नेपर जघन्य परीतानंत होता है । (जघन्य परीतानंत में से एक घटानेपर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है) । और जघन्य परीतासंख्यात में से एक घटानेपर उत्कृष्ट संख्यात होता है। पल्य को दस कोडाकोडि से गुणा करनेपर सागर होता है । जगत्श्रेणी को सात का भाग देनेपर राजू होता है । जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करनेपर जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है । सूच्यंगुल का घन करनेपर घनांगुल होता है । प्रतरांगुल का वर्गमूल ग्रहण करनेपर सूच्यंगुल होता है । लोक का घनमूल ग्रहण करनेपर जगत्श्रेणी होती है, इत्यादि जानना ।

पुनश्च कहीं संकलनादि होनेपर जो प्रमाण हुआ, उसका नाम न कहकर, संकलनादिरूप ही कथन करते हैं । क्योंकि सर्व संख्यात, असंख्यात, अनंत के भेदों के नाम वक्तव्यरूप नहीं है । जैसे जीवराशि से अधिक पुद्गलराशि कहते हैं वा सिद्धराशि से हीन जीवराशि कहते हैं वा असंख्यातगुणा लोक कहते हैं वा संख्यात प्रतरांगुलों से भाजित जगत्प्रतर कहते हैं वा पल्य का वर्ग कहते हैं वा पल्य का घन कहते हैं वा केवलज्ञान का वर्गमूल कहते हैं वा आकाश प्रदेशराशि का घनमूल कहते हैं इत्यादि जानना ।

पुनश्च अलौकिक मान की सहनानी स्थापित करके इनके लिखने का और वहां संकलनादि होनेपर लिखने का जो विधान है, उसे आगे संदृष्टि अधिकार में वर्णन करेंगे, वहां से जानना । वहां ही लौकिक मान का भी लिखने का और संकलनादि होनेपर लिखने का जो विधान है, उसका वर्णन करेंगे । यहां लिखने से ग्रंथ में प्रवेश करते ही शिष्य को कठिनता भासित हो जाती, वहां अरुचि होती, इसलिये यहां नहीं लिख रहे हैं । उदाहरणमात्र यहां इतना ही जानना, संकलन में तो अधिक राशि को ऊपर लिखना जैसे पांच अधिक सहस्र $\overset{५\,—}{१०००}$ ऐसे लिखना । व्यवकलन में हीन राशि को ऊपर लिखकर वहां पूछड़ी जैसा आकार करके, बिंदी देना जैसे पांच हीन

सहस्र $\overset{५\ \backsim}{१०००}$ ऐसे लिखना । गुणकार में गुण्य के आगे गुणकार लिखना । जैसे पांच गुणा सहस्र १०००×५ ऐसे लिखना । भागहार में भाज्य के नीचे भाजक को लिखना जैसे पांच से भाजित सहस्र $\frac{१०००}{५}$ ऐसे लिखना । वर्ग में राशि को दो बार बराबर मांडना। जैसे पांच के वर्ग को ५×५ ऐसे लिखना । घन में राशि को तीन बार बराबर मांडना। जैसे पांच के घन को ५×५×५ ऐसे लिखना । वर्गमूल-घनमूल में वर्गरूप-घनरूप राशि के आगे मूल की सहनानी करना । जैसे पच्चीस के वर्गमूल को '२५ व.मू.' ऐसे लिखना । एक सौ पच्चीस के घनमूल को '१२५ घ.मू.' ऐसे लिखना । इसतरह लिखने के विधान अनेक प्रकार के हैं । ऐसा परिकर्माष्टक का व्याख्यान किया, उसे जानना ।

पुनश्च त्रैराशिक का जहां-तहां प्रयोजन जानकर स्वरूपमात्र कहते हैं । वहां तीन राशियां होती हैं - प्रमाण, फल, इच्छा । वहां जिस विवक्षित प्रमाण से जो फल प्राप्त होता है, उसे प्रमाणराशि और फलराशि जानना । अपना इच्छित प्रमाण हो, वह इच्छाराशि जानना । वहां फल को इच्छा से गुणा करके प्रमाण का भाग देनेपर अपने इच्छित प्रमाण से प्राप्त जो फल, उसका प्रमाण आता है, इसका नाम लब्ध है । यहां प्रमाण और इच्छा की एक जाति जानना तथा फल और लब्ध की एक जाति जानना । यहां उदाहरण - जैसे पांच रुपये का सात मण अन्न आवे, तो सात रुपये का कितना अन्न आयेगा ऐसा त्रैराशिक किया । यहां प्रमाणराशि पांच, फलराशि सात, इच्छाराशि सात, वहां फल से इच्छा को गुणित करके प्रमाण का भाग देनेपर उनचास का पांचवां भागमात्र लब्ध आया । उसका नौ मण और चार मण का पांचवां भागमात्र लब्धराशि हुयी ।

इसीतरह छह सौ आठ (६०८) सिद्ध छह महिने और आठ समयों में होते हैं, तो सर्व सिद्ध कितने काल में होंगे, ऐसा त्रैराशिक करते हैं, वहां प्रमाणराशि छह सौ आठ, फलराशि छह महिने और आठ समयों की संख्यात आवली, इच्छाराशि सिद्धराशि । वहां फल से इच्छा को गुणा करके प्रमाण का भाग देनेपर लब्धराशि संख्यात आवली से गुणित सिद्धराशि मात्र अतीत काल का प्रमाण आता है । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

पुनश्च कितने ही गणितों का कथन आगे इस शास्त्र में जहां प्रयोजन आयेगा वहां कहेंगे । जैसे श्रेणीव्यवहार का कथन गुणस्थानाधिकार में करणों का कथन करते

हुये कहेंगे । तथा एक बार, दो बार आदि संकलन का कथन ज्ञानाधिकार में पर्यायसमासज्ञान का कथन करते हुये कहेंगे । गोल आदि क्षेत्रव्यवहार का कथन जीवसमासादिक अधिकारों में कहेंगे । ऐसे ही और भी गणितों का जहां प्रयोजन होगा, वहां ही कथन करेंगे, उसे जानना ।

पुनश्च अज्ञातराशि लाने के विधान वा सुवर्णगणित आदि गणितों का यहां प्रयोजन नहीं है, इसलिये उनका यहां कथन नहीं करते । ऐसा गणित का कथन किया । इसको स्मरण में रखकर जहां प्रयोजन हो, वहां यथार्थरूप जानना । ऐसे ही इस शास्त्र में करणसूत्रों का वा कितनी ही संज्ञाओं का वा कितने ही अर्थों का स्वरूप एक बार जहां कहा हो, वहां से स्मरण में रखकर, उनका जहां प्रयोजन आवे, वहां वैसा ही स्वरूप जानना ।

इसप्रकार श्री गोम्मटसार शास्त्र की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषाटीका में पीठिका समाप्त हुयी ।

* * *

गोम्मटसार जीवकाण्ड

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

- भाषा टीका का हिन्दी अनुवाद -

अब इस शास्त्र के मूल सूत्रों की संस्कृत टीका के अनुसार भाषा टीका करते हैं । वहां प्रथम ही संस्कृत टीकाकार द्वारा कथित ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा, मूल शास्त्र होने के समाचार और मंगल करने की पुष्टता इत्यादि का कथन करते हैं ।

बंदौ नेमिचंद्र जिनराय सिद्ध ज्ञानभूषण सुखदाय ।
करि हौं गोम्मटसार सुटीक करि कर्णाट टीकतैं ठीक ।।१।।

इसतरह संस्कृत टीकाकार ने मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा की है । पुनश्च कहते हैं - श्रीमान् और किसी से नष्ट नहीं होता प्रभाव जिसका, ऐसा जो स्याद्वाद मत, वही हुयी गुंफा, उसके अभ्यंतर वास करनेवाले जो कुवादीरूप हाथियों को सिंह समान सिंहनन्दि नामक मुनीन्द्र, उनके द्वारा हुयी है ज्ञानादिक की वृद्धि जिसके, ऐसा जो गंगनामक वंश में तिलक समान और राजकार्य का सम्पूर्ण जानना आदि से लेकर अनेक गुणसंयुक्त श्रीमान् राजमल्ल नामक महाराजा देव, पृथ्वी का प्यारा, उसका महान जो मंत्रीपद, उसमें शोभायमान और रण की रंगभूमि में शूरवीर और पर की सहायता नहीं चाहनेवाला, ऐसा पराक्रम का धारी, और गुणरूपी रत्नों के आभूषण जिसके हैं और सम्यक्त्वरत्न का स्थानकपना आदि से लेकर नाना प्रकार के गुणों द्वारा अंगीकार की हुयी जो कीर्ति, उसका भर्त्तार, ऐसा जो श्रीमान् चामुण्डराय राजा, उसके प्रश्न द्वारा जिसका अवतार हुआ, ऐसा इकतालीस पदों में नामकर्म के सत्त्व का निरूपण, उससे आरम्भ करके समस्त शिष्यजनों के समूह को संबोधन के हेतु श्रीमान् नेमिचन्द्र नामक सिद्धांत चक्रवर्ती, समस्त सिद्धांत के पाठी, लोगों में विख्यात है निर्मल यश जिसका और विस्तीर्ण बुद्धि के धारक ऐसे भगवान् शास्त्र के कर्त्ता है ।

सो महाकर्मप्रकृति प्राभृत नामक मुख्य प्रथम सिद्धांत, उसके १) जीवस्थान, २) क्षुद्रबंध, ३) बंधस्वामी, ४) वेदनाखण्ड ५) वर्गणाखण्ड ६) महाबंध - ये छह खण्ड हैं ।

उनमें जीवादिक जो प्रमाण करनेयोग्य समस्त वस्तु, उनके उद्धार से गोम्मटसार

द्वितीय नाम पंचसंग्रह नामक ग्रंथ के विस्तार को रचते हुये उस ग्रंथ के आदि में ही निर्विघ्न रीति से शास्त्र की सम्पूर्णता होने के लिये, तथा नास्तिक वादियों के परिहार के लिये, तथा शिष्टाचार पालने के लिये तथा उपकार का स्मरण करने के लिये विशिष्ट जो अपने इष्ट देव का विशेष, उसे नमस्कार करते हैं ।

भावार्थ - यहां ऐसा जानना - सिंहनन्दि नामक मुनि के शिष्य, जो गंगवंशी राजमल्ल नामक महाराजा, उसका मंत्री चामुण्डराय राजा, उसने नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती से ऐसा प्रश्न किया -

जो सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायादिक इकतालीस जीवपदों में नामकर्म के सत्त्व का निरूपण कैसे है ? सो कहिये !

वहां इस प्रश्न का निमित्त पाकर अनेक जीवों के संबोधनार्थ जीवस्थानादि छह अधिकार जिसमें हैं, ऐसा महाकर्मप्रकृति प्राभृत है नाम जिसका, ऐसा अग्रायणीय पूर्व का पांचवां वस्तु, अथवा भूतबलि आचार्यकृत षट्खण्डागम उसके अनुसार गोम्मटसार और इसीका दूसरा नाम पंचसंग्रह ग्रंथ उसके करने का प्रारंभ किया । वहां प्रथम अपने इष्टदेव को नमस्कार करते हैं । उसके निर्विघ्नपने से शास्त्र की समाप्ति होना आदि चार प्रयोजन कहे । अब इनको दृढ़ करते हैं ।

यहां तर्क - जो इष्टदेव, उनको नमस्कार करने से निर्विघ्नपने से शास्त्र की समाप्ति कैसे होती है ?

वहां कहते हैं - ऐसी आशंका नहीं करनी, क्योंकि शास्त्र का ऐसा वचन है-

विघ्नौघाः प्रलयं यांति शाकिनीभूतपन्नगाः ।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ।।

इसका अर्थ - जिनेश्वर देव का स्तवन करते हुये विघ्न के जो समूह, वे नाश को प्राप्त होते हैं । पुनश्च शाकिनी, भूत, सर्पादिक वे नाश को प्राप्त होते हैं । पुनश्च विष जो है, वह विषरहितपने को प्राप्त होता है। सो ऐसे वचन के बारे में शंका नहीं करनी । पुनश्च, जैसे प्रायश्चित्त के आचरण से व्रतादिक का दोष नष्ट होता है, तथा जैसे औषध सेवन से रोग नष्ट होता है; वैसे मंगल करने से विघ्नकर्ता अन्तरायकर्म के नाश का अविरोध है, इसलिये शंका नहीं करनी । इसतरह प्रथम प्रयोजन दृढ़ किया ।

पुनश्च तर्क – ऐसा न्याय है –

''सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः ।
विद्यते न हि स कश्चिदुपाय सर्वलोकपरितोषकरो यः ।।''

इसका अर्थ – सर्व प्रकार से अपने हित का आचरण करना । अपना हित करते हुये, बहुत बकता है जो मनुष्यलोक, वह क्या करेगा ? और यदि कोई कहेगा कि सब प्रसन्न हो वह कार्य करना; तो जगत में वह कोई उपाय ही नहीं, जो सभी लोगों को संतुष्ट करे । इस न्याय से जिसका प्रारंभ कर रहे हो, उसका प्रारंभ करो। नास्तिकवादी का परिहार करने से क्या साध्य है ?

वहां कहते हैं – ऐसा भी नहीं कहना । क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य गुणों का प्रकट होनेरूप लक्षण का धारक सम्यग्दर्शन है । इसलिये नास्तिकवादी के परिहार द्वारा आप्त जो सर्वज्ञ उनको आदि रखकर पदार्थों में जो आस्तिक्य भाव होता है, उसके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करने का कारणपना पाया जाता है । तथा ऐसा प्रसिद्ध वचन है –

''यद्यपि विमलो योगी, छिद्रान् पश्यति मेदनि ।
तथापि लौकिकाचारं मनसापि न लंघयेत् ।।''

इसका अर्थ – यद्यपि योगीश्वर निर्मल है, तथापि पृथ्वी उसके भी छिद्रों को देखती है । इसलिये लौकिक आचार को मन से भी उल्लंघन न करें; यह बात प्रसिद्ध है । इसलिये नास्तिक का परिहार करना चाहिये । इसतरह दूसरा प्रयोजन दृढ़ किया ।

पुनश्च तर्क – शिष्टाचार का पालना किसे अर्थकारी है ?

वहां कहते है – ऐसा विचार योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा वचन मुख्य है कि **''प्रायेण गुरुजनशीलमनुचरंति शिष्याः''।** इसका अर्थ जो शिष्य हैं वे प्रायः गुरुजनों का जो स्वभाव, उसका अनुसरण करके आचरण करते हैं । पुनश्च ऐसा न्याय है – **'' मंगलं निमित्तं हेतु परिमाणं नाम कर्तारमिति षडपि व्याकृत्याचार्याः पश्चाच्छास्त्रं व्याकुर्वन्तु''** । इसका अर्थ – मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्ता इन छहों को पहले बताकर पश्चात् आचार्य शास्त्र को करें ऐसा न्याय आचार्यों की परम्परा से चला आया है । उसका उल्लंघन करने से उन्मार्ग में प्रवर्तने का प्रसंग आयेगा इसलिये

शिष्टाचार का पालना किसे अर्थकारी है ? इसतरह विचार करना योग्य नहीं है ।

अब यहां मंगलादिक छह क्या हैं ? वह कहते हैं -

१) मंगल – वहां प्रथम ही पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य इत्यादि मंगल के पर्यायवाची हैं । मंगल ही के पुण्यादिक भी नाम हैं। वहां मल दो प्रकार के हैं - द्रव्यमल, भावमल । वहां द्रव्यमल दो प्रकार का - बहिरंग, अंतरंग । वहां पसीना, मल, धूलि, कादव इत्यादि बहिरंग द्रव्यमल है । तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशों के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में निबिड़ बंधा हुआ जो ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्म, वह अंतरंग द्रव्यमल है ।

पुनश्च भावमल अज्ञान, अदर्शनादि परिणामरूप है । अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव भेदरूप मल है । अथवा उपचार मल जीव के पाप कर्म हैं । उन सभी मलों को **गालयति** अर्थात् विनाश करता है, घात करता है, दहता है, हनता है, शोधता है वा विध्वंस करता है वह मंगल कहलाता है । अथवा **मंगं** अर्थात् सौख्य वा पुण्य उसको **लाति** अर्थात् आदान करता है, ग्रहण करता है, वह मंगल है ।

पुनश्च वह मंगल नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से आनंद का उपजावनेवाला छह प्रकार का है । वहां अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इनका जो नाम, वह तो **नाममंगल** है । पुनश्च जिनादिकों के कृत्रिम, अकृत्रिम प्रतिबिम्ब, वह **स्थापनामंगल** है । पुनश्च जिन, आचार्य, उपाध्याय, साधु इनका जो शरीर, वह **द्रव्यमंगल** है ।

पुनश्च कैलास, गिरनार, सम्मेदाचलादि पर्वतादिक, अर्हन्तादिकों के तप-केवलज्ञानादि गुणों के उपजने के स्थान वा साढ़े तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष पर्यन्त केवली के शरीर द्वारा रोका हुआ आकाश अथवा केवली के समुद्घात द्वारा रोका हुआ आकाश, वह **क्षेत्रमंगल** है ।

पुनश्च जिस काल में तपादि कल्याणक हुये हैं वा जिस काल में अष्टान्हिकादि जिनादिक के महान उत्सव वर्तते हैं, वह **कालमंगल** है ।

पुनश्च मंगल पर्याय से संयुक्त जीवद्रव्य मात्र **भावमंगल** है । सो यह कहा हुआ मंगल जिनादिक के स्तवनादिरूप है, सो शास्त्र के प्रारम्भ में किया हुआ मंगल शिष्यों को थोड़े काल में शास्त्रों का पारगामी करता है । मध्य में किया हुआ मंगल विद्या

का व्युच्छेद न हो, उसे करता है । अन्त में किया हुआ मंगल विद्या के निर्विघ्नपने को करता है ।

कोई तर्क करता है कि - इष्ट अर्थ की प्राप्ति परमेष्ठियों के नमस्कार से कैसे होगी ?

वहां काव्य कहते हैं -

"नेष्टं विहंतुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरंतराय ।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदर्हदादेः ।।"

इसका अर्थ - अर्हन्तादिक को नमस्काररूप शुभ भावों से नष्ट हुआ है अनुभाग का आधिक्य जिसका, ऐसा जो अन्तराय नामक कर्म, वह इष्ट को घातने के लिये प्रभु अर्थात् समर्थ नहीं होता, इसलिये उस अभिलाषा युक्त जीव के द्वारा गुणानुराग से अर्हंतादिक को किया हुआ नमस्कारादिक, वह इष्ट अर्थ का करनेवाला है - ऐसा परमागम में प्रसिद्ध है । इसकारण वह मंगल अवश्य करने ही योग्य है।

२) निमित्त - पुनश्च इस शास्त्र का निमित्त यह है - जो भव्य जीव हैं, वे बहुत नय-प्रमाणों से नाना प्रकार के भेद को लेकर पदार्थों को जाने, इस कार्य को कारणभूत करते हैं ।

३) हेतु - पुनश्च इस शास्त्र के अध्ययन में हेतु दो प्रकार के हैं - प्रत्यक्ष, परोक्ष । वहां प्रत्यक्ष दो प्रकार - साक्षात्प्रत्यक्ष, परम्पराप्रत्यक्ष । वहां अज्ञान का विनाश होना, तथा सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होनी, तथा देव-मनुष्यों द्वारा निरंतर पूजा करना, तथा असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्म की निर्जरा होना, ये तो साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु हैं । शास्त्राध्ययन करते ही ये फल निपजते हैं । तथा शिष्य और शिष्यों के प्रतिशिष्य, उनके द्वारा निरंतर पूजा का करना, वह परम्पराप्रत्यक्ष हेतु है । शास्त्राध्ययन करने से ऐसी फल की परम्परा होती है ।

पुनश्च परोक्ष हेतु दो प्रकार - अभ्युदयरूप, निःश्रेयसरूप । वहां सातावेदनीयादिक प्रशस्त प्रकृतियों के तीव्र अनुभाग के उदय से उत्पन्न हुआ तीर्थंकर, इन्द्र, राजादिक का सुख सो तो अभ्युदयरूप है । तथा अतिशय संयुक्त, आत्मजनित, अनुपम, सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर का सुख वा पंचेन्द्रियों से अतीत सिद्ध सुख, वह निःश्रेयसरूप है । ग्रंथ अध्ययन के पश्चात् परोक्ष ऐसा फल प्राप्त होता है । इसलिये यह ग्रन्थ इसतरह के फलों का

हेतु जानना ।

४) प्रमाण – इस शास्त्र का प्रमाण नाना प्रकार के अर्थों से अनंत है तथा अक्षरगणना से संख्यात है, क्योंकि जीवकाण्ड के सात सौ पच्चीस गाथा सूत्र हैं ।

५) नाम – जीवादि वस्तु के प्रकाशने को दीपिका समान है इसलिये संस्कृत की टीका की अपेक्षा **जीवतत्त्वप्रदीपिका** नाम है ।

६) कर्ता – इस शास्त्र के कर्ता तीन प्रकार के हैं – अर्थकर्ता, ग्रंथकर्ता, उत्तर ग्रंथकर्ता ।

वहां समस्तपने से दग्ध किया है घातिकर्म चतुष्टय, उससे उत्पन्न जो अनन्त ज्ञानादिक चतुष्टयपना, उसके द्वारा जाना है त्रिकाल संबंधी समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों का यथार्थ स्वरूप जिन्होंने, पुनश्च नष्ट हुये हैं क्षुधादिक अठारह दोष जिनके, पुनश्च चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्यों से संयुक्त, पुनश्च समस्त सुरेन्द्र-नरेन्द्रादिकों से पूजित है चरणकमल जिनके, पुनश्च तीन लोक के एक नाथ, पुनश्च अठारह महाभाषा और सात सौ क्षुद्रभाषा अथवा संज्ञी संबंधी अक्षर-अनक्षर भाषा उस स्वरूप और तालवा, दात, होठ, कंठ को हिलाना आदि व्यापाररहित और भव्य जीवों को आनन्द की कर्ता और युगपत् सर्व जीवों के उत्तर का प्रतिपादन करनेवाली ऐसी जो दिव्यध्वनि उससे संयुक्त, पुनश्च बारह सभा द्वारा सेवनीक ऐसे जो भगवान श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव, वे अर्थकर्ता जानना।

पुनश्च उस अर्थ का ज्ञान वा कवित्वादि विज्ञान और सात ऋद्धि उनसे सम्पूर्ण विराजमान ऐसे गौतम गणधर देव, वे ग्रंथकर्ता जानना ।

पुनश्च उन्हीं के अनुक्रम के धारक, तथा नष्ट नहीं हुआ है सूत्र का अर्थ जिनके तथा रागादि दोषों से रहित ऐसा जो मुनीश्वरों का समूह, वह उत्तर ग्रंथकर्ता जानना ।

इसप्रकार मंगलादि छहों का व्याख्यान यहां किया । इसतरह तीसरा प्रयोजन दृढ़ किया ।

पुनश्च तर्क – जो शास्त्र के आदि में उपकार स्मरण किसे अर्थकारी है ?

वहां कहते हैं – इसतरह नहीं कहना, क्योंकि ऐसा कथन है –

''श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः ।।''

इसका अर्थ - श्रेय जो कल्याण, उसके मार्ग की सम्यक् प्रकार से सिद्धि, वह परमेष्ठी के प्रसाद से होती है । इस हेतु से मुनि प्रधान हैं वे शास्त्र की आदि में उस परमेष्ठी का स्तोत्र करने को कहते हैं ।

पुनश्च ऐसा वचन है -

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं पण्डिताः(साधवो) विस्मरंति।।

इसका अर्थ - वांछित, अभीष्ट फल की सिद्धि होने का उपाय सम्यग्ज्ञान है । तथा वह सम्यग्ज्ञान शास्त्र से होता है । तथा उस शास्त्र की उत्पत्ति आप्त जो सर्वज्ञ है उनसे है । इस हेतु से आप्त सर्वज्ञदेव हैं वे, उनके प्रसाद से ज्ञानवंत हुये जो जीव, उनके द्वारा पूज्य होते हैं, सो न्याय्य ही है; और पंडित हैं वे किये हुये उपकार को नहीं भूलते हैं, इसलिये शास्त्र के प्रारम्भ में उपकार स्मरण किसे अर्थकारी है इसतरह नहीं कहना । इसतरह चौथा प्रयोजन दृढ़ किया ।

इसीलिये विघ्न विनाशने के लिये तथा शिष्टाचार पालने के लिये तथा नास्तिक के परिहार के लिये तथा अभ्युदय का कारण जो परम पुण्य उसे उपजावने के लिये तथा किये हुये उपकार को याद करने के लिये शास्त्र के प्रारम्भ में जिनेन्द्रादिक को नमस्कारादिरूप जो मुख्य मंगल, उसका आचरण करते हुये, पुनश्च जो अर्थ कहेंगे उस अभिधेय की प्रतिज्ञा को प्रकाशित करते हुये आचार्य है, सो **सिद्धं** इत्यादि गाथा सूत्र को कहते हैं -

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिंदवरणेमिचंदमकलंकं ।
गुणरयणभूसणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं ।।१।।

सिद्धं शुद्धं प्रणम्य जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रमकलंकम् ।
गुणरत्नभूषणोदयं जीवस्य प्ररूपणं वक्ष्ये ।।१।।

टीका - अहं वक्ष्यामि । अहं अर्थात् मैं जो हूँ ग्रंथकर्ता । **वक्ष्यामि** अर्थात्

करूंगा, **किं** ? किसे करूंगा ? **प्ररूपणं** अर्थात् व्याख्यान अथवा अर्थ को प्ररूपनेवाले वा अर्थ जिसके द्वारा प्ररूपित किया जाय ऐसा जो ग्रंथ, उसको करूंगा। **कस्य प्ररूपणं?** किसका प्ररूपण कहूंगा ? **जीवस्य** अर्थात् चार प्राणों से जीता है, जीयेगा और जीया है ऐसा जीव जो आत्मा, उस जीव के भेदों का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र मैं कहूंगा- ऐसी प्रतिज्ञा की है । इस प्रतिज्ञा द्वारा इस शास्त्र के संबन्धाभिधेय, शक्यानुष्ठान, इष्टप्रयोजनपना है; इसलिये बुद्धिवंतों के द्वारा आदर करने योग्य कहा है ।

वहां जैसा संबन्ध है वैसा ही जहां अर्थ हो, उसे संबन्धाभिधेय कहते हैं। तथा जिसके अर्थ का आचरण करने की सामर्थ्य हो, उसे शक्यानुष्ठान कहते हैं । तथा जो हितकारी प्रयोजन लिये हो, उसे इष्टप्रयोजक कहते हैं ।

कथंभूतं प्ररूपणं ? जिसको कहूंगा, सो कैसा है प्ररूपण ? **गुणरत्नभूषणोदयं-** गुण जो सम्यग्दर्शनादिक, वे ही हुये रत्न, सो ही हैं आभूषण जिसके, ऐसा जो गुणरत्नभूषण चामुण्डराय, उससे है उदय अर्थात् उत्पत्ति जिसकी ऐसा शास्त्र है । क्योंकि चामुण्डराय के प्रश्न के वश से इसकी उत्पत्ति प्रसिद्ध है । अथवा गुणरूप जो रत्न सो **भूषयति** अर्थात् शोभते हैं जिसमें ऐसा गुणरत्नभूषण मोक्ष, उसका है उदय अर्थात् उत्पत्ति जिससे, ऐसा शास्त्र है ।

भावार्थ - यह शास्त्र मोक्ष का कारण है । तथा विकथादिरूप बंध का कारण नहीं है। इस विशेषण द्वारा १) बंधक २) बंध्यमान ३) बंधस्वामी ४) बंधहेतु ५) बंधभेद - ये पांच सिद्धांत के अर्थ हैं ।

वहां कर्मबंध का कर्ता संसारी जीव, सो बंधक । तथा मूल-उत्तर प्रकृतिबंध के सहित सो बंध्यमान । तथा यथासंभव बंध के सद्भाव सहित गुणस्थानादिक, सो बंधस्वामी। तथा मिथ्यात्वादि आस्रव सो बंधहेतु । तथा प्रकृति, स्थिति आदि बंधभेद ह्न इनका निरूपण है, इसलिये गोम्मटसार का दूसरा नाम ''पंचसंग्रह'' है । उनमें बंधक जो जीव, उसका प्रतिपादन करनेवाला यह शास्त्र **जीवस्थान** वा **जीवकाण्ड** इन दो नामों से विख्यात है, उसे मैं कहूंगा । इसतरह यह विशेषण शास्त्र के कर्ता का अभिप्राय दिखाता है।

पुनश्च **कथंभूतं प्ररूपणं** ? कैसा है प्ररूपण ? **सिद्धं** अर्थात् पूर्वाचार्यों की परम्परा से प्रसिद्ध है, अपनी रुचि से रचनारूप नहीं किया है । इस विशेषण द्वारा आचार्य अपने कर्तापना को छोड़कर पूर्व आचार्यादिकों के अनुसार कहते हैं । पुनः **किं विशिष्ट**

प्ररूपणं ? तथा कैसा है प्ररूपण ? **शुद्धं** अर्थात् पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित है, इसलिये निर्मल है । इस विशेषण से इस शास्त्र का सम्यग्ज्ञानी जीवों के उपादेयपना प्रकाशित किया है ।

किं कृत्य ? क्या करके ? **प्रणम्य** अर्थात् प्रकर्षपने नमस्कार करके प्ररूपण करता हूँ । **कं** किसे ? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं** – कर्मरूपी वैरियों को जीते, वह जिन। अपूर्वकरण परिणाम को प्राप्त प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सन्मुख सातिशय मिथ्यादृष्टि, वे जिन कहलाये । वे ही हुये इन्द्र, कर्मनिर्जरारूप ऐश्वर्य, उसका भोक्ता को आदि देकर सर्व जिनेन्द्रों में वर अर्थात् श्रेष्ठ, असंख्यातगुणि महानिर्जरा के स्वामी ऐसे चामुण्डराय द्वारा निर्मापित महापूत चैत्यालय में विराजमान नेमि नामक तीर्थंकरदेव, वे ही भव्य जीवों को **चंद्रयति** अर्थात् आह्लाद करे वा समस्त वस्तुओं को प्रकाशे अथवा संसार आताप और अज्ञान अंधकार के नाशक ऐसे जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्र । पुनश्च कैसा है? **अकलंकं** अर्थात् कलंकरहित, उनको नमस्कार करके मैं जीव का प्ररूपण कहूंगा।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं – **कं प्रणम्य** ? किसे नमस्कार करके जीव का प्ररूपण करता हूँ ? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं** – नेमिचन्द्र नामक बाइसवें जिनेन्द्र तीर्थंकर देव, उन्हें नमस्कार करके जीव की प्ररूपणा करता हूँ । कैसे हैं वे ? **सिद्धं** अर्थात् समस्त लोक में विख्यात हैं । पुनश्च कैसे हैं ? **शुद्धं** अर्थात् द्रव्य-भावस्वरूप घातिया कर्मों से रहित हैं । तथापि कोई संशयी उन्हें क्षुधादि दोषोंका संभव कहते हैं, उनके प्रति कहते हैं – कैसे हैं वे ? **अकलंकं** – नहीं विद्यमान हैं कलंक अर्थात् क्षुधादिक अठारह दोष जिनके, ऐसे हैं । पुनश्च कैसे हैं ? **गुणरत्नभूषणोदयं** – गुण जो अनंत ज्ञानादिक, वे ही हुये रत्न के आभूषण, उनका है उदय अर्थात् उत्कृष्टपना जिनमें ऐसे हैं । इसप्रकार अन्य में नहीं पाये जाय ऐसे असाधारण विशेषण, समस्त अतिशयों के प्रकाशक, अन्य के आप्तपने की वार्ता को भी जे सहे नहीं ऐसे इन विशेषणों द्वारा इसी भगवान के परम आप्तपना, परम कृतकृत्यपना, हमसे आदि देकर जे अकृतकृत्य हैं, उनके शरणपना प्रतिपादन किया है, ऐसा जानना ।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं – **कं प्रणम्य ?** किसे नमस्कार करके जीव का प्रतिपादन कर रहे हो ? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं** – सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों में सघन बंधे हुये जो घातिकर्मरूप मेघपटल, उनके विघटन से प्रकटीभूत हुये अनंत ज्ञानादिक नव केवललब्धिपना; इसलिये जिन कहते हैं । पुनश्च अनुपम परम ईश्वरता द्वारा सम्पूर्णपना

होने से इन्द्र कहते हैं । जिन सो ही इन्द्र सो जिनेन्द्र, अपने ज्ञान के प्रभाव से व्याप्त हुआ है तीन काल सम्बन्धी तीन लोक का विस्तार जिसके ऐसा जिनेन्द्र, वर अर्थात् अक्षर संज्ञा से चौबीस, कैसे ? **कटपयपुरस्थवर्णैः** इत्यादि सूत्र की अपेक्षा य र ल व में से वकार चौथा अक्षर उसका चार का अंक और रकार दूसरा अक्षर, उसका दो का अंक, अंकों की बांयें तरफ गति है, इसतरह **वर** शब्द से चौबीस का अर्थ हुआ । पुनश्च अपने अद्‌भुत पुण्य के माहात्म्य से नागेन्द्र, नरेन्द्र, देवेन्द्र के समूह को अपने चरणकमल में नमावे उन्हें नेमि कहते हैं । अथवा धर्मतीर्थरूपी रथ के चलावने में सावधान है, इसलिये जैसे रथ के पहिये के नेमि-धुरी है; वैसे वह तीर्थंकरों का समुदाय धर्मरथ में नेमि कहते हैं । पुनश्च **चन्द्रयति** अर्थात् तीन लोक के नेत्ररूप चन्द्रवंशी कमलवनों को आह्लादित करे, उसे चन्द्र कहते हैं । अथवा जिसके वैसे रूप की सम्पदा का सम्पूर्ण उदय होता है, जिस रूपसम्पदा की तुलना में इन्द्रादिकों की सुन्दरता का समीचीन सर्वस्व भी परमाणु के समान हलका होता है, सो जो नेमि वही चन्द्र सो नेमिचन्द्र, **वर** अर्थात् चौबीस संख्यायुक्त जो नेमिचन्द्र, वह वरनेमिचन्द्र, जो जिनेन्द्र वही वरनेमिचन्द्र, सो जिनवरनेमिचन्द्र अर्थात् वृषभादि वर्द्धमान पर्यंत तीर्थंकरों का समुदाय, उन्हें नमस्कार करके जीव का प्ररूपण कहता हूँ; ऐसा अभिप्राय है । अवशेष सिद्ध आदि विशेषणों का पूर्वोक्त प्रकार सम्बन्ध जानना ।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं - **प्रणम्य** अर्थात् नमस्कार करके । **कं** ? किसे? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं । जयति** अर्थात् जीते, भेदे, विदारे कर्मपर्वतसमूह को, उन्हें जिन कहते हैं । पुनश्च नाम का एकदेश सम्पूर्ण नाम में प्रवर्तता है - इस न्याय से इन्द्र अर्थात् इन्द्रभूति ब्राह्मण, उसका वा इन्द्र अर्थात् देवेन्द्र, उसका वर अर्थात् गुरु ऐसा इन्द्रवर श्री वर्द्धमानस्वामी, पुनश्च **नयति** अर्थात् अविनश्वर पद को प्राप्त करे शिष्य समूह को, उन्हें नेमि कहते हैं। पुनश्च समस्त तत्त्वों को प्रकाशते हैं चन्द्रवत्, इसलिये चन्द्र कहते हैं। जिन वे ही इन्द्रवर, वे ही नेमि, वे ही चन्द्र, ऐसे जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्र वर्द्धमानस्वामी उन्हें नमस्कार करके जीव का प्ररूपण कर रहा हूँ। अन्य सम्बन्ध पूर्वोक्त प्रकार जानना।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं - **प्रणम्य** - नमस्कार करके । **कं** ? किसे? **सिद्धं** अर्थात् सिद्ध हुआ, वा निष्ठित - सम्पूर्ण हुआ वा निष्पन्न (जो) होना था वह हुआ । वा कृतकृत्य जो करना था, वह जिसने किया । वा सिद्धसाध्य, सिद्ध हुआ है साध्य जिसके, ऐसे सिद्धपरमेष्ठी बहुत हैं, तथापि जाति एक है, इसलिये द्वितीया विभक्ति

का एकवचन कहा । उसके द्वारा सर्व क्षेत्र में, सर्व काल में, सर्व प्रकार से सिद्धों का सामान्यपने से ग्रहण करना । सो सर्व सिद्धसमूह को नमस्कार करके जीव का प्ररूपण करता हूँ, ऐसा अर्थ जानना । सो कैसा है ? **शुद्धं** अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के द्रव्य-भावस्वरूप कर्म से रहित है । पुनश्च कैसा है ? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं**- अनेक संसारवन सम्बन्धी विषम कष्ट देने को कारण कर्म वैरी, उसे जीते, वह जिन। पुनश्च इंदन अर्थात् परम ईश्वर उसका योग, उससे राजते अर्थात् शोभता है, वह इन्द्र। पुनश्च यथार्थ पदार्थों को **नयति** अर्थात् जानता है, वह नेमि अर्थात् ज्ञान, वर अर्थात् उत्कृष्ट अनंतरूप जिसके पाया जाता है, वह वरनेमि । पुनश्च **चंद्रयति** अर्थात् आह्लादरूप होकर परम सुख को अनुभवे, वह चन्द्र । यहां सर्वत्र जाति अपेक्षा एकवचन जानना। सो जो जिन, वही इन्द्र, वही वर नेमि, वही चन्द्र, ऐसा जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्र सिद्ध है। पुनश्च कैसा है ? **अकलंकं** अर्थात् नहीं विद्यमान है कलंक अर्थात् अन्यमतियों द्वारा कल्पना किया हुआ दोष जिसके, ऐसा है । पुनश्च कैसा है ? **गुणरत्नभूषणोदयं** गुण अर्थात् परमावगाढ़ सम्यक्त्वादि आठ गुण, वे ही हुये रत्न-आभूषण, उनका है उदय अर्थात् अनुभवन वा उत्कृष्ट प्राप्ति जिसके, ऐसा है ।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं - **प्रणम्य** नमस्कार करके । **कं** ? किसे ? **कं** अर्थात् आत्मद्रव्य, उसे नमस्कार करके जीव का प्ररूपण करता हूँ । कैसा है? **अकलं** अर्थात् नहीं विद्यमान है कल अर्थात् शरीर जिसके, ऐसा है । पुनश्च कैसा है ? **सिद्धं** अर्थात् नित्य अनादिनिधन है । पुनश्च कैसा है ? **शुद्धं** अर्थात् शुद्धनिश्चयनय के गोचर है । पुनश्च कैसा है ? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं** - जिन जो असंयत सम्यग्दृष्टि आदि, उनका इन्द्र अर्थात् स्वामी है, परम आराधने योग्य है । पुनश्च वर अर्थात् समस्त पदार्थों में सारभूत है । पुनश्च नेमिचन्द्र अर्थात् ज्ञान-सुखस्वभाव को धरता है । सो जिनेन्द्र, वही वर, वही नेमिचन्द्र, ऐसा जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्र आत्मा है । पुनश्च कैसा है । **गुणरत्नभूषणोदयं** - **गुणानां** अर्थात् समस्त गुणों में रत्न अर्थात् रत्नवत् पूज्य प्रधान ऐसा जो सम्यक्त्वगुण उसका है उदय अर्थात् उत्पत्ति जिसके अथवा चूंकि आत्मानुभव से सम्यक्त्व होता है, इसलिये आत्मा गुणरत्नभूषणोदय है।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं - **प्रणम्य** नमस्कार करके । **कं** ? किसे ? **सिद्धं** अर्थात् सिद्ध परमेष्ठियों के समूह को, सो कैसा है ? **शुद्धं** अर्थात् दग्ध किये है आठ कर्ममूल जिन्होंने । पुनश्च किसे ? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं** जिनेन्द्र अर्थात् अर्हत् परमेष्ठियों

का समूह, सो **वराः** अर्थात् उत्कृष्ट जीव गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्रादिक भव्यप्रधान वे ही हुये नेमि अर्थात् नक्षत्र, उनमें चन्द्र अर्थात् चन्द्रमावत् प्रधान, ऐसा जिनेन्द्र, वही वरनेमिचन्द्र उस अर्हत्परमेश्वरों के समूह को । सो कैसा है ? **अकलंकं** अर्थात् दूर किया है तिरसठ कर्मप्रकृतिरूप मल कलंक जिसने ऐसा है । केवल उन्हीं को नमस्कार करके नहीं, अपितु **गुणरत्नभूषणोदयं** गुणरूपी रतन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र वे ही हुये भूषण अर्थात् आभरण, उनका है उदय अर्थात् समुदाय जिसके ऐसा आचार्य, उपाध्याय, साधुसमूह उसको, इसतरह सिद्ध, अरहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधुरूप पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके जीव का प्ररूपण करता हूँ ।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं - **प्रणम्य** अर्थात् नमस्कार करके, **कं** ? किसे ? **जीवस्य प्ररूपणं** अर्थात् जीवों का निरूपण वा ग्रंथ, उसे नमस्कार करके कहता हूँ । सो कैसा है ? **सिद्धं** अर्थात् सम्यक् गुरुओं के उपदेशपूर्वकपने से अखंड प्रवाहरूप से अनादि से चला आया है । पुनश्च कैसा है ? **शुद्धं** अर्थात् प्रमाण से अविरोधी अर्थ के प्रतिपादनपने से पूर्वापर से, प्रत्यक्ष से, अनुमान से, आगम से, लोक से, निजवचनादि से विरोध - इनसे अखंडित है । पुनश्च कैसा है ? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं** - जिनेन्द्र अर्थात् सर्वज्ञ, सो है वर अर्थात् कर्ता जिसका, ऐसा जिनेन्द्रवर अर्थात् सर्वज्ञप्रणीत है । इस विशेषण द्वारा वक्ता के प्रमाणपना से वचन का प्रमाणपना दिखाया है । पुनश्च यथावस्थित अर्थ को **नयति** अर्थात् प्रतिपादन करता है, प्रकाशता है, वह नेमि कहलाता है । पुनश्च **चंद्रयति** अर्थात् आह्लादित करता है, विकासता है शब्द, अर्थ, अलंकारों द्वारा श्रोताओं के मनरूपी कमलों को, वह चन्द्र अर्थात् जिनेन्द्रवर, वही नेमि, वही चन्द्र, ऐसा जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्र प्ररूपण है । पुनश्च कैसा है ? **अकलंकं** अर्थात् दूर से ही छोड़ दिये हैं शब्द-अर्थ-गोचर दोषकलंक जिन्होंने, ऐसा है । पुनश्च कैसा है ? **गुणरत्नभूषणोदयं** - गुणरत्न जो रत्नत्रयरूप भूषण अर्थात् आभूषण, उनकी है उदय अर्थात् उत्पत्ति वा प्राप्ति, हम आदि जीवों के जिनसे, ऐसा गुणरत्नभूषण प्ररूपण है ।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं - चामुण्डराय के जीवप्ररूपणशास्त्र के कर्तापने का आश्रय करके मंगलसूत्र व्याख्यान करते हैं ।

भावार्थ - इस गोम्मटसार का मूलगाथाबंध ग्रंथकर्ता नेमिचन्द्र आचार्य है । उसकी टीका कर्णाटकदेशभाषा द्वारा चामुण्डराय ने की है । उसके अनुसार केशव नामक ब्रह्मचारी ने संस्कृत टीका की है । सो चामुण्डराय की अपेक्षा से, इस सूत्र का अर्थ करते

हैं । **अहं जीवस्य प्ररूपणं वक्ष्यामि** मैं जो हूँ चामुण्डराय, सो जीव का प्ररूपणरूप ग्रंथ का टिप्पण उसे कहूंगा । **किं कृत्वा** ? क्या करके ? **प्रणम्य** नमस्कार करके। **कं** ? किसे ? **जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रं** जिनेन्द्र है वर अर्थात् भर्ता, स्वामी जिसका, वह जिनेन्द्रवर । यहां जिन अर्थात् कर्मनिर्जरा संयुक्त जीव, उनमें इन्द्र अर्थात् स्वामी अर्हत्, सिद्ध । पुनश्च जिन है इन्द्र अर्थात् स्वामी जिनका ऐसे आचार्य, उपाध्याय, साधु; ऐसे जिनेन्द्र शब्द से पंच परमेष्ठि आये । उनके आराधन से उपजे हुये जो सम्यग्दर्शनादिक गुण, उनसे संयुक्त अपने परमगुरु नेमिचन्द्र आचार्य, उनको नमस्कार करके जीवप्ररूपणा कहूंगा । सो कैसा है ? **सिद्धं** अर्थात् प्रसिद्ध है वा वर्तमान कालमें प्रवृत्तिरूप समस्त शास्त्रों में निष्पन्न है । पुनश्च कैसा है ? **शुद्धं** अर्थात् पच्चीस मलरहित सम्यक्त्व जिसके है वा अतिचार रहित चारित्र जिसके है । वा देश, जाति, कुल से शुद्ध है । पुनश्च कैसा है ? **अकलंकं** अर्थात् विशुद्ध मन, वचन, काय संयुक्त है। पुनश्च कैसा है ? **गुणरत्नभूषणोदयं** – गुणरत्नभूषण अर्थात् चामुण्डराय राजा, उसके है उदय अर्थात् ज्ञानादिक की वृद्धि जिनसे, ऐसे नेमिचन्द्र आचार्य है । इसतरह इष्ट विशेषरूप देवताओं को नमस्कार करना है लक्षण जिसका, ऐसे परम मंगल को अंगीकार करके इसके अनंतर अधिकारभूत जीवप्ररूपणा के अधिकारों का निर्देश करते हैं ।

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य ।
उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ।।२।।

गुणजीवाः पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणाश्च ।
उपयोगोऽपि च क्रमशः विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ।।२।।

टीका – यहां चौदह गुणस्थान, अट्ठानबे जीवसमास, छह पर्याप्ति, दश प्राण, चार संज्ञा, मार्गणा में चार गतिमार्गणा, पांच इन्द्रियमार्गणा, छह कायमार्गणा, पंद्रह योगमार्गणा, तीन वेदमार्गणा, चार कषायमार्गणा, आठ ज्ञानमार्गणा, सात संयममार्गणा, चार दर्शनमार्गणा, छह लेश्यामार्गणा, दो भव्यमार्गणा, छह सम्यक्त्वमार्गणा, दो संज्ञीमार्गणा, दो आहारमार्गणा, दो उपयोग – ऐसे ये जीव प्ररूपणा बीस कही हैं ।

यहां निरुक्ति करते हैं – **गुण्यते** अर्थात् जानते हैं द्रव्य से द्रव्यांतर जिसके द्वारा, उसे गुण कहते हैं । पुनश्च कर्म उपाधि की अपेक्षा सहित ज्ञान-दर्शन उपयोगरूप चैतन्य प्राण द्वारा जीता है वह जीव, सम्यक् प्रकार आसते अर्थात् स्थितिरूप होता

है जिनमें वे जीवसमास हैं । पुनश्च परि अर्थात् समंतता से **आप्ति** अर्थात् प्राप्ति, सो पर्याप्ति है । शक्ति की निष्पन्नता का होना सो पर्याप्त जानना । पुनश्च **प्राणंति** अर्थात् जीता है, जीवितव्यरूप व्यवहार को योग्य होता है जीव जिनके द्वारा, वे प्राण हैं । पुनश्च आगम में प्रसिद्ध वांछा, संज्ञा, अभिलाषा ये एकार्थ हैं । पुनश्च जिनसे वा जिनमें जीव हैं, वे **मृग्यंते** अर्थात् अवलोकन किये जाते हैं वह मार्गणा है । वहां अवलोकन करनेवाला मृगयिता तो भव्यों में उत्कृष्ट, प्रधान तत्त्वार्थश्रद्धावान जीव जानना । पुनश्च अवलोकना मृग्यता के साधन को वा अधिकरण को प्राप्त, वे गति आदि मार्गणा हैं । पुनश्च मार्गणा जो अवलोकन, उसका जो उपाय, सो ज्ञान-दर्शन का सामान्य भावरूप उपयोग है । इसतरह इन प्ररूपणाओं के साधारण अर्थ का प्रतिपादन किया ।

आगे संग्रहनय की अपेक्षा से प्ररूपणा के दो प्रकार को मन में रखकर गुणस्थान-मार्गणास्थानरूप दो प्ररूपणाओं के नामांतर कहते हैं ।

*(**विशेषार्थ** :- इन बीस प्ररूपणाओं को दो भेदो में विभाजित करने पर गुणस्थान और मार्गणास्थान इसतरह दो प्ररूपणायें होती हैं । उन्हीं के पर्यायवाची नाम कहते हैं ।)*

संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ।
वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा ।।३।।

संक्षेप ओघ इति च गुणसंज्ञा सा च मोहयोगभवा ।
विस्तार आदेश इति च मार्गणसंज्ञा स्वकर्मभवा ।।३।।

टीका - संक्षेप ऐसी **ओघ** गुणस्थान की संज्ञा अनादिनिधन ऋषिप्रणीत मार्ग में रूढ़ है, प्रसिद्ध है । गुणस्थान का ही संक्षेप वा ओघ ऐसा भी नाम है । पुनश्च वह संज्ञा **मोहयोगभवा** अर्थात् दर्शन-चारित्रमोह और मन, वचन, काययोग उनसे उपजी है । यहां संज्ञा के धारक गुणस्थान को मोह-योग से उत्पन्नपना है । इसलिये उसकी संज्ञा के भी मोह-योग से उपजना उपचार से कहा है । पुनश्च सूत्र में चकार कहा है, इसलिये सामान्य ऐसी भी गुणस्थान की संज्ञा है; ऐसा जानना ।

पुनश्च उसीप्रकार **विस्तार, आदेश** ऐसी मार्गणास्थान की संज्ञा है । मार्गणा का विस्तार, आदेश ऐसा नाम है । सो यह संज्ञा अपनी-अपनी मार्गणा के नाम

की प्रतीति के व्यवहार को कारण जो कर्म, उसके उदय से होती है । यहां भी पूर्ववत् संज्ञा के कर्म से उपजने का उपचार जानना । निश्चय से संज्ञा तो शब्दजनित ही है । पुनश्च चकार से विशेष ऐसी भी मार्गणास्थान की संज्ञा गाथा में बिना कहे भी जाननी ।

(***विशेषार्थ*** :- *गुणस्थान के अन्य नाम – संक्षेप, ओघ, सामान्य ।*
मार्गणा के अन्य नाम – विस्तार, आदेश, विशेष ।)

आगे प्ररूपणा के दो प्रकारपने में अवशेष प्ररूपणाओं का अंतर्भूतपना दिखाते हैं –

आदेसे संलीणा जीवा पज्जत्तिपाणसण्णाओ ।
उवओगोवि य भेदे वीसं तु परूवणा भणिदा ।।४।।

आदेशे संलीना जीवाः पर्याप्तिप्राणसंज्ञाश्च ।
उपयोगोऽपि च भेदे विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ।।४।।

टीका – मार्गणास्थान प्ररूपणा में जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, उपयोग – ये पांच प्ररूपणा **संलीना** अर्थात् गर्भित हैं, किसी प्रकार से उन मार्गणाभेदों में अंतर्भूत हैं । वैसा होनेपर गुणस्थानप्ररूपण और मार्गणास्थानप्ररूपण इसतरह संग्रहनय की अपेक्षा से प्ररूपणा दो ही निरूपित होती हैं ।

आगे किस मार्गणा में कौनसी प्ररूपणा गर्भित है ? वह तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं ।

इंदियकाये लीणा जीवा पज्जत्तिआणभासमणो ।
जोगे काओ णाणे अक्खा गदिमग्गणे आऊ ।।५।।

इंद्रियकाययोर्लीना जीवाः पर्याप्त्यानभाषामनांसि ।
योगे कायः ज्ञाने अक्षाणि गतिमार्गणायामायुः ।। ५।।

टीका – इन्द्रियमार्गणा में, पुनश्च कायमार्गणा में जीवसमास और पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास, भाषा, मनबल प्राण ये अंतर्भूत हैं । कैसे है ? वह कहते हैं – जीवसमास और पर्याप्ति इनका इन्द्रिय तथा काय सहित तादात्म्य से किया हुआ एकत्व होता है । जीवसमास और पर्याप्ति ये इन्द्रिय-कायरूप ही हैं । पुनश्च सामान्य-विशेष

द्वारा किया हुआ एकत्व होता है । जीवसमास, पर्याप्ति और इन्द्रिय, काय में कहीं सामान्य का ग्रहण है, कहीं विशेष का ग्रहण है । पुनश्च पर्याप्तियों का धर्म-धर्मी द्वारा किया हुआ एकत्व होता है । पर्याप्ति धर्म है, इन्द्रिय-काय धर्मी हैं। इसलिये जीवसमास और पर्याप्ति इन्द्रिय-कायमार्गणा में गर्भित जानने । पुनश्च उच्छ्वास, वचनबल, मनबल प्राणों का अपने कारणभूत उच्छ्वास, भाषा, मनःपर्याप्ति जहां जहां अंतर्भूत हुये, उसमें अंतर्भूतपना न्याय्य ही है । इसलिये ये भी वहां ही इन्द्रिय-कायमार्गणा में गर्भित हुये। पुनश्च योगमार्गणा में कायबलप्राण गर्भित है, चूंकि जीव के प्रदेशों का चंचल होनेरूप लक्षण का धारी काययोगरूप जो कार्य, उसमें उस काय का बलरूप लक्षण का धारी कायबल प्राणस्वरूप जो कारण, उसके अपने स्वरूप का सामान्य-विशेष द्वारा किया हुआ एकत्व-विशेष का सद्भाव है, इसलिये कार्य-कारण द्वारा किया हुआ एकत्व होता है । पुनश्च ज्ञानमार्गणा में इन्द्रियप्राण गर्भित है, क्योंकि इन्द्रियरूप मति-श्रुतावरण के क्षयोपशम से प्रकट जो लब्धिरूप इन्द्रिय, उनके ज्ञान सहित तादात्म्य से किया हुआ एकत्व का सद्भाव है । पुनश्च गतिमार्गणा में आयुप्राण गर्भित है । क्योंकि गति और आयु के परस्पर अजहद्वृत्ति है । गति आयु बिना नहीं, आयु गति बिना नहीं, सो इस लक्षण से एकत्व होता है ।

मायालोहे रदिपुव्वाहारं कोहमाणगह्मि भयं ।
वेदे मेहुणसण्णा लोहह्मि परिग्गहे सण्णा ।।६।।

मायालोभयोः रतिपूर्वकमाहारं क्रोधमानकयोर्भयं ।
वेदे मैथुनसंज्ञा लोभे परिग्रहे संज्ञा ।।६।।

टीका - मायाकषाय और लोभकषाय में आहारसंज्ञा गर्भित है, क्योंकि आहार की वांछा रतिकर्म का उदय पहले होनेपर होती है । पुनश्च रतिकर्म है, सो माया-लोभकषाय राग का कारण है, वहां अंतर्भूत है । पुनश्च क्रोधकषाय और मानकषाय में भयसंज्ञा गर्भित है । क्योंकि भय के कारणों में द्वेष का कारणपना है, इसलिये द्वेषरूप जो क्रोध-मान कषाय, उनके कार्य-कारण अपेक्षा एकत्व होता है । पुनश्च वेदमार्गणा में मैथुनसंज्ञा अंतर्भूत है, क्योंकि काम के तीव्रपने के वशीभूतपने से किया हुआ स्त्री-पुरुष युगलरूप जो अभिलाषासहित संभोगरूप मिथुन का कार्य, वह वेद के उदय से उत्पन्न पुरुषादिक की अभिलाषारूप कार्य है । इसतरह कार्य-कारणभाव से एकत्व का

सद्भाव है । पुनश्च लोभ में परिग्रहसंज्ञा अंतर्भूत है, क्योंकि लोभकषाय होते ही ममत्वभावरूप परिग्रह की अभिलाषा होती है, इसलिये यहां कार्य-कारण अपेक्षा एकत्व है । ऐसा हे भव्य ! तू जान !

सागारो उवजोगो णाणे मग्गह्मि दंसणे मग्गे ।
अणगारो उवजोगो लीणोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।७।।

साकारो उपयोगो ज्ञानमार्गणायां दर्शनमार्गणायाम् ।
अनाकारो उपयोगो लीन इति जिनैर्निर्दिष्टम् ।।७।।

टीका - ज्ञानमार्गणा में साकार उपयोग गर्भित है । क्योंकि ज्ञानावरण, वीर्यांतराय के क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञाता के परिणमन का निकटपना होते ही विशेष ग्रहणरूप लक्षण का धारी जो ज्ञान, उसकी उत्पत्ति होती है, इसलिये कार्य-कारण द्वारा किया एकत्व होता है । पुनश्च दर्शनमार्गणा में अनाकार उपयोग गर्भित है । क्योंकि दर्शनावरण, वीर्यांतराय के क्षयोपशम से प्रकट हुआ पदार्थ का सामान्य ग्रहणरूप व्यापार होते ही पदार्थ का सामान्य ग्रहणरूप लक्षण का धारी जो दर्शन, उसकी उत्पत्ति होती है, इसलिये कार्य-कारण भाव बनता है । इसतरह ये गर्भित भाव पूर्वोक्त रीति से जिन जो अर्हन्तादिक, उनके द्वारा निर्दिष्ट अर्थात् कहे हैं । पुनश्च अपनी रुचि से रचे हुये नहीं है । इस तरह जीवसमासादिक के मार्गणास्थान में गर्भित भाव के समर्थन द्वारा गुणस्थान और मार्गणास्थान ये दो प्ररूपणा प्रतिपादित की हैं । पुनश्च भेदविवक्षा से बीस प्ररूपणा पूर्व में कही, उन्हीं को कहते हैं । पहले गाथा में **भणिताः** पद कहा था, उससे बीस प्ररूपणा परमागम में प्रसिद्ध हैं उनके प्रकाशन द्वारा उनके विशेष कथन में स्वाधीनपना, जो अपनी इच्छा के अनुसार कहना, उसे छोड़ा है । इसतरह यह न्याय वैसे ही जोड़ते हैं ।

आगे उन बीस प्ररूपणाओं में पहले कही जो गुणस्थान प्ररूपणा, उसके प्रतिपादन के अर्थ प्रथम गुणस्थान शब्द का निरुक्तिपूर्वक अर्थ कहते हैं -

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ।।८।।

यैस्तु लक्ष्यंते उदयादिषु संभवैर्भावैः ।
जीवास्ते गुणसंज्ञा निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ।।८।।

टीका - मोहनीय आदि कर्मों का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम परिणामरूप जो अवस्थाविशेष, उनके होते हुये उत्पन्न हुये जो भाव अर्थात् जीव के मिथ्यात्वादिक परिणाम, उनसे **लक्ष्यंते** अर्थात् लक्षित किये जाते हैं, देखे जाते हैं, लांछित किये जाते हैं जीव, वे जीव के परिणाम गुणस्थान संज्ञा के धारक हैं - ऐसा सर्वदर्शी जो सर्वज्ञदेव, उनके द्वारा **निर्दिष्टाः** अर्थात् कथित हैं । इस गुण शब्द की निरुक्ति की प्रधानता युक्त सूत्र द्वारा मिथ्यात्वादिक अयोगी केवलीपना पर्यन्त ये जीव के परिणामविशेष, वे ही गुणस्थान हैं - ऐसा प्रतिपादन किया है ।

वहां अपनी स्थिति के नाश के वश से उदयरूप निषेक में गले जो कार्माण स्कंध, उनका फल देनेरूप जो परिणमन, वह उदय है । उसके होनेपर जो भाव होते हैं, वे औदयिक भाव हैं ।

पुनश्च गुण के प्रतिपक्षी जो कर्म, उनके उदय का अभाव, वह उपशम है । उसके होनेपर जो हो, वह औपशमिक भाव है ।

पुनश्च प्रतिपक्षी कर्मोंका पुनः न उपजे ऐसा जो नाश होना, वह क्षय; उसके होनेपर जो हो, वह क्षायिक भाव है ।

पुनश्च प्रतिपक्षी कर्मोंका उदय विद्यमान होनेपर भी जीव के गुण का अंश दिखायी देता है, वह क्षयोपशम; उसके होनेपर जो हो, वह क्षायोपशमिक भाव है ।

पुनश्च उदयादिक की अपेक्षा से रहित जो परिणाम है, उसके होनेपर जो हो, वह पारिणामिक भाव है । इसतरह औदयिकादि पांच भावों का सामान्य अर्थ प्रतिपादन करके विस्तार से आगे उन भावों के महा अधिकार में प्रतिपादन करेंगे ।

आगे दो गाथाओं द्वारा उन गुणस्थानों के नाम कहते हैं -

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ।।९।।

उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ।।१०।।

मिथ्यात्वं सासनः मिश्रः अविरतसम्यक्त्वं च देशविरतश्च ।
विरताः प्रमत्तः इतरः अपूर्वः अनिवृत्तिः सूक्ष्मश्च ।।९।।
उपशांतः क्षीणमोहः सयोगकेवलिजिनः अयोगी च ।
चतुर्दश जीवसमासाः क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्या ।।१०।।

टीका – मिथ्या अर्थात् अतत्त्वगोचर है दृष्टि अर्थात् श्रद्धा जिसकी, वह मिथ्यादृष्टि है । **'नाम्न्युत्तरपदश्च'** ऐसे व्याकरण सूत्र द्वारा दृष्टिपद का लोप करके 'मिच्छो' ऐसा कहा है । यह भेद आगे भी जानना ।

पुनश्च आसादन जो विराधना, उस सहित वर्ते वह सासादना, सासादना है सम्यग्दृष्टि जिसकी, वह सासादन सम्यग्दृष्टि है । अथवा आसादन अर्थात् सम्यक्त्व का विराधन उस सहित जो वर्तमान, वह सासादन । पुनश्च सासादन और वह सम्यग्दृष्टि वह सासादन–सम्यग्दृष्टि है । यह पूर्व में हुआ था सम्यक्त्व, उस न्याय से यहां सम्यग्दृष्टिपना जानना ।

पुनश्च सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का जो मिश्रभाव वह मिश्र है ।

पुनश्च सम्यक् अर्थात् समीचीन है दृष्टि अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान जिसका, वह सम्यग्दृष्टि और वही अविरत अर्थात् असंयमी, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है ।

पुनश्च देशतः अर्थात् एकदेश से विरत अर्थात् संयमी, वह देशविरत है, संयतासंयत है, ऐसा अर्थ जानना । यहां जो विरत पद है, वह ऊपर के सर्व गुणस्थानवर्तियों के संयमीपना को बतलाता है ।

पुनश्च **प्रमाद्यति** अर्थात् प्रमाद करे, वह प्रमत्त है । पुनश्च इतर अर्थात् प्रमाद न करे, वह अप्रमत्त है ।

पुनश्च अपूर्व है करण अर्थात् परिणाम जिसके, वह अपूर्वकरण है ।

पुनश्च निवृत्ति अर्थात् परिणामों में विशेष नहीं पाया जाता । निवृत्तिरूप है करण अर्थात् परिणाम जिसके, वह अनिवृत्तिकरण है ।

पुनश्च सूक्ष्म है साम्पराय अर्थात् कषाय जिसके, वह सूक्ष्मसाम्पराय है ।

पुनश्च उपशांत हुआ है मोह जिसका, वह उपशांतमोह है ।

पुनश्च क्षीण हुआ है मोह जिसका, वह क्षीणमोह है ।

पुनश्च घातिकर्मों को जीत लिया, वह जिन, पुनश्च केवलज्ञान इसके है, इसलिये केवली, केवली वही जिन, वह केवलीजिन, पुनश्च योग सहित वह सयोग, वही केवलीजिन, ऐसे सयोगकेवलीजिन है ।

पुनश्च योग जिसके है वह योगी, योगी नहीं वह अयोगी, केवलीजिन ऐसी अनुवृत्ति से अयोगी, वही केवलीजिन, ऐसे अयोगकेवलीजिन है ।

ऐसे ये मिथ्याष्टि आदि अयोगकेवलीजिन पर्यंत चौदह जीवसमास अर्थात् गुणस्थान जानने ।

गुणस्थान की जीवसमास ऐसी संज्ञा कैसे हुयी ?

वहां कहते हैं - जीव हैं, वे **समस्यंते** अर्थात् संक्षेपरूप करते हैं जिनमें, वे जीवसमास अथवा जीव हैं । वे **सम्यक् आसते येषु** अर्थात् भले प्रकार रहते हैं जिनमें, वे जीवसमास, इसतरह यहां प्रकरण जो प्रस्ताव, उसके सामर्थ्य से गुणस्थान ही जीवसमास शब्द द्वारा कहा है । क्योंकि ऐसा वचन है - **'यादृशं प्रकरणं तादृशोऽर्थः'** जैसा प्रकरण वैसा अर्थ, सो यहां गुणस्थान का प्रकरण है, इसलिये गुणस्थान अर्थ का ग्रहण किया है ।

पुनश्च ये कर्म सहित जीव जैसे लोक में हैं, वैसे नष्ट हुये हैं सर्व कर्म जिनके, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी भी हैं, ऐसा जानना । क्रमेण अर्थात् क्रम से सिद्ध है, सो यहां क्रम शब्द से पहले घातिकर्मों का क्षय कर सयोगकेवली, अयोगकेवली गुणस्थानों में यथायोग्य काल रहकर, अयोगकेवली के अंत समय में अवशेष अघातिकर्म समस्त क्षय कर सिद्ध होते हैं - ऐसा अनुक्रम जनाते हैं । सो इस अनुक्रम को जनानेवाले क्रम शब्द द्वारा परमात्मा के युगपत् सर्व कर्म का नाशपना, पुनश्च सर्वदा कर्म के अभाव से सदा ही मुक्तपना इनका निराकरण किया है ।

आगे गुणस्थानों में औदयिक आदि भावों का होना दिखाते हैं -

मिच्छे खलु ओदइओ बिदिये पुण पारणामिओ भावो ।
मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मह्मि तिण्णेव ।।११।।

मिथ्यात्वे खलु औदयिको द्वितीये पुनः पारिणामिको भावः ।
मिश्रे क्षायोपशमिकः अविरतसम्यक्त्वे त्रय एव ।।११।।

टीका – मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में दर्शनमोह के उदय से उत्पन्न ऐसा औदयिक भाव, अतत्त्वश्रद्धान है लक्षण जिसका, वह पाया जाता है । **खलु** अर्थात् प्रकटपने। पुनश्च दूसरे सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव है क्योंकि यहां दर्शनमोह के उदय आदि की अपेक्षा का जो अभाव, उसका सद्भाव है ।

पुनश्च मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है । किस कारण ? मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय का अभाव, वही है लक्षण जिसका, ऐसा क्षय होते हुये, पुनश्च सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृति का उदय विद्यमान होते हुये, पुनश्च उदय को न प्राप्त हुये ऐसे निषेकों का उपशम होते हुये, मिश्र गुणस्थान होता है । इसलिये ऐसे कारण से मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है ।

पुनश्च अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में औपशमिक सम्यक्त्व, पुनश्च क्षायोपशमिकरूप वेदक सम्यक्त्व, पुनश्च क्षायिक सम्यक्त्व ऐसे नाम धारक तीन भाव हैं, क्योंकि यहां दर्शनमोह का उपशम वा क्षयोपशम वा क्षय होता है ।

आगे कहे हैं ये जो भाव, इनके होने के नियम का कारण कहते हैं–

एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु ।
चारित्तं णत्थि जदो अविरदअंतेसु ठाणेसु ।।१२।।

एते भावा नियमाद् दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिताः खलु ।
चारित्रं नास्ति यतो अविरतांतेषु स्थानेषु ।।१२।।

टीका – ऐसे पूर्वोक्त औदयिक आदि भाव कहे, वे नियम से दर्शनमोह के **प्रतीत्य** अर्थात् आश्रय कर, **भणिताः** अर्थात् कहे हैं प्रकटपने; क्योंकि अविरत पर्यंत चार गुणस्थानों में चारित्र नहीं है । इसकारण से वे भाव चारित्रमोह का आश्रय करके नहीं कहे हैं ।

इसकारण सासादन गुणस्थान में अनंतानुबंधी के क्रोधादि किसी एक कषाय का उदय विद्यमान होनेपर भी उसकी विवक्षा न करने से पारिणामिक भाव सिद्धांत में कथन किया है ऐसा तू जान ।

पुनश्च अनंतानुबंधी के किसी कषाय के उदय की विवक्षा से औदयिक भाव भी है ।

आगे दो गाथाओं द्वारा देशसंयतादि गुणस्थानों में भावों का नियम दिखाते हैं -

देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमियभावो दु ।
सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं ।।१३।।

देशविरते प्रमत्ते इतरे च क्षायोपशमिकभावस्तु ।
स खलु चारित्रमोहं प्रतीत्य भणितस्तथा उपरि ।।१३।।

टीका - देशविरत में, पुनश्च प्रमत्तसंयत में, पुनश्च इतर अर्थात् अप्रमत्तसंयत में क्षायोपशमिक भाव है । वहां देशसंयत की अपेक्षा से प्रत्याख्यान कषाय के उदय अवस्था को प्राप्त हुये जो देशघाति स्पर्धकों का अनंतवां भाग मात्र, उनका जो उदय, उनके सहित उदय को नहीं प्राप्त होते हुये ही निर्जरारूप क्षय होनेवाले जो विवक्षित उदयरूप निषेक, उन स्वरूप जो सर्वघाति स्पर्धक अनंत भागों में एक भाग बिना बहुभाग प्रमाण मात्र हैं उनके उदय का अभाव, वही है लक्षण जिसका ऐसा क्षय होते हुये, पुनश्च वर्तमान समय सम्बन्धी निषेक से ऊपर के निषेक जो उदय अवस्था को प्राप्त नहीं हुये, उनकी सत्तारूप जो अवस्था, वही है लक्षण जिसका ऐसा उपशम होते हुये देशसंयम प्रकटता है । इसलिये चारित्रमोह के आश्रय से देशसंयम क्षायोपशमिक भाव है, ऐसा कहा है ।

पुनश्च वैसे ही प्रमत्त-अप्रमत्त में भी संज्वलन कषायों के उदय में आये हुये जो देशघाति स्पर्धक जो अनंतवें भागरूप हैं उनके उदय से सहित और उदय को न प्राप्त होकर ही क्षयरूप होनेवाले जो विवक्षित उदय निषेक, उनरूप सर्वघाति स्पर्धक जो अनंत भागों में एक भाग बिना बहुभाग हैं, उनके उदय का अभाव, वही है लक्षण जिसका ऐसा क्षय होते हुए पुनश्च ऊपर के जो निषेक उदय को प्राप्त नहीं हुये, उनका सत्ता अवस्थारूप है लक्षण जिसका ऐसा उपशम होते हुये प्रमत्त-अप्रमत्त

होता है । इसलिये चारित्रमोह अपेक्षा यहां सकलसंयम है, तथापि क्षायोपशमिक भाव है ऐसा कहा है, इसतरह श्रीमान् अभयचंद्र नामक आचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती उनका अभिप्राय है ।

भावार्थ – सर्वत्र क्षयोपशम का स्वरूप ऐसा ही जानना । जहां प्रतिपक्षी कर्म के देशघाति स्पर्धकों का उदय पाया जाय उन सहित, उदय-निषेक सम्बन्धी सर्वघाति स्पर्धकों का उदय नहीं पाया जाता (बिना ही उदय दिये) निर्जरा होती है, वही क्षय और जो उदय को न प्राप्त हुये आगामी निषेक उनका सत्तास्वरूप उपशम, उन दोनों के होनेपर क्षयोपशम होता है । सो स्पर्धकों का वा निषेकों का वा सर्वघाति-देशघाति स्पर्धकों के विभाग का आगे वर्णन होगा, इसलिये यहां विशेष नहीं लिखा है । सो यहां भी पूर्वोक्त प्रकार चारित्रमोह का क्षयोपशम ही है । इसलिये क्षायोपशमिक भाव देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त में जानना । उसीप्रकार ऊपर भी अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में चारित्रमोह के आश्रय से भाव जानना ।

तत्तो उवरिं उवसमभावो उवसामगेसु खवगेसु ।
खइओ भावो णियमा अजोगिचरिमोत्ति सिद्धे य ।।१४।।

तत उपरि उपशमभावः उपशामकेषु क्षपकेषु ।
क्षायिको भावो नियमात् अयोगिचरम इति सिद्धे च ।।१४।।

टीका – उसके ऊपर उपशमश्रेणी सम्बन्धी अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानों में औपशमिक भाव है । क्योंकि वह संयम चारित्रमोह के उपशम ही से होता है । पुनश्च क्षपकश्रेणी सम्बन्धी अपूर्वकरणादि चार गुणस्थान और सयोग-अयोगकेवली, इनमें नियम से क्षायिक भाव है, क्योंकि उस चारित्र का चारित्रमोह के क्षय ही से उपजना होता है ।

पुनश्च वैसे ही सिद्ध परमेष्ठियों में भी क्षायिक भाव होता है, क्योंकि उस सिद्धपद का सकलकर्म के क्षय ही से प्रकटपना होता है ।

आगे पूर्व में नाममात्र कहे जो चौदह गुणस्थान, उनमें पहले कहा हुआ जो मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, उसके स्वरूप का प्ररूपण करते हैं –

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं ।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ।।१५।।

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यात्वमश्रद्धानं तु तत्त्वार्थानाम् ।
एकांतं विपरीतं विनयं संशयितमज्ञानम् ।।१५।।

टीका - दर्शनमोहनीय के भेदरूप मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के अतत्त्वश्रद्धान है लक्षण जिसका ऐसा मिथ्यात्व होता है । पुनश्च वह मिथ्यात्व १) एकांत २) विपरीत ३) विनय ४) संशयित ५) अज्ञान - ऐसे पांच प्रकार का है ।

वहां जीवादि वस्तु सर्वथा सत्त्वरूप ही है, सर्वथा असत्त्वरूप ही है, सर्वथा एक ही है, सर्वथा अनेक ही है - इत्यादि प्रतिपक्षी दूसरे भाव की अपेक्षा रहित एकांतरूप अभिप्राय, वह एकांत मिथ्यात्व है ।

पुनश्च अहिंसादिक समीचीन धर्म का फल जो स्वर्गादिक सुख, उसको हिंसादिरूप यज्ञादिक का फल कल्पना से माने; वा जीव के प्रमाण से सिद्ध है जो मोक्ष, उसके निराकरण द्वारा मोक्ष का अभाव माने, वा प्रमाण से खंडित जो स्त्री के मोक्षप्राप्ति, उसके अस्तित्व वचन से स्त्री को मोक्ष है ऐसा माने इत्यादि एकांत अवलंबन द्वारा विपरीतरूप जो अभिनिवेश-अभिप्राय, वह विपरीत मिथ्यात्व है ।

पुनश्च सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की सापेक्षता के रहितपने से गुरुचरणपूजनादिरूप विनय ही से मुक्ति है - यह श्रद्धान वैनयिक मिथ्यात्व है ।

पुनश्च प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा ग्रहण किया जो अर्थ, उसका देशांतर में और कालांतर में व्यभिचार अर्थात् अन्यथाभाव, वह संभवे है । इसलिये अनेक मत अपेक्षा परस्पर विरोधी जो आप्तवचन, उसके भी प्रमाणता की प्राप्ति नहीं है, इसलिये ऐसे ही तत्त्व है इसप्रकार निर्णय करने की शक्ति के अभाव से सर्वत्र संशय ही है - ऐसा जो अभिप्राय, वह संशय मिथ्यात्व है ।

पुनश्च ज्ञानावरण, दर्शनावरण के तीव्र उदयसे संयुक्त जो एकेन्द्रियादिक जीव, उनका अनेकान्त स्वरूप वस्तु है इसतरह वस्तु के सामान्य भाव में और उपयोग लक्षण जीव है इसतरह वस्तु के विशेषभाव में जो अज्ञान, उससे उत्पन्न जो श्रद्धान, वह अज्ञान मिथ्यात्व है ।

इसतरह स्थूल भेदों के आश्रय से मिथ्यात्व का पांच प्रकारपना कहा, क्योंकि सूक्ष्म भेदों के आश्रय से असंख्यात लोकमात्र भेद होते हैं । इसलिये वहां व्याख्यानादिक व्यवहार की अप्राप्ति है ।

आगे इन पांच के उदाहरण कहते हैं –

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ ब्रह्म तावसो विणओ ।
इंदो विय संसइयो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ।।१६।।

एकांतो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्रह्म तापसो विनयः ।
इंद्रोऽपि च संशयितो मस्करी चैवाज्ञानी ।।१६।।

टीका – ये उपलक्षणपने से कहे हैं । एक का नाम लेने पर अन्य का भी ग्रहण करना इसलिये ऐसे कहना – बुद्धदर्शी जो बौद्धमती उसको आदि रखकर एकांत मिथ्यादृष्टि हैं । पुनश्च यज्ञकर्ता ब्राह्मण आदि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं । पुनश्च तापसी आदि विनय मिथ्यादृष्टि हैं । पुनश्च इन्द्र नामक जो श्वेतांबरों का गुरु उसको आदि रखकर संशय मिथ्यादृष्टि हैं । पुनश्च मस्करी (मुसलमान) सन्यासी को आदि रखकर अज्ञान मिथ्यादृष्टि हैं । वर्तमान काल की अपेक्षा से ये भरतक्षेत्र में विद्यमान बौद्धमती आदि उदाहरण कहे हैं ।

आगे अतत्त्वश्रद्धान है लक्षण जिसका, ऐसे मिथ्यात्व को प्ररूपते हैं –

मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ।।१७।।

मिथ्यात्वं विदन् जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।
न च धर्मं रोचते हि मधुरं खलु रसं यथा ज्वरितः ।।१७।।

टीका – उदय आये हुए मिथ्यात्व को **वेदयन्** अर्थात् अनुभवता जो जीव, वह विपरीतदर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धानसंयुक्त है, अयथार्थ प्रतीति करता है । पुनश्च केवल अतत्त्व ही को नहीं श्रद्धता अपितु अनेकान्तस्वरूप जो धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव अथवा रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष का कारणभूत धर्म, वह नहीं रुचता है अर्थात् उसमें रुचिपूर्वक नहीं प्राप्त होता है ।

यहां दृष्टांत कहते हैं - जैसे ज्वरित अर्थात् पित्तज्वर सहित पुरुष, उसे मधुर-मीठा दुग्धादिक रस रुचता नहीं हैं, वैसे मिथ्यादृष्टि के धर्म रुचता नहीं है ।

इस ही वस्तुस्वभाव के श्रद्धान को स्पष्ट करते हैं -

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ।।१८।।

मिथ्यादृष्टिर्जीवः उपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्दधाति ।
श्रद्दधाति असद्भावं उपदिष्टं वा अनुपदिष्टम् ।।१८।।

टीका - मिथ्यादृष्टि जीव है, वह उपदिष्ट अर्थात् अर्हंत आदिकों ने उपदेशित किया हुआ प्रवचन अर्थात् आप्त, आगम, पदार्थ इन तीनों को नहीं श्रद्धता है, क्योंकि प्र अर्थात् उत्कृष्ट है वचन जिसका, ऐसा प्रवचन अर्थात् आप्त । पुनश्च प्रकृष्ट जो परमात्मा, उसका वचन सो प्रवचन अर्थात् परमागम । पुनश्च **प्रकृष्ट उच्यते** अर्थात् प्रमाण द्वारा निरूपित किया जाय ऐसा प्रवचन अर्थात् पदार्थ, इसप्रकार निरुक्ति द्वारा प्रवचन शब्द से आप्त, आगम, पदार्थ तीनों का अर्थ होता है । पुनश्च वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप; प्रवचन अर्थात् आप्त, आगम, पदार्थ; **उपदिष्टं** अर्थात् आप्त समान आभासवाले जो कुदेव हैं उनके द्वारा उपदेशित अथवा अनुपदिष्ट अर्थात् बिना उपदेशित, उसका श्रद्धान करता है । पुनश्च वादी का अभिप्राय कहनेवाली उक्तं च गाथा कहते हैं -

"घडपडथंभादिपयत्थेसु मिच्छाइट्ठी जहावगमं ।
सद्दहतो वि अण्णाणी उच्चदे जिणवयणे सद्दहणाभावादो ।।"

इसका अर्थ - घट, पट, स्तंभ आदि पदार्थों में मिथ्यादृष्टि जीव यथार्थ ज्ञान से श्रद्धान करता हुआ भी अज्ञानी कहा जाता है, क्योंकि जिनवचन में श्रद्धान का अभाव है । ऐसा सिद्धांत के वाक्य द्वारा कहा हुआ मिथ्यात्व का लक्षण जानकर वह मिथ्यात्व भाव त्यागने योग्य है । उसका भेद भी इसी वाक्य से जानना । वह कहते हैं - कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम आत्मा में प्रकट होता हुआ वर्ण-रसादि की उपलब्धि जो ज्ञान द्वारा जानने की प्राप्ति उसके होते हुये कारणविपर्यास, पुनश्च भेदाभेदविपर्यास, पुनश्च स्वरूपविपर्यास को उपजाता है ।

वहां कारणविपर्यास पहले कहते हैं । रूप-रसादिकों का एक कारण है, सो अमूर्तिक है, नित्य है ऐसी कल्पना करता है । अन्य कोई पृथ्वी आदि जातिभेद सहित भिन्न भिन्न परमाणु हैं, वे पृथ्वी के चार गुणयुक्त, जल के गंध बिना तीन गुणयुक्त, अग्नि के रस-गंध बिना दो गुणयुक्त, पवन के एक स्पर्श गुणयुक्त परमाणु हैं, वे अपनी समान जाति के कार्य को निपजानेवाले हैं ऐसा वर्णन करता है । इसप्रकार कारण में विपरीतभाव जानना ।

पुनश्च भेदाभेदविपर्यास कहते हैं - कार्य से कारण भिन्न ही है अथवा अभिन्न ही है - ऐसी कल्पना भेदाभेद में अन्यथापना जानना ।

पुनश्च स्वरूपविपर्यास कहते हैं - रूपादिक गुण निर्विकल्प हैं, कोई कहता है- हैं ही नहीं । कोई कहता है - रूपादिक के जानने से उनके आकार से परिणत ज्ञान ही है नहीं, उनका अवलंबन बाह्य वस्तुरूप है । ऐसा विचार स्वरूप में मिथ्यारूप जानना। इसप्रकार कुमतिज्ञान के बल के आधार से कुश्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं। इनका सर्व मूल कारण मिथ्यात्व कर्म का उदय ही है, ऐसा निश्चय करना ।

आगे सासादन गुणस्थान का स्वरूप दो सूत्रों द्वारा कहते हैं -

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे ।
अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ।।१९।।

आदिमसम्यक्त्वाद्धा, आसमयतः षडावलिरिति वा शेषे ।
अनान्यतरोदयात् नाशितसम्यक्त्व इति सासानाख्यः सः ।।१९।।

टीका - प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह आवली अवशेष रहनेपर, अनंतानुबंधी चार कषायों में से अन्यतम किसी एक का उदय होनेपर, नष्ट किया है सम्यक्त्व जिसने ऐसा होता है, उसे सासादन कहते हैं । पुनश्च वा शब्द से द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के काल में भी सासादन गुणस्थान की प्राप्ति होती है - ऐसा (गुणधराचार्यकृत) कषायप्राभृत नामक यतिवृषभाचार्यकृत (चूर्णिसूत्र) जयधवल ग्रंथ का अभिप्राय है ।

जो मिथ्यात्व से चतुर्थादि गुणस्थानों में उपशमसम्यक्त्व होता है, वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व है । पुनश्च उपशमश्रेणी चढ़ते समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व

होता है, वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व जानना ।

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ।।२०।।

सम्यक्त्वरत्नपर्वतशिखरात् मिथ्यात्वभूमिसमभिमुखः ।
नाशितसम्यक्त्वः सः सासननामा मंतव्यः ।।२०।।

टीका - जो जीव सम्यक्त्व परिणामरूपी रत्नमय पर्वत के शिखर से मिथ्यात्व-परिणामरूपी भूमि के सन्मुख होता हुआ, गिर कर जितना अंतराल का काल एक समय आदि छह आवली पर्यंत है, उसमें वर्तता है, वह जीव नष्ट किया है सम्यक्त्व जिसने, ऐसा सासादन नाम धारक जानना ।

आगे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वरूप चार गाथाओं द्वारा कहते हैं -

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण ।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ।।२१।।

सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन च जात्यंतरसर्वघातिकार्येण ।
न च सम्यक्त्वं मिथ्यात्वमपि च सम्मिश्रो भवति परिणामः ।।२१।।

टीका - जात्यंतर अर्थात् जुदी ही एक जाति के भेदवाली जो सर्वघाति कार्यरूप सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोह की प्रकृति, उसके उदय से मिथ्यात्व प्रकृति के उदयवत् केवल मिथ्यात्व परिणाम भी नहीं होते और सम्यक्त्व प्रकृति के उदयवत् केवल सम्यक्त्व परिणाम भी नहीं होते । उसकारण से उस सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का कार्यभूत जुदी ही जातिरूप सम्यग्मिथ्यात्व परिणाम मिलाया हुआ मिश्रभाव होता है, ऐसा जानना ।

दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ।।२२।।

दधिगुडमिव व्यामिश्रं पृथग्भावं नैव कर्तुं शक्यम् ।
एवं मिश्रकभावःसम्यग्मिथ्यात्वमिति ज्ञातव्यम् ।।२२।।

टीका - **इव** अर्थात् जैसे, **व्यामिश्रं** अर्थात् मिलाया हुआ दहि और गुड़ सो

पृथग्भावं कर्तुं अर्थात् जुदा-जुदा भाव करने को **'नैव शक्यं'** अर्थात् समर्थपना नहीं है **एवं** अर्थात् इसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिला हुआ परिणाम, सो केवल सम्यक्त्वभाव से अथवा केवल मिथ्यात्वभाव से जुदा-जुदा भाव से स्थापने को समर्थपना नहीं है। इसकारण से सम्यग्मिथ्यादृष्टि ऐसा जानना योग्य है । समीचीन और वही मिथ्या, सो सम्यग्मिथ्या ऐसी है दृष्टि अर्थात् श्रद्धा जिसकी, वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि है । इस निरुक्ति द्वारा भी पूर्व में ग्रहण किया जो अतत्त्वश्रद्धान, उसके सर्वथा त्याग बिना, उसके सहित ही तत्त्वश्रद्धान होता है । क्योंकि वैसे ही संभवनेवाली प्रकृति के उदयरूप कारण का सद्भाव है ।

सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधदे आउं ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ।।२३।।

स संयमं न गृह्णाति देशयमं वा न बध्नाति आयुः ।
सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते नियमेन ।।२३।।

टीका - जो सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव है, वह सकलसंयम वा देशसंयम को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि उनके ग्रहण योग्य जो करणरूप परिणाम, उनका वहां मिश्र गुणस्थान में होना असंभव है । पुनश्च उसीप्रकार ही वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव चारों गति संबंधी आयु को नहीं बांधता है । पुनश्च मरणकाल में नियम से सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणाम को छोड़कर असंयत सम्यग्दृष्टिपने को अथवा मिथ्यादृष्टिपने को नियम से प्राप्त होकर, पश्चात् मरता है ।

भावार्थ - मिश्र गुणस्थान से पंचमादि गुणस्थान में चढ़ना नहीं है । पुनश्च वहां आयुबंध तथा मरण नहीं होता ।

सम्मत्तमिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं ।
तहिं मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि ।।२४।।

सम्यक्त्वमिथ्यात्वपरिणामेषु यत्रायुष्कं पुरा बद्धम् ।
तत्र मरणं मरणांतसमुद्घातोऽपि च न मिश्रे ।।२४।।

टीका - सम्यक्त्वपरिणाम और मिथ्यात्वपरिणाम इन दोनों में से जिस परिणाम

में **पुरा** अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टिपने को प्राप्त होने से पहले, परभव की आयु बांधी होगी, उस सम्यक्त्वरूप वा मिथ्यात्वरूप परिणाम को प्राप्त होकर ही जीव का मरण होता है, ऐसा नियम कहते हैं । पुनश्च अन्य कई आचार्य के अभिप्राय से यह नियम नहीं है । वही कहते हैं - सम्यक्त्वपरिणाम में वर्तमान कोई जीव यथायोग्य परभव की आयु को बांधकर पुनश्च सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर पश्चात् सम्यक्त्व को या मिथ्यात्व को प्राप्त होकर मरता है । पुनश्च कोई जीव मिथ्यात्व परिणाम में वर्तमान, वह यथायोग्य परभव की आयु बांधकर, पुनश्च सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर पश्चात् सम्यक्त्व या मिथ्यात्व को प्राप्त होकर मरता है । पुनश्च उसीप्रकार मारणांतिक समुद्घात भी मिश्रगुणस्थान में नहीं होता ।

आगे असंयत गुणस्थान के स्वरूप का निरूपण करते हैं -

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं ।
चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ।।२५।।

सम्यक्त्वदेशघातेरुदयाद्वेदकं भवेत्सम्यक्त्वम् ।
चलं मलिनमगाढं तन्नित्यं कर्मक्षपणहेतु ।।२५।।

टीका - अनंतानुबंधी कषाय का प्रशस्त उपशम नहीं है इस हेतु से उन अनंतानुबंधी कषायों का अप्रशस्त उपशम होनेपर अथवा विसंयोजन होनेपर तथा दर्शनमोह के भेदरूप मिथ्यात्वकर्म और सम्यग्मिथ्यात्वकर्म, इन दोनों का प्रशस्त उपशम होनेपर अथवा अप्रशस्त उपशम होनेपर अथवा क्षय होने के सन्मुख होनेपर तथा सम्यक्त्व प्रकृतिरूप देशघाति स्पर्धकों का उदय होनेपर ही जो तत्त्वार्थश्रद्धान है लक्षण जिसका, ऐसा सम्यक्त्व होता है, सो वेदक नाम धारक है ।

जहां विवक्षित प्रकृति उदय आने योग्य न हो और स्थिति, अनुभाग घटने वा बढ़ने वा संक्रमण होने योग्य हो, वहां अप्रशस्त उपशम जानना । पुनश्च जहां उदय आने योग्य न हो और स्थिति, अनुभाग घटने, बढ़ने वा संक्रमण होने योग्य भी न हो वहां प्रशस्त उपशम जानना ।

पुनश्च उस सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से देशघाति स्पर्धकों के तत्त्वार्थश्रद्धान नष्ट करने का सामर्थ्य का अभाव है; इसलिये वह सम्यक्त्व चल, मलिन, अगाढ़ होता

है । क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का तत्त्वार्थश्रद्धान को मल उपजाने मात्र में ही व्यापार है । उसकारण से उस सम्यक्त्व प्रकृति के देशघातिपना है । इसतरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय को अनुभवते हुये जीव के उत्पन्न हुआ जो तत्त्वार्थश्रद्धान, वह वेदक सम्यक्त्व है, ऐसा कहते हैं । यही वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ऐसा नामधारक है, क्योंकि दर्शनमोह के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय का अभावरूप है लक्षण जिसका, ऐसा क्षय होनेपर, तथा देशघातिस्पर्धकरूप सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होनेपर, तथा उसीके वर्तमान समय संबंधी निषेक के ऊपर के निषेक उदय को प्राप्त न होते हुये उन संबंधी स्पर्धकों का सत्ता अवस्थारूप है लक्षण जिसका, ऐसा उपशम होनेपर वेदक सम्यक्त्व होता है । इसलिये इसीका दूसरा नाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है, वह कोई भिन्न नहीं है ।

सो वेदक सम्यक्त्व कैसा है ? **नित्यं** अर्थात् नित्य है । इस विशेषण द्वारा इसकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है तथापि उत्कृष्टपने से छ्यासठ सागरप्रमाण काल तक रहता है । इसकारण उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा दीर्घ काल तक रहता है, इसलिये नित्य कहा है । परंतु सर्वकाल अविनश्वर की अपेक्षा यहां नित्य न समझना । पुनश्च कैसा है ? कर्मक्षपणहेतु अर्थात् कर्म क्षपावने का कारण है । इस विशेषण द्वारा मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणाम हैं, उनमें सम्यक्त्व ही मुख्य कारण है, ऐसा सूचित करते हैं । पुनश्च वेदक सम्यक्त्व में शंकादिक मल हैं, वे भी यथासंभव सम्यक्त्व का मूल से नाश करने का जो कारण नहीं है ऐसे सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न हुये हैं ।

पुनश्च औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में मल उपजाने का कारण ऐसे उस सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के अभाव से निर्मलपना सिद्ध है, ऐसा हे शिष्य ! तू जान!

पुनश्च चलादिकों का लक्षण कहते हैं, वहां चलपना कहते हैं -

नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतं ।
लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितं ।।
स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ।
अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छाद्धोऽपि चेष्टते ।।

इसका अर्थ - नाना प्रकार अपने ही विशेष अर्थात् आप्त, आगम, पदार्थरूप

श्रद्धान के भेद, उनमें जो चलायमान हो-चंचल हो, उसे चल कहा है । वही कहते हैं - अपने किये हुये अर्हन्तप्रतिबिंबादिक में यह मेरा देव है, ऐसे ममत्व से, तथा अन्य द्वारा किये हुये अर्हन्तप्रतिबिंबादिक में यह अन्य का है, इसतरह पर का मानकर भेदरूप भजता है, इसलिये चल कहा है ।

यहां दृष्टांत कहते हैं - जैसे अनेक प्रकार के कल्लोल तरंगों की पंक्ति में जल एक ही अवस्थित है तथापि नानारूप होकर चल है; वैसे मोह जो सम्यक्त्व प्रकृति का उदय, उससे श्रद्धान है, वह भ्रमणरूप चेष्टा करता है ।

भावार्थ - जैसे जल तरंगों में चंचल होता है, परंतु अन्य भाव को नहीं भजता, वैसे वेदक सम्यग्दृष्टि स्वयं ने या अन्य ने किये हुये जिनबिंबादि में यह मेरा, यह अन्य का इत्यादि विकल्प करता है, परंतु अन्य देवादिक को नहीं भजता ।

अब मलिनपना कहते हैं -

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मणः ।
मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ।।

इसका अर्थ - सो भी वेदक सम्यक्त्व है, वह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से नहीं पाया है माहात्म्य जिसने, ऐसा होता है । पुनश्च वह शंकादिक मल के संग से मलिन होता है । जैसे शुद्ध सोना बाह्य मल के संयोग से मलिन होता है, वैसे वेदक सम्यक्त्व शंकादिक मल के संयोग से मलिन होता है ।

अब अगाढ़ कहते हैं -

स्थान एव स्थितं कंप्रमगाढमिति कीर्त्यते ।
वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ।।

समेप्यनंतशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं ।
देवोऽस्मै प्रभुरेषोस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ।।

इसका अर्थ - स्थान अर्थात् आप्त, आगम, पदार्थों की श्रद्धानरूप अवस्था, उसमें स्थित होकर ही कांपता है, गाढ़ा नहीं रहे, उसे अगाढ़ कहते हैं । उसका उदाहरण कहते हैं - ऐसे तीव्र रुचि रहित होकर सर्व अर्हन्त परमेष्ठियों का अनंतशक्तिपना समान होते हुये भी, इस शांतिकर्म जो शांति क्रिया उसके लिये शांतिनाथ देव है, वह प्रभु

अर्थात् समर्थ है । पुनश्च इस विघ्ननाशन आदि क्रिया के लिये पार्श्वनाथ देव समर्थ है । इत्यादि प्रकार से रुचि, जो प्रतीति, उसकी शिथिलता रहती है। इसलिये बूढ़े के हाथ में लाठी शिथिल संबंधपने से अगाढ़ है, वैसे सम्यक्त्व अगाढ़ है ।

भावार्थ – जैसे बूढ़े के हाथ से लाठी छूटती नहीं, परंतु शिथिल रहती है। वैसे वेदक सम्यक्त्व का श्रद्धान छूटता नहीं । शांति आदि के लिये अन्य देवादिकों को नहीं सेवता, तथापि शिथिल रहता है । जैन देवादिकों में कल्पना उपजाता है।

इसतरह यहां चल, मलिन, अगाढ़ का वर्णन उपदेशरूप उदाहरण मात्र कहा है। सर्व तारतम्य भाव ज्ञानगम्य है ।

आगे औपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्वों के उपजने के कारण और स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं –

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।
बिदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ।।२६।।

सप्तानामुपशमतः उपशमसम्यक्त्वं क्षयात्तु क्षायिकं च ।
द्वितीयकषायोदयादसंयतं भवति सम्यक्त्वं च ।।२६।।

टीका – नहीं पाया जाता अंत जिसका, ऐसा अनंत अर्थात् मिथ्यात्व, उसे **अनुबध्नंति** अर्थात् उसका आश्रय करके प्रवर्तते हैं ऐसे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति नामधारक दर्शनमोह की तीन प्रकृति; इसतरह सात प्रकृतियों का सर्व उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व होता है । पुनश्च उसीतरह उन सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है । तथा दोनों ही सम्यक्त्व निर्मल हैं, क्योंकि शंकादिक मलों के अंश की भी उत्पत्ति नहीं होती है । पुनश्च वैसे दोनों सम्यक्त्व निश्चल हैं, क्योंकि आप्त, आगम, पदार्थ गोचर श्रद्धान भेदों में कहीं भी स्खलित नहीं होता । पुनश्च उसीप्रकार ही दोनों सम्यक्त्व गाढ़ हैं, क्योंकि आप्तादिक में तीव्र रुचि होती है । यह मल का नहीं होना, स्खलित नहीं होना, तीव्ररुचि का होना – ये तीनों इसलिये पाये जाते हैं क्योंकि यहां सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का अत्यंत अभाव है, ऐसा जानना ।

पुनश्च इसप्रकार कहे हुये तीन प्रकार के सम्यक्त्वों से परिणमित हुआ जो सम्यग्दृष्टि

जीव, वह द्वितीय कषाय जो अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ; इनमें से एक किसी के उदय से असंयत अर्थात् असंयमी होता है, इसीलिये इसका नाम असंयत सम्यग्दृष्टि है ।

आगे तत्त्वार्थश्रद्धान का सम्यक् प्रकार ग्रहण और त्याग का अवसर नहीं है उसे ही दो गाथाओं द्वारा प्ररूपित करते हैं ।

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ।।२७।।

सम्यग्दृष्टिर्जीवः उपदिष्टं प्रवचनं तु श्रद्दधाति ।
श्रद्दधाति असद्भावं अज्ञायमानो गुरुनियोगात् ।।२७।।

टीका – जो जीव अर्हन्तादिकों द्वारा उपदेशित ऐसा जो प्रवचन अर्थात् आप्त, आगम, पदार्थ ये तीन, उन्हें **श्रद्दधाति** अर्थात् श्रद्धता है, उनमें रुचि करता है । पुनश्च उन आप्तादिकों में **असद्भावं** अर्थात् अतत्त्व, अन्यथारूप, उसको भी अपने विशेष ज्ञान के अभाव से केवल गुरु ही के नियोग से जो इस गुरु ने कहा, सो ही अर्हन्त की आज्ञा है, इसप्रकार प्रतीति से श्रद्धान करता है, वह भी सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है ।

भावार्थ – जो स्वयं को विशेष ज्ञान न होते हुये तथा मंदमति जैनगुरु से आप्तादिक का स्वरूप अन्यथा कहनेपर और यह अर्हन्त की ऐसी ही आज्ञा है, इसतरह मानकर जो असत्य श्रद्धान करे तो भी सम्यग्दृष्टि का अभाव नहीं होता, क्योंकि इसने तो अर्हन्त की आज्ञा जानकर प्रतीति की है ।

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ।।२८।।

सूत्रात्तं सम्यग्दर्शयंतं यदा न श्रद्दधाति ।
स चैव भवति मिथ्यादृष्टिर्जीवः तदा प्रभृति ।।२८।।

टीका – उसप्रकार असत्य अर्थ का श्रद्धान करनेवाला आज्ञा सम्यग्दृष्टि जीव, जिस काल प्रवीण अन्य आचार्यों द्वारा, पूर्व में ग्रहण किया हुआ असत्यार्थरूप श्रद्धान

से विपरीत भाव सत्यार्थ, सो गणधरादिकों के सूत्र दिखाकर सम्यक् प्रकार से निरूपण किया हुआ होगा, उसका खोटे हठ से श्रद्धान न करे तो, उस काल से लेकर, वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है । क्योंकि सूत्र के अश्रद्धान से जिन आज्ञा के उल्लंघन का सुप्रसिद्धपना है, उसकारण से मिथ्यादृष्टि होता है ।

आगे असंयतपना और सम्यग्दृष्टिपना के सामानाधिकरण्य को दिखाते हैं –

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ।।२९।।

नो इंद्रियेषु विरतो नो जीवे स्थावरे त्रसे वापि ।
यः श्रद्दधाति जिनोक्तं सम्यग्दृष्टिरविरतः सः ।।२९।।

टीका – जो जीव इन्द्रियविषयों में **नोविरत** – विरति रहित है तथा वैसे ही स्थावर, त्रस जीव की हिंसा में भी विरत नहीं है – त्याग रहित है, तथा जिनेन्द्र द्वारा उपदेशित प्रवचन का श्रद्धान करता है, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि है । जिससे असंयत, वही सम्यग्दृष्टि, वह असंयतसम्यग्दृष्टि है । इसतरह समानाधिकरणपना दृढ़ किया। अनेक विशेषणों का एक वस्तु आधार हो, वहां कर्मधारेय समास में समानाधिकरणपना जानना। पुनश्च **अपि** शब्द से उसके संवेगादिक सम्यक्त्व के गुण भी इसके पाये जाते हैं, ऐसा सूचित है । पुनश्च यहां जो अविरत विशेषण है, वह अंत्यदीपक समान जानना । जैसे अंत की ओर रखा हुआ दीपक, पिछले सर्व पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे यहां अविरत विशेषण मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अविरतपना को प्रकाशित करता है, ऐसा संबंध जानना । पुनश्च अपि शब्द से अनुकंपा भी है ।

भावार्थ – कोई समझेगा कि विषयों में अविरति है, इसलिये विषयानुरागी बहुत होगा, वैसा नहीं है, संवेगादि गुणसंयुक्त है । पुनश्च हिंसादि में अविरति है, इसलिये निर्दय होगा, वैसा नहीं है, दयाभाव संयुक्त है, ऐसा अविरत सम्यग्दृष्टि है।

आगे देशसंयत गुणस्थान का दो गाथाओं द्वारा निर्देश करते हैं –

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु ।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ।।३०।।

प्रत्याख्यानोदयात् संयमभावो न भवति नवरिं तु ।
स्तोकव्रतं भवति ततो देशव्रतो भवति पंचमः ।।३०।।

टीका - अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण रूप आठ कषायों के उपशम से प्रत्याख्यानावरण कषायों के देशघाति स्पर्धकों का उदय होते हुये, सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावरूप लक्षण है जिसका ऐसे क्षय से जिसके सकलसंयमरूप भाव नहीं होते परंतु विशेष यह है कि देशसंयम अर्थात् किंचित् विरति होती है, उसको धारण करता हुआ देशसंयत नामक पंचम गुणस्थानवर्ती जीव जानना ।

जो तसवहाउ विरदो अविरदओ तह य थावरवहादो ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ।।३१।।

यस्त्रसवधाद्विरतः अविरतस्तथा च स्थावरवधात् ।
एकसमये जीवो विरताविरतो जिनैकमतिः ।।३१।।

टीका - वह देशसंयत ही विरताविरत भी कहलाता है । एक काल ही में जो जीव त्रसहिंसा से विरत है और स्थावरहिंसा से अविरत है, वह जीव विरत और वही अविरत इसतरह विरत-अविरत में विरोध है; तथापि अपने-अपने गोचर भाव त्रस-स्थावर के भेद की अपेक्षा से कोई विरोध नहीं है । इसीलिये विरत-अविरत ऐसा उपदेश योग्य है । पुनश्च वैसे **चकार** शब्द से प्रयोजन के बिना स्थावरहिंसा को भी नहीं करता है, ऐसा व्याख्यान करना योग्य है । सो कैसा है ? **जिनैकमतिः** अर्थात् जिन जो आप्तादिक उन्हीं में है एकमात्र मति अर्थात् इच्छा-रुचि जिसकी, ऐसा है। इससे देशसंयत के सम्यग्दृष्टिपना है, ऐसा विशेषण निरूपण किया है । यह विशेषण आदि दीपक के समान है, सो आदि में रखा हुआ दीपक जैसे आगे के सर्व पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे यहां से आगे भी सर्व गुणस्थानों में इस विशेषण द्वारा संबंध करना योग्य है- सर्व सम्यग्दृष्टि जानने ।

आगे प्रमत्त गुणस्थान को दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

संजलण णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ।।३२।।

संज्वलननोकषायाणामुदयात्संयमो भवेद्यस्मात् ।
मलजननप्रमादोऽपि च तस्मात्खलु प्रमत्तविरतः सः ।।३२।।

टीका – जिस कारण से संज्वलन कषाय के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभाव लक्षण धारी क्षय होनेपर, तथा बारह कषाय जो उदय को प्राप्त नहीं है उनका और संज्वलन कषाय और नोकषाय इनके निषेकों की सत्ता अवस्थारूप लक्षण धारी उपशम होनेपर, तथा संज्वलन कषाय, नोकषायों के देशघाति स्पर्धकों के तीव्र उदय से सकलसंयम और मल को उपजानेवाला प्रमाद दोनों होते हैं । उसकारण से प्रमत्त वही विरत, सो षष्ठम गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्तसंयत कहलाता है ।

''विवक्खिदस्स संजमस्स खओवसमियत्तपडुप्पायणमेत्तफलत्तादो कथं संजलणणोकसायाणं चरित्तविरोहीणं चारित्तकारयत्तं ? देशघादित्तेण सपडिवक्खगुणं विणिम्मूलणसत्तिविरहियाणमुदयो विज्जमाणो वि ण स कज्जकार ओत्ति संजमहेदुत्तेण विविक्खियत्तादो, वत्थुदो दु कज्जं पडुप्पायेदि मलजणणपमादोविय 'अविय इत्यवधारणे' मलजणणपमादो चेव जम्हा एवं तम्हा हु पमत्ताविरदो सो तमुवलक्खदि ।''

इसका अर्थ – ''विवक्षित जो संयम, उसके क्षायोपशमिकपने के उत्पादनमात्र फलपना है । संज्वलन और नोकषाय जो चारित्र के विरोधी, उनके चारित्र का करना–उपजाना कैसे संभव है ?

वहां कहते हैं – एकदेशघाति है, उस भाव से अपना प्रतिपक्षी संयमगुण, उसका निर्मूल नाश करने की शक्ति रहित है । सो इनका उदय विद्यमान भी है तथापि अपना कार्य करनेवाला नहीं है, संयम का नाश नहीं कर सकता । इसतरह संयम के कारणपने से, विवक्षा से संज्वलन और नोकषायों के चारित्र उपजाना उपचार से जानना । वस्तु से यथार्थ निश्चय विचार करनेपर ये संज्वलन और नोकषाय अपने कार्य ही को उपजाते हैं । इन्हीं से मल को उपजानेवाला प्रमाद होता है । **अपि च** शब्द है सो प्रमाद भी है ऐसा अवधारण अर्थ में जानना । जिसकारण मल का उपजानेवाला प्रमाद है उसकारण ऐसा प्रकट प्रमत्तविरत, वह षष्ठम गुणस्थानवर्ती जीव है ।

उसे लक्षण द्वारा कहते हैं –

वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होदि ।
सयलगुणशीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ।।३३।।

व्यक्ताव्यक्तप्रमादे यो वसति प्रमत्तसंयतो भवति ।
सकलगुणशीलकलितो महाव्रती चित्रलाचरणः ।।३३।।

टीका – **व्यक्त** अर्थात् अपने जानने में आवे, पुनश्च **अव्यक्त** अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानियों के ही जानने योग्य ऐसा जो प्रमाद उनमें जो संयत प्रवर्तता है, सो चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम के माहात्म्य से समस्त गुण और शील से संयुक्त महाव्रती होता है । **अपि** शब्द से प्रमादी भी होता है और महाव्रती भी होता है । यहां सकलसंयमपना महाव्रतीपना देशसंयत की अपेक्षा जानना, ऊपर के गुणस्थानों की अपेक्षा नहीं । उसकारण से ही प्रमत्तसंयत चित्रलाचरण है, ऐसा कहा है । **चित्रं** अर्थात् प्रमाद से मिश्ररूप को **लाति** अर्थात् करे उसे चित्रल कहते हैं । चित्रल आचरण है जिसका, वह चित्रलाचरण जानना । अथवा चित्रल अर्थात् सारंग, चीता, उसके समान मिला हुआ काबरा आचरण जिसका हो, वह चित्रलाचरण जानना । अथवा **चित्रं लाति** अर्थात् मन को प्रमादरूप से करे, वह चित्तल कहलाता है । चित्तल आचरण जिसका, वह चित्तलाचरण जानना। इसतरह विशेष निरुक्ति भी पाठांतर की अपेक्षा जाननी ।

आगे उन प्रमादों के नाम, संख्या दिखाने के लिये सूत्र कहते हैं –

विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयोय ।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस ।।३४।।

विकथा तथा कषाया इंद्रियनिद्राः तथैव प्रणयश्च ।
चतुश्चतुः पञ्चैकैकं भवंति प्रमादाः खलु पंचदश ।।३४।।

टीका – संयमविरुद्ध कथा, उसे विकथा कहते हैं । तथा **कषंति** अर्थात् संयमगुण का घात करता है, उसे कषाय कहते हैं । तथा संयमविरोधी इंद्रियों का विषयप्रवृत्तिरूप व्यापार, उसे इन्द्रिय कहते हैं । तथा स्त्यानगृद्धि आदि तीन प्रकृतियों के उदय से वा निद्रा, प्रचला के तीव्र उदय से प्रकट हुयी जो जीव के अपने दृश्य पदार्थों के सामान्यमात्र ग्रहण को रोकनेवाली जड़रूप अवस्था, वह निद्रा है । तथा बाह्य पदार्थों में ममत्वरूप भाव, वह प्रणय अर्थात् स्नेह है । इस क्रम से विकथा चार, कषाय चार, इन्द्रिय पांच, निद्रा एक, स्नेह एक इसतरह सर्व मिलाकर प्रमाद पंद्रह होते हैं। यहां सूत्र में पहले चकार कहा, वह ये सर्व ही प्रमाद हैं, ऐसा साधारण भाव जानने के लिये कहा है । पुनश्च दूसरा **तथा** शब्द कहा, वह

परस्पर समुदाय करने के लिये कहा है ।

आगे इन प्रमाद के अन्य प्रकार से पांच प्रकार हैं, उन्हें नौ गाथाओं द्वारा कहते हैं –

संखा तह पत्थारो परियट्टण णट्ठ तह समुद्दिट्ठं ।
एदे पंच पयारा पमदसमुक्कित्तणे णेया ।।३५।।

संख्या तथा प्रस्तारः परिवर्तनं नष्टं तथा समुद्दिष्टम् ।
एते पंच प्रकाराः प्रमादसमुत्कीर्तने ज्ञेयाः ।।३५।।

टीका – प्रमाद के व्याख्यान में संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, समुद्दिष्ट ये पांच प्रकार जानना । वहां प्रमादों के आलाप को कारणभूत जो अक्षसंचार के निमित्त का विशेष, वह संख्या है । पुनश्च इनको स्थापन करना, वह प्रस्तार है । पुनश्च अक्षसंचार परिवर्तन है । संख्या को धरकर अक्ष का लाना नष्ट है । अक्ष को धरकर संख्या का लाना समुद्दिष्ट है । यहां भंग को कहने का विधान, वह आलाप जानना। पुनश्च भेद और भंग का नाम अक्ष जानना । पुनश्च एक भेद अनेक भंगों में क्रम से पलटता है, उसका नाम अक्षसंचार जानना । पुनश्च जितनेवां भंग हो, उतने प्रमाण का नाम संख्या जानना ।

***(विशेषार्थ** – ऊपर हमने प्रमाद के पंद्रह भेद देखे, उसमें मुख्य पांच प्रकार – विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह । इनमें से विकथा, कषाय, इन्द्रिय के क्रम से चार, चार और पांच भेद हैं । ये सब एक जीव के एकसाथ तो होते नहीं हैं । चार में से एक विकथा, चार में से एक कषाय, पांच में से एक इन्द्रिय लोलुपता, एक निद्रा और एक स्नेह इसतरह एक साथ पांच प्रमाद होते हैं परंतु इनके भेदों को पलटाने से अलग अलग संयोगों द्वारा अलग अलग भंग होते हैं, जो सब मिलकर ४×४×५×१×१=८० होते हैं । इन भंगों को क्रमवार पहला, दूसरा, तीसरा आदि......कहना उसे संख्या कहते हैं ।)*

आगे विशेष संख्या की उत्पत्ति का अनुक्रम कहते हैं –

सव्वेपि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।
मेलंतित्ति य कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा ।।३६।।

सर्वेऽपि पूर्वभंगा उपरिमभंगेषु एकैकेषु ।
मिलंति इति च क्रमशो गुणिते उत्पद्यते संख्या ।।३६।।

टीका - सर्व ही पूर्व भंग ऊपर ऊपर के भंगों में एक-एक में मिलते हैं, होते हैं । इसलिये क्रम से परस्पर गुणा करने से विशेष संख्या उपजती है । वही कहते हैं - पूर्व भंग विकथाप्रमाद चार, वे ऊपर के कषायप्रमादों में एक-एक में होते हैं। इसतरह चार विकथाओं से गुणा करनेपर चार कषायों के सोलह प्रमाद होते हैं । पुनश्च ये नीचे के भंग सोलह हुये, वे ऊपर के इन्द्रियप्रमादों में एक-एक में होते हैं । इसतरह सोलह से गुणित पांच इन्द्रियों के अस्सी प्रमाद होते हैं। उसीप्रकार निद्रा में तथा स्नेह में एक-एक ही भेद है । इसलिये एक-एक से गुणा करनेपर भी अस्सी-अस्सी ही प्रमाद होते हैं । इसतरह विशेष संख्या की उत्पत्ति कही ।

आगे प्रस्तार का अनुक्रम दिखाते हैं -

पढमं पमदपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होदि पत्थारो ।।३७।।

प्रथमं प्रमादप्रमाणं क्रमेण निक्षिप्य उपरिमाणं च ।
पिंडं प्रति एकैकं निक्षिप्ते भवति प्रस्तारः ।।३७।।

टीका - प्रथम विकथास्वरूप प्रमादों के प्रमाण का विरलन कर एक-एक अलग बिखेरकर पश्चात् क्रम से इस विरलन के एक-एक भेद के प्रति एक-एक ऊपर का प्रमादपिंड स्थापन करना, उनको मिलाकर प्रस्तार होता है । सो कहते हैं - विकथा प्रमाद का प्रमाण चार, उसको विरलन करके क्रम से स्थापन करके (११११) तथा उसके ऊपर का दूसरा कषाय नामक प्रमाद का पिंड जो समुदाय, उसका प्रमाण चार(४) उसे विरलनरूप स्थापे हुये जे नीचे के प्रमाद उनके एक एक भेद प्रति देना।

भावार्थ - एक-एक विकथा के भेद ऊपर चार-चार कषाय स्थापन करना
क ४ ४ ४ ४
वि १ १ १ १ सो इनको मिलाकर जोड़ने से सोलह प्रमाद होते हैं । पुनश्च ऊपर की अपेक्षा से इसे पहला प्रमादपिंड कहेंगे, सो इसका विरलन कर क्रम से स्थापित करके, इससे ऊपर का उस पहले की अपेक्षा इसका दूसरा इन्द्रियप्रमाद, उसका पिंड

प्रमाण पांच, उसे पूर्ववत् विरलन करके स्थापित जो नीचे के प्रमाद, उनके एक-एक भेद के प्रति एक-एक पिंडरूप स्थापित करनेपर -

५ ५ ५ ५	५ ५ ५ ५	५ ५ ५ ५	५ ५ ५ ५
१ १ १ १	१ १ १ १	१ १ १ १	१ १ १ १
क्रो मा मा लो	क्रो मा मा लो	क्रो मा मा लो	क्रो मा मा लो
स्त्री स्त्री स्त्री स्त्री	भ भ भ भ	रा रा रा रा	अ अ अ अ

भावार्थ – सोलह भेदों में से एक-एक भेद के ऊपर पांच-पांच इन्द्रिय स्थापित करना, सो इनको जोड़ने से अस्सी भंग होते हैं । यह प्रस्तार आगे कहेंगे जो अक्षसंचार उसका कारण है । इसतरह प्रस्ताररूप स्थापे हुये जो अस्सी भंग, उनका आलाप अर्थात् भंग कहने का विधान, उसे कहते हैं - स्नेहवान-निद्रालु-स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत-क्रोधी-स्त्रीकथालापी ऐसा यह अस्सी भंगों में से पहला भंग है । पुनश्च स्नेहवान-निद्रालु-रसनाइन्द्रियके वशीभूत-क्रोधी-स्त्रीकथालापी ऐसा यह दूसरा भंग है । पुनश्च स्नेहवान-निद्रालु-घ्राणइन्द्रिय के वशीभूत-क्रोधी-स्त्रीकथालापी ऐसा यह तीसरा भंग हुआ । पुनश्च स्नेहवान-निद्रालु-चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत-क्रोधी-स्त्रीकथालापी ऐसा यह चौथा भंग हुआ। पुनश्च स्नेहवान-निद्रालु-श्रोत्रइन्द्रिय के वशीभूत-क्रोधी-स्त्रीकथालापी ऐसा यह पांचवां भंग है । ऐसे पांच भंग हुये । इसीप्रकार क्रोधी की जगह मानी स्थापित कर पांच भंग करना ।

पुनश्च मायावी स्थापित कर पांच भंग करना । पुनश्च लोभी स्थापित कर पांच भंग करना । इसतरह एक-एक कषाय के पांच-पांच होनेपर, चार कषायों के एक स्त्रीकथा प्रमाद में वीस आलाप होते हैं । पुनश्च जैसे स्त्रीकथा आलापी की अपेक्षा बीस भेद कहे, वैसे ही स्त्रीकथालापी की जगह भक्तकथालापी, पुनश्च राष्ट्रकथालापी, पुनश्च अवनिपालकथालापी क्रम से स्थापित कर एक-एक विकथा के बीस-बीस भंग होते हैं । चारों विकथाओं के मिलाकर सर्व प्रमादों के अस्सी आलाप होते हैं ।

आगे अन्य प्रकार से प्रस्तार दिखाते हैं -

णिक्खित्तु बिदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि बिदयमेक्केक्कं ।
पिंडं पडि णिक्खेओ एवं सव्वत्थ कायव्वो ।।३८।।

{Z{j ßËdm {ÛVr`_mÌ Vñ`mn[a {ÛVr`_HH_ï&
qnS> à{V {Zjn… Ed gdÌ H$Vì`… ï&& 38&&

QrH$m - H$fm` Zm_H$ Xga à_mX H$m {OVZm à_mU, CVZ _mÌ ñWmZm| _| [dH$WmêÊ$n nhb à_mX H$m g_Xm`êÊ$n qnS> OXm-OXm ñWm{nV H$aH$ (4 4 4 4), nZü EH$-EH$ qnS> à{V {ÛVr` à_mXm| H$ à_mU H$m EH$-EH$ êÊ$n D$na ñWmnZmï&

^mdmW - Mma-Mma à_mUg{hV, EH$-EH$ {dH$Wmà_mX H$m qnS>, CgH$m Xgam à_mX H$fm` H$m à_mU Mma, Cg Mma OJh ñWm{nV H$aH$, EH$-EH$ qnS> H$ D$na H$_ g EH$-EH$ H$fm` ñWm{nV H$aZm ï& $\left(\begin{matrix}1 & 1 & 1 & 1\\ 4 & 4 & 4 & 4\end{matrix}\right)$ Egm ñWm{nV H$aZna, CZH$m OmS> gmbh qnS> à_mU hmJm ï&

nZü "Eg hr gdÌ H$aZm' Bg dMZ g `h gmbh à_mU qnS> Om g_Xm`, gm Vrga BpÝÐ` à_mX H$m {OVZm à_mU, CVZr OJh ñWmnZm ï& gm nmM OJh ñWm{nV H$aH$ (16 16 16 16 16), BZH$ D$na Vrga BpÝÐ` à_mX H$m à_mU EH$-EH$ êÊ$n *(êÊ$n = 1 AH$)* Ûmam ñWm{nV H$aZm ï&

^mdmW - OX-OX BpÝÐ` à_mX H$ ^X nmM, gm nmM OJh ndmº$ gmbh ^X ñWm{nV H$aH$, EH$-EH$ qnS> H$ D$na EH$-EH$ BpÝÐ` ^X ñWm{nV H$aZm Eg $\left(\begin{matrix}1 & 1 & 1 & 1 & 1\\ 16 & 16 & 16 & 16 & 16\end{matrix}\right)$ ñWm{nV H$aZna AYñVZ AWmV ZrM H$s Anjm AjgMma H$m H$maU^V Xgam àñVma hmVm h ï&

gm Bg àñVma H$s Anjm g Ambmn Om ^J H$hZ H$m {dYmZ, dh H$gm hmVm h ? dhr H$hV h - órH$Wmbmnr-H$mYr-ñneZBpÝÐ` H$ der^V-{ZÐmb-ñZhdmZ Egm Añgr ^Jm| _| àW_ ^J h ï& nZü ^º$H$Wmbmnr-H$mYr-ñneZBpÝÐ` H$ der^V-{ZÐmb-ñZhdmZ Egm Xgam ^J h ï& nZü amîQH$Wmbmnr-H$mYr-ñneZBpÝÐ` H$ der^V-{ZÐmb-ñZhdmZ Egm Vrgam ^J h ï& nZü Ad{ZnmbH$Wmbmnr-H$mYr-ñneZBpÝÐ` H$ der^V-{ZÐmb-ñZhdmZ Egm MmWm ^J h ï& BgrVah H$mY H$s OJh _mZr dm _m`mdr dm bm^r H$_ g H$hH$a Mma Mma ^J hmV h ï& Mmam| H$fm`m| H$ EH$ ñneZ BpÝÐ` _| gmbh Ambmn hmV h ï&

nZü Eg hr ñneZBpÝÐ` H$ der^V H$s OJh agZm dm KmU dm Mj dm lmÌ BpÝÐ` H$ der^V H$_ g H$hH$a EH$-EH$ H$ gmbh-gmbh ^X hmH$a

पांचों इन्द्रिय के अस्सी प्रमाद आलाप होते हैं । उन सब को जानकर व्रती पुरुष प्रमाद छोड़ें ।

भावार्थ – एक जीव के एक काल में कोई एक-एक, किसी भेदरूप विकथादिक होते हैं । इसलिये उनके पलटने की अपेक्षा पंद्रह प्रमादों के अस्सी भंग होते हैं। इसीप्रकार यह अनुक्रम चौरासी लाख उत्तरगुण, अठारह हजार शील के भेद, उनके भी प्रस्तार में करना ।

अब पूर्व में कहा हुआ जो दूसरा प्रस्तार, उसकी अपेक्षा अक्षपरिवर्तन अर्थात् अक्षसंचार, उसका अनुक्रम कहते हैं –

पढमक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि बिदियक्खो ।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ।।३९।।

प्रथमाक्ष अंतगतः आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः ।
द्वावपि गत्वांतमादिगते संक्रामति तृतीयाक्षः ।।३९।।

टीका – पहला प्रमाद का अक्ष अर्थात् भेद विकथा, वह आलाप के अनुक्रम से अपने अंत तक जाकर पुनश्च पलट कर अपने प्रथम स्थान को युगपत् प्राप्त हो, तब दूसरा प्रमाद का अक्ष कषाय, वह अपने दूसरे स्थान को प्राप्त होता है ।

भावार्थ – आलापों में पहले तो विकथा के भेदों को पलटकर, क्रम से स्त्री, भक्त, राष्ट्र, अवनिपालकथा चार आलापों में कहना । और अन्य प्रमादों का पहला-पहला ही भेद इन चारों आलापों में ग्रहण करना । उसके पश्चात् पहला विकथा प्रमाद अपने अंतिम अवनिपालकथा पर्यंत जाकर, पलटकर अपने स्त्रीकथारूप प्रथम भेद को जब प्राप्त हो, तब दूसरा प्रमाद कषाय, वह अपना पहला स्थान क्रोध को छोड़कर, द्वितीय स्थान मान को प्राप्त होता है । पुनश्च प्रथम प्रमाद का अक्ष पूर्वोक्त अनुक्रम से संचार करता हुआ अपने अंत पर्यंत जाकर, पलट कर युगपत् अपने प्रथम स्थान को जब प्राप्त हो, तब दूसरा प्रमाद का अक्ष कषाय, वह अपने तीसरे स्थान को प्राप्त होता है ।

भावार्थ – दूसरा कषाय प्रमाद दूसरा भेद मान को प्राप्त हुआ, वहां भी पूर्वोक्त प्रकार पहला भेद क्रम से चार आलापों में पलटकर अपने अंत भेद तक जाकर, पलटकर

अपना प्रथम भेद स्त्रीकथा को प्राप्त हो, तब कषाय प्रमाद अपना तीसरा भेद माया को प्राप्त होता है । पुनश्च ऐसा ही संचार करता हुआ, पलटता हुआ दूसरा प्रमाद का अक्ष कषाय, वह जब अपने अंतिम भेद को प्राप्त हो, तब प्रथम अक्ष विकथा, वह भी अपने अंतिम भेद को प्राप्त होता है ।

भावार्थ – पूर्वोक्त प्रकार चार आलाप माया में, चार आलाप लोभ में होने पर कषाय अक्ष अपना अंतिम भेद लोभ, उसको प्राप्त हुआ । और इनमें पहला अक्ष विकथा, वह भी अपना अंतिम भेद अवनिपालकथा, उसे प्राप्त हुआ; ऐसे होने पर सोलह आलाप हुये ।

पुनश्च ये दोनों अक्ष विकथा और कषाय पलटकर अपने प्रथम स्थान को प्राप्त हुये, तब तीसरा प्रमाद का अक्ष अपना प्रथम स्थान छोड़कर, दूसरे स्थान को प्राप्त होता है । और इस ही अनुक्रम से प्रथम और द्वितीय अक्ष का क्रम से अपने अंतिम भेद तक जानना । पुनश्च पलटने के द्वारा तीसरा प्रमाद का अक्ष इन्द्रिय, सो अपने तीसरे आदि स्थान को प्राप्त होता है, ऐसा जानना ।

भावार्थ – विकथा और कषाय अक्ष पलटकर अपने प्रथम स्थान स्त्रीकथा और क्रोध को प्राप्त हो, तब इन्द्रिय अक्ष में पहले सोलह आलापों में पहला भेद स्पर्शनइन्द्रिय था, सो वहां रसनाइन्द्रिय होकर, वहां पूर्वोक्त प्रकार अपने अंतिम भेद तक जाय, तब रसनाइन्द्रिय में सोलह आलाप होते हैं । पुनश्च उसीप्रकार वे दोनों अक्ष पलटकर अपने प्रथम स्थान को प्राप्त हो, तब इन्द्रिय अक्ष अपना तीसरा भेद घ्राणइन्द्रिय को प्राप्त होता है, इसमें पूर्वोक्त प्रकार सोलह आलाप होते हैं।

पुनश्च इसी क्रम से सोलह-सोलह आलाप चक्षु, श्रोत्र इन्द्रिय में होनेपर, सर्व प्रमाद के अक्ष अपने अंतिम भेद को प्राप्त होते हैं । यह अक्षसंचार का अनुक्रम नीचे के अक्ष से लेकर, ऊपर के अक्ष पर्यंत विचार द्वारा प्रवर्ताना । पुनश्च अक्ष की सहनानी *(चिह्न)* हंसपद है, उसका आकार (×) ऐसा जानना ।

आगे प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा अक्षपरिवर्तन कहते हैं –

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि बिदियक्खो ।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि पढमक्खो ।।४०।।

तृतीयाक्षः अंतगतः आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः ।
द्वावपि गत्वांतमादिगते संक्रामति प्रथमाक्षः ।।४०।।

टीका – तीसरा प्रमाद का अक्ष इन्द्रिय, वह आलाप के अनुक्रम द्वारा अपने अंत तक जाकर, स्पर्शनादि क्रम से पांच आलापों में श्रोत्र पर्यंत जाकर, पुनश्च पलटकर युगपत् अपने प्रथम स्थान स्पर्शन को प्राप्त हो, तब दूसरा प्रमाद का अक्ष कषाय, वह पहले क्रोधरूप प्रथम स्थान को प्राप्त था, उसको छोड़कर अपने दूसरे स्थान मान को प्राप्त होता है । वहां पुनश्च तीसरा प्रमाद का अक्ष इन्द्रिय, सो पूर्वोक्त अनुक्रम से अपने अंतिम भेद पर्यंत जाकर, पलटकर युगपत् प्रथम स्थान को प्राप्त हो, तब दूसरा प्रमाद का अक्ष कषाय, वह दूसरा स्थान मान को छोड़कर, अपने तीसरा स्थान माया को प्राप्त होता है । वहां भी पूर्वोक्त प्रकार विधान होकर, इसप्रकार क्रम से दूसरा प्रमाद का अक्ष जब एक बार अपने अंतिम भेद लोभ को प्राप्त हो, तब तीसरा प्रमाद का अक्ष इन्द्रिय, वह भी क्रम से संचार करते हुये अपने अंतिम भेद को प्राप्त होता है, तब बीस आलाप होते हैं ।

भावार्थ – एक-एक कषाय में इन्द्रियों के संचार से पांच-पांच आलाप होते हैं । पुनश्च वे इन्द्रिय और कषाय दोनों ही अक्ष पलटकर अपने-अपने प्रथम स्थान को युगपत् प्राप्त होते हैं, तब पहला प्रमाद का अक्ष विकथा, सो पहले बीसों आलापों में अपना प्रथम स्थान स्त्रीकथारूप उसको प्राप्त था, वह अब प्रथम स्थान को छोड़कर, अपना द्वितीय स्थान भक्तकथा को प्राप्त होता है । पुनश्च इसी अनुक्रम से पूर्वोक्त प्रकार से तृतीय, द्वितीय प्रमाद का अक्ष इन्द्रिय और कषाय, उनका अपने अंत तक जानना। पुनश्च इनके पलटने से प्रथम प्रमाद का अक्ष विकथा, वह अपने तृतीयादि स्थानों को प्राप्त होता है, ऐसा संचार जानना ।

भावार्थ – पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक विकथा के भेद में इन्द्रिय-कषायों के पलटने से बीस आलाप होते हैं, उसके चारों विकथाओं में अस्सी आलाप होते हैं। यह अक्षसंचार का अनुक्रम ऊपर अंतिम भेद इन्द्रिय के पलटने से लेकर क्रम से अधस्तन पूर्व-पूर्व अक्ष के परिवर्तन को विचार कर पलटना, ऐसे अक्षसंचार कहा। अक्ष जो भेद, उसके क्रम से पलटने का विधान ऐसे जानना ।

आगे नष्ट लाने का विधान दिखाते हैं –

सगमाणेहिं विभत्ते सेसं लक्खित्तु जाण अक्खपदं ।
लद्धे रूवं पक्खिव सुद्धे अंते ण रूवपक्खेओ ।।४१।।

स्वकमानैर्विभक्ते शेषं लक्षयित्वा जानीहि अक्षपदम् ।
लब्धे रूपं प्रक्षिप्य शुद्धे अंते न रूपप्रक्षेपः ।।४१।।

टीका – कोई जितनेवां प्रमाद भंग पूछे, उस प्रमाद भंग के आलाप की खबर नहीं है कि यह कौनसा आलाप है, वहां उसको नष्ट कहते हैं । उसको लाने का, जानने का उपाय कहते हैं । किसीने जितनेवां प्रमाद पूछा होगा, उसको अपने प्रमादपिंड का भाग देने पर, जो अवशेष रहे, सो अक्षस्थान जानना । पुनश्च जितने पाये हो, उनमें एक जोड़ कर जो प्रमाण हो, उसको द्वितीय प्रमादपिंड का भाग देना, वहां भी वैसा ही जानना । इसी क्रम से सर्वत्र करना । इतना विशेष जानना, यदि जहां भाग देनेपर राशि शुद्ध हो जाये-कुछ अवशेष न रहे, वहां उस प्रमाद का अंतिम भेद ग्रहण करना तथा वहां जो लब्धराशि हो उसमें एक न जोड़ना । पुनश्च ऐसे करते हुये जहां अंत हो, वहां एक न जोड़ना, वह कहते हैं ।

जितनेवां प्रमाद पूछा, उस विवक्षित प्रमाद की संख्या को प्रथम प्रमाद विकथा, उसका प्रमाण पिंड चार, उसका भाग देनेपर अवशेष जितना रहे, वह अक्षस्थान है। जितने अवशेष रहे, उतनेवां विकथा का भेद उस आलाप में जानना । तथा यहां भाग देनेपर जो पाया, उस लब्धराशि में एक और जोड़ना । जोड़कर जो प्रमाण होगा उसको, ऊपर का दूसरा प्रमाद कषाय, उसका प्रमाण पिंड चार, उसका भाग देकर जो अवशेष रहे, उसे वहां अक्षस्थान जानना । जितने अवशेष रहे, उतनेवां कषाय का भेद उस आलाप में जानना । तथा यहां जो लब्धराशि होगी, उसमें एक जोड़कर, तीसरा प्रमाद इन्द्रिय, उसका प्रमाण पिंड पांच, उसका भाग देना । पुनश्च जहां अवशेष शून्य रहे, वहां प्रमादों के अंतस्थान में ही अक्ष रहता है, वहां अंत का भेद ग्रहण करना तथा लब्धराशि में एक नहीं जोड़ना ।

यहां उदाहरण कहते हैं – किसीने पूछा कि अस्सी भंगो में से पंद्रहवां प्रमाद भंग कौनसा है ?

वहां उसको जानने के लिये विवक्षित नष्ट प्रमाद की संख्या पंद्रह, उसको प्रथम प्रमाद का पिंड चार से भाग देनेपर लब्ध तीन आते हैं और अवशेष भी तीन रहते

हैं । सो तीन अवशेष रहे, इसलिये विकथा का तीसरा भेद राष्ट्रकथा, उसमें अक्ष है। वहां अक्ष देकर देखे ।

भावार्थ - वहां पंद्रहवें आलाप में राष्ट्रकथालापी जानना । पुनश्च वहां तीन पाये थे । उस लब्धराशि तीन में एक जोड़ने पर चार होते हैं, उसको उसके ऊपर का कषाय प्रमाद, उसका प्रमाण पिंड चार, उसका भाग देनेपर अवशेष शून्य है, कुछ बाकी न रहा, वहां उस कषाय प्रमाद का अंतिम भेद जो लोभ उसका आलाप में अक्ष सूचित है । क्योंकि जहां राशि शुद्ध हो जाती है *(निःशेष भाग जाता है)* वहां उसका अंतिम भेद ग्रहण करना ।

भावार्थ – पंद्रहवें आलाप में लोभी जानना । पुनश्च वहां लब्धराशि एक उसमें एक नहीं जोड़ना । क्योंकि जहां राशि शुद्ध हो जाय, वहां प्राप्त राशि में एक और नहीं मिलाना । सो एक का एक ही रहा, उसको ऊपर का इन्द्रिय प्रमाण पिंड पांच का भाग देनेपर लब्धराशि शून्य है, क्योंकि भाज्य से भागहार *(भाजक = जिससे भाग दिया जाता है वह संख्या)* का प्रमाण अधिक है, इसलिये यहां लब्धराशि का अभाव है । अवशेष एक रहा, इसलिये इन्द्रिय का स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत ऐसा प्रथम भेदरूप अक्ष पंद्रहवें आलाप में सूचित है । इसतरह पंद्रहवां आलाप राष्ट्रकथालापी-लोभी-स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत-निद्रालु-स्नेहवान ऐसा जानना ।

*(**विशेषार्थ –** संख्या द्वारा नष्ट लाने का विधान (द्वितीय प्रस्तार अपेक्षा)*
पंद्रहवें आलाप का नष्ट निकालते हैं ।

उदाहरण –१५÷४(विकथा)=३ लब्धराशि और ३ अवशेषराशि –विकथा का तीसरा भेद राष्ट्रकथालापी ।

लब्धराशि ३ + १ = ४ निःशेष भाग नहीं गया इसलिये एक मिलाना।

४÷४ (कषाय)= १ लब्धराशि और अवशेष शून्य इसलिये कषाय का अंतिम भेद लोभ लेना । और लब्धराशिमें एक नहीं मिलाना ।

१÷५(इन्द्रिय) = 0, अवशेष १ – इन्द्रिय का प्रथम भेद स्पर्शनइन्द्रिय का वशीभूत जानना ।

इसलिये नष्ट प्रमाद – राष्ट्रकथालापी-लोभी-स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत-निद्रालु-स्नेहवान।

इसीतरह अन्य अन्य संख्याओं पर वाचक स्वयं घटित करें ।)

इसीप्रकार जितनेवां आलाप जानना चाहे, उतनेवें नष्ट आलाप को साधे । पुनश्च यहां द्वितीय प्रस्तार अपेक्षा विकथादि के क्रम से जैसे नष्ट लाने का विधान कहा, वैसे ही प्रथम प्रस्तार अपेक्षा ऊपर से इन्द्रिय, कषाय, विकथा के अनुक्रम से पूर्वोक्त भागादिक विधान से नष्ट लाने का विधान करना ।

वहां उदाहरण - किसीने पूछा - प्रथम प्रस्तार अपेक्षा पंद्रहवां आलाप कौनसा है ? वहां इस संख्या को पांच का भाग देनेपर अवशेष शून्य आता है, इसलिये यहां अंतिम भेद श्रोत्रइन्द्रिय के वशीभूत ग्रहण करना ।

पुनश्च यहां पाये तीन, उसको कषाय प्रमाण पिंड चार, उसका भाग देनेपर लब्धराशि शून्य, अवशेष तीन, इसलिये वहां तीसरा कषाय भेद मायावी जानना । पुनश्च लब्धराशि शून्य में एक मिलानेपर एक हुआ, उसको विकथा के प्रमाण पिंड चार का भाग देनेपर लब्धराशि शून्य, अवशेष एक, सो स्त्रीकथालापी जानना । इसतरह प्रथम प्रस्तार अपेक्षा पंद्रहवां आलाप स्नेहवान-निद्रालु-श्रोत्रइन्द्रिय के वशीभूत-मायावी-स्त्रीकथालापी ऐसा जानना। इसीतरह अन्य नष्ट आलाप साधने ।

आगे आलाप धरकर संख्या साधने के लिये अगला सूत्र कहते हैं -

संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा एमेव सव्वत्थ ।।४२।।

संस्थाप्य रूपमुपरितः संगुणित्वा स्वकमानम् ।
अपनीयानंकितं कुर्यात् एवमेव सर्वत्र ।।४२।।

टीका - प्रथम एक रूप *(एक अंक = १)* स्थापन करके ऊपर से अपने प्रमाण से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उसमें से अनंकित स्थान का प्रमाण घटाना, ऐसे सर्वत्र करना । यहां जो भेद ग्रहण होगा उसके आगे के स्थानों की संख्या, उसको अनंकित कहते हैं । जैसे विकथा प्रमाद में प्रथम भेद स्त्रीकथा का ग्रहण हो, तो वहां उसके पश्चात् तीन स्थान शेष हैं, इसलिये अनंकित का प्रमाण तीन है । पुनश्च यदि भक्तकथा का ग्रहण हो तो उसके पश्चात् दो स्थान रहते हैं, इसलिये अनंकित स्थान दो हैं । पुनश्च यदि राष्ट्रकथा का ग्रहण हो तो उसके पश्चात् एक स्थान है, इसलिये अनंकित स्थान एक है । पुनश्च यदि अवनिपालकथा का ग्रहण हो तो उसके पश्चात् कोई भी

नहीं है, इसलिये वहां अनंकित स्थान का अभाव है । इसीतरह कषाय, इन्द्रिय प्रमाद में भी अनंकित स्थान जानना ।

सो कोई कहे कि अमुक आलाप कितनेवां है ? वहां आलाप कहा, उसकी संख्या नहीं जान रहे, तो उसकी संख्या जानने को उद्दिष्ट कहते हैं । प्रथम एक रूप स्थापित करना, पुनश्च ऊपर के इन्द्रिय प्रमाद की संख्या पांच, उससे उस एक को गुणा करनेपर वहां अनंकित स्थानों की संख्या घटानेपर, अवशेष को उसके अनंतर नीचे का कषाय प्रमाद का पिंड की संख्या चार, उससे गुणा करके, वहां भी अनंकित स्थान घटाकर अवशेष को उसके अनंतर नीचे का विकथा प्रमाद का पिंड चार से गुणा करके, वहां भी अनंकित स्थान घटाकर अवशेष रहे, उतनी विवक्षित आलाप की संख्या होती है । इसीतरह सर्वत्र उत्तरगुण वा शील के भेदों में उद्दिष्ट लाने का अनुक्रम जानना।

यहां भी उदाहरण दिखाते हैं – किसीने पूछा कि राष्ट्रकथालापी–लोभी–स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत–निद्रालु–स्नेहवान ऐसा आलाप कितनेवां है ?

वहां प्रथम एक रूप स्थापित कर उसको ऊपर का इन्द्रिय प्रमाद, उसकी संख्या पांच, उससे गुणा करनेपर पांच हुये । उस राशि में पंद्रहवें उद्दिष्ट की विवक्षा कर, उसमें पहला भेद स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत ऐसा आलाप कहा था, इसलिये उसके पश्चात् रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये चार अनंकित स्थान हैं । इसलिये उनको घटानेपर अवशेष एक रहता हैं, उसको नीचे के कषाय प्रमाद की संख्या चार से गुणा करनेपर चार हुये, सो इस लब्धराशि चार में यहां आलाप में लोभी कहा था, सो लोभ के पश्चात् कोई भेद नहीं है, इसलिये अनंकित स्थान कोई नहीं है । इसकारण यहां शून्य घटाने पर, राशि वैसी कि वैसी रही, सो चार ही रहे । पुनश्च इस राशि को इसके नीचे के विकथा प्रमाद की संख्या चार, उससे गुणा करनेपर सोलह हुये । यहां आलाप में राष्ट्रकथालापी कहा, सो इसके पश्चात् एक भेद अवनिपालकथा है, इसलिये अनंकित स्थान एक घटानेपर, पंद्रह रहे, वही पूछा था उसका उत्तर ऐसा – राष्ट्रकथालापी–लोभी–स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत–निद्रालु–स्नेहवान ऐसा आलाप पंद्रहवां है । सो यह विधान दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा से जानना ।

पुनश्च प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा से नीचे से अनुक्रम जानना । वहां उदाहरण कहते हैं – स्नेहवान–निद्रालु–श्रोत्रइन्द्रिय के वशीभूत–मायावी–स्त्रीकथालापी ऐसा आलाप कितनेवां है ?

वहां एक रूप स्थापित कर, प्रथम प्रस्तार अपेक्षा ऊपर का प्रमाद विकथा उसका प्रमाण चार से गुणा करनेपर चार हुये, सो यहां स्त्रीकथालापी कहा, सो इसके पश्चात् तीन भेद हैं । इसलिये अनंकित स्थान तीन घटानेपर अवशेष एक रहा, उसको कषाय प्रमाद चार से गुणा करनेपर चार हुये, सो यहां मायावी का ग्रहण है, उसके पश्चात् एक लोभ अनंकित स्थान है, उसको घटानेपर तीन रहे, इसको इन्द्रिय प्रमाद पांच से गुणा करनेपर पंद्रह हुये, सो यहां श्रोत्रइन्द्रिय का ग्रहण है । उसके पश्चात् कोई भेद नहीं है, इसलिये अनंकित स्थान का अभाव है । इसकारण शून्य घटानेपर भी पंद्रह ही रहे । इसतरह स्नेहवान-निद्रालु-श्रोत्रइन्द्रिय के वशीभूत-मायावी-स्त्रीकथालापी ऐसा आलाप पंद्रहवां है । इसीप्रकार विवक्षित प्रमाद के आलाप की संख्या होती है, ऐसे अक्ष धरकर संख्या को लाना, सो समुद्दिष्ट सर्वत्र साधना ।

*(**विशेषार्थ** - यहां अन्य उदाहरण से दृढ़ करते हैं ।*

मान लो आलाप है - स्नेहवान-निद्रालु-घ्राणइन्द्रिय के वशीभूत-लोभी-भक्तकथालापी । इसे प्रथम प्रस्तार अपेक्षा देखते हैं ।

१×४(विकथा)=४, भक्तकथालापी के बाद अनंकित स्थान दो ∴ ४-२=२

२×४(कषाय)=८, लोभ के बाद अनंकित स्थान नहीं ∴ ८-०=८

८×५(इन्द्रिय)=४०, घ्राणइन्द्रिय के बाद अनंकित स्थान दो ∴ ४०-२=३८

इसलिये यहां ३८ वां आलाप है ।)

आगे प्रथम प्रस्तार के अक्षसंचार का आश्रय कर नष्ट, उद्दिष्ट का गूढ़ यंत्र कहते हैं ।

इगिबितिचपणखपणदसपण्णरसं खवीसतालसट्ठी य ।
संठविय पमदठाणे णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ।।४३।।

एकद्वित्रिचतुः पंचखपंचदशपंचदशखविंशच्चत्वारिंशत्षष्टीश्च ।
संस्थाप्य प्रमाद स्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने ।।४३।।

टीका - प्रमादस्थानकों में इन्द्रिय के पांच कोठों में क्रम से एक, दो, तीन, चार, पांच इन अंकों को स्थापना । कषायों के चार कोठों में क्रम से शून्य, पांच,

दश, पंद्रह इन अंकों को स्थापना । वैसे विकथा के चार कोठों में क्रम से शून्य, बीस, चालीस, साठ इन अंकों को स्थापना । निद्रा और स्नेह के दो, तीन आदि भेदों का अभाव है । इसलिये उनके निमित्त से आलापों की बहुत संख्या नहीं होती। इसलिये ऊपर के तीनों स्थानकों में स्थापित अंक, उनमें तू नष्ट और उद्दिष्ट जान।

भावार्थ – निद्रा, स्नेह का तो एक एक भेद ही है । सो इनकी तो सर्व भंगों में पलटना नहीं है । इसलिये इनको तो कह लेना और अवशेष तीन प्रमादों का तीन पंक्तिरूप यंत्र करना । वहां ऊपर के पंक्ति में पांच कोठे करने । उनमें क्रमसे स्पर्शन आदि इन्द्रिय लिखना । और *(उन्हीं कोठों में क्रम से)* एक, दो, तीन, चार, पांच ये अंक लिखना । पुनश्च उसके नीचे की पंक्ति में चार कोठे करना, उनमें क्रम से क्रोधादि कषाय लिखना और शून्य, पांच, दस, पंद्रह ये अंक लिखना । पुनश्च उसके नीचे की पंक्ति में चार कोठे करना, वहां स्त्री आदि विकथा क्रम से लिखना । और शून्य, बीस, चालीस, साठ ये अंक लिखना ।

स्पर्शन १	रसना २	घ्राण ३	चक्षु ४	श्रोत्र ५
क्रोध 0	मान ५	माया १0	लोभ १५	
स्त्री 0	भक्त २0	राष्ट्र ४0	अव. ६0	

यहां कोई नष्ट पूछे तो जितनेवां प्रमाद भंग पूछा है वह प्रमाण तीनों पंक्तियों के जिन जिन कोठों के अंक जोड़नेपर प्राप्त होता है, उन-उन कोठों में जो-जो इन्द्रियादि लिखे हैं, वे-वे उस पूछे हुये आलाप में जानने । तथा यदि उद्दिष्ट पूछे तो, जो आलाप पूछा हो, उस आलाप में जो इन्द्रियादिक ग्रहण किये हैं, उनको तीनों पंक्तियों के कोठों में जो-जो अंक लिखे हैं, उनको जोड़कर जो प्रमाण होगा, उतनेवां वह आलाप जानना ।

वहां नष्ट का उदाहरण कहते हैं - जैसे पैंतीसवां आलाप कौनसा है ? ऐसा पूछनेपर इन्द्रिय, कषाय, विकथाओं के तीनों पंक्तियों संबंधी जिन-जिन कोठों के अंक वा शून्य मिलानेपर वह पैंतीस की संख्या आती हो, उन-उन कोठों में लिखे हुये इन्द्रियादि प्रमाद और स्नेह-निद्रा, उनमें आगे उच्चारण किया हुआ स्नेहवान-निद्रालु-श्रोत्रइन्द्रिय के वशीभूत-मायावी-भक्तकथालापी ऐसा पूछा हुआ पैंतीसवां आलाप जानना ।

भावार्थ – यंत्र में इन्द्रिय पंक्ति का पांचवां कोठा, कषाय पंक्ति का तीसरा कोठा, विकथा पंक्ति का दूसरा कोठा, इन कोठों के अंक जोड़नेपर पैंतीस होते हैं, इसलिये इन कोठों में जो-जो इन्द्रियादि लिखे, वे-वे पैतीसवें आलाप में जानना । स्नेह, निद्रा को पहले कह लेना ।

पुनश्च दूसरा उदाहरण नष्ट का ही कहते हैं । इकसठवां आलाप कौनसा है? ऐसा पूछनेपर, यहां भी इन्द्रिय कषाय विकथाओं के जिन-जिन कोठों के अंक वा शून्य जोड़नेपर, वह इकसठ संख्या होगी, उन-उन कोठों में प्राप्त प्रमाद पूर्ववत् कहना। स्नेहवान-निद्रालु-स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत-क्रोधी-अवनिपालकथालापी ऐसा पूछा हुआ इकसठवां आलाप होता है ।

भावार्थ – इन्द्रियपंक्ति के प्रथम कोठे का एक और कषायपंक्ति के प्रथम कोठे का शून्य, विकथा के चौथे कोठे का साठ जोड़नेपर इकसठ होते हैं । सो इन कोठों में जो-जो इन्द्रियादि लिखे हैं वे इकसठवें आलाप में जानना । ऐसे ही अन्य आलाप के प्रश्न होनेपर भी विधान करना ।

पुनश्च उद्दिष्ट का उदाहरण कहते हैं - स्नेहवान-निद्रालु-स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत-मानी-राष्ट्रकथालापी ऐसा आलाप कितनेवां है ?

ऐसा प्रश्न होनेपर स्नेह, निद्रा के बिना जो-जो इन्द्रियादिक इस आलाप में कहे गये हैं, वे तीनों पंक्तियों में जिस-जिस कोठे में लिखे हो, सो इन्द्रियपंक्ति का प्रथम कोठा, कषायपंक्ति का दूसरा कोठा, विकथापंक्ति का तीसरा कोठा, इनमें ये आलाप लिखे हैं । सो इन कोठों के एक, पांच, चालीस ये अंक मिलाकर, छियालीस होते हैं, सो पूछा हुआ आलाप छियालीसवां है ।

पुनश्च दूसरा उदाहरण कहते हैं - स्नेहवान-निद्रालु-चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत-लोभी-भक्तकथालापी ऐसा आलाप कितनेवां है ?

वहां इस आलाप में कहे हुये इन्द्रियादिकों के कोठे, उनमें लिखे हुये चार, पंद्रह, बीस ये अंक जोड़कर उनतालीस होते हैं, सो पूछा हुआ आलाप उनतालीसवां है । ऐसे ही अन्य आलाप पूछनेपर भी विधान करना ।

आगे दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा से नष्ट, उद्दिष्ट का गूढ़ यंत्र कहते हैं -

इगिवितिचखचडवारं खसोलरागट्ठदालचउसट्ठिं ।
संठविय पमदठाणे णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ।।४४।।

एकद्वित्रिचतुःखचतुरष्टद्वादश खषोडशरागाष्टचत्वारिंशच्चतुःषष्टिम् ।
संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने ।।४४।।

टीका – प्रमादस्थानों में विकथा प्रमाद के चार कोठों में क्रम से एक, दो, तीन, चार अंकों को स्थापना, उसीप्रकार कषाय प्रमाद के चार कोठों में क्रम से शून्य, चार, आठ, बारह अंकों को स्थापना, उसीप्रकार इन्द्रिय प्रमाद के पांच कोठों में क्रम से शून्य, सोलह, बत्तीस, अड़तालीस, चौंसठ अंकों को स्थापना, पूर्वोक्त प्रकार के हेतु से उन तीनों स्थानकों में स्थापित जो अंक, उनमें नष्ट और समुद्दिष्ट को तू जान ।

भावार्थ – यहां भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन पंक्तियों का यंत्र करना । वहां ऊपर की पंक्ति में चार कोठे करना, वहां क्रम से स्त्री आदि विकथा लिखना और एक, दो, तीन, चार ये अंक लिखना । पुनश्च उसके नीचे की पंक्ति में चार कोठे करना, वहां क्रम से क्रोधादि कषाय लिखना और शून्य, चार, आठ, बारह ये अंक लिखना। पुनश्च नीचे की पंक्ति में पांच कोठे करना, वहां क्रम से स्पर्शनादि इन्द्रिय लिखना और शून्य, सोलह, बत्तीस, अड़तालीस, चौंसठ ये अंक लिखना ।

स्त्री १	भक्त २	राष्ट्र ३	अव. ४	
क्रोध ०	मान ४	माया ८	लोभ १२	
स्पर्शन ०	रसना १६	घ्राण ३२	चक्षु ४८	श्रोत्र ६४

ऐसे यंत्र द्वारा पूर्व में जैसा विधान कहा, वैसा यहां भी नष्ट, समुद्दिष्ट का ज्ञान करना ।

वहां नष्ट का उदाहरण – जैसे, पंद्रहवां आलाप कौनसा है ?

ऐसा प्रश्न होनेपर विकथा, कषाय, इन्द्रियों के जिस-जिस कोठे का अंक वा शून्य मिलानेपर, वह पंद्रह संख्या होती हैं, उस-उस कोठे को प्राप्त विकथादिक जोड़नेपर राष्ट्रकथालापी-लोभी-स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत-निद्रालु-स्नेहवान ऐसे उस पंद्रहवें आलाप को कहते हैं ।

तथा दूसरा उदाहरण - तीसवां आलाप कौनसा है ?

ऐसा प्रश्न होनेपर विकथा, कषाय, इन्द्रिय के जिस-जिस कोठे के अंक जोड़नेपर वह तीस संख्या होती है, उस-उस कोठे को प्राप्त विकथादि प्रमाद जोड़नेपर, भक्तकथालापी-लोभी-रसनाइन्द्रिय के वशीभूत-निद्रालु-स्नेहवान ऐसे उस तीसवें आलाप को कहते हैं।

अब उद्दिष्ट का उदाहरण कहते हैं - स्त्रीकथालापी-मानी-घ्राणइन्द्रिय के वशीभूत-निद्रालु-स्नेहवान ऐसा आलाप कितनेवां है ?

ऐसा प्रश्न होनेपर इस आलाप में जो-जो विकथादि प्रमाद कहे हैं, उस-उस प्रमाद के कोठे में जो जो अंक एक, चार, बत्तीस लिखे हैं, उनको जोड़नेपर सैंतीस होते हैं, इसलिये वह आलाप सैंतीसवां है ।

पुनश्च दूसरा उदाहरण - अवनिपालकथालापी-लोभी-चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत-निद्रालु-स्नेहवान ऐसा आलाप कितनेवां है ?

वहां इस आलाप में जो प्रमाद कहे हैं, उनके कोठों में प्राप्त चार, बारह, अड़तालीस अंक मिलानेपर वह संख्या चौंसठ होती है, इसीलिये उस आलाप को चौंसठवां कहते हैं, ऐसे ही अन्य आलाप पूछनेपर भी विधान करना ।

ऐसे मूल प्रमाद पांच, उत्तर प्रमाद पंद्रह, उत्तरोत्तर प्रमाद अस्सी, इनके यथासंभव संख्यादिक पांच प्रकारों का निरूपण किया । *(संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, समुद्दिष्ट इन पांच प्रकार से प्रमाद का निरूपण किया ।)*

अब और प्रमाद की संख्या के विशेष को बताते हैं, वह कहते हैं । स्त्री की वह स्त्रीकथा, धनादिरूप अर्थकथा, खाने की वह भोजनकथा, राजाओं की वह राजकथा, चोर की वह चोरकथा, वैर करानेवाली वह वैरकथा, परायी पाखंडकथा वह परपाखंडकथा, देशादिक की वह देशकथा, कहानी इत्यादि भाषाकथा, गुण रोकनेरूप गुणबंधकथा, देवी की वह देवीकथा, कठोररूप निष्ठुरकथा, दुष्टतारूप परपैशून्यकथा, कामादिरूप कंदर्पकथा, देशकाल में विपरीत वह देशकालानुचितकथा, निर्लज्जतारूप भंडकथा, मूर्खतारूप मूर्खकथा, अपनी बढ़ाईरूप आत्मप्रशंसाकथा, परायी निंदारूप परपरिवादकथा, परायी घृणारूप परजुगुप्साकथा, पर को पीड़ा देनेरूप परपीड़ाकथा, लड़नेरूप कलहकथा, परिग्रहकार्यरूप परिग्रहकथा, खेती आदि के आरंभरूप कृष्याद्यारंभकथा, संगीत वादित्रादिरूप संगीतवादित्रादिकथा - इसतरह विकथा पच्चीस भेदसंयुक्त है ।

पुनश्च सोलह कषाय और नौ नोकषाय के भेद से कषाय पच्चीस हैं । पुनश्च स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन नामधारक इन्द्रिय छह हैं । पुनश्च स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला भेद से निद्रा पांच हैं । पुनश्च स्नेह, मोह भेद से प्रणय दो हैं । इनको परस्पर गुणा करनेपर सैंतीस हजार पांच सौ (३७,५००) प्रमाण होते हैं । ये भी मिथ्यादृष्टि आदि प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक प्रवर्तते हैं । जो बीस प्ररूपणा हैं, उनमें यथासंभव बंध के हेतुपना द्वारा पूर्वोक्त संख्या आदि पांच प्रकार सहित जैनागम से अविरुद्धपने जोड़ना ।

अब प्रमादों के साढ़े सैंतीस हजार भेदों में संख्या, दो प्रकार से प्रस्तार, उन प्रस्तारों की अपेक्षा अक्षसंचार, नष्ट, समुद्दिष्ट पूर्वोक्त विधान से यथासंभव करना ।

पुनश्च गूढ़ यंत्र करने का विधान नहीं कहा, सो गूढ़ यंत्र कैसे होता है ? इसलिये यहां भाषा में गूढ़ यंत्र का विधान कहते हैं । जिसको जाननेपर, जिसका चाहिये उसका गूढ़ यंत्र कर लीजिये । वहां पहले प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा कहते हैं । जिसका गूढ़ यंत्र करना है, उस विवक्षित के मूलभेद जितने हो, उतनी पंक्तियों का यंत्र करना । वहां उन मूलभेदों में जो अंत का मूलभेद हो उसकी पंक्ति सबसे ऊपर करना । वहां उस मूलभेद के जो उत्तरभेद हो, उतने कोठे करना । उन कोठों में उस मूलभेद के जो उत्तरभेद हो, उन्हें क्रम से लिखना । पुनश्च उन्हीं प्रथमादि कोठों में एक, दो इत्यादि क्रम से एक एक बढ़ते हुये अंक लिखना । पुनश्च उनके नीचे जो अंतिम से पहला उपांत्य मूलभेद हो उसकी पंक्ति करना । वहां उपांत्य मूलभेदों के जितने उत्तरभेद हो उतने कोठे करने । वहां उपांत्य मूलभेदों के उत्तरभेदों को क्रम से लिखना । पुनश्च उन्हीं कोठों में प्रथम कोठे में शून्य लिखना। दूसरे कोठे में ऊपर की पंक्ति के अंतिम कोठे में जो अंक हो, वह लिखना । पुनश्च तृतीयादि कोठों में दूसरे कोठे में जो अंक लिखा है, उतना उतना ही बढ़ा-बढ़ाकर क्रम से लिखना। पुनश्च उसके नीचे-नीचे उपांत्य से पूर्व का मूलभेद हो उसको आदि करके प्रथम मूलभेद पर्यंत के जो मूलभेद हो, उनकी पंक्तियां करनी । वहां उनके जितने-जितने उत्तरभेद हो, उतने-उतने कोठे करने। पुनश्च उन कोठों में अपने मूलभेद के जो उत्तरभेद हो, वे क्रम से लिखने ।

पुनश्च उन सर्व पंक्तियों के प्रथम कोठों में तो शून्य लिखना, पुनश्च दूसरे कोठे में अपनी पंक्ति के ऊपर की सर्व पंक्तियों के अंतिम कोठों में जितने-जितने का अंक

लिखा हो, उनको जोड़कर जो प्रमाण होगा, उतने का अंक लिखना । पुनश्च तृतीयादि कोठों में जितना अंक दूसरे कोठे में लिखा हो उतना उतना ही क्रम से बढ़ा-बढ़ाकर लिखना । इसतरह विधान करना ।

अब द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा कहते हैं । जो विधान प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा लिखा है, वही विधान द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा जानना । विशेष इतना - यहां विवक्षित का जो प्रथम मूलभेद हो, उसकी पंक्ति ऊपर करना । उसके नीचे दूसरे मूलभेद की पंक्ति करनी । इसीतरह नीचे-नीचे अंत के मूलभेद तक पंक्ति करनी । पुनश्च वहां जिसतरह अंतिम मूलभेद संबंधी ऊपर की पंक्ति से लगाकर क्रम से वर्णन किया था, उसीप्रकार यहां प्रथम मूलभेद संबंधी पंक्ति से लगाकर क्रम से विधान जानना। इसप्रकार साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद भंगों का प्रथम विस्तार अपेक्षा गूढ़ यंत्र कहा।

वहां कोई नष्ट पूछे कि इतनेवां आलाप भंग कौनसा है ?

वहां जिस प्रमाण का आलाप पूछा, वह प्रमाण सर्व पंक्तियों के जिस-जिस कोठे के अंक वा शून्य मिलानेपर हो, उस-उस कोठे में जो जो उत्तरभेद लिखें हैं, उनरूप वह पूछा हुआ आलाप जानना ।

पुनश्च कोई उद्दिष्ट पूछे कि अमुक आलाप कितनेवां है ?

तो वहां पूछे हुये आलाप में जो-जो उत्तर भेद ग्रहण किये हैं, उन-उन उत्तर भेदों के कोठों में जो-जो अंक वा शून्य लिखे हैं, उनको जोड़कर जो प्रमाण होगा, उतनेवां वह पूछा हुआ आलाप जानना । अब इस विधान से साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद भंगों का प्रथम प्रस्तार अपेक्षा गूढ़ यंत्र लिखते हैं ।

यहां प्रमाद के मूलभेद पांच हैं, इसलिये पांच पंक्ति करनी । वहां ऊपर प्रणय पंक्ति में दो कोठे करके, वहां स्नेह, मोह लिखे और एक, दो अंक लिखे हैं । उसके नीचे निद्रा पंक्ति के पांच कोठे करके, वहां स्त्यानगृद्धि आदि लिखे हैं और प्रथम कोठे में शून्य लिखा है । द्वितीय कोठे में ऊपर की पंक्ति के अंतिम कोठे में दो अंक था, सो लिखा है । और तृतीयादि कोठों में उतने-उतने ही बढ़ाकर चार, छह, आठ लिखे हैं । पुनश्च उसके नीचे इन्द्रिय पंक्ति के छह कोठे करके, वहां स्पर्शनादि लिखे हैं । और प्रथम कोठे में शून्य, द्वितीय कोठे में ऊपर की दोनों पंक्तियों के अंतिम कोठों को जोड़नेपर दस होते हैं सो लिखा है और तृतीयादि कोठों में वे ही

दस दस बढ़ाकर लिखे हैं । और उसके नीचे कषाय पंक्ति में पच्चीस कोठे करके वहां अनंतानुबंधी क्रोधादि लिखे हैं । और प्रथम कोठे में शून्य, दूसरे कोठे में ऊपर की तीन पंक्तियों के अंतिम कोठों का जोड़ साठ लिखकर, तृतीयादि कोठों में उतने-उतने बढ़ाकर लिखे हैं। पुनश्च उसके नीचे विकथा पंक्ति में पच्चीस कोठे करके वहां स्त्रीकथादि लिखे हैं। और प्रथम कोठे में शून्य, द्वितीय कोठे में ऊपर के चारों पंक्तियों के अंतिम कोठों का जोड़ पंद्रह सौ लिखकर, तृतीयादि कोठों में उतने-उतने ही बढ़ाकर लिखे हैं। इसतरह प्रथम प्रस्तार अपेक्षा यंत्र हुआ (देखिए पृ.१०४)

पुनश्च साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद भंगों का द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा गूढ़ यंत्र लिखते हैं ।

वहां ऊपर विकथा पंक्ति करके, वहां पच्चीस कोठे करके वहां स्त्रीकथादि लिखे हैं । और एक, दो आदि एक-एक बढ़ता हुआ अंक लिखा है । उसके नीचे-नीचे कषाय पंक्ति और इन्द्रिय पंक्ति और निद्रा पंक्ति और प्रणय पंक्ति में क्रम से पच्चीस, छह, पांच, दो कोठे करके वहां अपने-अपने उत्तरभेद लिखे हैं । पुनश्च इन सब पंक्तियों के प्रथम कोठों में शून्य लिखे हैं । और दूसरे कोठों में अपनी-अपनी पंक्ति के ऊपर की क्रम से एक, दो, तीन, चार पंक्तियां, उनके अंतिम कोठों संबंधी अंको कों जोड़कर पच्चीस, छह सौ पच्चीस, साढ़े सैंतीस सौ, अठारह हजार सात सौ पचास लिखे हैं । पुनश्च तृतीयादि कोठों में जितने दूसरे कोठों में लिखे उतने-उतने बढ़ाकर क्रम से अंत कोठे तक लिखे हैं । इसतरह द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा यंत्र जानना । (यंत्र के कोठे की विधि और अक्षर अंकादिक कहे हुये विधि के अनुसार क्रम से यंत्र रचना विधि लिखि है ।) इसप्रकार साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद का गूढ़ यंत्र किया । (देखिए पृ.१०५)

वहां प्रथम प्रस्तार अपेक्षा कोई पूछे कि इन भंगों में पैंतीस हजारवां भंग कौनसा है ?

वहां प्रणयपंक्ति का दूसरा कोठा, निद्रापंक्ति का पांचवां कोठा, इन्द्रियपंक्ति का दूसरा कोठा, कषायपंक्ति का नौवां कोठा, विकथापंक्ति का चौबीसवां कोठा, इन कोठों के अंक जोड़नेपर पैंतीस हजार होते हैं । इसलिये इन कोठों में स्थित उत्तरभेदरूप मोही-प्रचलायुक्त-रसनाइन्द्रिय के वशीभूत-प्रत्याख्यान क्रोधी-कृष्याद्यारंभकथालापी ऐसा आलाप पैंतीस हजारवां जानना । इसको दृढ़ करने के लिये **'सगमाणेहिं विभत्ते'** *(गाथा ४१)*

0 स्त्री	0 अनंतानुबंधी क्रोध	0 स्पर्शन	0 स्त्यानगृद्धि	१ स्नेह
१५00 अर्थ	६0 अनंतानुबंधी मान	१0 रसन	२ निद्रानिद्रा	२ मोह
३000 भोजन	१२0 अनंतानुबंधी माया	२0 घ्राण	४ प्रचलाप्रचला	
४५00 राज	१८0 अनंतानुबंधी लोभ	३0 चक्षु	६ निद्रा	
६000 चोर	२४0 अप्रत्याख्यान क्रोध	४0 श्रोत्र	८ प्रचला	
७५00 वैर	३00 अप्रत्याख्यान मान	५0 मन		
९000 परपाखंड	३६0 अप्रत्याख्यान माया			
१0५00 देश	४२0 अप्रत्याख्यान लोभ			
१२000 भाषा	४८0 प्रत्याख्यान क्रोध			
१३५00 गुणबंध	५४0 प्रत्याख्यान मान			
१५000 देवी	६00 प्रत्याख्यान माया			
१६५00 निष्ठुर	६६0 प्रत्याख्यान लोभ			
१८000 परपैशून्य	७२0 संज्वलन क्रोध			
१९५00 कंदर्प	७८0 संज्वलन मान			
२१000 देशकालानुचित	८४0 संज्वलन माया			
२२५00 भंड	९00 संज्वलन लोभ			
२४000 मूर्ख	९६0 हास्य			
२५५00 आत्मप्रशंसा	१0२0 रति			
२७000 परपरिवाद	१0८0 अरति			
२८५00 परजुगुप्सा	११४0 शोक			
३0000 परपीड़ा	१२00 भय			
३१५00 कलह	१२६0 जुगुप्सा			
३३000 परिग्रह	१३२0 पुरुषवेद			
३४५00 कृष्याद्यारंभ	१३८0 स्त्रीवेद			
३६000 संगीतवाद्य	१४४0 नपुंसकवेद			

प्रथम प्रस्तार अपेक्षा यंत्र

द्वितीय प्रस्तार अपेक्षा यंत्र

१ स्त्री	0 अनंतानुबंधी क्रोध	0 स्पर्शन	0 स्त्यानगृद्धि	0 स्नेह
२ अर्थ	२५ अनंतानुबंधी मान	६२५ रसन	३७५0 निद्रानिद्रा	१८७५0 मोह
३ भोजन	५0 अनंतानुबंधी माया	१२५0 घ्राण	७५00 प्रचलाप्रचला	
४ राज	७५ अनंतानुबंधी लोभ	१८७५ चक्षु	११२५0निद्रा	
५ चोर	१00 अप्रत्याख्यान क्रोध	२५00 श्रोत्र	१५000 प्रचला	
६ वैर	१२५ अप्रत्याख्यान मान	३१२५ मन		
७ परपाखंड	१५0 अप्रत्याख्यान माया			
८ देश	१७५ अप्रत्याख्यान लोभ			
९ भाषा	२00 प्रत्याख्यान क्रोध			
१0 गुणबंध	२२५ प्रत्याख्यान मान			
११ देवी	२५0 प्रत्याख्यान माया			
१२ निष्ठुर	२७५ प्रत्याख्यान लोभ			
१३ परपैशून्य	३00 संज्वलन क्रोध			
१४ कंदर्प	३२५ संज्वलन मान			
१५ देशकालानुचित	३५0 संज्वलन माया			
१६ भंड	३७५ संज्वलन लोभ			
१७ मूर्ख	४00 हास्य			
१८ आत्मप्रशंसा	४२५ रति			
१९ परपरिवाद	४५0 अरति			
२0 परजुगुप्सा	४७५ शोक			
२१ परपीड़ा	५00 भय			
२२ कलह	५२५ जुगुप्सा			
२३ परिग्रह	५५0 पुरुषवेद			
२४ कृष्याद्यारंभ	५७५ स्त्रीवेद			
२५ संगीतवाद्य	६00 नपुंसकवेद			

इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र द्वारा भी इसको साधते हैं । पूछनेवाले ने पैंतीस हजारवां आलाप पूछा, वहां प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा पहले प्रणय का प्रमाण दो का भाग देनेपर साढ़े सत्रह हजार प्राप्त हुये, अवशेष कुछ रहा नहीं । इसलिये यहां अंतिम भेद मोह ग्रहण करना । पुनश्च अवशेष कुछ रहा नहीं इसलिये लब्धराशि में एक नहीं जोड़ना । पुनश्च उस लब्धराशि को उसके नीचे के निद्रा भेद पांच का भाग देनेपर पैंतीस सौ प्राप्त हुये, यहां भी कुछ अवशेष नहीं रहा, इसलिये अंतिम भेद प्रचला का ग्रहण करना। यहां भी लब्धराशि में एक न जोड़ना, उस लब्धराशि को छह इन्द्रिय का भाग देनेपर पांच सौ तिरासी प्राप्त हुए, अवशेष दो रहे, सो यहां दूसरा अक्ष रसनाइन्द्रिय का ग्रहण करना। पुनश्च यहां लब्धराशि में एक जोड़नेपर पांच सौ चौरासी हुये, उसको कषाय पच्चीस का भाग देनेपर तेइस प्राप्त हुये, अवेशष नौ रहे । सो यहां नौवां कषाय प्रत्याख्यान क्रोध का ग्रहण करना । पुनश्च लब्धराशि तेइस में एक जोड़ने पर चौबीस होते हैं, उसको विकथा भेद पच्चीस का भाग देनेपर शून्य प्राप्त हुये, अवशेष चौबीस रहे, सो यहां चौबीसवां विकथा भेद कृष्याद्यारंभ का ग्रहण करना । इसतरह पूछा हुआ पैंतीस हजारवां आलाप मोही-प्रचलायुक्त-रसनाइन्द्रिय के वशीभूत-प्रत्याख्यान क्रोधी-कृष्याद्यारंभकथालापी ऐसा भंगरूप होता है । इसीतरह अन्य नष्ट का साधन करना। इसतरह नष्ट का उदाहरण कहा ।

अब उद्दिष्ट को कहते हैं - कोई पूछे कि स्नेही-निद्रायुक्त-मन के वशीभूत-अनंतानुबंधी क्रोधयुक्त-मूर्खकथालापी ऐसा आलाप कितनेवां है ?

वहां उत्तरभेद जिन-जिन कोठों में लिखे हैं, उन-उन कोठों के अंक एक, छह, पचास, शून्य, चौबीस हजार मिलानेपर चौबीस हजार सत्तावनावां भेद है, ऐसा कहते हैं । पुनश्च इसी को **'संठाविदूणरूवं'** *(गाथा ४२)* इत्यादि सूत्रोक्त उद्दिष्ट लाने का विधान साधते हैं ।

प्रथम एक रूप स्थापित कर उसको प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा पहले पच्चीस विकथाओं से गुणित करना । और यहां आलाप में मूर्खकथा का ग्रहण है, इसलिये इसके पश्चात् आठ अनंकित स्थान हैं, उनको घटानेपर सत्रह होते हैं । इनको पच्चीस कषायों से गुणित करना और यहां प्रथम कषाय का ग्रहण है, इसलिये उसके पश्चात् चौबीस अनंकित स्थान हैं उन्हें घटाते हैं तब चार सौ एक होते हैं । पुनश्च इनको छह इन्द्रियों से गुणा करना और यहां अंतभेद का ग्रहण है इसलिये अनंकित नहीं

घटाना, तब चौबीस सौ छह होते हैं । पुनश्च इन्हें पांच निद्रा से गुणित करना और यहां चौथी निद्रा का ग्रहण है इसलिये इसके पश्चात् एक अनंकित स्थान है, उसको घटानेपर बारह हजार उनतीस होते हैं । इसे दो प्रणय से गुणित करते हैं और यहां प्रथम भेद का ग्रहण है इसलिये इसके पश्चात् एक अनंकित स्थान है उसे घटानेपर चौबीस हजार सत्तावन होते हैं । इसतरह स्नेहवान-निद्रालु-मन के वशीभूत-अनंतानुबंधी क्रोधयुक्त-मूर्खकथालापी ऐसा पूछा हुआ आलाप चौबीस हजार सत्तावनवां जानना । इसीप्रकार अन्य उद्दिष्ट साधना । पुनश्च जिसतरह प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा विधान कहा, उसीप्रकार द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा यथासंभव नष्ट, उद्दिष्ट लाने का विधान जानना। इसतरह प्रमाद भंगों के साढ़े सैंतीस हजार प्रकार जानना ।

पुनश्च इसीप्रकार अठारह हजार शील के भेद, चौरासी लाख उत्तरगुण, मतिज्ञान के भेद वा पाखंडों के भेद वा जीवाधिकरण के भेद इत्यादिकों में जहां अक्षसंचार द्वारा भेदों का पलटना होता हो, वहां संख्यादिक पांच प्रकार जानना । विशेष इतना, पूर्व में प्रमाद की अपेक्षा कथन किया है । यहां जिसका विवक्षित वर्णन हो, उसकी अपेक्षा सर्व विधान करना । वहां जिसतरह प्रमाद के विकथादि मूलभेद कहे, उसीप्रकार विवक्षित के जितने मूलभेद हो, वे कहना । पुनश्च जिसतरह प्रमाद के मूलभेदों के स्त्रीकथादिक उत्तरभेद कहे हैं, उसीप्रकार विवक्षित के मूलभेद के जो उत्तरभेद होते हैं, वे कहना । पुनश्च जिसप्रकार प्रमादों के आदि-अंतादिरूप मूलभेद ग्रहण करके विधान किया है, उसीप्रकार विवक्षित के जो आदि-अंतादिरूप मूलभेद हो उन्हें ग्रहण करके विधान करना । पुनश्च जिसतरह प्रमाद के मूलभेद-उत्तरभेद का जितना प्रमाण था, उतना ग्रहण किया । उसीप्रकार विवक्षित के मूलभेद-उत्तरभेद का जितना-जितना प्रमाण हो, उतना ग्रहण करना । इत्यादि संभवनेवाले विशेष जानकर संख्या और दो प्रकार प्रस्तार, और उन प्रस्तारों की अपेक्षा अक्षसंचार और नष्ट और समुद्दिष्ट ये पांच प्रकार हैं, वे यथासंभव साधन करना ।

वहां उदाहरण - तत्त्वार्थसूत्र के षष्ठम अध्याय में जीवाधिकरण के वर्णन स्वरूप ऐसा सूत्र है -

''आद्यंसंरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः''

इस सूत्र में संरंभ, समारंभ, आरंभ - ये तीन; और मन, वचन, काय - ये योग तीन; और कृत, कारित, अनुमोदित - ये तीन; और क्रोध, मान, माया, लोभ

यह जीवाधिकरण का प्रथम प्रस्तार है । यहां संरंभादिक के प्रथम अक्षर की सहनानी है । ऊपर चार कषायों की सहनानी है ।

४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४
कृ	का	अ	कृ	का	अ	कृ	का	अ	कृ	का	अ	कृ	का	अ	कृ	का	अ	कृ	का	अ	कृ	का	अ	कृ	का	अ
म	म	म	व	व	व	का	का	का	म	म	म	व	व	व	का	का	का	म	म	म	व	व	व	का	का	का
सं	सं	सं	सं	सं	सं	सं	सं	सं	स	स	स	स	स	स	स	स	स	आ	आ	आ	आ	आ	आ	आ	आ	आ

पुनश्च यह द्वितीय प्रस्तार है । यहां क्रोधादि कषायों में सत्ताइस-सत्ताइस भंग कहने ।

क्रोध	मान	माया	लोभ
१	१	१	१
२७	२७	२७	२७

- ये कषाय चार; इनके एक-एक मूलभेद के एक-एक उत्तरभेद के होनेपर अन्य सर्व मूलभेदों के एक-एक उत्तरभेद होते हैं । इसलिये क्रम से ग्रहण करनेपर, इनके परस्पर गुणा करने से एक सौ आठ भेद होते हैं, सो यह संख्या जानना ।

पुनश्च पहले पहले प्रमाण का विरलन करके उसके एक-एक के ऊपर अगले प्रमाण पिंड को स्थापित करने से, प्रथम प्रस्तार होता है । तथा पहले-पहले प्रमाण पिंड की संख्या को अगले मूलभेद के उत्तरभेद प्रमाण स्थानों में स्थापित कर, उनके ऊपर उन उत्तरभेदों को स्थापित करने से द्वितीय प्रस्तार होता है । (देखिए पृ.१०८)

पुनश्च प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा अंत के मूलभेद से लेकर आदि भेद तक और द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा आदि मूलभेद से लेकर अंतभेद तक क्रम से उत्तरभेदों के अंत पर्यंत जा-जाकर पलटने के अनुक्रम सहित उत्तरभेदों के पलटनेरूप अक्षसंचार जानना। **'सगमाणेहिं विभत्ते'** इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र द्वारा नष्ट का विधान करते हैं ।

वहां उदाहरण - प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा कोई पूछे कि पचासवां आलाप कौनसा है ?

वहां पचास को पहले चार कषाय का भाग देनेपर, बारह प्राप्त हुये और अवशेष दो रहे, इसलिये दूसरा कषाय मान ग्रहण करना । पुनश्च लब्ध बारह में एक जोड़कर कृत आदि तीन का भाग देनेपर चार प्राप्त हुये, अवशेष एक रहा, इसलिये पहला भेद कृत जानना । पुनश्च प्राप्त हुये चार में एक जोड़कर, योग तीन का भाग देनेपर, एक प्राप्त हुआ, अवशेष दो, इसलिये दूसरा वचनयोग ग्रहण करना । पुनश्च प्राप्त हुये एक में एक जोड़कर संरंभादि तीन का भाग देनेपर कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, अवशेष दो रहे, इसलिये दूसरा भेद समारंभ ग्रहण करना । इसतरह पूछा हुआ आलाप मानकषाय-कृत-वचन-समारंभ ऐसे भेदरूप होता है । इसीतरह अन्य नष्ट साधना ।

पुनश्च **'संठाविदूणरूवं'** इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र से उद्दिष्ट का विधान करते हैं ।

वहां उदाहरण - प्रश्न - जो माया कषाय-कारित-मन-आरंभ ऐसा आलाप कितनेवां है ?

वहां प्रथम एक अंक स्थापित करे । प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा से ऊपर से संरंभादि तीन से गुणा करके यहां अंत स्थान का ग्रहण है, इसलिये अनंकित को न घटाते हुये तीन ही हुये । पुनश्च इसे तीन योग से गुणा करके, यहां वचन, काय

ये दो अनंकित घटानेपर सात हुये । पुनश्च इसे कृतादि तीन से गुणा करके, अनुमोदन अनंकित स्थान घटाने से बीस होते हैं । पुनश्च इसे चार कषाय से गुणा करके, एक लोभ अनंकित स्थान घटाने से उन्नासी होते हैं । इसतरह पूछा हुआ आलाप उन्नासीवां है । इसीतरह अन्य उद्दिष्ट साधना । पुनश्च इसीप्रकार से द्वितीय प्रस्तार अपेक्षा भी नष्ट-उद्दिष्ट समुद्दिष्ट साधना । पुनश्च पूर्व में जो विधान कहा था उसके अनुसार इसका गूढ़ यंत्र निम्नप्रकार करना ।

प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा से जीवाधिकरण का गूढ़यंत्र -

क्रोध १	मान २	माया ३	लोभ ४
कृत 0	कारित ४	अनुमोदित ८	
मन 0	वचन १२	काय २४	
संरंभ 0	समारंभ ३६	आरंभ ७२	

दूसरे प्रस्तार अपेक्षा से जीवाधिकरण का गूढ़यंत्र -

संरंभ १	समारंभ २	आरंभ ३	
मन 0	वचन ३	काय ६	
कृत 0	कारित ९	अनुमोदित १८	
क्रोध 0	मान २७	माया ५४	लोभ ८१

वहां नष्ट पूछने पर चारों पंक्तियों के जिस-जिस कोठे के अंक मिलानेपर पूछा हुआ प्रमाण मिलेगा, उस-उस कोठे में स्थित भेदरूप आलाप कहना । जैसे, साठवां आलाप पूछे तो चार, आठ, बारह, छत्तीस अंक जोड़नेपर साठ अंक होते हैं, इसलिये इन अंकों से संयुक्त कोठों के भेद ग्रहण करनेपर, लोभ-अनुमोदित-वचन-समारंभ ऐसा आलाप कहते हैं ।

पुनश्च उद्दिष्ट पूछे तो, उस आलाप में कहे हुये भेद संयुक्त कोठों के अंक मिलानेपर जो प्रमाण होता है, उतनेवां आलाप कहना । जैसे, पूछा कि मान-कृत-काय-आरंभ

कितनेवां आलाप है ? वहां इस आलाप में कहे हुये भेद संयुक्त कोठों के दो, शून्य, चौबीस, बहत्तर ये अंक जोड़नेपर अट्ठानबेवां आलाप है, ऐसा कहना। इसीप्रकार प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा से अन्य नष्ट-समुद्दिष्ट वा दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा से नष्ट-समुद्दिष्ट साधना । इसीतरह शीलभेदादि में यथासंभव साधन करना । इसप्रकार प्रमत्त गुणस्थान में प्रमाद का भंग कहने का प्रसंग प्राप्त होनेपर संख्यादि पांच प्रकार का वर्णन करके प्रमत्त गुणस्थान का वर्णन समाप्त किया ।

आगे अप्रमत्त गुणस्थान के स्वरूप को प्ररूपित करते हैं -

संजलणणोकसायाणुदयो मंदो जदा तदा होदि ।
अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि ।।४५।।

संज्वलननोकषायाणामुदयो मंदो यदा तदा भवति ।
अप्रमत्तगुणस्तेन च अप्रमत्तः संयतो भवति ।।४५।।

टीका - यदा अर्थात् जिस काल में संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय और हास्यादि नौ नोकषाय इनका यथासंभव उदय अर्थात् फल देनेरूप परिणमन, वह मंद होकर, प्रमाद उपजाने की शक्ति से रहित होता है, तदा अर्थात् उस काल में अंतर्मुहूर्त पर्यंत जीव के अप्रमत्त गुण अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थान होता है, उसकारण से उस अप्रमत्त गुणस्थान संयुक्त संयत अर्थात् सकल संयमी, वह अप्रमत्त संयत है। चकार से आगे जो गुण कहे हैं उनसे संयुक्त हैं ।

आगे अप्रमत्त संयत के दो भेद हैं; स्वस्थान अप्रमत्त, सातिशय अप्रमत्त । वहां जो श्रेणी चढ़ने के सन्मुख नहीं हुआ है, वह स्वस्थान अप्रमत्त कहलाता है। पुनश्च जो श्रेणी चढ़ने के सन्मुख हुआ है, वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है ।

वहां स्वस्थान अप्रमत्त संयत के स्वरूप को निरूपित करते हैं -

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ।।४६।।

नष्टाशेषप्रमादो व्रतगुणशीलावलिमंडितो ज्ञानी ।
अनुपशमकः अक्षपकः ध्याननिलीनो हि अप्रमत्त : ।।४६।।

टीका – जो जीव नष्ट हुये हैं समस्त प्रमाद जिसके ऐसा हो, पुनश्च व्रत, गुण, शील इनकी आवलि-पंक्ति, उनसे मंडित हो-आभूषित हो, पुनश्च सम्यग्ज्ञान उपयोग से संयुक्त हो, पुनश्च धर्मध्यान में लीन है मन जिसका ऐसा हो, ऐसा अप्रमत्त संयमी जब तक उपशम श्रेणी वा क्षपक श्रेणी के सन्मुख चढ़ने को नहीं प्रवर्तता, तब तक वह जीव प्रकट स्वस्थान अप्रमत्त है – ऐसा कहते हैं । यहां ज्ञानी विशेषण कहा है सो जिसतरह सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र मोक्ष के कारण हैं, उसतरह सम्यग्ज्ञान के भी मोक्ष के कारणपने को सूचित करता है ।

भावार्थ – कोई समझेगा कि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व का वर्णन किया, पश्चात् चारित्र का कहा, सो ये दो ही मोक्षमार्ग है; इसलिये ज्ञानी विशेषण कहकर सम्यग्ज्ञान भी इन्हीं के साथ ही मोक्ष का कारण है, ऐसा अभिप्राय दिखाया है ।

आगे सातिशय अप्रमत्त के स्वरूप को कहते हैं –

इगवीसमोहखवणुवसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं ।
पढमं अधापवत्तं करणं तु करेदि अपमत्तो ।।४७।।

एकविंशतिमोहक्षपणोपशमननिमित्तानि त्रिकरणानि तेषु ।
प्रथममधःप्रवृत्तं करणं तु करोति अप्रमत्तः ।।४७।।

टीका – यहां विशेष कथन है, वह कैसे है ? वह कहते हैं – जो जीव समय-समय प्रति अनंतगुणी विशुद्धता द्वारा वर्धमान है, मंदकषाय होने का नाम विशुद्धता है, सो प्रथम समय की विशुद्धता से दूसरे समय की विशुद्धता अनंतगुणी, उससे तीसरे समय की अनंतगुणी, इसतरह जिसकी विशुद्धता समय-समय बढ़ती है, ऐसा जो वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीव, वह प्रथम ही अनंतानुबंधी चतुष्क का अधःकरणादि तीन करणरूप पहले करके विसंयोजन करता है ।

विसंयोजन अर्थात् क्या करता है ?

अन्य प्रकृतिरूप परिणमानेरूप जो संक्रमण, उस विधान से इस अनंतानुबंधी चतुष्क के जो कर्म परमाणु, उनको बारह कषाय और नौ नोकषायरूप परिणमाता है ।

पुनश्च उसके अनंतर अंतर्मुहूर्त काल तक विश्राम द्वारा जैसा का वैसा रहकर, तीन करण पहले करके, दर्शनमोह की तीन प्रकृति, उनको उपशमित करके, द्वितीयोपशम

सम्यग्दृष्टि होता है ।

अथवा तीन करण पहले करके, दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों को खिपाकर-क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है ।

पुनश्च उसके अनंतर अंतर्मुहूर्त काल तक अप्रमत्त से प्रमत्त में, प्रमत्त से अप्रमत्त में हजारों बार गमनागमन करता है - पलटा करता है । पुनश्च उसके अनंतर समय-समय प्रति अनंतगुणी विशुद्धता की वृद्धि द्वारा वर्धमान होता हुआ, चारित्रमोह की इक्कीस प्रकृतियों को उपशमाने में उद्यमवंत होता है । अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही चारित्रमोह की इक्कीस प्रकृति क्षपाने को उद्यमवंत होता है ।

भावार्थ - उपशम श्रेणी क्षायिक सम्यग्दृष्टि या द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि दोनों ही चढ़ने को समर्थ हैं और क्षपक श्रेणी क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही चढ़ने को समर्थ है। उपशम सम्यग्दृष्टि क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ सकता । सो यह सातिशय अप्रमत्तसंयत, वह अनंतानुबंधी चतुष्क बिना इक्कीस प्रकृतिरूप चारित्रमोह को उपशमाने वा क्षय करने को कारणभूत जो तीन करण के परिणाम, उनमें से प्रथम अधःप्रवृत्तकरण को करता है; ऐसा जानना ।

आगे अधःप्रवृत्तकरण के निरुक्ति द्वारा सिद्ध हुये लक्षण को कहते हैं -

जह्मा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति ।
तह्मा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं ।।४८।।

यस्मादुपरितनभावा अधस्तनभावैः सदृशका भवंति ।
तस्मात्प्रथमं करणं अधःप्रवृत्तमिति निर्दिष्टम् ।।४८।।

टीका - जिसकारण से किसी जीव के ऊपर-ऊपर के समय संबंधी परिणामों के साथ, अन्य जीव के नीचे-नीचे के समय संबंधी परिणाम सदृश-समान होते हैं, उसकारण से वह प्रथम करण, अधःकरण है - ऐसा **णिद्दिट्ठं** अर्थात् परमागम में प्रतिपादन किया है ।

भावार्थ - तीनों करणों के नाम नाना जीवों के परिणामों की अपेक्षा से हैं। वहां जैसी विशुद्धता और संख्या सहित किसी जीव के परिणाम ऊपर के समय संबंधी होते हैं, वैसी विशुद्धता और संख्या सहित किसी अन्य जीव के परिणाम अधःस्तन समय

संबंधी भी जिस करण में होते हैं वह अधःप्रवृत्तकरण है । अधःप्रवृत्त अर्थात् नीचे के समय संबंधी परिणामों की समानता को प्रवर्त्ते ऐसे हैं करण अर्थात् परिणाम जिसमें, वह अधःप्रवृत्तकरण है । यहां करण प्रारंभ होने के पश्चात् बहुत-बहुत समय व्यतीत होनेपर जो परिणाम होते हैं, वे ऊपर ऊपर के समय संबंधी जानना । तथा थोड़े थोड़े समय व्यतीत होनेपर जो परिणाम होते हैं, वे अधस्तन अधस्तन समय संबंधी जानना। सो नाना जीवों के इनकी समानता भी हो सकती है ।

उसका उदाहरण - जैसे, दो जीवों के एक ही काल में अधःप्रवृत्तकरण का प्रारंभ हुआ । वहां एक जीव के द्वितीयादि बहुत समय व्यतीत होनेपर जैसी संख्या वा विशुद्धता सहित परिणाम हुये, वैसी ही संख्या वा विशुद्धता सहित परिणाम द्वितीय जीव के प्रथम समय में भी होते हैं । इसीप्रकार अन्य भी ऊपर नीचे के समय संबंधी परिणामों की समानता इस करण में जानकर इसका नाम अधःप्रवृत्तकरण निरूपित किया है ।

आगे अधःप्रवृत्तकरण के काल के प्रमाण को चय के निर्देश के लिये कहते हैं-

अंतोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा ।
लोगाणमसंखमिदा उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ।।४९।।

अंतर्मुहूर्तमात्रस्तत्कालो भवति तत्र परिणामाः ।
लोकानामसंख्यमिता उपर्युपरि सदृशवृद्धिगताः ।।४९।।

टीका - तीनों करणों में छोटे (अल्प) अंतर्मुहूर्तप्रमाण अनिवृत्तिकरण का काल है । उससे संख्यातगुणा अपूर्वकरण का काल है । इससे संख्यातगुणा इस अधःप्रवृत्तकरण का काल है, वह भी अंतर्मुहूर्त मात्र ही है । क्योंकि अंतर्मुहूर्त के भेद बहुत हैं। पुनश्च उस अधःप्रवृत्तकरण के काल में अतीत, अनागत, वर्तमान त्रिकालवर्ती नाना जीवों संबंधी विशुद्धतारूप इस करण के सर्व परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं । लोक के प्रदेशों *(की संख्या)* से असंख्यात गुणा है । पुनश्च उन परिणामों में अधःप्रवृत्तकरण के काल के प्रथम समय संबंधी जितने परिणाम हैं, उनसे लेकर द्वितीयादि समयों में ऊपर ऊपर अंत समय पर्यंत समान वृद्धि से वर्धमान हैं । प्रथम समय संबंधी परिणामों से दूसरे समय संबंधी परिणाम जितने अधिक हैं, उतने ही दूसरे समय संबंधी परिणामों से तीसरे समय संबंधी परिणाम अधिक हैं । इस क्रम से ऊपर ऊपर अंत समय

पर्यंत सदृश–समान वृद्धि को प्राप्त है जानना । जहां स्थानकों में वृद्धिहानि का अनुक्रम होता है वहां श्रेणी व्यवहाररूप गणित होता है; इसलिये यहां श्रेणी व्यवहार का वर्णन करते हैं ।

वहां प्रथम संज्ञा कहते हैं, विवक्षित सर्व स्थानों संबंधी सर्व द्रव्य जोड़नेपर जो प्रमाण होता है, वह सर्वधन या पदधन कहलाता है । पुनश्च स्थानों के प्रमाण को पद या गच्छ कहते हैं । पुनश्च स्थान–स्थान प्रति जितना प्रमाण बढ़ता है, उसे चय या उत्तर या विशेष कहते हैं । पुनश्च आदि स्थान में जो प्रमाण है, उसे मुख या आदि या प्रथम कहते हैं । पुनश्च अंत स्थान में जो द्रव्य का प्रमाण होता है, उसे अंतधन या भूमि कहते हैं । पुनश्च सर्व स्थानों के बीच में *(मध्य में)* जो स्थान है, उसके द्रव्य के प्रमाण को मध्यधन कहते हैं । जहां स्थानों का प्रमाण सम होता है, वहां मध्य के दो स्थानों के द्रव्य को जोड़कर आधा करने से जो प्रमाण होता है, उसे मध्यधन कहते हैं । पुनश्च जितना मुख का प्रमाण हो उतना–उतना सर्व स्थानों का ग्रहण करके जोड़नेपर जो प्रमाण होता है वह आदिधन है । पुनश्च स्थानों में जो जो चय बढ़ता है, उन सर्व चयों को जोड़नेपर जो प्रमाण होता है उसे उत्तरधन या चयधन कहते हैं । तथा ऐसे आदिधन और उत्तरधन मिलाकर सर्वधन होता है।

***(विशेषार्थ –** यहां गणित संबंधी पारिभाषिक शब्द यानि संज्ञा बतायी हैं । संख्या को द्रव्य कहते हैं, यहां अधःप्रवृत्तकरण के सर्व समयों को स्थान अर्थात् गच्छ कहा है, अन्यत्र स्थान शब्द अलग अलग अर्थों में आ सकता है । यहां परिणामों की संख्या की बात है । सभी समयों के सभी परिणामों की संख्या सर्वधन कहलाती है । पहले समय के परिणामों की संख्या से दूसरे समय के परिणामों की संख्या अधिक है । दूसरे समय के परिणामों की संख्या से तीसरे समय के परिणामों की संख्या अधिक है । जितना अधिक है उसे यहां चय या उत्तर या विशेष या प्रचय कहते हैं । यह चय इस प्रकरण में सर्वत्र समान है । प्रथम स्थान के द्रव्य को आदि कहा है, उसे गच्छ से गुणा करनेपर आदिधन होता है । पहले समय से दूसरे समय की संख्या एक चय से बढ़ती है, दूसरे से तीसरे में और एक चय बढ़ा अर्थात् प्रथम की अपेक्षा दो चय बढ़े, चौथे में तीन चय बढ़े इसतरह कुल जितने चय बढ़ेंगे उन सब के जोड़ को चयधन कहते हैं ।)*

अब इनको जानने के लिये करण सूत्र कहते हैं ।

'मुहभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधनं होदि' इस सूत्र द्वारा मुख जो आदिस्थान और भूमि जो अंतस्थान इनको जोड़कर आधा करके उसे गच्छ से गुणा करनेपर पदधन अर्थात् सर्वधन आता है ।

पुनश्च **'आदी अंते सुद्धे वट्टिहदे रूवसंजुदे ठाणे'** इस सूत्र द्वारा आदि को अंतधन में से घटानेपर जितने अवशेष रहे, उसको वृद्धि अर्थात् चय का भाग देनेपर जो होता है, उसमें एक मिलानेपर स्थानों के प्रमाणरूप पद वा गच्छ का प्रमाण आता है ।

पुनश्च **'पदकदिसंखेण भाजियं पचयं'** पद जो गच्छ, उसकी कृति अर्थात् वर्ग, उसका भाग सर्वधन को देनेपर जो आये उसको संख्यात का भाग देनेपर, जो प्रमाण होता है, वह चय जानना । वह यहां अधःकरण में पहले मुखादिक का ज्ञान नहीं है, इसलिये ऐसा कथन किया है । पुनश्च सर्वत्र सर्वधन को गच्छ का भाग देनेपर जो प्रमाण होता है, उसमें से मुख का प्रमाण घटानेपर, जो अवशेष रहे, उसे एक कम गच्छ के आधे प्रमाण ($\frac{गच्छ-१}{२}$) का भाग देनेपर चय का प्रमाण आता है।

अथवा **'आदिधणोनं गणितं पदोनपदकृतिदलेन संभजितं प्रचयः'** इस वचन से सर्व स्थानों संबंधी आदिधन को सर्वधन में से घटानेपर अवशेष को, गच्छ के प्रमाण के वर्ग में गच्छ का प्रमाण घटानेपर जो अवशेष रहे उसके आधे प्रमाण का भाग देनेपर चय का प्रमाण आता है । पुनश्च उत्तरधन अर्थात् चयधन को सर्वधन में से घटानेपर अवशेष रहे, उसको गच्छ का भाग देनेपर मुख का प्रमाण आता है।

पुनश्च **'व्येकं पदं चयाभ्यस्तं तदादिसहितं धनं'** इस सूत्र द्वारा एक कम गच्छ को चय से गुणित करनेपर जो प्रमाण होता है, उसको मुख के प्रमाण के साथ जोड़नेपर, अंतधन होता है । तथा मुख और अंतधन को मिलाकर उसका आधा करनेपर मध्यधन होता है ।

पुनश्च **'पदहतमुखमादिधनं'** इस सूत्र द्वारा पद से गुणित मुख का प्रमाण, सो आदिधन है ।

पुनश्च **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस सूत्र द्वारा एक कम गच्छ, उसके आधे प्रमाण को चय से गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उसको गच्छ से गुणा करनेपर उत्तरधन आता है । सो आदिधन, उत्तरधन मिलानेपर भी सर्वधन का प्रमाण आता है । अथवा मध्यधन को गच्छ से गुणित करनेपर भी सर्वधन का प्रमाण

आता है । इसतरह प्रसंग पाकर श्रेणी व्यवहाररूप गणित का किंचित् स्वरूप कहा।

अब अधिकारभूत अधःकरण में सर्वधन आदि का वर्णन करते हैं । वहां प्रथम अंकसंदृष्टि से कल्पनारूप प्रमाण लेकर दृष्टांतमात्र कथन करते हैं । *(यथार्थ संख्याओं द्वारा गणित करके दिखाना अर्थसंदृष्टि है, हम शिष्यों को समझाने के लिये काल्पनिक छोटी संख्याओं में बड़ी संख्याओं का उपचार करके समझाते हैं, उसे अंकसंदृष्टि कहते हैं - देखिये पीठिका ।)*

पुनश्च अधःकरण के परिणामों की संख्यारूप सर्वधन तीन हजार बहत्तर (३०७२)। पुनश्च अधःकरण के काल के समयों का प्रमाणरूप गच्छ सोलह (१६)। पुनश्च समय-समय परिणामों की वृद्धि का प्रमाणरूप चय चार (४) । पुनश्च यहां संख्यात का प्रमाण तीन (३) । अब ऊर्ध्वरचना में धन लाते हैं । चूंकि युगपत् अनेक समयों की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये समय संबंधी रचना ऊपर-ऊपर ऊर्ध्वरूप करते हैं । वहां आदि धनादि का प्रमाण लाते हैं ।

'पदकदिसंखेण भाजियं पचयं' इस सूत्र द्वारा सर्वधन तीन हजार बहत्तर, उसको पद सोलह की कृति यानि वर्ग दो सौ छप्पन, उसका भाग देनेपर बारह होते हैं । और उसको संख्यात का प्रमाण तीन, उसका भाग देनेपर चार होते हैं । अथवा दो सौ छप्पन को तीनगुणा करके उसका भाग सर्वधन को देनेपर भी चार होते हैं, वह समय-समय प्रति परिणामों के चय का प्रमाण है । अथवा इसे अन्य विधान द्वारा कहते हैं । सर्वधन तीन हजार बहत्तर, उसको गच्छ का भाग देनेपर एक सौ बानबे, उसमें से आगे बताया हुआ मुख का प्रमाण एक सौ बासठ घटानेपर तीस रहे । इसको एक कम गच्छ का आधा साढ़े सात $\frac{१६-१}{२} = \frac{१५}{२}$ उसका भाग देनेपर चार प्राप्त हुये सो चय जानना । *($३० \div \frac{१५}{२} = ४$)*

अथवा **'आदिधनोनं गणितं पदोनपदकृतिदलेन संभजितं प्रचयः'** इस सूत्र द्वारा आगे कहा है आदिधन पच्चीस सौ बानबे, उससे रहित सर्वधन चार सौ अस्सी, उसको, पद की कृति दो सौ छप्पन में से पद सोलह को घटानेपर अवशेष का आधा करनेपर एक सौ बीस होते हैं, उसका भाग देनेपर चार प्राप्त हुए सो चय का प्रमाण जानना। *($३०७२-२५९२=४८०; \frac{२५६-१६}{२}=१२०; ४८०\div १२०=४$)*

पुनश्च **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस सूत्र द्वारा एक कम गच्छ

पंद्रह, उसका आधा साढ़े सात ($\frac{१५}{२}$) उसको चय चार से गुणित करनेपर तीस, उसको गच्छ सोलह से गुणा करनेपर, चार सौ अस्सी चयधन का प्रमाण आता है। इस प्रचयधन को सर्वधन तीन हजार बहत्तर में से हीन करनेपर अवशेष दो हजार पांच सौ बानबे रहते हैं । इसको पद सोलह का भाग देनेपर एक सौ बासठ प्राप्त हुये, वही प्रथम समय संबंधी परिणामों की संख्या है । पुनश्च इसमें एक-एक चय बढ़ाते हुए द्वितीय, तृतीयादि समय संबंधी परिणामों की संख्या आती है । वहां द्वितीय समय संबंधी एक सौ छासठ, तृतीय समय संबंधी एक सौ सत्तर इत्यादि क्रम से एक-एक चय से बढ़ती हुयी परिणामों की संख्या होती है । १६२, १६६, १७०, १७४, १७८, १८२, १८६, १९०, १९४, १९८, २०२, २०६, २१०, २१४, २१८, २२२।

यहां अंतिम समय संबंधी परिणामों की संख्यारूप अंतधन लाते हैं ।

'व्येकं पदं चयाभ्यस्तं तदादिसहितं धनं' इस सूत्र द्वारा एक कम गच्छ पंद्रह, उसको चय चार से गुणित करनेपर साठ होते हैं । इसको आदि एक सौ बासठ से युक्त करनेपर दो सौ बाइस होते हैं, सो अंतिम समय संबंधी परिणामों का प्रमाण जानना। पुनश्च इसमें से एक चय चार घटाने से दो सौ अठारह द्विचरम समय संबंधी परिणामों का प्रमाण जानना । इसतरह कहे हुये जो धन अर्थात् समय-समय संबंधी परिणामों का प्रमाण, उनको अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक ऊपर ऊपर स्थापित करना ।

आगे अनुकृष्टि रचना कहते हैं - वहां नीचे के समय संबंधी परिणामों के खण्डों का ऊपर के समय संबंधी परिणामों के खण्डों से जो सादृश्य अर्थात् समानता उसे अनुकृष्टि कहते हैं ।

भावार्थ – ऊपर के और नीचे के समय संबंधी परिणामों के जो खण्ड, वे जिसतरह समान हो उसतरह एक समय संबंधी परिणामों के खण्ड करना । उसका नाम अनुकृष्टि जानना । वहां ऊर्ध्वगच्छ के संख्यातवें भाग अनुकृष्टि का गच्छ है, सो अंकसंदृष्टि की अपेक्षा से ऊर्ध्वगच्छ का प्रमाण सोलह, उसको संख्यात का प्रमाण चार का भाग देनेपर चार प्राप्त हुये, वही अनुकृष्टि में गच्छ का प्रमाण है । अनुकृष्टि में खण्डों का प्रमाण इतना जानना । पुनश्च ऊर्ध्वरचना के चय को अनुकृष्टि गच्छ का भाग देनेपर, अनुकृष्टि में चय का प्रमाण होता है, सो ऊर्ध्वचय चार को अनुकृष्टि

गच्छ चार का भाग देनेपर एक प्राप्त हुआ, वही अनुकृष्टि चय जानना । खण्ड–खण्ड प्रति अधिक का प्रमाण इतना है । पुनश्च प्रथम समय संबंधी समस्त परिणामों का प्रमाण एक सौ बासठ, वह यहां प्रथम समय संबंधी अनुकृष्टि रचना में सर्वधन जानना । पुनश्च **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस सूत्र द्वारा एक कम गच्छ तीन, उसके आधे को चय एक से और गच्छ चार से गुणा करनेपर छह होते हैं, वह यहां उत्तरधन का प्रमाण जानना ।

पुनश्च इस उत्तरधन छह (६) को सर्वधन एक सौ बासठ (१६२) में से घटानेपर, अवशेष एक सौ छप्पन रहे, उसको अनुकृष्टि गच्छ चार का भाग देनेपर उनतालीस प्राप्त हुये, वही प्रथम समय के परिणामों का जो प्रथम खण्ड, उसका प्रमाण है, यही सर्वजघन्य खण्ड है; क्योंकि इस खण्ड से अन्य सर्व खण्डों के परिणामों की संख्या और विशुद्धता के द्वारा अधिकता होती है । पुनश्च उस प्रथम खण्ड में एक अनुकृष्टि का चय जोड़नेपर, उसीके दूसरे खण्ड का प्रमाण चालीस होता है । इसीतरह तृतीयादि अंतिम खण्ड पर्यंत तिर्यक् एक–एक चय अधिक स्थापना । वहां तीसरे खण्ड में इकतालीस और अंतिम खण्ड में बयालीस परिणामों का प्रमाण होता है । उस ऊर्ध्वरचना में जहां प्रथम समय संबंधी परिणाम स्थापे हैं, उसके आगे आगे एकसाथ ये खण्ड स्थापित करना। ये खण्ड एक समय में युगपत् अनेक जीवों के पाये जाते हैं, इसलिये इनको एकसाथ स्थापन किये हैं ।

पुनश्च उसके पश्चात् ऊपर दूसरे समय का प्रथम खण्ड, प्रथम समय के प्रथम खण्ड उनतालीस से एक अनुकृष्टि चय (१) से अधिक होता है । इसलिये उसका प्रमाण चालीस होता है । क्योंकि द्वितीय समय संबंधी परिणाम एक सौ छासठ, वही सर्वधन, उसमें अनुकृष्टि का उत्तरधन छह घटानेपर, अवशेष को अनुकृष्टि गच्छ चार का भाग देनेपर, उस द्वितीय समय के प्रथम खण्ड की उत्पत्ति होती है । पुनश्च उसके आगे द्वितीय समय के द्वितीयादि खण्ड, वे एक–एक चय अधिक होते हैं ४१,४२,४३। यहां द्वितीय समय का प्रथम खण्ड, सो प्रथम समय के दूसरे खण्ड के समान है।

इसीतरह द्वितीय समय के द्वितीयादि खण्ड, वे प्रथम समय के तृतीयादि खण्डों के समान हैं । विशेष इतना है कि द्वितीय समय का जो अंतिम खण्ड है, वह प्रथम समय के सर्व खण्डों में से किसी भी खण्ड के समान नहीं है। पुनश्च तृतीयादि समयों के प्रथमादि खण्ड, द्वितीयादि समयों के प्रथमादि खण्डों से एक विशेष अधिक है।

वहां तीसरे समय के ४१,४२,४३,४४ । चौथे समय के ४२,४३,४४,४५ । पांचवें समय के ४३,४४,४५,४६ । छठवें समय के ४४,४५,४६,४७ । सातवें समय के ४५,४६,४७,४८। आठवें समय के ४६,४७,४८,४९ । नौवें समय के ४७,४८,४९,५० । दसवें समय के ४८,४९,५०,५१ । ग्यारहवें समय के ४९,५०,५१,५२ । बारहवें समय के ५०,५१,५२,५३। तेरहवें समय के ५१,५२,५३,५४ । चौदहवें समय के ५२,५३,५४,५५ । पंद्रहवें समय के ५३,५४,५५,५६ । सोलहवें समय के ५४,५५,५६,५७ खण्ड जानना । क्योंकि ऊपर ऊपर का सर्वधन एक-एक ऊर्ध्वचय से अधिक है ।

यहां सर्वजघन्य खण्ड जो प्रथम समय का प्रथम खण्ड, उसके परिणामों की और सर्वोत्कृष्ट खण्ड जो अंतिम समय का अंतिम खण्ड, उसके परिणामों की, अन्य किसी खण्ड के परिणामों के साथ समानता नहीं है । क्योंकि अवशेष समस्त ऊपर के या नीचे के समय संबंधी खण्डों के परिणाम पुंजों की यथासंभव समानता होती है । पुनश्च यहां ऊर्ध्वरचना में **'मुहभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधनं होदि'** इस सूत्र द्वारा मुख १६२ और भूमि २२२ इनको जोड़नेपर ३८४ । आधा करनेपर १९२, गच्छ १६ से गुणा करनेपर सर्वधन ३०७२ होता है । अथवा मुख १६२, भूमि २२२ को जोड़नेपर ३८४, आधा करनेपर मध्यधन का प्रमाण १९२, उसको गच्छ १६ से गुणित करनेपर सर्वधन का प्रमाण होता है ।

अथवा **'पदहतमुखमादिधनं'** इस सूत्र द्वारा गच्छ १६ से मुख १६२ को गुणित करनेपर, २५९२ सर्व समय संबंधी आदिधन होता है । पुनश्च उत्तरधन पूर्व में ४८० कहा था, इन दोनों को मिलानेपर सर्वधन का प्रमाण होता है । पुनश्च गच्छ का प्रमाण जानने के लिये **'आदी अंते सुद्धे वट्टिहदे रूवसंजुदे ठाणे'** इस सूत्र द्वारा आदि १६२, सो अंत २२२ में से घटानेपर अवशेष ६०, उसको वृद्धिरूप चय ४ का भाग देनेपर १५, उसमें एक जोड़नेपर गच्छ का प्रमाण १६ होता है । इसतरह दृष्टांतमात्र सर्वधनादिक का प्रमाण कल्पना द्वारा वर्णन किया है, इसका प्रयोजन यह है कि इस दृष्टांत से अर्थ का प्रयोजन अच्छी तरह समझ में आये ।

अब यथार्थ वर्णन करते हैं - उसका स्थापन असंख्यात लोकादिक की अर्थसंदृष्टि द्वारा वा संदृष्टि के लिये समच्छेदादि विधान द्वारा संस्कृत टीका में दिखाया है, चूंकि यहां भाषा टीका में आगे संदृष्टि अधिकार जुदा कहेंगे, वहां इनके भी अर्थसंदृष्टि का अर्थ-विधान लिखेंगे वहां जानना । यहां प्रयोजनमात्र कथन करते हैं । आगे भी जहां

अर्थसंदृष्टि होगी, उसका अर्थ वा विधान आगे संदृष्टि अधिकार में ही देख लेना । जगह-जगह पर संदृष्टि का अर्थ लिखने से ग्रंथ प्रचुर हो जाता है और कठिन होता है, इसलिये नहीं लिखते ।

यहां त्रिकालवर्ती नाना जीवों संबंधी समस्त अधःप्रवृत्तकरण के परिणाम असंख्यात लोकमात्र हैं, वह सर्वधन जानना । पुनश्च अधःप्रवृत्तकरण का काल अंतर्मुहूर्तमात्र, उसके जितने समय हो, वह यहां गच्छ जानना । पुनश्च सर्वधन को गच्छ के वर्ग से भाग दीजिये । पुनश्च यथासंभव संख्यात का भाग देनेपर, जो प्रमाण आये, वह ऊर्ध्वचय जानना । पुनश्च एक कम गच्छ के आधे प्रमाण से चय को गुणा करके पुनश्च गच्छ के प्रमाण से गुणित करनेपर जो प्रमाण आये, वह उत्तरधन जानना । पुनश्च इस उत्तरधन को सर्वधन में से घटाकर, अवशेष को ऊर्ध्वगच्छ का भाग देनेपर, त्रिकालवर्ती समस्त जीवों के अधःप्रवृत्तकरण काल के प्रथम समय में संभवते परिणामों के पुंज का प्रमाण होता है । पुनश्च इसमें एक ऊर्ध्वचय जोड़नेपर द्वितीय समय संबंधी नाना जीवों के समस्त परिणामों के पुंज का प्रमाण होता है । इसीतरह ऊपर भी समय-समय प्रति एक ऊर्ध्वचय जोड़नेपर परिणाम पुंज का प्रमाण जानना ।

वहां प्रथम समय संबंधी परिणाम पुंज में एक कम गच्छ प्रमाण चय जोड़नेपर अंतिम समय संबंधी नाना जीवों के समस्त परिणामों के पुंज का प्रमाण होता है, वही कहते हैं - **'व्येकं पदं चयाभ्यस्तं तत्साद्यंतधनं भवेत्'** इस करणसूत्र द्वारा एक कम गच्छ के प्रमाण से चय को गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उसको प्रथम समय संबंधी परिणाम पुंज प्रमाण में जोड़नेपर, अंतिम समय संबंधी परिणाम पुंज का प्रमाण होता है । पुनश्च इसमेंसे एक चय घटानेपर द्विचरम समयवर्ती नाना जीवों संबंधी समस्त विशुद्ध परिणाम पुंज का प्रमाण होता है । इसतरह ऊर्ध्वरचना जो ऊपर-ऊपर की रचना, उसमें समय-समय संबंधी अधःप्रवृत्तकरण के परिणाम पुंज का प्रमाण कहा।

भावार्थ - आगे कषायाधिकार में विशुद्ध परिणामों की संख्या कहेंगे, उसमें त्रिकालवर्ती नाना जीवों के अधःकरण में संभवनेवाले शुभलेश्यामय संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों के उदय संयुक्त विशुद्ध परिणामों की संख्या असंख्यात लोकमात्र है। उनमें जिन जीवों का अधःप्रवृत्तकरण मांडकर पहला समय है, ऐसे त्रिकाल संबंधी अनेक जीवों के जो परिणाम संभवते हैं, उनके समूह को प्रथम समय परिणाम पुंज कहते हैं । पुनश्च जिन जीवों का अधःप्रवृत्तकरण मांडकर दूसरा समय हुआ है, ऐसे त्रिकाल संबंधी अनेक जीवों

के जो परिणाम संभवते हैं, उनके समूह को दूसरे समय परिणाम पुंज कहते हैं । इसी क्रम से अंतिम समय तक जानना ।

वहां प्रथमादि समय संबंधी परिणाम पुंज का प्रमाण श्रेणी व्यवहार गणित के विधान द्वारा भिन्न-भिन्न कहा, वह सर्वसमय संबंधी परिणाम पुंजों को जोड़नेपर असंख्यात लोकमात्र प्रमाण होता है । पुनश्च इन अधःकरण काल के प्रथमादि समय संबंधी परिणामों में त्रिकालवर्ती नाना जीवों संबंधी प्रथम समय के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदों सहित जो परिणाम पुंज कहा, उसके अधःप्रवृत्तकरण काल के जितने समय, उनको संख्यात का भाग देने पर जितना प्रमाण आता है, उतने खण्ड करना । वे खण्ड निर्वर्गणाकांडक के जितने समय हैं उतने होते हैं । वर्गणा अर्थात् समयों की समानता, उससे रहित जो ऊपर-ऊपर के समयवर्ती परिणाम खण्ड, उनका जो कांडक अर्थात् पर्व प्रमाण, वह निर्वर्गणा कांडक है । उनके समयों का जो प्रमाण, वह अधःप्रवृत्तकरण कालरूप जो ऊर्ध्वगच्छ, उसके संख्यातवें भागमात्र है, सो यह प्रमाण अनुकृष्टि के गच्छ का जानना । इस प्रमाण अनुकृष्टि गच्छ प्रमाण एक-एक समय संबंधी परिणामों में खण्ड होते हैं । पुनश्च वे खण्ड एक-एक अनुकृष्टि चय से अधिक हैं । वहां ऊर्ध्वरचना में जो चय का प्रमाण कहा उसको अनुकृष्टि गच्छ का भाग देनेपर जो प्राप्त हो, वह अनुकृष्टि के चय का प्रमाण है ।

पुनश्च **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस सूत्र द्वारा एक कम अनुकृष्टि के गच्छ के आधे प्रमाण को अनुकृष्टि चय से गुणित करके पुनश्च अनुकृष्टि गच्छ से गुणित करनेपर जो प्रमाण होता है, वही अनुकृष्टि का चयधन होता है । इसको ऊर्ध्वरचना में जो प्रथम समय संबंधी समस्त परिणाम पुंज का प्रमाणरूप सर्वधन, उसमें से घटानेपर जो अवशेष रहे उसको अनुकृष्टि गच्छ का भाग देनेपर जो प्रमाण होता है, वही प्रथम समय संबंधी प्रथम खण्ड का प्रमाण है । पुनश्च इसमें एक अनुकृष्टि चय मिलानेपर, प्रथम समय संबंधी समस्त परिणामों के द्वितीय खण्ड का प्रमाण होता है । इसीतरह तृतीयादि खण्ड एक-एक अनुकृष्टि चय से अधिक, अपने अंतिम खण्ड पर्यंत क्रम से स्थापित करना ।

वहां अनुकृष्टि के प्रथम खण्ड में एक कम अनुकृष्टि गच्छ प्रमाण अनुकृष्टि चय जोड़नेपर जो प्रमाण होता है, वही अंतिम खण्ड का प्रमाण जानना । इसमें एक अनुकृष्टि चय घटानेपर, प्रथम समय संबंधी द्विचरम खण्ड का प्रमाण होता है । इसतरह

प्रथम समय संबंधी परिणाम पुंजरूप खण्ड संख्यात आवली प्रमाण हैं, वे क्रम से जानना। यहां तीन बार संख्यात से गुणित आवलीप्रमाण जो अधःकरण का काल, उसके संख्यातवें भाग खण्डों का प्रमाण, वह दो बार संख्यात से गुणित आवलीप्रमाण है, ऐसा जानना।

पुनश्च द्वितीय समय संबंधी परिणाम पुंज का प्रथम खण्ड है, वह प्रथम समय संबंधी प्रथम खण्ड के अनुकृष्टि चय से अधिक है । क्यों ? क्योंकि द्वितीय समय संबंधी समस्त परिणाम पुंजरूप जो सर्वधन, उसमें से पूर्वोक्त प्रमाण अनुकृष्टि का चयधन घटानेपर अवशेष रहे, उसको अनुकृष्टि गच्छ का भाग देनेपर, वह प्रथम खण्ड सिद्ध होता है । पुनश्च इस द्वितीय समय के प्रथम खण्ड में एक अनुकृष्टि चय को जोड़नेपर, द्वितीय समय संबंधी परिणामों के द्वितीय खण्ड का प्रमाण होता है । इसीतरह तृतीयादि खण्ड एक-एक अनुकृष्टि चय से अधिक स्थापन करना । वहां एक कम अनुकृष्टि गच्छ प्रमाण चय द्वितीय समय संबधी परिणाम के प्रथम खण्ड में जोड़नेपर द्वितीय समय संबंधी अंतिम खण्ड का प्रमाण होता है । इसमें से एक अनुकृष्टि चय घटानेपर द्वितीय समय संबंधी द्विचरम खण्ड का प्रमाण होता है ।

पुनश्च यहां द्वितीय समय का प्रथम खण्ड और प्रथम समय का द्वितीय खण्ड दोनों समान हैं । उसी प्रकार द्वितीय समय के द्वितीयादि खण्ड और प्रथम समय के तृतीयादि खण्ड दोनों समान हैं । इतना विशेष है कि, द्वितीय समय का अंतिम खण्ड वह प्रथम समय के खण्डों में से किसी भी खण्ड के समान नहीं है । पुनश्च इसके आगे ऊपर तृतीयादि समयों में अनुकृष्टि के प्रथमादि खण्ड, वे नीचे के समय संबंधी प्रथमादि अनुकृष्टि खण्डों से एक-एक अनुकृष्टि चय से अधिक है । इसतरह अधःप्रवृत्तकरण के अंतिम समय पर्यंत जानना ।

वहां अंतिम समय के समस्त परिणामरूप सर्वधन में से अनुकृष्टि के चयधन को घटानेपर, अवशेष को अनुकृष्टि गच्छ का भाग देनेपर, अंतिम समय संबंधी परिणामों का प्रथम अनुकृष्टि खण्ड होता है । इसमें एक अनुकृष्टि चय जोड़नेपर, अंतिम समय का द्वितीय अनुकृष्टि खण्ड होता है । इसतरह तृतीयादि खण्ड एक-एक अनुकृष्टि चय से अधिक जानने । वहां एक कम अनुकृष्टि गच्छप्रमाण अनुकृष्टि चय अंतिम समय संबंधी परिणामों के प्रथम खण्ड में मिलानेपर, अंतिम समय संबंधी अंतिम अनुकृष्टि खण्ड के परिणाम पुंज का प्रमाण होता है । पुनश्च इसमें से एक अनुकृष्टि चय घटानेपर अंतिम समय संबंधी द्विचरम खण्ड के परिणाम पुंज का प्रमाण होता है । इसतरह अंतिम

समय संबंधी अनुकृष्टि खण्ड, वे अनुकृष्टि के गच्छप्रमाण हैं; वे एक साथ आगे-आगे क्रम से स्थापित करना । पुनश्च अंतिम समय संबंधी अनुकृष्टि के प्रथम खण्ड में से एक अनुकृष्टि चय घटानेपर अवशेष रहे, वह द्विचरम समय संबंधी प्रथम खण्ड के परिणाम पुंज का प्रमाण होता है । पुनश्च इसमें एक अनुकृष्टि चय जोड़नेपर, द्विचरम समय संबंधी द्वितीय खण्ड का परिणाम पुंज होता है । पुनश्च इसीतरह तृतीयादि खण्ड एक-एक चय अधिक जानना ।

वहां एक कम अनुकृष्टि गच्छ प्रमाण अनुकृष्टि चय द्विचरम समय संबंधी परिणामों के प्रथम खण्ड में जोड़नेपर, द्विचरम समय संबंधी अनुकृष्टि के अंतिम खण्ड के परिणाम पुंज का प्रमाण होता है । पुनश्च इसमें से एक अनुकृष्टि चय घटानेपर, उसी द्विचरम समय के द्विचरम खण्ड का प्रमाण होता है । इसतरह अधःप्रवृत्तकरण काल के द्विचरम समय संबंधी अनुकृष्टि खण्ड, वे अनुकृष्टि के गच्छप्रमाण हैं, वे क्रमसे एक-एक चय अधिक स्थापन करना । इसतरह तिर्यक् रचना जो बराबर (एक साथ) रचना, उसमें एक-एक समय संबंधी खण्डों में परिणामों का प्रमाण कहा ।

भावार्थ – पूर्व में अधःकरण के एक-एक समय में संभवनेवाले नाना जीवों के परिणामों का प्रमाण कहा था । अब उनमें भिन्न-भिन्न संभवनेवाले ऐसे एक-एक समय संबंधी खण्डों के परिणामों का प्रमाण यहां कहा है । सो ऊपर के और नीचे के समय संबंधी खण्डों में परस्पर समानता पायी जाती है, इसलिये अनुकृष्टि नाम यहां संभवता है । जितनी संख्या में ऊपर के समय में परिणाम खण्ड होते हैं, उतनी ही संख्या में नीचे के समय में भी परिणाम खण्ड होते हैं । इसतरह नीचे के समय संबंधी परिणाम खण्ड के साथ ऊपर के समय संबंधी परिणाम खण्ड की समानता जानकर इसका नाम अधःप्रवृत्तकरण कहा है ।

पुनश्च यहां विशेष है सो कहते हैं । प्रथम समय संबंधी अनुकृष्टि का प्रथम खण्ड, वह सर्व से जघन्य खण्ड है, क्योंकि सर्व खण्डों से इसकी संख्या कम है । पुनश्च अंतिम समय संबंधी अंतिम अनुकृष्टि खण्ड, वह सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि इसकी संख्या सर्व खण्डों से अधिक है । सो इन दोनों की किसी अन्य खण्ड के साथ समानता नहीं है । पुनश्च अवशेष ऊपर समय संबंधी खण्डों की नीचे के समय संबंधी खण्डों के साथ अथवा नीचे के समय संबंधी खण्डों की ऊपर के समय संबंधी खण्डों के साथ यथासंभव समानता है । वहां द्वितीय समय से लेकर द्विचरम समय पर्यंत जो समय,

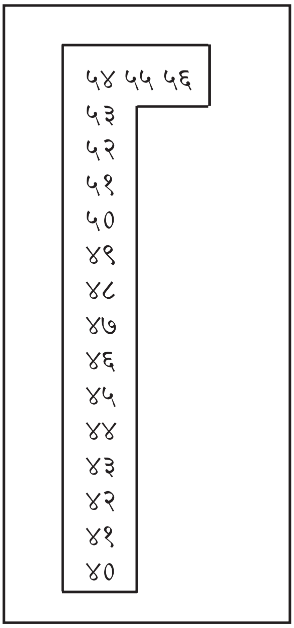

अंकसंदृष्टि की
अपेक्षा अंकुशरचना

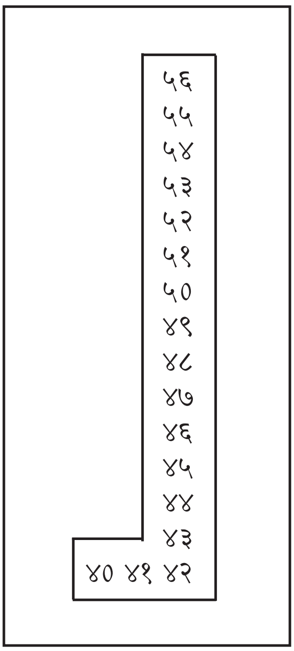

अंकसंदृष्टि की
अपेक्षा लांगलरचना

उनका पहला-पहला खण्ड और अंतिम समय के पहले खण्ड से लेकर द्विचरम खण्ड पर्यंत खण्ड, वे अपने-अपने ऊपर के समय संबंधी खण्डों के साथ समान नहीं हैं इसलिये असदृश हैं, सो द्वितीयादि द्विचरम तक समयों संबंधी प्रथम खण्डों की ऊर्ध्वरचना करनेपर तथा ऊपर अंतिम समय के प्रथमादि द्विचरम तक के खण्डों की तिर्यक् रचना करनेपर अंकुश के आकार रचना होती है। इसलिये इसको अंकुश रचना कहते हैं।

पुनश्च द्वितीय समय से लेकर द्विचरम समय पर्यंत समयों संबंधी अंतिम-अंतिम के खण्ड और प्रथम समय संबंधी प्रथम खण्ड बिना अन्य सर्व खण्ड, वे अपने-अपने नीचे के समय संबंधी किसी भी खण्डों के साथ समान नहीं है, इसलिये असदृश हैं । सो यहां द्वितीयादि द्विचरम पर्यंत समय संबंधी अंतिम-अंतिम खण्डों की ऊर्ध्वरचना करनेपर और नीचे प्रथम समय के द्वितीयादि अंत पर्यंत खण्डों की तिर्यक् रचना करनेपर हल के आकार रचना होती है । इसलिये इसको लांगलरचना कहते हैं ।

पुनश्च जघन्य और उत्कृष्ट खण्ड तथा ऊपर नीचे के समय संबंधी खण्डों की अपेक्षा कहे हुये असदृश खण्ड इन खण्डों के अलावा अवशेष सर्व खण्ड अपने ऊपर के और नीचे के समय संबंधी खण्डों से यथासंभव समान जानना ।

अब विशुद्धता के अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा कहते हैं । जिसका दूसरा भाग न हो - ऐसा शक्ति का अंश, उसका नाम अविभागप्रतिच्छेद जानना । उनकी अपेक्षा से गणना द्वारा पूर्वोक्त अधःकरण के खण्डों में अल्पबहुत्व वर्णन करते हैं । वहां अधःप्रवृत्तकरण के परिणामों में प्रथम समय संबंधी जो परिणाम, उनके खण्डों में जो

प्रथम खण्ड के परिणाम, वे सामान्यपने असंख्यात लोकमात्र हैं । तथापि पूर्वोक्त विधान के अनुसार स्थापित करके, भाज्य भागहार का यथासंभव अपवर्तन करनेपर, संख्यात प्रतरावली का जिसको भाग देते हैं ऐसा असंख्यात लोकमात्र है । वे परिणाम अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद सहित हैं । वहां एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग के घन से उसी के वर्ग को गुणित करनेपर जो प्रमाण होता है $((\text{सूच्यंगुल}\div\text{असंख्यात})+१)^{५}$ उतने परिणामों में यदि एक बार षट्स्थान होता है, तो संख्यात प्रतरावली से भाजित असंख्यात लोकप्रमाण प्रथम समय संबंधी प्रथम खण्ड के परिणामों में कितनी बार षट्स्थान होते हैं ? इस त्रैराशिक से प्राप्त हुये असंख्यात लोक बार षट्स्थानों को प्राप्त जो विशुद्धता की वृद्धि, उससे वर्धमान है ।

भावार्थ – आगे ज्ञानमार्गणा में पर्यायसमास श्रुतज्ञान के वर्णन करते हुये जिसतरह अनंतभागवृद्धि आदि षट्स्थानपतित वृद्धि का अनुक्रम कहेंगे, उसप्रकार यहां अधःप्रवृत्तकरण संबंधी विशुद्धतारूप कषाय परिणामों में भी अनुक्रम से अनंतभाग, असंख्यातभाग, संख्यातभाग, संख्यातगुण, असंख्यातगुण, अनंतगुण वृद्धिरूप षट्स्थानपतित वृद्धि होती है । वहां उस अनुक्रम के अनुसार एक अधिक जो सूच्यंगुल का असंख्यातवां भाग, उसके घन से उसी के वर्ग को गुणित करते हैं । अर्थात् पांच जगह मांडकर परस्पर गुणित करनेपर जो प्रमाण आये, उतने विशुद्ध परिणामों में एक बार षट्स्थानपतित वृद्धि होती है । इस क्रम से प्रथम परिणाम से लेकर इतने-इतने परिणाम होने के पश्चात् एक-एक बार षट्स्थान वृद्धि पूर्ण होती हुयी असंख्यात लोकमात्र बार षट्स्थान वृद्धि होनेपर, उस प्रथम खण्ड के सब परिणामों की संख्या पूर्ण होती है । इसलिये असंख्यात लोकमात्र षट्स्थानपतित वृद्धि द्वारा वर्धमान प्रथम खण्ड के परिणाम हैं । पुनश्च वैसे ही द्वितीय समय के प्रथम खण्ड के परिणाम एक अनुकृष्टि चय से अधिक हैं । वे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद युक्त हैं । ये भी पूर्वोक्त प्रकार से असंख्यात लोकमात्र षट्स्थानपतित वृद्धि से वर्धमान हैं ।

भावार्थ – एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग के घन से गुणित उसी के वर्गमात्र परिणामों में यदि एक बार षट्स्थान होता है, तो अनुकृष्टि चय प्रमाण परिणामों में कितनी बार षट्स्थान होगा ? इसतरह त्रैराशिक करनेपर जितने प्राप्त हो, उतनी अधिक बार षट्स्थानपतित वृद्धि प्रथम समय के प्रथम खण्ड से द्वितीय समय के प्रथम खण्ड में होती है । इसीप्रकार तृतीयादिक अंत पर्यंत के समयों के प्रथम

–प्रथम खण्ड के परिणाम एक–एक अनुकृष्टि चय से अधिक हैं । पुनश्च उसीप्रकार प्रथमादि समयों के अपने–अपने प्रथम खण्ड से द्वितीयादि खण्डों के परिणाम भी क्रम से एक–एक चय अधिक हैं । वहां यथासंभव षट्स्थानपतित वृद्धि जितनी बार होती है, उनका प्रमाण जानना ।

अब उन खण्डों का विशुद्धता के अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व कहते हैं । प्रथम समय संबंधी प्रथम खण्ड के जघन्य परिणाम की विशुद्धता अन्य सभी से अल्प है । तथापि जीवराशि का जो प्रमाण उससे अनंतगुणा अविभागप्रतिच्छेदों के समूह को धारण किये हुये है । पुनश्च इससे उसी प्रथम समय के प्रथम खण्ड के उत्कृष्ट परिणाम की विशुद्धता अनंतगुणी है । पुनश्च उससे द्वितीय खण्ड के जघन्य परिणाम की विशुद्धता अनंतगुणी है । उससे उसीके उत्कृष्ट परिणाम की विशुद्धता अनंतगुणी है । इसी क्रम से तृतीयादि खण्डों में भी जघन्य, उत्कृष्ट परिणामों की विशुद्धता अनंतगुणी–अनंतगुणी अंतिम के खण्ड की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता तक प्रवर्तती है ।

पुनश्च प्रथम समय संबंधी प्रथम खण्ड की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता से द्वितीय समय के प्रथम खण्ड की जघन्य परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । उससे उसी की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । पुनश्च उससे द्वितीय खण्ड की जघन्य परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । उससे उसीकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । इसतरह तृतीयादि खण्डों में भी जघन्य उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनंतगुणा अनुक्रम से द्वितीय समय के अंतिम खण्ड की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता पर्यंत प्राप्त होती है । पुनश्च इसी मार्ग से तृतीयादि समय में भी पूर्वोक्त लक्षण युक्त जो निर्वर्गणाकांडक, उसके द्विचरम समय पर्यंत जघन्य उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनंतगुणा अनुक्रम से ले आना।

पुनश्च निर्वर्गणाकांडक के अंतिम समय संबंधी प्रथम खण्ड की जघन्य परिणाम विशुद्धता से प्रथम समय के अंतिम खण्ड की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है। उससे दूसरे निर्वर्गणाकांडक के प्रथम समय संबंधी प्रथम खण्ड की जघन्य परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । उससे उस प्रथम निर्वर्गणाकांडक के द्वितीय समय संबंधी अंतिम खण्ड की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । उससे द्वितीय निर्वर्गणाकांडक के द्वितीय समय संबंधी प्रथम खण्ड की जघन्य परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । उससे प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के तृतीय समय संबंधी उत्कृष्ट खण्ड की उत्कृष्ट विशुद्धता अनंतगुणी है । इसप्रकार जैसे सर्प की चाल इधर से उधर, उधर से इधर पलटनेरूप होती

है, वैसे जघन्य से उत्कृष्ट, उत्कृष्ट से जघन्य इसतरह पलटने में अनुक्रम से अनंतगुणी विशुद्धता प्राप्त करने के पश्चात् अंतिम निर्वर्गणाकांडक के अंतिम समय संबंधी प्रथम खण्ड की जघन्य परिणाम विशुद्धता अनंतानंतगुणी है । क्यों ? क्योंकि पूर्व-पूर्व विशुद्धता से अनंतानंतगुणापना सिद्ध है । पुनश्च उससे अंतिम निर्वर्गणाकांडक के प्रथम समय संबंधी उत्कृष्ट खण्ड की परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । उससे उसके ऊपर अंतिम निर्वर्गणाकांडक के अंतिम समय संबंधी अंतिम खण्ड की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता पर्यंत उत्कृष्ट खण्ड की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनंतानंतगुणा अनुक्रम से प्राप्त होती है । उनमें जो जघन्य से उत्कृष्ट परिणामों की विशुद्धता अनंतानंतगुणी है, वह यहां विवक्षारूप नहीं है ऐसा जानना ।

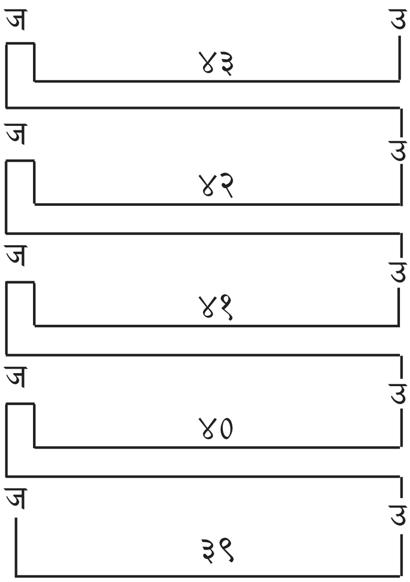

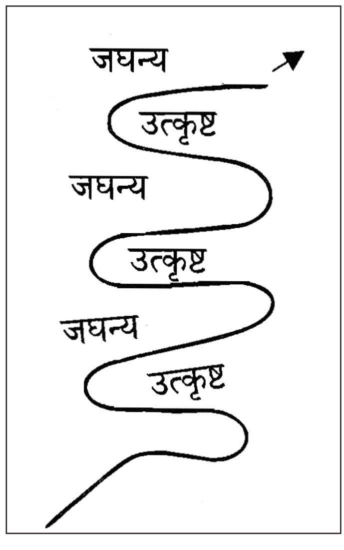

इसप्रकार विशुद्धता विशेष के धारक जो अधःप्रवृत्तकरण के परिणाम उनमें गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिकांडकोत्करण, अनुभागकांडकोत्करण ये चार आवश्यक नहीं होते । क्योंकि अधःकरण के परिणामों के गुणश्रेणीनिर्जरा आदि कार्य करने की समर्थता का अभाव है । इनका स्वरूप आगे अपूर्वकरण के कथन में लिखेंगे ।

तो इस करण में क्या होता है ?

केवल प्रथम समय से लेकर समय-समय प्रति अनंतगुणी-अनंतगुणी विशुद्धता की वृद्धि होती है । तथा स्थितिबंधापसरण होता है । पूर्व में कर्मों का स्थितिबंध जितने

प्रमाण में होता था, उससे घटा–घटाकर स्थितिबंध करता है । पुनश्च सातावेदनीय आदि प्रशस्त कर्मप्रकृतियों का प्रतिसमय अनंतगुणा–अनंतगुणा बढ़ता हुआ गुड़, खाण्ड, शर्करा, अमृत समान चतुःस्थान सहित अनुभाग बंध होता है । पुनश्च असातावेदनीय आदि अप्रशस्त कर्मप्रकृतियों का प्रतिसमय अनंतगुणा–अनंतगुणा घटता हुआ निंब, कांजीर समान द्विस्थान सहित अनुभाग बंध होता है, विष, हलाहलरूप नहीं होता । इसप्रकार यहां चार आवश्यक होते हैं । अवश्य होते हैं इसलिये इनको आवश्यक कहते हैं।

अंकसंदृष्टि अपेक्षा अधःकरण रचना

सोलह समय– की ऊर्ध्वरचना	अनुकृष्टिरूप एक–एक समय संबंधी चार–चार खण्ड की तिर्यक् रचना			
	प्रथम खंड	द्वितीय खंड	तृतीय खंड	चतुर्थ खंड
२२२	५४	५५	५६	५७
२१८	५३	५४	५५	५६
२१४	५२	५३	५४	५५
२१०	५१	५२	५३	५४
२०६	५०	५१	५२	५३
२०२	४९	५०	५१	५२
१९८	४८	४९	५०	५१
१९४	४७	४८	४९	५०
१९०	४६	४७	४८	४९
१८६	४५	४६	४७	४८
१८२	४४	४५	४६	४७
१७८	४३	४४	४५	४६
१७४	४२	४३	४४	४५
१७०	४१	४२	४३	४४
१६६	४०	४१	४२	४३
१६२	३९	४०	४१	४२

पुनश्च इसप्रकार कहा हुआ यह अर्थ, उसकी रचना अंकसंदृष्टि की अपेक्षा लिखते हैं । अर्थसंदृष्टि की अपेक्षा रचना है उसे आगे संदृष्टि अधिकार में लिखेंगे । तथा इसका यह अभिप्राय है – जहां एक जीव एक काल में इसतरह कहते हैं, वहां विवक्षित अधःप्रवृत्तकरण के परिणामरूप परिणत जो एक जीव, उसका परमार्थवृत्ति से वर्तमान अपेक्षा काल एक समय मात्र ही है; इसलिये एक जीव का एक काल समय प्रमाण जानना । पुनश्च जहां एक जीव नाना काल इसतरह कहते हैं वहां अधःप्रवृत्तकरण के नाना कालरूप अंतर्मुहूर्त समय वे अनुक्रम से एक जीव द्वारा चढ़े जाते हैं, इसलिये एक जीव का नाना काल अंतर्मुहूर्त के समयमात्र है । पुनश्च नाना जीवों का एक काल इसतरह कहते हैं, वहां विवक्षित एकसमय अपेक्षा अधःप्रवृत्तकरण काल के असंख्यात समय हैं, तथापि उनमें यथासंभव एक सौ आठ समयरूप जो स्थान, उनमें संग्रहरूप जीवों की विवक्षा से एक काल है; क्योंकि वर्तमान एक किसी समय में अनेक जीव हैं, वे पहला, दूसरा, तीसरा आदि अधःकरण

के असंख्यात समयों में यथासंभव एक सौ आठ समयों में ही प्रवर्तते हुए पाये जाते हैं । इसलिये अनेक जीवों का एक काल एक सौ आठ समयप्रमाण है । पुनश्च नाना जीव नाना काल इसतरह कहते हैं, वहां अधःप्रवृत्तकरण के परिणाम असंख्यात लोकमात्र हैं, वे त्रिकालवर्ती अनेक जीव संबंधी हैं । पुनश्च जिस परिणाम को कहा, उसको दुबारा नहीं कहना, इसप्रकार अपुनरुक्त हैं । उनको अनेक जीव अनेक काल में आश्रय करते हैं । सो एक-एक परिणाम का एक-एक समय की विवक्षा से नाना जीवों का नाना काल असंख्यात लोकप्रमाण समयमात्र है; ऐसा जानना ।

पुनश्च अब अधःप्रवृत्तकरण के काल में प्रथमादि समय संबंधी स्थापित जो विशुद्ध-तारूप कषाय परिणाम, उनमें प्रमाण के अवधारण करने *(जानने)* को कारणभूत जो करणसूत्र, उनका गोपालिक विधान से बीजगणित का स्थापन करते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त करणसूत्रों के अर्थ में संशय का अभाव है । वहां **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस करणसूत्र की वासना अंकसंदृष्टि की अपेक्षा से दिखाते हैं । **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ'** इन शब्दों से एक कम गच्छ के आधे प्रमाण चय सर्व स्थानों में से ग्रहण किये, उसका प्रयोजन यह है कि ऊपर या नीचे के स्थानों में हीनाधिक चय पाये जाते हैं, उनको समान कर स्थापनेपर एक कम गच्छ के आधे प्रमाण चय सर्व स्थानों में समान होते हैं । यहां एक कम गच्छ का आधा प्रमाण साढ़े सात है, सो इतने इतने चय सोलह समयों में समान होते हैं । कैसे ? वह कहते हैं - प्रथम समय में तो आदि प्रमाण ही है, उसके चय की वृद्धि या हानि नहीं है । पुनश्च अंतिम समय में एक कम गच्छ प्रमाण चय है, इसलिये **व्येकपद** शब्द से एक कम गच्छ प्रमाण चयों की संख्या कही । पुनश्च **अर्ध** शब्द से अंतिम समय के पंद्रह चयों में से साढ़े सात चय निकालकर प्रथम समय के स्थान में रचनेपर दोनों जगह साढ़े सात, साढ़े सात चय समान हुये । इसीतरह उसके नीचे पंद्रहवें समय के चौदह चयों में से साढ़े छह चय निकालकर, दूसरे समय के एक चय के आगे रचनारूप करनेपर, दोनों जगह साढ़े सात, साढ़े सात चय होते हैं । पुनश्च उसके नीचे चौदहवें समय के तेरह चयों में से साढ़े पांच चय निकालकर, तीसरे समय के स्थान में दो चयों के आगे रचनेपर दोनों जगह साढ़े सात, साढ़े सात चय होते हैं। इसीतरह ऊपर से चौथा स्थान तेरहवां समय, उसको आदि देकर समयों के साढ़े चार आदि चय निकालकर उन्हें चौथे समय आदि स्थानों के तीन आदि चयों के आगे रचनेपर सर्वत्र साढ़े सात, साढ़े सात चय होते

हैं । इसतरह सोलह स्थानों में जैसा समपाटी का आकार होता है वैसे साढ़े सात, साढ़े सात चय स्थापित करते हैं । यहां का यंत्र है –

यह अंकसंदृष्टि अपेक्षा **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस सूत्र की वासना कहने की रचना है –

सर्व स्थानों में आदि का प्रमाण	सर्व स्थानों में समानरूप की हुयी चय की रचना यहां चार चार तो एक-एक चय का प्रमाण, आगे दो आधा चय का प्रमाण जानना	ऊपरि समयवर्ती चय नीचले समयवर्ती स्थान में स्थापे उसकी रचना
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	४ । ४ । ४ । ४ । २
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	४ । ४ । ४ । २
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	४ । ४ । २
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	४ । २
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	२
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	
१६२	४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । ४ । २	
इनको जोड़नेपर आदिधन २५९२	इनको जोड़ने पर उत्तर धन ४८०	

पुनश्च एक स्थान में साढ़े सात चय का प्रमाण होता है, तो सोलह स्थानों में कितने चय होते हैं ? इसतरह त्रैराशिक करके प्रमाणराशि एक स्थान, फलराशि साढ़े सात चय, उनका प्रमाण तीस, इच्छाराशि सोलह स्थान, वहां फल को इच्छा से गुणित करके, प्रमाण का भाग देनेपर लब्धराशि चार सौ अस्सी पूर्वोक्त उत्तरधन का प्रमाण आता है । इसीतरह अनुकृष्टि में भी अंकसंदृष्टि द्वारा प्ररूपण करना ।

पुनश्च इसीप्रकार अर्थसंदृष्टि से भी सत्यार्थरूप साधन करना । इसतरह **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस सूत्र की वासना बीजगणित द्वारा दिखायी । पुनश्च अन्य करणसूत्रों की भी यथासंभव बीजगणित द्वारा वासना जानना ।

इसतरह अप्रमत्त गुणस्थान का व्याख्यान करके इसके अनंतर अपूर्वकरण गुणस्थान को कहते हैं -

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ।।५०।।

अंतर्मुहूर्तकालं गमयित्वा अधःप्रवृत्तकरणं तत् ।
प्रतिसमयं शुध्द्यन् अपूर्वकरणं समाश्रयति ।।५०।।

टीका - इसतरह अंतर्मुहूर्तकाल प्रमाण पूर्वोक्त लक्षणधारी अधःप्रवृत्तकरण को समाप्त कर, विशुद्ध संयमी होकर, प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता की वृद्धि से वर्धमान होता हुआ अपूर्वकरण गुणस्थान का आश्रय करता है ।

एदह्मि गुणट्ठाणे विसरिस समयट्ठियेहिं जीवेहिं ।
पुव्वमपत्ता जह्मा होंति अपुव्वा हु परिणामा ।।५१।।

एतस्मिन् गुणस्थाने विसदृशसमयस्थितैर्जीवैः ।
पूर्वमप्राप्ता यस्माद् भवंति अपूर्वा हि परिणामाः ।।५१।।

टीका - जिसकारण इस अपूर्वकरण गुणस्थान में विसदृश अर्थात् समानरूप नहीं हैं, ऐसे जो ऊपर-ऊपर के समयों में स्थित जीवों के विशुद्ध परिणाम पाये जाते हैं, वे पूर्व-पूर्व समयों में किसी भी जीव के नहीं पाये जाते ऐसे हैं; उसकारण अपूर्व है करण अर्थात् परिणाम जिसमें, वह अपूर्वकरण गुणस्थान है - ऐसा निरुक्ति द्वारा लक्षण कहा है ।

भिण्णसमयट्ठियेहिं दु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो ।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा ।।५२।।

भिन्नसमयस्थितैस्तु जीवैर्न भवति सर्वदा सादृश्यम् ।
करणैरेकसमयस्थितैः सादृश्यं वैसादृश्यं वा ।।५२।।

टीका – जिसतरह अधःप्रवृत्तकरण में भिन्न भिन्न ऊपर नीचे के समयों में स्थित जीवों के परिणामों की संख्या और विशुद्धता समान हो सकती है, उसतरह यहां अपूर्वकरण गुणस्थान में सर्वकाल में भी किसी भी जीव की वैसी समानता हो नहीं सकती । पुनश्च एक समय में स्थित करण के परिणाम, उनके मध्य जीवों की विवक्षित एक परिणाम की अपेक्षा समानता और नाना परिणामों की अपेक्षा असमानता अधःकरणवत् यहां भी हो सकती है, नियम नहीं है, ऐसा जानना ।

भावार्थ – इस अपूर्वकरण में ऊपर के समयवर्ती जीवों के और नीचे के समयवर्ती जीवों के समान परिणाम कदाचित् नहीं होते । पुनश्च एक समयवर्ती जीवों के उससमय संबंधी परिणाम परस्पर समान भी हो सकते हैं, असमान भी हो सकते हैं ।

उसका उदाहरण – जैसे, जिन जीवों को अपूर्वकरण मांडकर पांचवां समय हुआ, वहां उन जीवों के जैसे परिणाम होते हैं, वैसे परिणाम जिन जीवों को अपूर्वकरण मांडकर प्रथमादि चतुर्थ समय पर्यंत या षष्ठमादि अंतिम समय पर्यंत हुये हो, उनके कदाचित् नहीं होते, यह नियम है । पुनश्च जिन जीवों को अपूर्वकरण मांडकर पांचवां समय हुआ है, ऐसे अनेक जीवों के परिणाम परस्पर समान भी हो सकते हैं अर्थात् जैसा एक जीव का परिणाम है, वैसा अन्य का भी हो सकता है; अथवा असमान भी हो सकते हैं अर्थात् एक जीव का अन्य परिणाम है, अन्य जीव का कोई अन्य परिणाम है । इसीतरह अन्य-अन्य समयवर्ती जीवों की जैसे अधःकरण में परस्पर समानता भी थी, वैसी यहां नहीं है । पुनश्च एक समयवर्ती जीवों के जैसे अधःकरण में समानता या असमानता थी, वैसी यहां भी है । इसप्रकार त्रिकालवर्ती नाना जीवों के परिणाम इस अपूर्वकरण में प्रवर्तते हैं ऐसा जानना ।

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा ।
कमउड्ढा पुव्वगुणे अणुकट्ठी णत्थि णियमेण ।।५३।।

अंतर्मुहूर्तमात्रे प्रतिसमयमसंख्यलोकपरिणामाः ।
क्रमवृद्धा अपूर्वगुणे अनुकृष्टिर्नास्ति नियमेन ।।५३।।

टीका - अंतर्मुहूर्तमात्र जो अपूर्वकरण का काल उसमें समय-समय प्रति क्रम से एक-एक चय बढ़ता हुआ असंख्यात लोकमात्र परिणाम हैं । वहां नियम से पूर्वापर समय संबंधी परिणामों के समानता का अभाव होने से अनुकृष्टि विधान नहीं है ।

अंकसंदृष्टि अपेक्षा समय-समय संबंधी अपूर्वकरण परिणाम रचना

समय	परिणाम संख्या
८	५६८
७	५५२
६	५३६
५	५२०
४	५०४
३	४८८
२	४७२
१	४५६
कुल परिणाम	४०९६

यहां भी अंकसंदृष्टि द्वारा दृष्टांतमात्र प्रमाण की कल्पना करके रचना का अनुक्रम दिखाते हैं । अपूर्वकरण के परिणाम ४०९६, वह सर्वधन है । पुनश्च अपूर्वकरण का काल ८ समय मात्र, वह गच्छ है । पुनश्च संख्यात का प्रमाण ४ है । वह **'पदकदिसंखेण भाजिदे पचयो होदि'** इस सूत्र द्वारा गच्छ ८ का वर्ग ६४ और संख्यात ४ का भाग सर्वधन ४०९६ को देनेपर चय आता है, उसका प्रमाण १६ हुआ। पुनश्च **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस सूत्र द्वारा एक कम गच्छ ७, उसके आधे को, चय १६ से गुणित करनेपर जो प्रमाण ५६ आता है, उसे गच्छ ८ से गुणा करनेपर चयधन ४४८ होता है । इसको सर्वधन ४०९६ में से घटानेपर, अवशेष ३६४८ को गच्छ ८ का भाग देनेपर प्रथम समय संबंधी परिणाम ४५६ होते हैं । इसमें एक चय १६ मिलानेपर द्वितीय समय संबंधी परिणाम होते हैं । इसतरह तृतीयादि समयों में एक-एक चय बढ़ता हुआ परिणाम पुंज है। वहां एक कम गच्छ मात्र चयों का प्रमाण ११२, उसे प्रथम समय संबंधी धन में जोड़नेपर अंतिम समय संबंधी परिणाम पुंज ५६८ होता है । इसमें से एक चय घटानेपर द्विचरम समय संबंधी परिणाम पुंज ५५२ होता है । इसीतरह एक-एक चय घटानेपर आठों गच्छ का प्रमाण जानना । अब यहां यथार्थ कथन करते हैं । वहां अर्थसंदृष्टि द्वारा रचना है सो आगे संदृष्टि अधिकार में लिखेंगे । त्रिकालवर्ती नाना जीवों संबंधी अपूर्वकरण के विशुद्धतारूप परिणाम, वे सभी अधःप्रवृत्तकरण के जितने परिणाम हैं, उनसे असंख्यात लोक गुणे हैं। क्यों ? क्योंकि अधःप्रवृत्तकरण काल के अंतिम समय संबंधी जो विशुद्ध परिणाम हैं, उनके अपूर्वकरण काल के प्रथम समय में प्रत्येक एक-

एक परिणाम के असंख्यात लोकप्रमाण भेदों की उत्पत्ति का सद्भाव है । इसलिये अपूर्वकरण के सर्व परिणामरूप सर्वधन, वह असंख्यात लोक को असंख्यात लोक से गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतना है, वह सर्वधन जानना । पुनश्च उसका काल अंतर्मुहूर्तमात्र है, उसके जितने समय, वह गच्छ जानना ।

पुनश्च **'पदकदिसंखेण भाजिदं पचयं'** इस सूत्र द्वारा गच्छ के वर्ग का तथा संख्यात का भाग सर्वधन को देनेपर जो प्रमाण होता है, वह चय जानना । पुनश्च **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** इस सूत्र द्वारा एक कम गच्छ के आधे प्रमाण से चय को तथा गच्छ को गुणित करनेपर जो प्रमाण होता है, सो चयधन जानना। इसको सर्वधन में से घटाकर अवशेष को गच्छ का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, वही प्रथम समयवर्ती त्रिकालगोचर नाना जीवों संबंधी अपूर्वकरण परिणामों का प्रमाण होता है । पुनश्च इसमें एक चय जोड़नेपर द्वितीय समयवर्ती नाना जीवों संबंधी अपूर्वकरण परिणामों के पुंज का प्रमाण होता है । इसीतरह तृतीयादि समयों में एक-एक चय की वृद्धि के अनुक्रम से परिणाम पुंज का प्रमाण लानेपर अंतिम समय में परिणाम धन है, वह एक कम गच्छ प्रमाण चयों को प्रथम समय संबंधी धन में जोड़ने पर जितना प्रमाण होता है, उतना है । पुनश्च इसमें से एक चय घटानेपर, द्विचरम समयवर्ती नाना जीवों संबंधी विशुद्ध परिणामों के पुंज का प्रमाण होता है । इसतरह समय-समय संबंधी परिणाम क्रम से बढ़ते हुये जानना ।

पुनश्च इस अपूर्वकरण गुणस्थान में पूर्वोत्तर समय संबंधी परिणामों का सदा ही समानता का अभाव है; इसलिये यहां खण्डरूप अनुकृष्टि रचना नहीं है ।

भावार्थ – आगे कषायाधिकार में शुक्ललेश्या संबंधी विशुद्ध परिणामों का प्रमाण कहेंगे । उसमें यहां अपूर्वकरण में होनेवाले जो परिणाम, उनमें से अपूर्वकरण काल के प्रथमादि समयों में जितने-जितने परिणाम होते हैं, उनका प्रमाण कहा है। पुनश्च यहां पूर्वापर में समानता का अभाव है, इसलिये खण्ड द्वारा अनुकृष्टि विधान नहीं कहा है। पुनश्च इस अपूर्वकरण काल में प्रथमादि अंतिम पर्यंत स्थित जो परिणाम स्थान, वे पूर्वोक्त विधान से असंख्यात लोक बार षट्स्थान पतित वृद्धि सहित जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसहित हैं । उनके समय-समय प्रति और परिणाम-परिणाम प्रति विशुद्धता के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण जानने के लिये अल्पबहुत्व कहते हैं ।

वहां प्रथम समयवर्ती सर्वजघन्य परिणाम विशुद्धता अधःप्रवृत्तकरण के अंतिम समय संबंधी अंत खण्ड की विशुद्धता से भी अनंतगुणा अविभागप्रतिच्छेदमयी है, तथापि अपूर्वकरण के अन्य परिणामों की विशुद्धता से अल्प है । पुनश्च उससे प्रथम समयवर्ती उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । पुनश्च उससे द्वितीय समयवर्ती जघन्य परिणाम विशुद्धता अनंतगुणी है । क्योंकि प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धता से असंख्यात लोकमात्र बार षट्स्थानपतित वृद्धिरूप अंतराल करके वह द्वितीय समयवर्ती जघन्य विशुद्धता उपजती है। पुनश्च उससे उस द्वितीय समयवर्ती उत्कृष्ट विशुद्धता अनंतगुणी है । इसतरह उत्कृष्ट से जघन्य और जघन्य से उत्कृष्ट विशुद्ध स्थान अनंतगुणा-अनंतगुणा है । इसप्रकार सर्प की चालवत् जघन्य से उत्कृष्ट, उत्कृष्ट से जघन्यरूप अनुक्रम सहित अपूर्वकरण के अंतिम समयवर्ती उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता तक जघन्य, उत्कृष्ट विशुद्धता का अल्पबहुत्व जानना ।

इसप्रकार इस अपूर्वकरण परिणाम का जो कार्य है, उसकी विशेषता को दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं ।
मोहस्सपुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया ।।५४।।

तादृशपरिणामस्थितजीवा हि जिनैर्गलिततिमिरैः ।
मोहस्यापूर्वकरणा क्षपणोपशमनोद्यता भणिताः ।।५४।।

टीका - तादृश यानि उसप्रकार के अर्थात् पूर्व-उत्तर समयों में असमान जो अपूर्वकरण के परिणाम, इनमें **स्थिताः** अर्थात् परिणमित हुये जीव, वे अपूर्वकरण हैं, इसतरह नष्ट हुआ है ज्ञानावरणादि कर्मरूप अंधःकार जिनका, ऐसे जिनदेवों ने बताया है ।

पुनश्च वे सभी अपूर्वकरण जीव प्रथम समय से लेकर चारित्रमोहनीय नामक कर्म का क्षय या उपशम करने को उद्यमवंत होते हैं । इसका अर्थ इस प्रकार है - गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन और अनुभागखंडन इन लक्षणों के धारी जो चार आवश्यक उनको करते हैं ।

वहां पूर्व में बांधा हुआ ऐसा सत्तारूप कर्मपरमाणुरूप द्रव्य, उसमें से निकालकर

जो द्रव्य गुणश्रेणी में दिया, उसका गुणश्रेणी के काल में प्रतिसमय असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा अनुक्रम सहित पंक्तिबंध निर्जरा का होना, गुणश्रेणी निर्जरा है ।

पुनश्च प्रतिसमय गुणकार के अनुक्रम से *(गुणित प्रमाण में)* विवक्षित प्रकृति के परमाणु पलटकर अन्य प्रकृतिरूप होकर परिणमित होते हैं, वह गुणसंक्रमण है ।

पुनश्च पूर्व में बंधी हुयी सत्तारूप कर्म प्रकृतियों की स्थिति, उसको घटाना स्थितिखंडन है ।

पुनश्च पूर्व में बांधा हुआ सत्तारूप अप्रशस्त कर्म प्रकृतियों का अनुभाग, उसको घटाना अनुभागखंडन है । ये चार कार्य अपूर्वकरण में अवश्य होते हैं । इनका विशेष अर्थ आगे लब्धिसार, क्षपणासार अनुसार अर्थ लिखेंगे, वहां जानना ।

णिद्दापयले णट्ठे सदि आऊ उवसमंति उवसमया ।
खवयं ढुक्के खवया णियमेण खवंति मोहं तु ।।५५।।

निद्राप्रचले नष्टे सति आयुषि उपशमयंति उपशमकाः ।
क्षपकं ढौकमानाः क्षपका नियमेन क्षपयंति मोहं तु ।।५५।।

टीका – इस अपूर्वकरण गुणस्थान में, जिसकी विद्यमान मनुष्यायु पायी जाती है ऐसे अपूर्वकरण जीव के, प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृति बंध होने से व्युच्छित्तिरूप होती हैं ।

अर्थ यह है कि – उपशम श्रेणी चढ़नेवाले अपूर्वकरण जीव का प्रथम भाग में मरण नहीं होता तथा निद्रा-प्रचला का बंध व्युच्छेद होता है, उसका होनेपर वे अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव यदि उपशम श्रेणी चढ़े तो चारित्रमोह को नियम से उपशमाते हैं । पुनश्च क्षपक श्रेणी चढ़नेवाले क्षपक नियम से उस चारित्रमोह का क्षय करते हैं । पुनश्च क्षपक श्रेणी में सर्वत्र नियम से मरण नहीं है ।

आगे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के स्वरूप को दो गाथाओं द्वारा प्ररूपित करते हैं –

एकह्मि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टंति ।
ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जेहिं ।।५६।।

होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ।।५७।। (जुग्मम्)

एकस्मिन् कालसमये संस्थानादिभिर्यथा निवर्तंते ।
न निवर्तंते तथापि च परिणामैर्मिथो यैः ।।५६।।

भवंति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषामेकपरिणामाः ।
विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः ।।५७।। (युग्मम्)

टीका – अनिवृत्तिकरण के काल में एक समय में वर्तमान त्रिकालवर्ती अनेक जीव जिसतरह शरीर का संस्थान, वर्ण, उमर, अवगाहना और क्षयोपशमरूप ज्ञान उपयोगादिक से परस्पर भेद को प्राप्त होते हैं, उसप्रकार विशुद्ध परिणामों से भेद को प्राप्त नहीं होते हैं, प्रकटपने वे जीव अनिवृत्तिकरण हैं ऐसा सम्यक् जानना । क्योंकि नहीं विद्यमान है निवृत्ति अर्थात् विशुद्ध परिणामों में भेद जिनके, वे अनिवृत्तिकरण हैं, ऐसी निरुक्ति है ।

भावार्थ – जिन जीवों को अनिवृत्तिकरण मांडकर पहला, दूसरा आदि समान समय हुये हो, उन त्रिकालवर्ती अनेक जीवों के परिणाम समान ही होते हैं, जिसतरह अधःकरण, अपूर्वकरण में समान या असमान होते थे, उसतरह यहां नहीं होते । पुनश्च अनिवृत्तिकरण काल के प्रथमादि समयों में समय-समय प्रति वर्तमान सर्व जीव हीनाधिकपने से रहित समान विशुद्ध परिणामों के धारक हैं । वहां समय-समय प्रति वे विशुद्ध परिणाम अनंतगुणे-अनंतगुणे उपजते हैं । वहां प्रथम समय में जो विशुद्ध परिणाम हैं, उनसे द्वितीय समय में विशुद्ध परिणाम अनंतगुणे होते हैं । इसतरह पूर्व-पूर्व समयवर्ती विशुद्ध परिणामों से जीवों के उत्तरोत्तर समयवर्ती विशुद्ध परिणाम अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा अनंतगुणा-अनंतगुणा अनुक्रम से बढ़ते हुये प्रवर्तते हैं । ऐसा यह विशेष जैनसिद्धांत में प्रतिपादन किया है, उसकी प्रतीति करना ।

भावार्थ – अनिवृत्तिकरण में एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता है। पुनश्च ऊपर-ऊपर के समयवर्तियों के अनंतगुणी-अनंतगुणी विशुद्धता बढ़ती है ।

उसका उदाहरण - जैसे, जिनको अनिवृत्तिकरण मांडकर पांचवां समय हुआ है ऐसे त्रिकालवर्ती अनेक जीव, उनके विशुद्ध परिणाम परस्पर समान ही होते हैं, कदाचित्

हीन-अधिक नहीं होते । पुनश्च वे विशुद्ध परिणाम जिनको अनिवृत्तिकरण मांडकर चौथा समय हुआ है उनके विशुद्ध परिणामों से अनंतगुणे हैं । तथा इनसे अनंतगुणे विशुद्ध परिणाम जिनको अनिवृत्तिकरण मांडकर छठवां समय हुआ है उनके होते हैं, ऐसा सर्वत्र जानना । पुनश्च वे अनिवृत्तिकरण परिणाम संयुक्त जीव अति निर्मल ध्यानरूपी हुतभुक् अर्थात् अग्नि की शिखाओं से दग्ध किये हैं कर्मरूपी वन जिन्होंने ऐसे हैं। इस विशेषण द्वारा चारित्रमोह का उपशमाना वा क्षय करना अनिवृत्तिकरण परिणामों का कार्य है, ऐसा सूचित किया है ।

आगे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के स्वरूप को कहते हैं -

धुदकोसुंभयवत्थं होदि जहा सुहमरायसंजुत्तं ।
एवं सुहमकसाओ सुहमसरागो त्ति णादव्वो ।।५८।।

धौतकौसुंभवस्त्रं भवति यथा सूक्ष्मरागसंयुक्तं ।
एवं सूक्ष्मकषायः सूक्ष्मसांपराय इति ज्ञातव्यः ।।५८।।

टीका - जैसे धुला हुआ कौसुंभ वस्त्र सूक्ष्म लाल रंग से संयुक्त होता है, वैसे अगले सूत्र में कहे हुये विधान द्वारा सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभ कषाय से जो संयुक्त है, वह सूक्ष्मसाम्पराय है; ऐसा जानना ।

आगे सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्तपने के स्वभाव को दो गाथाओं द्वारा प्ररूपित करते हैं -

पुव्वापुव्वप्फड्डय बादरसुहमगयकिट्टिअणुभागा ।
हीणकमाणंतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठस्स ।।५९।।

पूर्वापूर्वस्पर्धकबादरसूक्ष्मगतकृष्ट्यनुभागाः ।
हीनक्रमा अनंतगुणेन अवरात्तु वरं चाधस्तनस्य ।।५९।।

टीका - पूर्व में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में और संसार अवस्था में होते हैं ऐसे कर्म की शक्ति समूहरूप पूर्वस्पर्धक, पुनश्च अनिवृत्तिकरण परिणामों द्वारा किये हुये उनके अनंतवें भागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक, पुनश्च उन्हीं के द्वारा की हुयी बादरकृष्टि, पुनश्च उन्हीं के द्वारा की हुयी कर्म शक्ति के सूक्ष्म खण्डरूप सूक्ष्मकृष्टि, इनका अनुभाग क्रम से अपने उत्कृष्ट से अपना जघन्य और ऊपर के जघन्य से नीचे का उत्कृष्ट, ऐसे

अनंतगुणा हीन क्रमसहित है ।

भावार्थ - पूर्वस्पर्धकों के उत्कृष्ट अनुभाग के अविभागप्रतिच्छेदों का जो प्रमाण है, उसके अनंतवें भाग पूर्वस्पर्धकों का जघन्य अनुभाग है । पुनश्च उसके अनंतवें भाग अपूर्वस्पर्धकों का उत्कृष्ट अनुभाग है । पुनश्च उनके अनंतवें भाग अपूर्वस्पर्धकों का जघन्य अनुभाग है । पुनश्च उसके अनंतवें भाग बादरकृष्टि का उत्कृष्ट अनुभाग है । पुनश्च उसके अनंतवें भाग बादरकृष्टि का जघन्य अनुभाग है । पुनश्च उसके अनंतवें भाग सूक्ष्मकृष्टि का उत्कृष्ट अनुभाग है। पुनश्च उसके अनंतवें भाग सूक्ष्मकृष्टि का जघन्य अनुभाग है; ऐसा अनुक्रम जानना ।

पुनश्च इन पूर्वस्पर्धकादिकों का स्वरूप आगे लब्धिसार-क्षपणासार का कथन लिखेंगे, वहां अच्छी तरह से जानना । तथापि इनका स्वरूप जानने के लिये यहां भी किंचित् वर्णन करते हैं ।

कर्म प्रकृतिरूप परिणत परमाणुओं में अपना फल देने की जो शक्ति होती है, उसे अनुभाग कहते हैं । उस अनुभाग का ऐसा कोई केवलज्ञानगम्य अंश, कि जिसका दूसरा भाग नहीं होता; उसे यहां अविभागप्रतिच्छेद जानना ।

पुनश्च एक परमाणु में जितने अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं, उनके समूह का नाम वर्ग है ।

पुनश्च जिन परमाणुओं में परस्पर समान गणना सहित अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं, उनके समूह का नाम वर्गणा है ।

वहां अन्य परमाणुओं से जिसमें थोड़े अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं, उसका नाम जघन्य वर्ग है ।

पुनश्च उस परमाणु के समान जिन परमाणुओं में अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं, उनके समूह का नाम जघन्य वर्गणा है । पुनश्च जिन परमाणुओं में जघन्य वर्ग से एक अधिक अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं, ऐसे परमाणुओं का समूह, वह द्वितीय वर्गणा है । इसतरह जहां तक एक-एक अविभागप्रतिच्छेद अधिक के क्रम सहित जितनी वर्गणायें होती हैं, उतनी वर्गणाओं के समूह का नाम जघन्य स्पर्धक है ।

पुनश्च इसके ऊपर जघन्य वर्गणा के वर्गों में जितने अविभागप्रतिच्छेद थे, उनसे

दुगुणे अविभागप्रतिच्छेद जिस वर्गणा के वर्गों में होते हैं, वहां से द्वितीय स्पर्धक प्रारंभ हुआ । वहां भी पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक अविभागप्रतिच्छेद अधिक के क्रमयुक्त वर्गों के समूहरूप जितनी वर्गणायें होती हैं, उनके समूह का नाम द्वितीय स्पर्धक है। पुनश्च प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के वर्गों में जितने अविभागप्रतिच्छेद थे उनसे तीनगुणे अविभागप्रतिच्छेद जिस वर्गणा के वर्गों में पाये जाते हैं, वहां से तीसरे स्पर्धक का प्रारंभ हुआ, वहां भी पूर्वोक्त क्रम जानना ।

यहां यह अर्थ है - जब तक वर्गणा के वर्गों में क्रम से एक-एक अविभागप्रतिच्छेद बढ़ता है, तब तक वही स्पर्धक कहेंगे । तथा जहां युगपत् अनेक अविभागप्रतिच्छेद बढ़ते हैं, वहां से नवीन अन्य स्पर्धक का प्रारंभ कहेंगे । चतुर्थादि स्पर्धकों की आदि वर्गणा के वर्गों में अविभागप्रतिच्छेद प्रथम स्पर्धक की आदि वर्गणा के वर्गों में जितने थे, उनसे चौगुणे, पांचगुणे आदि क्रमसहित जानना । पुनश्च अपनी-अपनी द्वितीयादि वर्गणा के वर्ग में अपनी-अपनी प्रथम वर्गणा के वर्ग से एक-एक अविभाग-प्रतिच्छेद बढ़ते हुये अनुक्रम से जानना । ऐसे स्पर्धकों के समूह का नाम प्रथम गुणहानि है। इस प्रथम गुणहानि की प्रथम वर्गणा में जितने परमाणुरूप वर्ग पाये जाते हैं, उनसे एक-एक चय प्रमाण घटते हुये द्वितीयादि वर्गणाओं में वर्ग जानने । इस क्रम से जहां प्रथम गुणहानि की प्रथम वर्गणा के वर्गों से आधे वर्ग जिस वर्गणा में होते हैं, वहां से दूसरी गुणहानि का प्रारंभ होता है । वहां द्रव्य, चय आदि का प्रमाण आधा-आधा जानना । इस क्रम से सर्व कर्मपरमाणुओं में जितनी गुणहानियां पायी जाती हैं उनके समूह का नाम नानागुणहानि है ।

यहां वर्गणादि में परमाणुओं का प्रमाण लाने के लिये द्रव्य, स्थिति, गुणहानि, दो गुणहानि, नानागुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि ये छह जानने ।

वहां सर्व कर्मपरमाणुओं का प्रमाण त्रिकोण यंत्र के अनुसार स्थिति संबंधी किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण है, वह सर्वद्रव्य जानना ।

पुनश्च नानागुणहानि से गुणहानि आयाम को गुणा करनेपर जो सर्वद्रव्य में वर्गणाओं का प्रमाण आता है, वह स्थिति जाननी ।

पुनश्च एक गुणहानि में अनंतगुणा अनंत प्रमाण वर्गणा पायी जाती हैं, वह गुणहानि आयाम जानना ।

इसको दुगुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह दो गुणहानि है ।

पुनश्च सर्वद्रव्य में गुणहानियों का प्रमाण अनंत है, उसका नाम नानागुणहानि है। क्योंकि दो के गुणकाररूप घटते-घटते जिसमें द्रव्यादिक पाये जाते हैं, वह गुणहानि; *(गुणित प्रमाण में हानि, वह गुणहानि । दो गुणा हानि अर्थात् आधा होना । जहां द्रव्य, चय आदि का प्रमाण आधा-आधा होता है उसे गुणहानि कहते हैं)* अनेक जो गुणहानि, वह नानागुणहानि जानना ।

पुनश्च नानागुणहानि प्रमाण दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह अन्योन्याभ्यस्तराशि जानना ।

वहां एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि का भाग सर्वद्रव्य को देनेपर जो प्रमाण आता है, वह अंतिम गुणहानि के द्रव्य का प्रमाण है । इससे दुगुणा-दुगुणा प्रथम गुणहानि पर्यंत द्रव्य का प्रमाण है । पुनश्च **'दिवड्ढगुणहाणिभाजिदे पढमा'** इस सूत्र द्वारा साधिक डेढ़ गुणहानि आयाम का भाग सर्वद्रव्य को देनेपर जो प्रमाण होता है, वही प्रथम गुणहानि की प्रथम वर्गणा में परमाणुओं का प्रमाण है । पुनश्च इसको दो गुणहानि का भाग देनेपर चय का प्रमाण आता है, सो द्वितीयादि वर्गणाओं में एक-एक चय घटता हुआ परमाणुओं का प्रमाण जानना । ऐसे क्रम से जहां प्रथम गुणहानि की प्रथम वर्गणा से जिस वर्गणा में परमाणुओं का प्रमाण आधा होता है, वह द्वितीय गुणहानि की प्रथम वर्गणा है । इसके पहले जितनी वर्गणा हुयी, उतनी सब प्रथम गुणहानि संबंधी जानना ।

पुनश्च यहां द्वितीय गुणहानि में भी द्वितीयादि वर्गणाओं में एक-एक चय घटता हुआ परमाणुओं का प्रमाण जानना । यहां द्रव्य, चय आदि का प्रमाण प्रथम गुणहानि से सर्वत्र आधा-आधा जानना, इस क्रम से सर्वद्रव्य में नानागुणहानि अनंत हैं । पुनश्च यहां प्रथम गुणहानि की प्रथम वर्गणा से लेकर अंतिम वर्गणा पर्यंत की जो वर्गणा, उनके वर्गों में अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण पूर्वोक्त प्रकार से अनुक्रमरूप से बढ़ता हुआ जानना ।

अब इस कथन को अंकसंदृष्टि द्वारा दिखाते हैं ।

सर्वद्रव्य इकतीस सौ (३१००), स्थिति चालीस (४०), गुणहानि आयाम आठ (८), दो गुणहानि सोलह (१६), नाना गुणहानि पांच (५), अन्योन्याभ्यस्तराशि बत्तीस (३२);

अंकसंदृष्टि अपेक्षा गुणहानि की वर्गणाओं में वर्गों के प्रमाण का यंत्र ।

प्रथम गुणहानि	द्वितीय गुणहानि	तृतीय गुणहानि	चतुर्थ गुणहानि	पंचम गुणहानि
१४४	७२	३६	१८	९
१६०	८०	४०	२०	१०
१७६	८८	४४	२२	११
१९२	९६	४८	२४	१२
२०८	१०४	५२	२६	१३
२२४	११२	५६	२८	१४
२४०	१२०	६०	३०	१५
२५६	१२८	६४	३२	१६
जोड़	जोड़	जोड़	जोड़	जोड़
१६००	८००	४००	२००	१००

वहां एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि ३१ का भाग सर्वद्रव्य ३१०० को देनेपर सौ (१००) आये, सो अंतिम गुणहानि का द्रव्य है । इससे दुगुणा-दुगुणा प्रथम गुणहानि पर्यंत द्रव्य जानना । १६००, ८००, ४००, २००, १०० । पुनश्च साधिक डेढ़ गुणहानि का भाग सर्वद्रव्य को देनेपर, दो सौ छप्पन (२५६) प्राप्त हुये, सो प्रथम गुणहानि की प्रथम वर्गणा में वर्गों का प्रमाण है । इसको दो गुणहानि १६ का भाग देनेपर सोलह आये, सो चय का प्रमाण है । सो द्वितीयादि वर्गणा में इतने-इतने घटते वर्ग जानना । ऐसी आठ वर्गणा प्रथम गुणहानि में जाननी। पुनश्च द्वितीय गुणहानि में आठ वर्गणा हैं ।

उनमें पूर्व से द्रव्य तथा चय का प्रमाण आधा-आधा जानना । इसतरह सर्वद्रव्य में आधे-आधे क्रम से पांच नानागुणहानि होती हैं ।

(गुणहानि की वर्गणा नीचे की पहली, ऊपर दूसरी, उसके ऊपर तीसरी इसतरह नीचे से ऊपर तक पढ़ना ।)

इनकी रचना - ***यंत्ररचना पृ.१४४*** –

यहां चार, तीन आदि स्थानों में आठ, नौ आदि अविभागप्रतिच्छेद स्थापित किये हैं । उनकी सहनानी से अपनी-अपनी वर्गणा में जितने-जितने वर्ग हैं, उतने- उतने स्थानों में उन अविभागप्रतिच्छेदों का स्थापन जानना ।

(अंकसंदृष्टि के यंत्र में प्रथम गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में चार बार ८ लिखे हैं, उसका अर्थ यह समझना की ८ अविभागप्रतिच्छेदवाले चार वर्ग वहां हैं । उसके ऊपर तीन बार ९ लिखे हैं उसका अर्थ द्वितीय वर्गणा में एक अविभागप्रतिच्छेद

पुनश्च चार-चार वर्गणा का समूह एक-एक स्पर्धक है और एक-एक गुणहानि में दो-दो स्पर्धक हैं । वहां प्रथम गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के वर्ग में आठ-आठ अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं । दूसरी वर्गणा के वर्गों में नौ-नौ, तीसरी के वर्गों में दस-दस, चौथी के वर्गों में ग्यारह ग्यारह । पुनश्च प्रथम गुणहानि के द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के वर्गों में सोलह-सोलह, दूसरी वर्गणा के वर्गों में सत्रह-सत्रह, तीसरी के वर्गों में अठारह-अठारह, चौथी के वर्गों में उन्नीस-उन्नीस अविभागप्रतिच्छेद हैं । पुनश्च द्वितीय गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के वर्गों में चौबीस-चौबीस, ऊपर एक-एक बढ़ते हुये इसीतरह अंतिम गुणहानि के अंतिम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा पर्यंत अनुक्रम जानना ।

अंकसंदृष्टि अपेक्षा अविभागप्रतिच्छेदों की रचना का यंत्र –

प्रथम गुणहानि		द्वितीय गुणहानि		तीसरी गुणहानि		चौथी गुणहानि		पांचवीं गुणहानि	
प्रथम स्पर्धक	द्वितीय स्पर्धक	प्रथम स्पर्धक	द्वितीय स्पर्धक	प्रथम स्पर्धक	द्वितीय स्पर्धक	प्रथम स्पर्धक	द्वितीय स्पर्धक	प्रथम स्पर्धक	द्वितीय स्पर्धक
११	१९	२७	३५	४३	५१	५९	६७	७५	८३
१०।१०	१८।१८	२६।२६	३४।३४	४२।४२	५०।५०	५८।५८	६६।६६	७४।७४	८२।८२
९।९।९	१७।१७।१७	२५।२५।२५	३३।३३।३३	४१।४१।४१	४९।४९।४९	५७।५७।५७	६५।६५।६५	७३।७३।७३	८१।८१।८१
८।८।८।८	१६।१६।१६।१६	२४।२४।२४।२४	३२।३२।३२।३२	४०।४०।४०।४०	४८।४८।४८।४८	५६।५६।५६।५६	६४।६४।६४।६४	७२।७२।७२।७२	८०।८०।८०।८०

अधिक है, परंतु वहां वर्गों की संख्या कुछ कम हैं । ८,९,१०,११ अनुभागवाली चार वर्गणा हैं उसके पश्चात् अंतर है, जिस वर्गणा में ८ से दुगुणा १६ अविभागप्रतिच्छेद होता है वहां से दूसरा स्पर्धक शुरु होता है । उसमें भी चार वर्गणा हैं, उनके वर्गों के अविभागप्रतिच्छेद क्रम से १६,१७,१८,१९ हैं । इसी क्रम से यहां पांच गुणहानि बतायी हैं ।)

इसतरह अंकसंदृष्टि द्वारा जैसा दृष्टांत कहा, वैसे ही पूर्वोक्त यथार्थ कथन का अवधारण करना । इसप्रकार कहे हुये जो अनुभागरूप स्पर्धक, वे पूर्व संसार अवस्था में जीवों के होते हैं, इसलिये इनको पूर्वस्पर्धक कहते हैं । इनमें जघन्य स्पर्धक से लेकर लताभागादिरूप स्पर्धक प्रवर्तते हैं । उनमें से लताभागादिरूप कितने ही स्पर्धक देशघाति हैं, ऊपर के कितने ही स्पर्धक सर्वघाति हैं, उनका विभाग आगे लिखेंगे। पुनश्च अनिवृत्तिकरण परिणामों द्वारा कभी भी पूर्व में न हुये हो ऐसे अपूर्वस्पर्धक होते हैं । उनमें उत्कृष्ट अपूर्वस्पर्धक में भी जघन्य पूर्वस्पर्धक से भी अनंतवें भाग अनुभाग शक्ति पायी जाती है । विशुद्धता के माहात्म्य से अनुभाग शक्ति घटाकर कर्म परमाणुओं को इसरूप परिणमाते हैं । यहां विशेष इतना ही हुआ - पूर्वस्पर्धक की जघन्य वर्गणा के वर्ग से इस अपूर्वस्पर्धक की अंतिम वर्गणा के वर्ग में अनंतवें भाग अनुभाग है। पुनश्च अन्य वर्गणाओं में अनुभाग घटता है, उसका विधान पूर्वस्पर्धकवत् जानना । पुनश्च वर्गणाओं में परमाणुओं का प्रमाण पूर्वस्पर्धक की जघन्य वर्गणा से एक-एक चय से बढ़ता हुआ पूर्वस्पर्धकवत् क्रम से जानना । यहां चय का प्रमाण पूर्वस्पर्धक की प्रथम गुणहानि के चय से दुगुणा है ।

पुनश्च उसके पश्चात् अनिवृत्तिकरण के परिणामों के द्वारा ही कृष्टि करते हैं । अनुभाग का कृष करना, घटाना, उसे कृष्टि कहते हैं । वहां संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुभाग घटाकर स्थूल खण्ड करना, वह बादरकृष्टि है । वहां उत्कृष्ट बादरकृष्टि में भी जघन्य अपूर्वस्पर्धक से भी अनंतगुणा घटता अनुभाग होता है । वहां चारों कषायों की बारह संग्रहकृष्टि होती हैं । और एक-एक संग्रहकृष्टि में अनंत-अनंत अंतरकृष्टि होती हैं । उनमें लोभ की प्रथम संग्रह की प्रथमकृष्टि से लेकर क्रोध की तृतीय संग्रह की अंतकृष्टि पर्यंत क्रम से अनंतगुणा-अनंतगुणा अनुभाग है। उस क्रोध की तृतीय संग्रहकृष्टि की अंतकृष्टि से अपूर्वस्पर्धकों की प्रथम वर्गणा में अनंतगुणा अनुभाग है । स्पर्धकों में तो पूर्वोक्त प्रकार अनुभाग का अनुक्रम था ।

यहां अनंतगुणा घटता अनुभाग का क्रम हुआ, वही स्पर्धक और कृष्टि में अंतर जानना। पुनश्च वहां परमाणुओं का प्रमाण लोभ की प्रथम संग्रह की जघन्य कृष्टि में यथासंभव बहुत है, उससे क्रोध की तृतीय संग्रह की अंतकृष्टि पर्यंत चय घटते क्रम सहित है । सो इसका विशेष आगे लिखेंगे, वहां जानना । ऐसे ये अपूर्वस्पर्धक और बादरकृष्टि क्षपक श्रेणी में ही होते हैं, उपशम श्रेणी में नहीं होते । पुनश्च अनिवृत्तिकरण परिणामों द्वारा ही कषायों के सर्व परमाणु आनुपूर्वी संक्रमणादि विधान द्वारा एक लोभरूप परिणमाकर बादरकृष्टिगत लोभरूप करके पश्चात् उनको सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणमाता है, इसतरह सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त हुये लोभ की उत्कृष्ट सूक्ष्मकृष्टि में उसके जघन्य बादरकृष्टि से भी अनंतवें भाग अनुभाग होता है । वहां अनंत कृष्टियों में क्रम से अनंतगुणा अनुभाग घटता है । पुनश्च परमाणुओं का प्रमाण जघन्य कृष्टि से लेकर उत्कृष्ट कृष्टि पर्यंत चय घटते क्रम सहित है, इसका विशेष आगे लिखेंगे, वह जानना । यह विधान क्षपक श्रेणी में होता है ।

उपशम श्रेणी में पूर्वस्पर्धकरूप लोभ के कई परमाणुओं को सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणमाते हैं, उसका विशेष आगे लिखेंगे ।

*(**विशेषार्थ** - पूर्वस्पर्धकों में एक-एक स्पर्धक में अनंत वर्गणायें होती हैं । सबसे नीचे की प्रथम वर्गणा अर्थात् जघन्य वर्गणा में अनुभाग जघन्य होता है परंतु परमाणुओं की संख्या सर्वाधिक होती है । वर्गणा-वर्गणा के प्रति अनुभाग एक-एक अविभागप्रतिच्छेद से बढ़ता जाता है परंतु परमाणुओं की संख्या एक-एक चय से घटती जाती है । पूर्वस्पर्धकों के नीचे अपूर्वस्पर्धक बनते हैं उनमें भी एक-एक में अनंत वर्गणा होती हैं परंतु अनुभाग पूर्वस्पर्धकों से अनंतवें भाग होता है और प्रतिवर्गणा परमाणुओं की संख्या ऊपर से नीचे की ओर बढ़ती जाती है । अपूर्वस्पर्धकों से भी अनंतगुणा घटकर वर्गणा के बदले कृष्टि होती हैं । वर्गणा के समूह को स्पर्धक कहा था, यहां कृष्टियों के समूह को संग्रहकृष्टि कहा है । वर्गणा और कृष्टि का अंतर यही है कि वर्गणा-वर्गणा प्रति नीचे से ऊपर अविभागप्रतिच्छेद एक-एक से बढ़ता है परंतु कृष्टियों में एक कृष्टि से उसके अनंतर ऊपर की कृष्टि में अनुभाग अनंतगुणा बढ़ता हुआ पाया जाता है । यहां भी नीचे की कृष्टि में परमाणु सर्वाधिक होते हैं, ऊपर की कृष्टियों में क्रम से एक-एक चय घटते हुये पाये जाते हैं ।)*

इसतरह अनिवृत्तिकरण में जो सत्ता में सूक्ष्मकृष्टि की थी, वह जहां उदयरूप

होकर प्रवर्तती है, वहां सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान होता है ऐसा जानना ।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि ।।६०।।

अणुलोभं विदन् जीवः उपशामको व क्षपको वा ।
स सूक्ष्मसांपरायो यथाख्यातेनोनः किंचित् ।।६०।।

टीका – अनिवृत्तिकरण काल के अंतिम समय के अनंतर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त होकर, सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त हुये लोभ के उदय को भोगता हुआ उपशमानेवाला वा क्षय करनेवाला जीव सूक्ष्मसाम्पराय है, ऐसा कहते हैं ।

सूक्ष्मसाम्पराय संयम संयुक्त जीव सामायिक, छेदोपस्थापना संयम से अति अधिक विशुद्धतामय है, सो यथाख्यातचारित्र संयुक्त जीव से किंचित् मात्र ही हीन है । क्योंकि सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त ऐसा जो साम्पराय अर्थात् लोभ कषाय, सो जिसके पाया जाय, वह सूक्ष्मसाम्पराय है ऐसा सार्थक नाम है ।

आगे उपशांतकषाय गुणस्थान के स्वरूप का निर्देश करते हैं ।

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि ।।६१।।

कतकफलयुतजलं वा शरदि सरःपानीयं व निर्मलं ।
सकलोपशांतमोह उपशांतकषायको भवति ।।६१।।

टीका – जिसतरह कतकफल के चूर्ण से संयुक्त जल प्रसन्न होता है अथवा मेघपटलरहित शरद काल में सरोवर का पानी प्रसन्न होता है अर्थात् ऊपर से निर्मल होता है, उसतरह समस्तपने से उपशांत हुआ है मोहनीय कर्म जिसका, वह उपशांतकषाय है । **उपशांतः** अर्थात् समस्तपने से उदय होने के अयोग्य किये हैं कषाय-नोकषाय जिसने वह उपशांतकषाय है। इस निरुक्ति द्वारा अत्यंत प्रसन्नचित्तपना सूचित किया है।

आगे क्षीणकषाय गुणस्थान के स्वरूप का प्ररूपण करते हैं –

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ।।६२।।

निश्शेषक्षीणमोहः स्फटिकामलभाजनोदकसमचित्तः ।
क्षीणकषायो भण्यते निर्ग्रन्थो वीतरागैः ।।६२।।

टीका – जिसके मोहनीय कर्म की प्रकृति अवशेष रहित क्षीण हुयी है अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश से रहित हुयी है; वह निःशेष क्षीणकषाय है । ऐसे निःशेष मोह प्रकृतियों के सत्त्व से रहित जीव, वह क्षीणकषाय है । उसकारण से स्फटिक के पात्र में स्थित जल के समान प्रसन्न - सर्वथा निर्मल है चित्त जिसका ऐसा क्षीणकषाय जीव है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञ देवों ने कहा है । वही परमार्थ से निर्ग्रंथ है । उपशांतकषाय भी यथाख्यातचारित्र की समानता द्वारा निर्ग्रंथ है, ऐसा जिनवचन में प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ – उपशांतकषाय के तो मोह के उदय का अभाव है, सत्त्व विद्यमान है । पुनश्च क्षीणकषाय के उदय, सत्त्व सर्वथा नष्ट हुये हैं; परंतु दोनों के परिणामों में कषायों का अभाव है । इसलिये दोनों का यथाख्यातचारित्र समान है । इसकारण दोनों बाह्य, अभ्यंतर परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ कहे हैं ।

आगे सयोगकेवली गुणस्थान को दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ।।६३।।

केवलज्ञानदिवाकरकिरणकलापप्रणाशिताज्ञानः ।
नवकेवललब्ध्युद्गमसुजनितपरमात्मव्यपदेशः ।।६३।।

टीका – **केवलज्ञानदिवाकरकिरणकलापप्रणाशिताज्ञानः** अर्थात् केवलज्ञानरूपी दिवाकर अर्थात् सूर्य, उसके किरणों का कलाप अर्थात् समूह अर्थात् पदार्थों के प्रकाशने में प्रवीण दिव्यध्वनि के विशेष, उनके द्वारा प्रनष्ट किया है शिष्यजनों का अज्ञानांधःकार जिसने ऐसा सयोगकेवली है । इस विशेषण द्वारा सयोगी भट्टारक के भव्यलोक का उपकारीपना है लक्षण जिसका, ऐसी परार्थरूप सम्पदा कही । पुनश्च **नवकेवललब्ध्युद्गमसु-**

जनितपरमात्मव्यपदेशः अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्यरूप लक्षण की धारक नौ केवललब्धि, उनका उदय अर्थात् प्रकट होना, उससे सुजनित अर्थात् वस्तुवृत्ति से निपजा हुआ है परमात्मा ऐसा व्यपदेश अर्थात् नाम जिसका, ऐसा सयोगकेवली है । इस विशेषण द्वारा भगवान अर्हत्परमेष्ठी के अनंतज्ञानादि लक्षण की धारक ऐसी स्वार्थरूप सम्पदा दिखाते हैं ।

असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तो त्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ।।६४।।

असहायज्ञानदर्शनसहितः इति केवली हि योगेन ।
युक्त इति सयोगिजिनः अनादिनिधनार्षे उक्तः ।।६४।।

टीका – योग से सहित वह सयोग, और पर की सहायता से रहित ऐसे ज्ञान-दर्शन से सहित वह केवली, सयोग वही केवली, वह सयोगकेवली । पुनश्च घातिकर्मों का निर्मूल नाशकर्ता, वह जिन, सयोगकेवली वही जिन, वह सयोगकेवली जिन है, ऐसा अनादिनिधन ऋषिप्रणीत आगम में कहा है ।

आगे अयोगकेवली गुणस्थान का निरूपण करते हैं –

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ।।६५।।

शीलेस्यं संप्राप्तो निरुद्धनिश्शेषास्रवो जीवः ।
कर्मरजोविप्रमुक्तो गतयोगः केवली भवति ।।६५।।

टीका – जो अठारह हजार शील के स्वामित्वपने को प्राप्त हुआ है, पुनश्च जिसने समस्त आस्रव का निरोध किया है इसलिये नवीन बध्यमान कर्मरूपी रज से सर्वथा रहित हुआ है, पुनश्च मन, वचन, काय योग से रहितपने से जो अयोग हुआ है, वह नहीं विद्यमान है योग जिसके ऐसा अयोग और अयोग वही केवली, वह अयोगकेवली भगवान परमेष्ठी जीव ऐसा है ।

इसप्रकार कहे हुये चौदह गुणस्थान, उनमें अपनी आयु बिना सात कर्मों की

गुणश्रेणी निर्जरा होती है । उसका और उस गुणश्रेणी निर्जरा का कालविशेष दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे ।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते ।।६६।।

खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा ।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति ।।६७।।

सम्यक्त्वोत्पत्तौ श्रावकविरते अनंतकर्मांशे ।
दर्शनमोहक्षपके कषायोपशामके चोपशांते ।।६६।।

क्षपके च क्षीणमोहे जिनेषु द्रव्याण्यसंख्यगुणितक्रमाणि ।
तद्विपरीताः कालाः संख्यातगुणक्रमा भवंति ।।६७।।

टीका – प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में प्रवर्तमान अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के कारणभूत तीन करण परिणामों के अंतिम समय में प्रवर्तमान ऐसा जो विशिष्ट विशुद्धता का धारी मिथ्यादृष्टि जीव, उसके आयु बिना अवशेष ज्ञानावरणादि कर्मों का जो गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य है, उससे देशसंयत का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यात गुणा है । पुनश्च उससे सकलसंयमी का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । उससे अनंतानुबंधी कषाय का विसंयोजन करनेवाले जीव का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । उससे दर्शनमोह का क्षय करनेवाले का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । उससे कषाय उपशम करनेवाले अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती जीवों का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । पुनश्च उससे उपशांतकषाय गुणस्थानवर्ती जीव का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । पुनश्च उससे क्षपक श्रेणीवाले अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती जीवों का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । पुनश्च उससे क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीवों का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । पुनश्च उससे समुद्घात रहित स्वस्थान केवली जिनों का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । उससे समुद्घात सहित केवली समुद्घात जिनों का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यातगुणा है । इसतरह ग्यारह स्थानों में गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य का स्थान-स्थान प्रति असंख्यातगुणापना कहा ।

अब उस गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य का प्रमाण कहते हैं । कर्मप्रकृतिरूप परिणमित

पुद्गल परमाणुओं का नाम यहां द्रव्य जानना । जगत्श्रेणी का घन लोक है, लोकप्रमाण एक जीव के प्रदेश हैं, उन प्रदेशों में स्थित ऐसे अनादि संसार के हेतु से बंध के संबंध से बंधरूप हुये ज्ञानावरणादि मूलप्रकृति वा उत्तरप्रकृति संबंधी, सत्तारूप सर्वद्रव्य है, उसका प्रमाण आगे कहे जानेवाले त्रिकोण रचना के अभिप्राय के अनुसार किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानि आयाम के प्रमाण से समयप्रबद्ध के प्रमाण को गुणित करनेपर जो हो, उतना है ।

पुनश्च इसमें आयु कर्म का अल्प द्रव्य है, इसलिये इसमें से किंचित् न्यून करनेपर अवशेष द्रव्य सात कर्मों का है । इसलिये इसको सात का भाग देनेपर एक भाग प्रमाण ज्ञानावरण कर्म का द्रव्य होता है । पुनश्च इसके देशघाति, सर्वघाति द्रव्य के विभाग करने के लिये जिनदेव ने देखे हुये यथासंभव अनंत का भाग देनेपर एक भाग प्रमाण तो सर्वघाति केवलज्ञानावरण का द्रव्य है । अवशेष बहुभाग प्रमाण मतिज्ञानावरणादि देशघाति प्रकृतियों का द्रव्य है । पुनश्च इस देशघाति द्रव्य को मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानावरणादिरूप चार देशघाति प्रकृतियों के विभाग के लिये चार का भाग देनेपर एक भाग प्रमाण मतिज्ञानावरण का द्रव्य होता है ।

भावार्थ – यहां मतिज्ञानावरण के द्रव्य की गुणश्रेणी के उदाहरण द्वारा कथन किया है । इसलिये मतिज्ञानावरण द्रव्य का ही ग्रहण किया है । इसीतरह अन्य प्रकृतियों का भी यथासंभव जान लेना ।

पुनश्च इस मतिज्ञानावरण द्रव्य को अपकर्षण भागहार का भाग देकर वहां बहुभाग तो वैसा ही रहता है, ऐसा जानकर एक भाग का ग्रहण किया ।

भावार्थ – जिसतरह अन्न की राशि में से चार का भाग देकर एक भाग को किसी कार्य के लिये अलग निकालते हैं, अवशेष बहुभाग जैसा था वैसा ही रखते हैं, उसतरह यहां मतिज्ञानावरणरूप द्रव्य में से अपकर्षण भागहार का भाग देकर एक भाग को अन्यरूप परिणमाने के लिये अलग ग्रहण किया । अवशेष बहुभाग प्रमाण द्रव्य, जैसा पूर्व में अपनी स्थिति के समय-समय संबंधी निषेकों में स्थित था, वैसा ही रहा । यहां कर्म परमाणुरूप राशि में स्थिति घटाने के लिये जिस भागहार का भाग होता है, उसका नाम अपकर्षण भागहार जानना । इस अपकर्षण भागहार का प्रमाण, आगे कर्मकाण्ड में पंच भागहार चूलिका अधिकार में कहेंगे, वहां जानना।

पुनश्च विवक्षित भागहार का भाग देनेपर वहां एक भाग को छोड़कर अवशेष सर्व भागों के समूह का नाम बहुभाग जानना । अपकर्षण भागहार का भाग देकर, बहुभाग को वैसा ही रखकर, एक भाग को जुदा ग्रहण किया था, उसको कैसा-कैसा परिणमाया वह कहते हैं ।

उस एक भाग को पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर वहां बहुभाग तो उपरितन स्थिति में देना, उसे एक जगह स्थापित कर, पुनश्च अवशेष एक भाग रहा उसको पुनश्च असंख्यात लोक का भाग देकर, वहां बहुभाग तो गुणश्रेणी के आयाम में देना, उसे एक जगह स्थापित कर, अवशेष एक भाग रहा, उसे उदयावली में देना ।

अब उदयावली, गुणश्रेणी, उपरितन स्थिति में दिया हुआ द्रव्य किसतरह परिणमता है, वह कहते हैं । वहां उदयावली में दिया हुआ द्रव्य वर्तमान समय से लेकर एक आवली प्रमाण काल में पूर्व में जो आवली के निषेक थे, उनके साथ अपना फल देकर खिरते हैं ।

वहां आवली के काल के प्रथमादि समयों में कितना-कितना द्रव्य उदय में आता है ? वह कहते हैं - एक समय संबंधी जितना द्रव्य का प्रमाण, उसका नाम निषेक जानना । वहां उदयावली में दिये हुये द्रव्य को उदयावली काल के समयों के प्रमाण से भाग देनेपर, बीचवाले समय संबंधी द्रव्यरूप मध्यधन का प्रमाण आता है, उसको एक कम आवली के आधे प्रमाण से हीन ऐसा निषेकहार अर्थात् गुणहानि आयाम के प्रमाण से दुगुणा ऐसा दो गुणहानि का प्रमाण, उसका भाग देनेपर चय का प्रमाण आता है । पुनश्च इस चय को दो गुणहानि से गुणा करनेपर, उदयावली के प्रथम समय संबंधी प्रथम निषेक का प्रमाण आता है । उसमें से एक चय घटानेपर उदयावली के द्वितीय समय संबंधी द्वितीय निषेक का प्रमाण आता है । इसी क्रम से उदयावली के अंतिम निषेक पर्यंत एक-एक चय घटानेपर, एक कम आवली प्रमाण चय उदयावली के प्रथम निषेक में से घटानेपर उदयावली के अंतिम निषेक का प्रमाण होता है । इसको अंकसंदृष्टि द्वारा व्यक्त करते हैं ।

जैसे, उदयावली में दिया हुआ द्रव्य दो सौ (२००), तथा गच्छ आवली, उसका प्रमाण आठ (८), पुनश्च एक-एक गुणहानि में निषेकों का प्रमाण वह गुणहानि

का आयाम, उसका प्रमाण आठ (८), इसको दुगुणा करनेपर दो गुणहानि का प्रमाण सोलह (१६), वहां सर्वद्रव्य दो सौ को आवली प्रमाण गच्छ आठ का भाग देनेपर मध्यधन का प्रमाण पच्चीस (२५) आता है । इसको एक कम आवली का आधा साढ़े तीन ($\frac{७}{२}$), उसको निषेकहार सोलह में से घटानेपर साढ़े बारह ($\frac{२५}{२}$) आये, उसका भाग देनेपर दो (२) आये, वह चय का प्रमाण जानना । इसको दो गुणहानि सोलह से गुणा करनेपर बत्तीस (३२) आये, वह प्रथम निषेक का प्रमाण है । इसमें से एक-एक चय घटानेपर द्वितीयादि निषेकों का तीस आदि प्रमाण होता है । इसतरह एक कम आवली प्रमाण चय के चौदह हुये, उसे प्रथम निषेक में से घटानेपर अवशेष अठारह अंतिम निषेक का प्रमाण होता है । इन सब को जोड़नेपर ३२,३०,२८,२६,२४,२२,२०,१८ दो सौ (२००) सर्वद्रव्य का प्रमाण होता है । इसीतरह अर्थसंदृष्टि द्वारा पूर्वोक्त यथार्थ स्वरूप अवधारण करना ।

पुनश्च इसके पश्चात् - उदयावली काल के पश्चात् अंतर्मुहूर्तमात्र जो गुणश्रेणी का आयाम अर्थात् काल प्रमाण, उसमें दिया हुआ द्रव्य, वह उस काल के प्रथमादि समय में जो पूर्व निषेक थे उनके साथ क्रम से असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा होकर निर्जरित होता है । वह गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात लोक का भाग देनेपर बहुभाग प्रमाण था, वह सम्यक्त्व की उत्पत्तिरूप करणकाल संबंधी गुणश्रेणी का आयाम अंतर्मुहूर्तमात्र, उसमें असंख्यात-असंख्यात गुणा अनुक्रम से निषेक रचना करता है ।

यहां सम्यक्त्व की उत्पत्ति संबंधी गुणश्रेणी का कथन मुख्य किया, इसलिये उसीके काल का ग्रहण किया है । वहां **'प्रक्षेपयोगाद्धृतमिश्रपिंडः प्रक्षेपकाणां गुणको भवेदिति'** इस करणसूत्र से प्रक्षेप जो शलाका, उनका जो योग अर्थात् जोड़, उससे उद्धृत अर्थात् भाजित, ऐसा जो मिश्रपिंड अर्थात् मिले हुये द्रव्य का जो प्रमाण, वह प्रक्षेप है । अर्थात् अपनी-अपनी शलाकाओं का प्रमाण उसका गुणक अर्थात् गुणकार होता है । अथवा यह गुण्य होता है, वे प्रक्षेप गुणकार होते हैं, ऐसा करनेपर भी दोष नहीं हैं, क्योंकि दोनों का प्रयोजन एक है । सो यहां उस गुणश्रेणी आयाम के प्रथम समय में जितना द्रव्य दिया, उस प्रमाण एक शलाका है । पुनश्च दूसरे समय उससे असंख्यात गुणी शलाका है । तीसरे समय उससे असंख्यातगुणी शलाका है । इसतरह असंख्यातगुणा अनुक्रम से अंतिम समय में यथायोग्य असंख्यातगुणी शलाका होती है । इन सर्व प्रथमादि समय संबंधी शलाकाओं का जोड़ देनेपर जो प्रमाण होगा, वह प्रक्षेपयोग जानना । उसका

भाग गुणश्रेणी में दिये हुये द्रव्य को देनेपर जो प्रमाण आये उसको प्रक्षेपक अर्थात् अपने-अपने समय संबंधी शलाका के प्रमाण से गुणित करनेपर अपने-अपने द्रव्य का प्रमाण आता है । इसतरह जिस-जिस समय में जितना-जितना द्रव्य का प्रमाण आता है, उतना-उतना द्रव्य उस-उस समय में निर्जरित होता है । इसप्रकार गुणश्रेणी आयाम में सर्व गुणश्रेणी में दिया हुआ द्रव्य निर्जरित होता है ।

अब इस कथन को अंकसंदृष्टि द्वारा व्यक्त करते हैं ।

जैसे, गुणश्रेणी में दिये हुये द्रव्य का प्रमाण छह सौ अस्सी (६८०), गुणश्रेणी आयाम का प्रमाण चार (४), असंख्यात का प्रमाण चार (४) । वहां प्रथम समय संबंधी जितना द्रव्य उस प्रमाण शलाका एक, दूसरे समय संबंधी उससे असंख्यातगुणी शलाका चार (४), तीसरे समय संबंधी उससे असंख्यातगुणी शलाका सोलह (१६), चौथे समय संबंधी उससे असंख्यातगुणी शलाका चौंसठ (६४); सो इन शलाकाओं का नाम प्रक्षेप है । इनका योग अर्थात् जोड़ पचासी (८५) होता है । उससे मिश्रपिंड जो सबका मिला हुआ द्रव्य छह सौ अस्सी (६८०) उसको भाग देनेपर आठ (८) आये । इस प्राप्त राशि को प्रक्षेप से अर्थात् अपनी-अपनी शलाका के प्रमाण से गुणित करते हैं । वहां आठ को एक से गुणा करनेपर प्रथम समय संबंधी निषेक का प्रमाण आठ (८) होता है । पुनश्च चार से गुणा करनेपर द्वितीय निषेक का प्रमाण बत्तीस (३२) होता है । पुनश्च सोलह से गुणा करनेपर तृतीय निषेक का प्रमाण एक सौ अठ्ठाइस (१२८) होता है । पुनश्च चौंसठ से गुणा करनेपर अंतिम निषेक का प्रमाण पांच सौ बारह (५१२) होता है । इसतरह सर्व समयों में ८,३२,१२८,५१२ मिलाकर छह सौ अस्सी (६८०) द्रव्य निर्जरित होता है ।

भावार्थ – लोक में जिसको विसवा *(हिस्सा)* कहते हैं उसका नाम यहां शलाका है । पुनश्च लोक में जिसको सीर का द्रव्य कहते हैं उसे यहां मिश्रपिण्ड कहा है, सो सब विसवा मिलाकर उसको भाग देकर अपने-अपने विसवा से गुणा करनेपर जैसे अपना-अपना द्रव्य का प्रमाण आता है वैसे यहां समय-समय में जितना-जितना द्रव्य निर्जरित होता है -खिरता है- उसके प्रमाण का वर्णन किया । इसतरह यहां सम्यक्त्व की उत्पत्तिरूप करण के गुणश्रेणी आयाम में यह वर्णन उदाहरणमात्र किया; ऐसे ही अन्यत्र भी जानना। वहां काल का और द्रव्य का विशेष है, सो यथासंभव जानना।

पुनश्च इसके आगे जो उपरितन स्थिति में दिया द्रव्य, सो विवक्षित मतिज्ञानावरण

की स्थिति के पूर्व निषेकों में से इस गुणश्रेणी आयाम काल के पश्चात् अनंतर समय संबंधी निषेक से लेकर अंत में अतिस्थापनावली के निषेकों को छोड़कर जो पूर्व निषेक थे, उनमें क्रम से दिया जाता है । उन निषेकों के पूर्व द्रव्य में इसको भी मिलाया जाता है । वहां नानागुणहानि में पहले-पहले निषेकों में आधा-आधा दिया जाता है, द्वितीयादि निषेकों में चय हीन के अनुक्रम से दिया जाता है, सो इस वर्णन में त्रिकोण रचना होती है । उसका विशेष आगे करेंगे । यहां प्रयोजन का अभाव है इसलिये विशेष नहीं किया है । इसतरह एक भागमात्र जुदा द्रव्य ग्रहण किया था, उसको वर्तमान समय से लेकर उदयावली का काल, उसके पश्चात् गुणश्रेणी आयाम का काल, उसके पश्चात् अवशेष सर्वस्थिति के काल में से अंत में अतिस्थापनावली को छोड़कर उपरितन स्थिति का काल, इनके निषेक पूर्व में थे, उनमें मिलाते हैं; सो यह मिलाया हुआ द्रव्य पूर्व निषेकों के साथ उदय में आकर खिरता है, ऐसा भाव जानना ।

पुनश्च पूर्व में कहा हुआ जो-जो गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य, वह-वह श्रावकादि दस स्थानों में असंख्यात-असंख्यात गुणा है, वह कैसे ?

उसका समाधान - उस गुणश्रेणी द्रव्य को कारणभूत अपकर्षण भागहार के अधिक-अधिक विशुद्धता के निमित्त से असंख्यात गुणा हीनता है, इसलिये गुणश्रेणी द्रव्य के असंख्यात गुणा अनुक्रम की प्रसिद्धता है ।

भावार्थ - श्रावकादि दस स्थानों में विशुद्धता अधिक-अधिक है, इसलिये जो पूर्व स्थान में अपकर्षण भागहार का प्रमाण था, उसके असंख्यातवें भाग उत्तर स्थान में अपकर्षण भागहार का प्रमाण जानना । जितना भागहार घटता जाता है, उतना लब्धराशि का प्रमाण अधिक होता है । इसलिये यहां लब्धराशि जो गुणश्रेणी का द्रव्य, वह भी क्रम से असंख्यातगुणा होता है ।

पुनश्च गुणश्रेणी आयाम का काल इससे विपरीत उलटा अनुक्रम धरता है, वही कहते हैं - 'समुद्घात जिन से लेकर विशुद्ध मिथ्यादृष्टि पर्यंत गुणश्रेणी आयाम का काल क्रम से संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है' । समुद्घात जिन का गुणश्रेणी आयाम काल अंतर्मुहूर्तमात्र है । उससे स्वस्थान जिन का गुणश्रेणी आयाम काल संख्यातगुणा है । उससे क्षीणमोह का संख्यातगुणा है । उसी क्रम से क्षपक श्रेणी अंत से आदि तक संख्यातगुणा-संख्यातगुणा जानना ।

वहां अंत में बहुत बार संख्यातगुणा हुआ, तो भी करण परिणाम संयुक्त विशुद्ध मिथ्यादृष्टि के गुणश्रेणी आयाम का काल अंतर्मुहूर्त ही है, अधिक नहीं । क्यों ?

क्योंकि, अंतर्मुहूर्त के भेद बहुत हैं । वहां जघन्य अंतर्मुहूर्त एक आवली प्रमाण है, वह सबसे अल्प है । पुनश्च एक समय अधिक आवली से लेकर एक-एक समय बढ़ते हुये मध्यम अंतर्मुहूर्त हैं । अंत का उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त एक समय कम दो घडीरूप मुहूर्त प्रमाण है । वहां उसके उच्छ्वास तीन हजार सात सौ तिहत्तर और एक उच्छ्वास की आवली संख्यात, इसलिये दो बार संख्यातगुणित आवली प्रमाण उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त है । पुनश्च **'आदि अंते सुद्धे वड्ढिहदे रूवसंजुदे ठाणे'** इस सूत्र द्वारा आवलीमात्र जघन्य अंतर्मुहूर्त को दो बार संख्यातगुणित आवली प्रमाण उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त में से घटाकर, वृद्धि का प्रमाण एक समय का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उसमें एक और जोड़नेपर जो प्रमाण होता है, उतने अंतर्मुहूर्त के भेद संख्यात आवलीप्रमाण होते हैं।

इसतरह कर्म सहित जीवों के गुणस्थानों का आश्रय लेकर स्वरूप का और उनके कर्म की निर्जरा के द्रव्य का तथा काल के आयाम के प्रमाण का निरूपण करके अब जिनके द्वारा सर्व कर्म निर्जरित किये गये हैं ऐसे जो सिद्ध परमेष्ठी, उनके स्वरूप को अन्यमत के विवाद के निराकरण सहित दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

अट्ठवियकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ।।६८।।

अष्टविधकर्मविकलाः शीतीभूता निरंजना नित्याः ।
अष्टगुणाः कृतकृत्याः लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः ।।६८।।

टीका - लोक में केवल - सिर्फ गुणस्थानवर्ती जीव ही नही हैं, अपितु सिद्ध जीव अर्थात् अपने आत्मस्वरूप की प्राप्तिरूप लक्षण की धारक सिद्धि, उससे संयुक्त मुक्तजीव भी लोक में हैं । वे कैसे हैं ? **अष्टविधकर्मविकलाः** अर्थात् अनेक प्रकार के उत्तर प्रकृतिरूप भेद जिनमें गर्भित हैं ऐसे जो ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म जो आठ गुणों के प्रतिपक्षी हैं, उनका सर्वथा क्षय करके प्रतिपक्ष रहित हुये हैं। आठ कर्म आठ गुणों के प्रतिपक्षी किसतरह हैं ? वह कहते हैं -

कहा है (उक्तं च) -

मोहो खाइय सम्मं केवलणाणं च केवलालोयं ।
हणदि उ आवरणदुगं अणंतविरयं हणेदि विग्घं तु ।।
सुहमं च णामकम्मं हणेदि आऊ हणेदि अवगहणं ।
अगुरुलहुगं गोदं अव्वाबाहं हणेइ वेयणियं ।।

इसका अर्थ – मोहकर्म क्षायिक सम्यक्त्व का घात करता है । केवलज्ञान और केवलदर्शन को आवरणद्विक जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण वे घातते हैं । अनंतवीर्य को विघ्न जो अंतराय कर्म, वह घातता है । सूक्ष्मगुण को नामकर्म घातता है । आयुकर्म अवगाहन गुण का घात करता है । गोत्रकर्म अगुरुलघुगुण का घात करता है । वेदनीयकर्म अव्याबाधगुण का घात करता है । इसतरह आठ गुणों के आठ प्रतिपक्षी कर्म जानना ।

इस विशेषण द्वारा जीव के मुक्ति नहीं है ऐसा मीमांसक मत तथा सर्वदा कर्ममलों से स्पर्शित नहीं इसलिये सदाकाल मुक्त ही है, सदा ही ईश्वर है, ऐसा सदाशिव मत, इनका निराकरण किया है ।

पुनश्च कैसे हैं सिद्ध ? **शीतीभूता** अर्थात् जन्म-मरणादिरूप सहज दुःख और रोगादिक से उत्पन्न शरीर दुःख और सर्पादिक से उत्पन्न आगंतुक दुःख और आकुलतादिरूप मानसदुःख इत्यादि नानाप्रकार संसार संबंधी दुःख, उनकी जो वेदना, वही हुआ आताप, उसका सर्वथा नाश करके शीतल हुये हैं; सुखी हुये हैं । इस विशेषण द्वारा मुक्ति में आत्मा के सुख का अभाव है; ऐसा कहनेवाले सांख्यमत का निराकरण किया है।

पुनश्च कैसे हैं सिद्ध ? **निरंजनाः** अर्थात् नवीन आस्रवरूप जो कर्ममल, सो ही हुआ अंजन, उससे रहित हैं । इस विशेषण द्वारा मुक्ति होने के पश्चात् पुनश्च कर्म अंजन के संयोग से संसार होता है; ऐसा कहनेवाले सन्यासी मत का निराकरण किया है ।

पुनश्च कैसे हैं सिद्ध ? **नित्याः** अर्थात् यद्यपि समय-समयवर्ती अर्थपर्यायों द्वारा परिणमित सिद्ध अपने में उत्पाद, व्यय को करते हैं, तथापि विशुद्ध चैतन्य स्वभाव का सामान्यभावरूप जो द्रव्य का आकार, वह अन्वयरूप है, भिन्न नहीं होता है, उसके माहात्म्य से सर्वकाल में अविनाशीपने के आश्रित है इसलिये वे सिद्ध नित्यपना को छोड़ते नहीं । इस विशेषण द्वारा क्षण-क्षण प्रति विनाशीक चैतन्य के परिणाम एक संतानवर्ती

हैं परमार्थ से कोई नित्य द्रव्य नहीं है ऐसा कहनेवाले बौद्धमती की प्रतिज्ञा का निराकरण किया है ।

पुनश्च कैसे हैं सिद्ध ? **अष्टगुणाः** अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व नाम धारक जो आठ गुण, उनसे संयुक्त हैं । यह विशेषण उपलक्षणरूप है, इसके द्वारा उन गुणों के अनुसार अनंतानंत गुणों का उनमें ही अंतर्भूतपना जानना । इस विशेषण द्वारा ज्ञानादि गुणों का अत्यंत अभाव होना वही आत्मा की मुक्ति है ऐसा कहनेवाले नैयायिक और वैशेषिक मत के अभिप्राय का निराकरण किया है ।

पुनश्च कैसे हैं सिद्ध ? **कृतकृत्याः** अर्थात् सम्पूर्ण किया है कृत्य अर्थात् सकल कर्मों का नाश और उसका कारण चारित्रादिक जिन्हों ने ऐसे हैं । इस विशेषण द्वारा ईश्वर सदा मुक्त है तथापि जगत के निर्माण में आदर किया है इसलिये कृतकृत्य नहीं है, उसके भी कुछ करना है, ऐसा कहनेवाला जो ईश्वर सृष्टिवाद का अभिप्राय, उसका निराकरण किया है ।

पुनश्च कैसे हैं सिद्ध ? **लोकाग्रनिवासिनः** अर्थात् जिसमें जीवादि पदार्थ अवलोकन किये जाते हैं, ऐसा जो तीन लोक, उसका अग्रभाग, जो तनुवात का भी अंत उसमें निवासी हैं - स्थित हैं । यद्यपि कर्म क्षय जहां किया, उस क्षेत्र के ऊपर ही कर्मक्षय के अनंतर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से वे गमन करते हैं; तथापि लोक के अग्रभाग तक ऊर्ध्वगमन होता है । गमन का निमित्त धर्मास्तिकाय के अभाव से वहां से ऊपर गमन नहीं होता। इसतरह लोक के अग्रभाग में ही सिद्धों का निवासीपना युक्त ही है। अन्यथा कहेंगे तो लोक-अलोक के विभाग का अभाव होगा । इस विशेषण द्वारा आत्मा के ऊर्ध्वगमन स्वभाव द्वारा मुक्त अवस्था में कहीं भी विश्राम के अभाव से ऊपर-ऊपर गमन हुआ ही करता है; ऐसा कहनेवाले मांडलिक मत, उसका निराकरण किया है।

आगे श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव '**अष्टविधकर्मविकलाः**' इत्यादि सात विशेषणों का प्रयोजन दिखाते हैं -

सदसिवसंखो मक्कडि बुद्धो णैयाइयो य वेसेसी ।
ईसरमंडलिदंसण विदूसणट्ठं कयं एदं ।।६९।।

सदाशिवः सांख्यः मस्करी बुद्धो नैयायिकश्चवैशेषिकः ।
ईश्वरमंडलिदर्शनविदूषणार्थं कृतमेतत् ।।६९।।

टीका – सदाशिवमत, सांख्यमत, मस्करीसन्यासीमत, बौद्धमत, नैयायिकमत, वैशेषिकमत, ईश्वरमत, मंडलिमत ये दर्शन अर्थात् मत, इनके दूषने के लिये ये पूर्वोक्त विशेषण किये हैं ।

कहा भी है –

सदाशिवः सदाकर्म सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितम् ।
मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम् ।।
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो यौगश्च मन्यते ।
कृतकृत्यं तमीशानो मंडली चोर्ध्वगामिनम् ।।

इसका अर्थ – सदाशिव मतवाला सदा कर्म रहित मानता है । सांख्यमतवाला मुक्त जीव को सुख रहित मानता है । मस्करी सन्यासी मुक्त जीव का संसार में पुनश्च आना मानता है । बौद्ध और योग मतवाले आत्मा को क्षणिक और निर्गुण मानते हैं । ईशान जो सृष्टिवादी, वे ईश्वर को अकृतकृत्य मानते हैं । मांडलिक आत्मा को ऊर्ध्वगमनरूप ही मानते हैं । ऐसे माननेवाले मतों का पूर्वोक्त विशेषणों द्वारा निराकरण करके सिद्धपरमेष्ठी का यथार्थ स्वरूप निरूपण किया । वे सिद्ध भगवान आनन्दकर्ता हो ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ
की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा–
टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से गुणस्थान
प्ररूपणा नामक प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ ।।१।।

दूसरा अधिकार : जीवसमास प्ररूपणा

॥ मंगलाचरण ॥

कर्मघातिया जीति जिन, पाय चतुष्टय सार ।
विश्वस्वरूप प्रकाशियो, नमौं अजित सुखकार ॥

टीका – इसतरह गुणस्थान संबंधी संख्यादिक प्ररूपणा के अनंतर जीवसमास प्ररूपणा को रचते हुये निरुक्तिपूर्वक सामान्यपने उस जीवसमास का लक्षण कहते हैं–

जेहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी ।
ते पुण संगहिदत्था जीवसमासा त्ति विण्णेया ॥७०॥

यैरनेके जीवा ज्ञायंते बहुविधा अपि तज्जातयः ।
ते पुनः संगृहितार्था जीवसमासा इति विज्ञेयाः ॥७०॥

टीका – **यैः** अर्थात् जिन समान पर्यायरूप धर्मों द्वारा **जीवा** अर्थात् जीव हैं, वे **अनेके अपि** अर्थात् यद्यपि बहुत हैं, **बहुविधाः** अर्थात् बहुत प्रकार के हैं, तथापि **तज्जातयः** अर्थात् विवक्षित सामान्यभाव द्वारा इकठ्ठा करने से एक जाति में प्राप्त किये हुये **ज्ञायंते** अर्थात् जाने जाते हैं **ते** अर्थात् समान पर्यायरूप जीव **धर्मसंगृहीतार्थाः** अर्थात् अंतर्भूत की है अनेक व्यक्ति जिन्हों ने ऐसे **जीवसमासाः** अर्थात् जीवसमास हैं, ऐसा जानना ।

भावार्थ – जैसे, एक गाय जाति में अनेक खांडी, मुंडी, सांवरी गायरूप व्यक्ति सास्नादिमत्व समान धर्म द्वारा अंतर्गर्भित होती हैं । वैसे, एकेन्द्रियत्वादि जाति में अनेक पृथ्वीकायादि व्यक्ति जिन एकेन्द्रियत्वादि युक्त लक्षणों द्वारा अंतर्गर्भित करते हैं, उनका नाम जीवसमास है । क्यों ? क्योंकि **'जीवाः समस्यंते यैर्येषु वा ते जीवसमासाः'** अर्थात् जिन समान धर्मों द्वारा जीव संग्रहरूप किये जाते हैं वा जिन समान लक्षणों में वे समानरूप लक्षण जीवसमास हैं, ऐसी निरुक्ति होती है । इस विशेषण द्वारा समस्त संसारी जीवों का संग्रहणरूप ग्रहण करना है प्रयोजन जिसका, ऐसे जीवसमास का प्ररूपण प्रारंभ किया है, ऐसा जानना । अथवा अन्य अर्थ कहते हैं **'जीवा अज्ञेया अपि'** अर्थात् यद्यपि जीव अज्ञात हैं, क्यों ? **बहुविधत्वात्** अर्थात् क्योंकि जीव बहुत प्रकार

के हैं । आत्मा की पर्यायरूप व्यक्तियां अनेक प्रकार की होने से समस्तपने से केवलज्ञान बिना नहीं जानी जाती, इसलिये सर्वपर्यायरूप जीवों को जानने में असमर्थपना है, तथापि **तज्जातयः** अर्थात् वही एकेन्द्रियत्वादिरूप है जाति जिनकी, पुनश्च **संगृहीतार्थाः** अर्थात् समस्तपने से गर्भित की हैं, इकट्ठी की हैं व्यक्ति जिनके द्वारा, ऐसे जीव हैं वे ही जीवसमास हैं; ऐसा जानना ।

अथवा अन्य अर्थ कहते हैं – **संगृहीतार्थाः** अर्थात् समस्तपने से गर्भित की है, इकट्ठी की है व्यक्ति जिनके द्वारा ऐसी **तज्जातयः** अर्थात् वे जाति हैं । क्योंकि विशेष बिना सामान्य नहीं होता । क्यों ? क्योंकि ऐसा वचन है – **'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्'** इसका अर्थ – विशेष रहित जो सामान्य, वह खरगोश के सींग समान अभावरूप है, इसलिये संगृहीतार्थ जो वे जाति, उनके कारणभूत जातियों द्वारा जीव प्राणी हैं, वे **अनेकेऽपि** अर्थात् यद्यपि अनेक हैं, **बहुविधा अपि** अर्थात् यद्यपि बहुत प्रकार हैं, तथापि **ज्ञायंते** अर्थात् जाने जाते हैं, वे जाति जीवसमास हैं, ऐसा जानना ।

भावार्थ – जीवसमास शब्द के तीन अर्थ कहे । वहां एक अर्थ में एकेन्द्रिय-युक्तत्वादि समान धर्मों को जीवसमास कहा । एक अर्थ में एकेन्द्रियादि जीवों को जीवसमास कहा । एक अर्थ में एकेन्द्रियत्वादि जातियों को जीवसमास कहा । इसतरह विवक्षा भेद से तीन अर्थ जानना ।

आगे जीवसमास की उत्पत्ति के कारण तथा जीवसमास का लक्षण कहते हैं–

तसचदुजुगाणमज्झे अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये ।
जीवसमासा होंति हु तब्भवसारिच्छसामण्णा ।।७१।।

त्रसचतुर्युगलानां मध्ये अविरुद्धैर्युतजातिकर्म्मोदये ।
जीवसमासा भवंति हि तद्भवसादृश्यसामान्याः ।।७१।।

टीका – त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण ऐसे नामकर्म की प्रकृतियों के चार युगल हैं । उनमें से यथासंभव परस्पर विरोध रहित जो प्रकृति, उनके सहित एकेन्द्रियादि जातिरूप नामकर्म का उदय होनेपर प्रकट होनेवाले तद्भवसादृश्य सामान्यरूप जीव के धर्म जीवसमास हैं ।

वहां तद्भव सामान्य का अर्थ कहते हैं – विवक्षित एकद्रव्य में प्राप्त जो त्रिकाल संबंधी पर्याय, वे **भवंति** अर्थात् जिसमें विद्यमान होती हैं, वह तद्भव सामान्य है । ऊर्ध्वता सामान्य का नाम तद्भव सामान्य है । जहां अनेक काल संबंधी पर्याय का ग्रहण होता है, वहां ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं । क्योंकि काल के समय हैं, वे ऊपर ऊपर क्रम से प्रवर्तते हैं, युगपत् चौड़ाईरूप नहीं प्रवर्तते हैं; इसलिये यहां नाना काल में एक विवक्षित व्यक्ति में प्राप्त जो पर्याय, उनका अन्वयरूप ऊर्ध्वता सामान्य है, सो एक द्रव्य के आश्रय जो पर्याय, वह अन्वयरूप है । जैसे – स्थास, कोश, कुशूल, घट, कपालक आदि में माटी अन्वयरूप आकार का धारी द्रव्य है।

भावार्थ – माटी क्रम से इतने पर्यायरूप परिणमित हुयी । प्रथम स्थास अर्थात् पिण्डरूप हुयी । पुनश्च कोश अर्थात् चाक के ऊपर खड़े किये हुये पिण्डरूप हुयी। पुनश्च कुशूल अर्थात् हाथ और अंगूठे द्वारा किये हुये आकाररूप हुयी । पुनश्च घट अर्थात् घड़ेरूप हुयी । पुनश्च कपाल अर्थात् फूटे हुये घड़ेरूप हुयी । इसतरह एक माटीरूप व्यक्ति में अनेक कालवर्ती पर्यायें होती हैं । उन सभी में माटीपना पाया जाता है । इससे सर्वत्र माटीद्रव्य देखने में आता है । इसतरह यहां भी अनेक कालवर्ती अनेक अवस्थाओं में एकेन्द्रिय आदि जीवद्रव्यरूप व्यक्ति, वह अन्वयरूप द्रव्य जानना। इसका नाम तद्भव सामान्य वा ऊर्ध्वता सामान्य है । उस तद्भव सामान्य से उपलक्षणरूप संयुक्त ऐसा जो सादृश्य सामान्य अर्थात् तिर्यक् सामान्य, वे जीवसमास हैं । इसतरह एक काल में नाना व्यक्तियों को प्राप्त हुआ ऐसा एक जातिरूप अन्वय, वह तिर्यक् सामान्य है । इसका अर्थ यह है – समान धर्म का नाम सादृश्य सामान्य है । जैसे – खांडी, मूंडी, सांवरी इत्यादि नाना प्रकार की व्यक्तियों में गायपना समान धर्म है।

भावार्थ – एक कालवर्ती खांडा, मूंडा, सांवला इत्यादि अनेक बैलों में बैलपना समान धर्म है; यह सादृश्य सामान्य है । उसीप्रकार एक कालवर्ती पृथ्वीकायिक आदि नाना प्रकार के जीवों में एकेन्द्रिय युक्तपना आदि धर्म हैं, वे समान परिणामरूप हैं; इसलिये इनको सादृश्य सामान्य कहते हैं । ऐसे जो सादृश्य सामान्य, वे ही जीवसमास हैं, ऐसा तात्पर्य जानना । पुनश्च उन चार युगलों की आठ प्रकृतियों में से एकेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय सहित त्रस नामकर्म का उदय विरोधी है । पुनश्च द्वीन्द्रियादिक जातिरूप नामकर्म के चार प्रकृतियों के उदय सहित स्थावर-सूक्ष्म-साधारण नामकर्म प्रकृतियों का उदय विरोधी है, अन्य कर्म का उदय अविरोधी है । पुनश्च उसीप्रकार त्रस नामकर्म

के उदय सहित स्थावर-सूक्ष्म-साधारण नामकर्म का उदय विरोधी है, अन्य कर्म का उदय अविरोधी है । पुनश्च स्थावर नामकर्म के उदय सहित त्रस नामकर्म का उदय एक ही विरोधी है, अवशेष कर्म का उदय अविरोधी है । पुनश्च बादर नामकर्म के उदय सहित सूक्ष्म नामकर्म का उदय विरोधी है, अवशेष प्रकृतियों का उदय अविरोधी है । पुनश्च सूक्ष्म नामकर्म के उदय सहित त्रस, बादर नामकर्म का उदय विरोधी है, अवेशष कर्म का उदय अविरोधी है । पुनश्च पर्याप्त नामकर्म के उदय सहित अपर्याप्त नामकर्म का उदय विरोधी है, अवशेष सर्व कर्म का उदय अविरोधी है । पुनश्च अपर्याप्त नामकर्म के उदय सहित पर्याप्त नामकर्म का उदय विरोधी है, अवशेष सर्व कर्म का उदय अविरोधी है । पुनश्च प्रत्येकशरीर नामकर्म के उदय सहित साधारणशरीर नामकर्म का उदय विरोधी है; अवशेष कर्म का उदय अविरोधी है । पुनश्च साधारणशरीर नामकर्म के उदय सहित प्रत्येकशरीर नामकर्म का उदय और त्रस नामकर्म का उदय विरोधी है; अवशेष कर्म का उदय अविरोधी है । ऐसे अविरोधी प्रकृतियों के उदय से उत्पन्न जो सदृश परिणामरूप धर्म, वे जीवसमास हैं, ऐसा जानना ।

आगे संक्षेप से जीवसमास के स्थानों की प्ररूपणा करते हैं -

बादरसुहमेइंदिय बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णी य ।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ।।७२।।

बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुरिंद्रियासंज्ञिसंज्ञिनश्च ।
पर्याप्तापर्याप्ता एवं ते चतुर्दश भवंति ।।७२।।

टीका - एकेन्द्रिय के बादर, सूक्ष्म दो भेद । पुनश्च विकलत्रय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तीन भेद । पुनश्च पंचेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी दो भेद, इसतरह सात जीवभेद हुये । ये एक-एक भेद पर्याप्त-अपर्याप्तरूप हैं । इसतरह संक्षेप से चौदह जीवसमास होते हैं ।

आगे विस्तार से जीवसमास की प्ररूपणा करते हैं -

भूआउतेउवाऊ णिच्चचदुग्गदिणिगोदथूलिदरा ।
पत्तेयपदिट्ठिदरा तसपण पुण्णा अपुण्णदुगा ।।७३।।

भ्वप्तेजोवायुनित्यचतुर्गतिनिगोदस्थूलेतराः ।
प्रत्येकप्रतिष्ठेतराः त्रसपंच पूर्णा अपूर्णद्विकाः ।।७३।।

टीका - पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पति-कायिकों में दो भेद - नित्यनिगोद साधारण, चतुर्गतिनिगोद साधारण, ये छह भेद हुये। वे एक-एक भेद बादर, सूक्ष्म से दो-दो भेदरूप हैं; ऐसे बारह हुये । पुनश्च प्रत्येक शरीररूप वनस्पतिकायिक के सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित दो भेद हैं । पुनश्च विकलेन्द्रिय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तीन भेद । पुनश्च पंचेन्द्रिय के संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय दो भेद । ये सब मिलकर सामान्य अपेक्षा उन्नीस जीवसमास होते हैं । पुनश्च ये सभी पर्याप्तक, निर्वृत्तिअपर्याप्तक, लब्धिअपर्याप्तक ऐसे प्रत्येक में तीन तीन भेद सहित हैं। इसलिये विस्तार से जीवसमास सत्तावन भेद संयुक्त हैं ।

आगे इन सत्तावन जीव-भेदों के गर्भित विशेष दिखाने के लिये स्थानादिक चार अधिकार कहते हैं ।

ठाणेहिं वि जोणीहिं वि देहोग्गाहणकुलाण भेदेहिं ।
जीवसमासा सव्वे परूविदव्वा जहाकमसो ।।७४।।

स्थानैरपि योनिभिरपि देहावगाहनकुलानां भेदैः ।
जीवसमासाः सर्वे प्ररूपितव्या यथाक्रमशः ।।७४।।

टीका - स्थानों द्वारा, योनिभेदों द्वारा, देह की अवगाहना के भेदों द्वारा तथा कुलभेदों द्वारा वे सभी जीवसमास यथाक्रम से सिद्धांत परिपाटी का उल्लंघन न हो इसतरह प्ररूपण करने योग्य हैं ।

आगे जिसतरह उद्देश अर्थात् नाम का क्रम है, उसीतरह निर्देश अर्थात् स्वरूप निर्णय क्रम से करना । इस न्याय से प्रथम कहे हुये जीवसमास में स्थानाधिकार चार गाथाओं द्वारा कहते हैं ।

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे ।
इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुपणगभेदजुदे ।।७५।।

सामान्यजीवः त्रसस्थावरयोः एकविकलसकलचरमद्विके ।
इंद्रियकाययोः चरमस्य च द्वित्रिचतुः पंचभेदयुते ।।७५।।

टीका – वहां उपयोग लक्षण का धारी सामान्यमात्र जीवद्रव्य, वह द्रव्यार्थिक नय से ग्रहण करनेपर जीवसमास का स्थान एक है । पुनश्च संग्रहनय से ग्रहण किये हुये पदार्थों में भेद करनेवाले व्यवहारनय की विवक्षा से संसारी जीव के मुख्य भेद त्रस-स्थावर, वे अधिकाररूप हैं; इसतरह जीवसमास के स्थान दो हैं । पुनश्च अन्य प्रकार से व्यवहारनय की विवक्षा होनेपर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय जीवों को अधिकाररूप करके जीवसमास के स्थान तीन हैं । पुनश्च आगे भी सर्वत्र अन्य-अन्य प्रकार से व्यवहारनय की विवक्षा जानना । वह कहते हैं - एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय दो तो ये और सकलेन्द्रिय अर्थात् पंचेन्द्रिय के असंज्ञी, संज्ञी दो भेद, इसतरह मिलाकर जीवसमास के स्थान चार होते हैं । पुनश्च उसीप्रकार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय भेद से जीवसमास के स्थान पांच हैं । पुनश्च उसीप्रकार पृथ्वी, अप्(जल), तेज(अग्नि), वायु, वनस्पति, त्रसकायिक भेद से जीवसमास के स्थान छह हैं । पुनश्च उसीप्रकार पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति ये पांच स्थावर और अन्य त्रसकाय के विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय ये दो भेद सब मिलकर जीवसमास के स्थान सात होते हैं। पुनश्च उसीप्रकार पृथ्वी आदि स्थावरकाय पांच, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये तीन मिलकर जीवसमास के स्थान आठ होते हैं । पुनश्च स्थावरकाय पांच और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये चार मिलकर जीवसमास के स्थान नौ होते हैं । पुनश्च उसीप्रकार स्थावरकाय पांच और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये पांच मिलकर जीवसमास के स्थान दस होते हैं ।

पणजुगले तससहिये तसस्स दुतिचदुरपणगभेदजुदे ।
छद्दुगपत्तेयह्मि य तसस्स तियचदुरपणगभेदजुदे ।।७६।।

पंचयुगले त्रससहिते त्रसस्य द्वित्रिचतुःपंचकभेदयुते ।
षड्द्विकप्रत्येके च त्रसस्य त्रिचतुः पंचभेदयुते ।।७६।।

टीका – उसीप्रकार स्थावरकाय पांच, वे प्रत्येक बादर-सूक्ष्म भेद संयुक्त, उसके दस और त्रसकाय मिलकर जीवसमास के स्थान ग्यारह होते हैं । पुनश्च उसीप्रकार स्थावरकाय दस और विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय मिलकर जीवसमास के स्थान बारह होते हैं । पुनश्च उसीप्रकार स्थावरकाय दस और त्रसकाय के विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय ये तीन मिलकर जीवसमास के स्थान तेरह होते हैं । पुनश्च स्थावरकाय के दस और त्रसकाय

के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये चार भेद मिलकर जीवसमास के स्थान चौदह होते हैं । पुनश्च उसीप्रकार स्थावरकाय के दस और त्रसकाय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये पांच मिलकर जीवसमास के स्थान पंद्रह होते हैं । पुनश्च उसीप्रकार पृथ्वी, अप्, तेज, वायु ये चार और साधारण वनस्पति के नित्यनिगोद, इतरनिगोद ये दो भेद मिलकर छह हुये। वे सब जुदे-जुदे बादर-सूक्ष्म भेद सहित हैं, उसके बारह और एक प्रत्येक वनस्पति ऐसे स्थावरकाय के तेरह और त्रसकाय के विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये तीन मिलकर जीवसमास के स्थान सोलह हैं । पुनश्च उसीप्रकार स्थावरकाय के तेरह और त्रसकाय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये चार भेद मिलकर जीवसमास के स्थान सत्रह होते हैं। पुनश्च स्थावरकाय के तेरह और त्रसकाय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये पांच भेद मिलकर जीवसमास के स्थान अठारह होते हैं।

सगजुगलह्मितसस्स य पणभंगजुदेसु होंति उणवीसा ।
एयादुणवीसो त्ति य इगिवितिगुणिदे हवे ठाणा ।।७७।।

सप्तयुगले त्रसस्य च पंचभंगयुतेषु भवंति एकोनविंशतिः ।
एकादेकोनविंशतिरिति च एकद्वित्रिगुणिते भवेयुः स्थानानि ।।७७।।

टीका – उसीप्रकार पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद ये छहों बादर-सूक्ष्मरूप उसके बारह और प्रत्येक वनस्पति के सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित ये दो और त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये पांच भेद मिलकर जीवसमास के स्थान उन्नीस होते हैं । इसतरह कहे हुये जो ये सामान्य जीवरूप एक स्थान को आदि में रखकर उन्नीस भेदरूप स्थान पर्यंत स्थान उन्हें एक, दो, तीन से गुणित करके अनुक्रम से अंत में उन्नीस, अड़तीस, सत्तावन भेदस्थान होते हैं ।

सामण्णेण तिपंती पढमा बिदिया अपुण्णगे इदरे ।
पज्जत्ते लद्धिअपज्जत्तेऽपढमा हवे पंती ।।७८।।

सामान्येन त्रिपंक्तयः प्रथमा द्वितीया अपूर्णके इतरस्मिन् ।
पर्याप्ते लब्ध्यपर्याप्तेऽप्रथमा भवेत् पंक्तिः ।।७८।।

जीवसमास के स्थानों का यंत्र

सामान्य अपेक्षा स्थान	पर्याप्त,अपर्याप्त अपेक्षा स्थान	पर्याप्त,निर्वृत्ति अपर्याप्त,लब्धि अपर्याप्त अपेक्षा स्थान
१	२	३
२	४	६
३	६	९
४	८	१२
५	१०	१५
६	१२	१८
७	१४	२१
८	१६	२४
९	१८	२७
१०	२०	३०
११	२२	३३
१२	२४	३६
१३	२६	३९
१४	२८	४२
१५	३०	४५
१६	३२	४८
१७	३४	५१
१८	३६	५४
१९	३८	५७
१९०	३८०	५७०

टीका – पूर्व में कहे हुये एक आदि एक-एक बढ़ते हुये उन्नीस भेदरूप स्थान उनकी तीन पंक्ति नीचे-नीचे करनी । उनमें से प्रथम पंक्ति को पर्याप्तादिक की विवक्षा के बिना सामान्य आलाप से गुणित करना। पुनश्च दूसरी पंक्ति को पर्याप्त, अपर्याप्त भेद उनसे गुणित करना । पुनश्च अप्रथमा अर्थात् तीसरी पंक्ति को पर्याप्त, निर्वृत्ति अपर्याप्त, लब्धिअपर्याप्त इन तीन भेदों से गुणित करना । यहां दूसरी और तीसरी दोनों पंक्ति अप्रथमा है परंतु दूसरी पंक्ति की बात अलग से कर चुके हैं इसलिये अप्रथमा शब्द से अवशेष रही तीसरी पंक्ति का ग्रहण करना ।

भावार्थ – एक से लेकर उन्नीस पर्यंत जीवसमास के स्थान कहे। उनका सामान्यरूप से ग्रहण करनेपर एक आदि एक-एक से बढ़ते हुये उन्नीस पर्यंत स्थान होते हैं । यहां सामान्य में पर्याप्तादि भेद गर्भित जानने। पुनश्च उन्हीं एक-एक के पर्याप्त, अपर्याप्त भेद करनेपर दो से लेकर दो-दो से बढ़ते हुये अड़तीस पर्यंत स्थान होते हैं । यहां अपर्याप्त में निर्वृत्तिअपर्याप्त, लब्धिअपर्याप्त दोनों गर्भित जानना । पुनश्च उन्हीं एक-एक के पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त, लब्धिअपर्याप्त भेद करनेपर तीन से लेकर तीन-तीन से बढ़ते हुये सत्तावन पर्यंत स्थान होते हैं । यहां जुदे-जुदे भेद जानना । इन कहे हुये भेदों की रचना यंत्र में अंकों द्वारा लिखते हैं ।

अब इन पंक्तियों को जोड़ देने के लिये करणसूत्र कहते हैं । **'मुहभूमिजोगदले**

पदगुणिदे पदधनं होदि' मुख आदि और भूमि अंत इनको जोड़कर आधा करके पद अर्थात् स्थान के प्रमाण से गुणित करनेपर सर्वपदधन होता है ।

सो प्रथम पंक्ति में मुख एक और भूमि उन्नीस जोड़नेपर बीस हुये, उसका आधा दस, उसे पद उन्नीस से गुणित करनेपर एक सौ नब्बे सर्व जोड़ होता है ।

पुनश्च द्वितीय पंक्ति में मुख दो, भूमि अड़तीस, जोड़नेपर चालीस, आधा करनेपर बीस, पद उन्नीस से गुणित करनेपर तीन सौ अस्सी सर्व जोड़ होता है ।

पुनश्च तीसरी पंक्ति में मुख तीन, भूमि सत्तावन, जोड़नेपर साठ हुये, आधा करनेपर तीस, पद उन्नीस से गुणित करनेपर पांच सौ सत्तर सर्व जोड़ होता है ।

आगे एकेन्द्रिय, विकलत्रय जीवसमासों से मिले हुये ऐसे पंचेन्द्रिय संबंधी जीवसमास स्थानों के विशेषों को दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

इगिवण्णं इगिविगले असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं ।
गब्भभवे समुच्छे दुतिगं भोग थलखेचरे दो दो ।।७९।।

अज्जवमलेच्छमणुए तिदु भोगकुभोगभूमिजे दो दो ।
सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा हु अडणउदी ।।८०।।

एकपंचाशत् एकविकले असंज्ञिसंज्ञिगतजलस्थलखगानाम् ।
गर्भभवे सम्मूर्छे द्वित्रिकं भोगस्थलखेचरे द्वौ द्वौ ।।७९।।

आर्यम्लेच्छमनुष्ययोस्त्रयो द्वौ भोगकुभोगभूमिजयोर्द्वौ द्वौ ।
सुरनिरयोर्द्वौ द्वौ इति जीवसमासा हि अष्टानवतिः ।।८०।।

टीका - पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद-इतरनिगोद के सूक्ष्म-बादर के भेद से छह युगल और प्रत्येक वनस्पति के सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित भेद से एक युगल ऐसे एकेन्द्रिय के सात युगल । पुनश्च द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन ऐसे ये सत्रह भेद पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त, लब्धिअपर्याप्त भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं । इसतरह एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय में इक्कावन भेद हुये । पुनश्च पंचेन्द्रियरूप तिर्यंचगति में कर्मभूमि के तिर्यंच तीन प्रकार के हैं । वहां जल में गमनादि करनेवाले वे जलचर और भूमिपर गमनादि करनेवाले वे स्थलचर और आकाश में उड़ना आदि गमनादि

करनेवाले वे नभचर; वे तीनों प्रत्येक संज्ञी, असंज्ञी भेदरूप हैं, उनके छह हुये । वे छहों गर्भज और सम्मूर्छन होते हैं । वहां गर्भज में पर्याप्त और निर्वृत्तिअपर्याप्त ये दो-दो भेद होते हैं, उनके बारह हुये । सम्मूर्छन में पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त, लब्धि-अपर्याप्त ये तीन-तीन भेद होते हैं, उनके अठारह हुये । ऐसे कर्मभूमियां पंचेन्द्रिय तिर्यंच के तीस भेद हुये ।

पुनश्च भोगभूमि में संज्ञी ही हैं, असंज्ञी नहीं हैं । पुनश्च स्थलचर और नभचर ही हैं, जलचर नहीं हैं । पुनश्च पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त ही हैं, लब्धिअपर्याप्त नहीं हैं। इसलिये संज्ञी स्थलचर, नभचर के पर्याप्त, अपर्याप्त भेद से चार ये हुये; ऐसे पंचेन्द्रिय तिर्यंच के चौंतीस भेद हुये ।

पुनश्च मनुष्यों के कर्मभूमि में आर्यखण्ड में तो गर्भज के पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त दो भेद और सम्मूर्छन का लब्धिअपर्याप्त एक भेद ऐसे तीन हुये । पुनश्च म्लेच्छ खण्ड में गर्भज ही हैं । उसके पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त से दो भेद । पुनश्च भोगभूमि और कुभोगभूमि इन दोनों में गर्भज ही हैं । उनके पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त से दो-दो भेद हुये । चार भेद मिलकर मनुष्यगति में नौ भेद हुये ।

पुनश्च देव, नारकी औपपादिक हैं । उनके पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त भेद से दो-दो भेद होकर चार भेद हुये । इसतरह चार गतियों में पंचेन्द्रिय के जीवसमास के स्थान सैंतालीस हैं ।

पुनश्च ये सैंतालीस और एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय के इक्कावन मिलकर अट्ठानबे जीवसमास स्थान होते हैं, ऐसा सूत्रों का तात्पर्य जानना ।

यहां विवक्षा से स्थावर के बयालीस, विकलेन्द्रिय के नौ, तिर्यंच पंचेन्द्रिय के चौंतीस, देवों के दो, नारकियों के दो, मनुष्यों के नौ सब मिलकर अट्ठानबे हुये। इसतरह कहे हुये जीवसमास के स्थान संसारी जीवों के ही जानने, मुक्त जीवों के नहीं हैं । क्योंकि विशुद्ध चैतन्यभाव ज्ञान-दर्शन उपयोग के संयुक्तपने से उन मुक्त जीवों के त्रस-स्थावर भेदों का अभाव है । अथवा **'संसारिणस्त्रसस्थावराः'** ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में वचन है, इसलिये भेद संसारी जीवों के ही जानने ।

अब कहे हुये जीवसमासों से अधिक जीवसमास कहनेवाला अन्य आचार्यों द्वारा कहा हुआ गाथासूत्र कहते हैं -

सुद्धखरकुजलतेवा णिच्चचदुग्गदिणिगोदथूलिदरा ।
पदिठिदरपंचपत्तिय वियलतिपुण्णा अपुण्णदुगा ।।

इगिविगले इगिसीदी असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं ।
गब्भभवे सम्मुच्छे दुतिगतिभोगथलखेचरे दो दो ।।

अज्जसमुच्छिगिगब्भे मलेच्छभोगतियकुणरछपणत्तीससये ।
सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा हु छहियचारिसयं ।।

टीका – मिट्टी आदिरूप शुद्ध पृथ्वीकायिक, पाषाणादिरूप खरपृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद, इतरनिगोद जिसका दूसरा नाम है चतुर्गतिनिगोद ऐसे इन सात के बादर-सूक्ष्म भेद से चौदह हुये । पुनश्च तृण, बेल, छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष, कंदमूल ऐसे ये पांच प्रत्येकवनस्पति के भेद हैं । ये जब निगोद शरीर द्वारा आश्रित होते हैं, तब प्रतिष्ठित कहलाते हैं । निगोद रहित होते हैं, तब अप्रतिष्ठित कहलाते हैं । ऐसे इनके दस भेद हुये ।

पुनश्च द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ऐसे विकलेन्द्रिय के तीन, ये सर्व मिलकर सत्ताइस भेद एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियों के हुये । इन एक-एक के पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त, लब्धिअपर्याप्त भेद से इक्यासी हुये ।

पुनश्च पंचेन्द्रियों में तिर्यंच कर्मभूमि में तो संज्ञी, असंज्ञी भेद सहित जलचर, स्थलचर, नभचर भेद से छह, उन छहों गर्भजों में तो पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त भेद से बारह और उन्हीं छहों सम्मूर्छनों में पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त, लब्धिअपर्याप्त भेदों से अठारह । पुनश्च उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य भोगभूमि के संज्ञी स्थलचर, नभचर इन छहों में पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त भेद से बारह, सर्व मिलकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच के बयालीस भेद हुये।

पुनश्च मनुष्यों में आर्यखण्ड में उत्पन्न सम्मूर्छन में लब्धिअपर्याप्तरूप एकस्थान है । आर्यखण्ड में उत्पन्न गर्भज और म्लेच्छखण्ड में उत्पन्न गर्भज ही है । और उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में उत्पन्न गर्भज ही हैं । और कुभोगभूमि में उत्पन्न गर्भज ही हैं । ऐसे छह प्रकार तो मनुष्य, पुनश्च वैसे ही दस प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के व्यंतर, पांच प्रकार के ज्योतिषी, पटलों की अपेक्षा तिरसठ प्रकार के वैमानिक सर्व मिलकर छियासी प्रकार के देव; पुनश्च प्रस्तारों की अपेक्षा से उनचास

प्रकार के नारकी ये सब मिलकर सर्व एक सौ इकतालीस हुये । उन एक-एक के पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त भेद करनेपर दो सौ बयासी हुये । ऐसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय के इक्यासी, पंचेन्द्रिय तिर्यंच के बयालीस, सम्मूर्छन मनुष्य का एक, गर्भज मनुष्य, देव, नारकी के दो सौ बयासी मिलकर चार सौ छह जीवसमास प्रकटरूप हैं ।

इति जीवसमास का स्थान अधिकार समाप्त हुआ ।

आगे योनि प्ररूपणा में प्रथम योनियों के आकारों के भेदों का कथन करते हैं -

संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णयवंसपत्तजोणी य ।
तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जदे गब्भो ।।८१।।

शंखावर्तकयोनिः कूर्मोन्नतवंशपत्रयोनि च ।
तत्र तु शंखावर्ते नियमात्तु विवर्ज्यते गर्भः ।।८१।।

टीका - शंखावर्तयोनि, कूर्मोन्नतयोनि, वंशपत्रयोनि इसतरह स्त्रीशरीर में संभवित आकाररूप योनि तीन प्रकार की हैं । योनि अर्थात् मिश्ररूप होकर औदारिकादि नोकर्म-वर्गणारूप पुद्गलों से सहित बंधता है जीव जिसमें, वह योनि है । जीव का उपजने का स्थान वह योनि है । वहां तीन प्रकार की योनियों में शंखावर्तयोनि में तो गर्भ नियम से विवर्जित है, गर्भ रहता ही नहीं है । अथवा कदाचित् रहे तो नष्ट हो जाता है ।

कुम्मुण्णयजोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य ।
रामा वि य जायंते सेसाये सेसगजणो दु ।।८२।।

कूर्मोन्नतयोनौ तीर्थंकराः द्विविधचक्रवर्तिनश्च ।
रामा अपि च जायंते शेषायां शेषकजनस्तु ।।८२।।

टीका - कूर्मोन्नतयोनि में तीर्थंकर वा सकलचक्रवर्ती वा अर्धचक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण वा बलभद्र उपजता है । अपि शब्द से अन्य कोई नहीं उपजता । पुनश्च अवशेष वंशपत्रयोनि में अवशेष जन उपजते हैं, तीर्थंकरादि नहीं उपजते ।

आगे जन्मभेदों के निर्देशपूर्वक गुणयोनि का कथन करते हैं -

जम्मं खलु संमुच्छण गब्भुववादा दु होदि तज्जोणी ।
सच्चित्तसीदसंउडसेदर मिस्सा य पत्तेयं ।।८३।।

जन्म खलु संमूर्छनगर्भोपपादास्तु भवति तद्योनयः ।
सचित्तशीतसंवृतसेतरमिश्राश्च प्रत्येकं ।।८३।।

टीका – सम्मूर्छन, गर्भज, उपपाद ये संसारी जीवों के जन्म के तीन भेद हैं। **सं** अर्थात् समस्तपने से **मूर्छनं** अर्थात् जन्म धारण करनेवाले जीव के उपकारी (निमित्त) ऐसे शरीर के आकार परिणमने योग्य पुद्गल स्कंधों का स्वयमेव प्रकट होना, वह सम्मूर्छन जन्म है ।

पुनश्च जन्म लेनेवाले जीव द्वारा शुक्र-शोणितरूप पिंड का **गरणं** अर्थात् अपने शरीररूप से ग्रहण करना, वह गर्भ है । पुनश्च **उपपादनं** अर्थात् संपुट शय्या अथवा उष्ट्रादि मुखाकार योनि में लघु अंतर्मुहूर्त काल द्वारा ही जीव का उपजना, वह उपपाद है, इसतरह तीन प्रकार के जन्म भेद हैं ।

भावार्थ – माता-पितादिक के निमित्त बिना स्वयमेव शरीराकार पुद्गल के प्रकट होने से जीव का उपजना, वह सम्मूर्छन जन्म है ।

पुनश्च माता के लहू और पिता के वीर्यरूप पुद्गल का शरीररूप से ग्रहण करके जीव का उपजना, वह गर्भजन्म है । पुनश्च देवों का संपुट शय्या में, नारकियों का उष्ट्रमुखादि आकाररूप योनिस्थानों में लघु अंतर्मुहूर्त में सम्पूर्ण शरीर से जीव का उपजना, वह उपपाद जन्म है । इसतरह तीन प्रकार से जन्म भेद जानने ।

पुनश्च इन सम्मूर्छनादि द्वारा उन जीवों की योनि कहते हैं । जीव के शरीरग्रहण के आधारभूत स्थान यथासंभव नौ प्रकार के हैं । सचित्त, शीत, संवृत; इनके प्रतिपक्षी इतर-अचित्त, उष्ण, विवृत; पुनश्च इनके मिलने से मिश्र - सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत, इसतरह नौ प्रकार हैं । पुनश्च वे योनियां सम्मूर्छनादिकों में प्रत्येक यथासंभव जानना।

वहां चित्त अर्थात् अन्य चेतन, उसके सहित वर्तते हैं, वे सचित्त हैं । अन्य प्राणियों द्वारा पूर्व में ग्रहे हुये पुद्गल स्कंध सचित्त हैं । पुनश्च इससे विपरीत अन्य प्राणियों द्वारा ग्रहण नहीं किये हुये पुद्गल स्कंध अचित्त हैं । पुनश्च सचित्त-अचित्त दोनोंरूप पुद्गल स्कंध मिश्र हैं । पुनश्च प्रकट हैं शीत स्पर्श जिनके, ऐसे पुद्गल शीत हैं ।

nZü àH$Q h CîU ñne {OZH$, Eg nXJb CîU h Ü& nZü erV, CîU XmZmé$n nXJb {_l h Ü& nZü àH$Q {OgH$m AdbmH$Z Zht H$a gH$V, Egm JßV AmH$ma {OgH$m h Egm nXJb ñH$Y gdV h Ü& nZü àH$Q AmH$maê$n {OgH$m AdbmH$Z hmVm h Egm nXJb ñH$Y {ddV h Ü& nZü gdV-{ddV XmZmé$n nXJb ñH$Y, dh {_l h Ü& BgVah Ord CnOZ H$ AmYma^V nXJb ñH$Y Zm àH$ma H$ OmZZm Ü&

^mdmW - JU H$ YmaH$ ÌbmŠ` _| `Wmg^d Ord Ohm CnOV h, Eg `m{Zê$n nXJb ñH$Y, CZH$ ^X Zm h Ü&

AmJ gå_NZm{X OÝ_^X H$ Om ñdm_r h, CZH$m H$WZ H$aV h -

nmVOam`OASO OrdmU Jã^ Xd{Ua`mU Ü&
CddmX ggmU gå_ÀNU` V {U{ÔÆ Ü&&84&&

nmVOam`OmSOOrdmZm J^… XdZmaH$mUm_ Ü&
CnnmX… efmUm gå_NZH$ V {Z{XîQ_ Ü&&84&&

QrH$m - {OgH$ eara H$ D$na H$mB AmdaU Zht h, {OgH$ Ad`d gånU h Ama `m{Z g {ZH$bV hr MbZm Am{X H$s gm_Ï` g g`º$ Ord, dh nmV H$hbmVm h Ü& nZü àmUr H$ eara H$ D$na Omb g_mZ AmdaU - _mg, bh {Og_| {dñVmaê$n nm`m OmVm h Egm Om Oam`, Cg_| CËnÞ Ord Oam`O H$hbmVm h Ü& nZü eH$, bh_` VWm Z I H$ g_mZ H${RZ AmdaU g{hV, Jmb AmH$ma H$m YmaH$ dh AÊS, Cg_| CnOZdmbm Ord ASO H$hbmVm h Ü& BZ nmV, Oam`O, ASO Ordm| H$m J^ê$n hr OÝ_ H$m ^X OmZZm Ü&

nZü Mma àH$ma H$ Xd Ama Kå_m{X _| *(K_m{X _| àW_m{X npÏd`m|_-ZaH$m| _|)* CËnÞ ZmaH$s, BZH$m CnnmX hr OÝ_ H$m ^X h Ü&

BZ H$h h` Ordm| H$ {~Zm AÝ` gd EH$pÝÐ`, ÛrpÝÐ`, ÌrpÝÐ`, MV[apÝÐ` Ama {H$VZ hr nMpÝÐ` {V`M Ama bpãYAn`mßV _Zî`, BZH$m gå_NZ hr OÝ_ H$m ^X nm`m OmVm h, Egm {gÕmV _| H$hm h Ü&

AmJ g{MÎmm{X `m{Z^Xm| H$m gå_NZm{X OÝ_^Xm| _| g^dnZm, Ag^dnZm VrZ JmWmAm| Ûmam [X I mV h -

उववादे अच्चित्तं गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे ।
सच्चित्तं अच्चित्तं मिस्सं च य होदि जोणी हु ।।८५।।

उपपादे अचित्ता गर्भे मिश्रा तु भवति संमूर्च्छे ।
सचित्ता अचित्ता मिश्रा च च भवति योनिर्हि ।।८५।।

टीका - देव, नारकी संबंधी जो उपपाद जन्म का भेद, उसमें अचित्त ही योनि है । वहां योनिरूप पुद्गल स्कंध सर्व ही अचित्त ही है । गर्भ जन्म के भेद में सचित्त, अचित्त दोनोंरूप मिश्र ही पुद्गल स्कंधरूप योनि है । वहां योनिरूप पुद्गल स्कंध में कोई पुद्गल सचित्त है, कोई अचित्त है ।

पुनश्च सम्मूर्छन जन्म में सचित्त, अचित्त, मिश्र ये तीन प्रकार की योनि पायी जाती हैं । कहीं योनिरूप पुद्गल स्कंध सचित्त ही हैं, कहीं अचित्त ही हैं, कहीं मिश्र हैं ।

उववादे सीदुसणं सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि ।
उववादेयक्खेसु य संउड वियलेसु विउलं तु ।।८६।।

उपपादे शीतोष्णे शेषे शीतोष्णमिश्रका भवंति ।
उपपादैकाक्षेषु च संवृता विकलेषु विवृता तु ।।८६।।

टीका - उपपाद जन्मभेद में शीत और उष्ण ये दोनों योनि हैं । योनिरूप पुद्गल स्कंध शीत है या उष्ण है । वहां नारकियों के रत्नप्रभा *(पहली पृथ्वी)* के बिलों से लेकर धूमप्रभा *(पांचवीं पृथ्वी)* के बिलों के तीन चौथाई भाग पर्यंत बिलों में उष्ण योनि ही है । पुनश्च धूमप्रभा बिलों के चौथे भाग से लेकर महातमप्रभा *(सातवीं पृथ्वी)* के बिलों पर्यंत सर्व बिलों में शीत योनि ही है, ऐसा विशेष जानना। पुनश्च अवशेष गर्भ जन्मभेद में और सम्मूर्छन जन्मभेद में शीत, उष्ण, मिश्र तीनों योनि हैं । कोई योनिरूप पुद्गल स्कंध शीत ही है, कोई उष्ण ही है । किसी योनिरूप पुद्गल स्कंध में कोई पुद्गल शीत है, कोई उष्ण है, इसलिये मिश्र है । वहां तेजस्कायिक जीवों में उष्ण ही योनि है । वहां योनिरूप पुद्गल स्कंध उष्ण ही है । पुनश्च जलकायिक जीवों में शीत ही योनि है । वहां योनिरूप पुद्गल स्कंध शीत ही है । पुनश्च उपपाद देव-नारकी और एकेन्द्रिय इनमें संवृत ही योनि है । जहां उत्पन्न होते हैं ऐसा पुद्गल

स्कंध, वह अप्रकट आकाररूप ही है । पुनश्च विकलेन्द्रिय में विवृत योनि ही है । जहां उपजते हैं ऐसा योनिरूप पुद्गलस्कंध वह प्रकट ही है ।

गब्भजजीवाणं पुण, मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु ।
सम्मुच्छणपंचक्खे वियलं वा विउलजोणी हु ।।८७।।

गर्भजजीवानां पुनः मिश्रा नियमेन भवति योनिर्हि ।
संमूर्च्छनपंचाक्षेषु विकलं वा विवृतयोनिर्हि ।।८७।।

टीका – पुनश्च गर्भज जीवों की संवृत, विवृत दोनोंरूप मिश्र योनि है । जहां उपजते हैं ऐसे योनिरूप पुद्गल स्कंध में कुछ प्रकट, कुछ अप्रकट है । पुनश्च सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय में विकलेन्द्रियवत् विवृत योनि ही है ।

आगे योनिभेदों की संख्या का पहले संक्षेप से कथन करते हैं –

सामण्णेण य एवं णव जोणीओ हवंति वित्थारे ।
लक्खाण चदुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण ।।८८।।

सामान्येन च एवं नव योनयो भवंति विस्तारे ।
लक्षाणां चतुरशीतिः योनयो भवंति नियमेन ।।८८।।

टीका – इसतरह पूर्वोक्त प्रकार से **सामान्येन** अर्थात् संक्षेप से नौ योनि हैं । पुनश्च विस्तार से नियम से चौरासी लाख योनि हैं ।

भावार्थ – जीव उपजने के आधारभूत पुद्गल स्कंध का नाम योनि है । उसके सामान्यपने नौ भेद हैं, विस्तार से उसीके चौरासी लाख भेद हैं ।

आगे उन योनियों की संख्या विस्तार से दिखाते हैं –

णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलेंदियेसु छच्चेव ।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ।।८९।।

नित्येतरधातुसप्त च तरुदश विकलेंद्रियेषु षट् चेव ।
सुरनिरयतिर्यक्चतस्रः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राः ।।८९।।

टीका– नित्यनिगोद, इतरनिगोद, धातु अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक,

वायुकायिक इन छह स्थानों में प्रत्येक की सात सात लाख योनियां हैं । पुनश्च तरु अर्थात् प्रत्येक वनस्पति में दस लाख योनियां हैं । पुनश्च विकलेन्द्रियरूप द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में प्रत्येक की दो-दो लाख योनियां हैं । पुनश्च देव, नारकी, पंचेन्द्रिय तिर्यंच में प्रत्येक की चार-चार लाख योनियां हैं । पुनश्च मनुष्यों में चौदह लाख योनियां हैं । इसतरह समस्त संसारी जीवों की योनियां सर्व मिलकर चौरासी लाख संख्यारूप प्रतीति करना ।

आगे गतियों के आश्रय से जन्मभेद का कथन दो गाथाओं द्वारा करते हैं-

उववादा सुरणिरया गब्भजसमुच्छिमा हु णरतिरिया ।
सम्मुच्छिमा मणुस्साऽपज्जता एयवियलक्खा ।।९०।।

उपपादाः सुरनिरयाः गर्भजसंमूर्छिमा हि नरतिर्यंचः ।
सम्मूर्छिमा मनुष्या अपर्याप्ता एकविकलाक्षाः ।। ९० ।।

टीका – देव और नारकी उपपाद जन्म संयुक्त हैं । पुनश्च मनुष्य और तिर्यंच गर्भज और सम्मूर्छन यथासंभव होते हैं । वहां लब्धिअपर्याप्त मनुष्य और एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय केवल सम्मूर्छन ही हैं ।

पंचक्खतिरिक्खाओ गब्भजसम्मुच्छिमा तिरिक्खाणं ।
भोगभुमा गब्भभवा नरपुण्णा गब्भजा चेव ।।९१।।

पंचाक्षतिर्यंचः गर्भजसम्मूर्छिमा तिरश्चाम् ।
भोगभूमा गर्भभवा नरपूर्णा गर्भजाश्चैव ।। ९१ ।।

टीका – पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भज और सम्मूर्छन होते हैं । पुनश्च तिर्यंचों में भोगभूमियां तिर्यंच गर्भज ही होते हैं । पुनश्च पर्याप्त मनुष्य गर्भज ही हैं ।

आगे औपपादिकादियों में लब्धिअपर्याप्तकपने के संभवपने-असंभवपने को कहते हैं-

उववादगब्भजेसु य लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण ।
णरसम्मुच्छिमजीवा लद्धिअपज्जत्तगा चेव ।।९२।।

उपपादगर्भजेषु च लब्ध्यपर्याप्तका न नियमेन ।
नरसम्मूर्छिमजीवा लब्ध्यपर्याप्तकाश्चैव ।।९२।।

टीका – औपपादिकों में तथा गर्भजों में लब्धिअपर्याप्तक नियम से नहीं हैं। पुनश्च सम्मूर्छन मनुष्य लब्धिअपर्याप्तक ही होते हैं, पर्याप्त नहीं होते ।

आगे नरकादि गतियों में वेदों का ज्ञान कराते हैं –

णेरइया खलु संढा णरतिरिये तिण्णि होंति सम्मुच्छा ।
संढा सुरभोगभुमा पुरिसिच्छीवेदगा चेव ।।९३।।

नैरयिकाः खलु षंढा नरतिरश्चोस्त्रयो भवंति सम्मूर्छाः ।
षंढाः सुरभोगभुमाः पुरुषस्त्रीवेदकाश्चैव ।।९३।।

टीका – नारकी सर्व ही नियम से षंढा अर्थात् नपुंसकवेदी ही हैं । पुनश्च मनुष्य-तिर्यंचों में स्त्री, पुरुष, नपुंसक भेदरूप तीनों वेद हैं । पुनश्च सम्मूर्छन तिर्यंच और मनुष्य सर्व नपुंसकवेदी ही हैं । वे सम्मूर्छन मनुष्य चक्रवर्ती की पट्टरानी बिना स्त्रियों की योनि वा कांख वा स्तनों के मूल में और मूत्र, विष्टा आदि अशुचि स्थानों में उपजते हैं, ऐसा विशेष जानना । पुनश्च देव और भोगभूमियां नियम से पुरुषवेद और स्त्रीवेद के उदय से संयुक्त हैं । वहां नपुंसक नहीं पाये जाते ।

इसप्रकार जीवसमासों के तीन प्रकार की योनियों का अधिकार कहा ।

आगे शरीर की अवगाहना के आश्रय से जीवसमासों को कहने का है मन जिनका, ऐसे आचार्य; वे प्रथम ही सर्व जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना के स्वामी, उनका वर्णन करते हैं –

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि ।
अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ।।९४।।

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।
अंगुलासंख्यभागं जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ।।९४।।

टीका – जितना आकाशक्षेत्र शरीर रोकता है उसका नाम यहां अवगाहना है। सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्तक जीव, उस पर्याय में ऋजुगति से उत्पन्न हुआ, उसके तीसरे समय में घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रदेशों की अवगाहना विशेष धारी शरीर होता है । यह अन्य सर्व अवगाहना भेदों से जघन्य है । पुनश्च स्वयंभूरमण समुद्र के

मध्यवर्ती जो महामत्स्य, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना है, वह सर्वोत्कृष्ट अवगाहनाविशेष धारी शरीर है ।

यहां तर्क – उपजने के तीसरे समय में सबसे जघन्य अवगाहना कैसे संभव है ?

वहां समाधान – निगोदिया जीव के शरीर उपजने के पहले समय में तो लम्बा बहुत, चौड़ा थोडा ऐसा चौकोर होता है *(आयत)* । पुनश्च दूसरे समय में लम्बा चौड़ा समान ऐसा चौकोर होता है *(चौरस)* । पुनश्च तीसरे समय में कोण दूर करने से गोल आकार होता है, तभी उस शरीर की अवगाहना का प्रमाण अल्प होता है, क्योंकि लम्बे चौकोर और सम चौकोर से गोल क्षेत्रफल अल्प होता है ।

पुनश्च तर्क – जो ऐसा है तो ऋजुगति से उपजे हुये ही के होता है – ऐसा क्यों कहा ?

उसका समाधान – जीव जब परभव को गमन करता है तब उसकी विदिशाओं को छोड़कर चार दिशा और अधो, ऊर्ध्व में गमन क्रिया होती है, वह चार प्रकार की है – ऋजुगति, पाणिमुक्तागति, लांगलगति, गोमूत्रिकागति । वहां सीधा गमन हो, वह ऋजुगति है । जिसमें बीच में एक बार मुड़ता है, वह पाणिमुक्तागति है । जिसमें बीच में दो बार मुड़ता है, वह लांगलगति है । जिसमें बीच में तीन बार मुड़ता है, वह गोमूत्रिकागति है । सो मुड़नेरूप जो विग्रहगति, उसमें जीव योगों की वृद्धि से युक्त होता है । उससे शरीर की अवगाहना भी वृद्धिरूप होती है । इसलिये ऋजुगति से उपजे हुये जीव की जघन्य अवगाहना कही, वह सर्व जघन्य अवगाहना का प्रमाण है। घनांगुलरूप जो प्रमाण उसके, पल्य का असंख्यातवां भाग उन्नीस बार, आवली का असंख्यातवां भाग नौ बार, पुनश्च एक अधिक आवली का असंख्यातवां भाग बाइस बार, पुनश्च संख्यात का भाग नौ बार इतने तो भागहार जानने । पुनश्च उस घनांगुल को आवली के असंख्यातवें भाग का बाइस बार गुणकार जानना । वहां पूर्वोक्त भागहारों को मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जितना प्रमाण आयेगा उतना तो भागहार का प्रमाण जानना । पुनश्च बाइस जगह आवली के असंख्यातवें भाग को मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आयेगा, उतना गुणकार का प्रमाण जानना। वहां घनागुंल के प्रमाण को भागहार के प्रमाण का भाग देनेपर और गुणकार के प्रमाण से गुणा करनेपर जो

प्रमाण आयेगा, उतना जघन्य अवगाहना के प्रदेशों का प्रमाण जानना । इसीतरह आगे भी गुणकार, भागहार का अनुक्रम जानना ।

(विशेषार्थ – यह विषय 'अर्थसंदृष्टि' अधिकार में से मूल में दृष्टव्य है । वहां से ज्ञात होता है कि ऊपर आवली का असंख्यातवां भाग कहा है वहां घनावली का असंख्यातवां भाग समझना चाहिये ।)

आगे इन्द्रिय *(जाति)* के आश्रय से उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण, उनके स्वामियों का निर्देश करते हैं –

साहियसहस्समेकं बारं कोसूणमेकमेक्कं च ।
जोयणसहस्सदीहं पम्मे वियले महामच्छे ।।९५।।

साधिकसहस्रमेकं द्वादश क्रोशोनमेकमेकं च ।
योजनसहस्रदीर्घं पद्मे विकले महामत्स्ये ।।९५।।

टीका – एकेन्द्रियों में स्वयंभूरमण द्वीप के मध्यवर्ती जो स्वयंप्रभ नामक पर्वत, उसके परभाग *(बाहरी ओर के भाग)* संबंधी कर्मभूमिरूप क्षेत्र में उपजा हुआ कमल, उसमें कुछ अधिक एक हजार योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा ऐसा उत्कृष्ट अवगाह है । इसका क्षेत्रफल कहते हैं – समान प्रमाणवाले खण्डों की कल्पना करनेपर जितने खण्ड होते हैं, उसके प्रमाण का नाम क्षेत्रफल जानना । वहां ऊंचे, लम्बे और चौड़े क्षेत्र का ग्रहण जहां होता है वहां घन क्षेत्रफल या खात क्षेत्रफल *(घनफल)* जानना। पुनश्च जहां ऊंचाई की विवक्षा नहीं है और लम्बाई, चौड़ाई का ही ग्रहण है, वहां प्रतर क्षेत्रफल या वर्ग क्षेत्रफल जानना । पुनश्च जहां ऊंचाई और चौड़ाई की विवक्षा नहीं है, एक लम्बाई का ही ग्रहण है, वहां श्रेणी क्षेत्रफल जानना ।

यहां खात क्षेत्रफल कहते हैं । वहां कमल गोल है, इसलिये गोल क्षेत्र का क्षेत्रफल साधनरूप करणसूत्र द्वारा साधते हैं –

वासोत्तिगुणो परिही वासचउत्थाहदो दु खेत्तफलं ।
खेत्तफलं वेहगुणं खादफलं होइ सव्वत्थ ।।

इसका अर्थ – व्यास, जो चौड़ाई का प्रमाण, उससे तिगुणा गिरदभ्रमणरूप परिधि का प्रमाण होता है । पुनश्च परिधि को व्यास के चौथे भाग से गुणा करनेपर प्रतररूप

क्षेत्रफल होता है । पुनश्च इसको वेध अर्थात् ऊंचाई के प्रमाण से गुणा करनेपर सर्वत्र खातफल होता है । सो यहां कमल में व्यास एक योजन, उसको तिगुणा करनेपर परिधि तीन योजन होती है । इसको व्यास का चौथा भाग पाव योजन से गुणा करनेपर प्रतर क्षेत्रफल पौन योजन होता है । इसको वेध हजार योजन से गुणा करके, चार से अपवर्तन करनेपर योजनस्वरूप कमल का क्षेत्रफल साढ़े सात सौ योजन *(७५० घनयोजन)* प्रमाण होता है ।

भावार्थ – एक-एक योजन लम्बे, चौड़े, ऊंचे खण्ड कल्पित करनेपर इतने खण्ड होते हैं ।

विशेषार्थ :-

(व्यास १ योजन×३=परिधि ३ योजन ।

$\frac{\text{परिधि}\times\text{व्यास}}{४}$=प्रतर क्षेत्रफल । ३× $\frac{१}{४}$ = $\frac{३}{४}$ प्रतर योजन या वर्ग योजन।

प्रतर क्षेत्रफल×वेध=खात क्षेत्रफल । $\frac{३}{४}$×१०००=७५० घनयोजन।)

पुनश्च द्वीन्द्रियों में उसी स्वयंभूरमण समुद्रवर्ती शंख में बारह योजन लम्बा, योजन का पांच चौथा भाग प्रमाण चौड़ा, चार योजन मुख व्यास से युक्त, ऐसा उत्कृष्ट अवगाह है । इसका क्षेत्रफल करणसूत्र द्वारा साधते हैं –

व्यासस्तावद् गुणितो वदनदलोनो मुखार्धवर्गयुतः ।
द्विगुणश्चतुर्भिर्भक्तः पंचगुणः शंखखातफलं ।।

इसका अर्थ – प्रथम व्यास को व्यास से गुणित करके, उसमें से मुख का आधा प्रमाण घटाकर, उसमें मुख के आधे प्रमाण का वर्ग जोड़कर, उसको दुगुणा करके, उसको चार का भाग देना और पांच से गुणा करना, ऐसा करनेपर शंख क्षेत्र का खातफल होता है । यहां व्यास बारह को इसीसे गुणा करनेपर एक सौ चौवालीस होते हैं, इसमें से मुख का आधा प्रमाण दो घटानेपर एक सौ बयालीस होते हैं । इसमें मुख के आधे प्रमाण का वर्ग चार जोड़नेपर एक सौ छियालीस होते हैं । इसको दुगुणा करनेपर दो सौ बानबे होते हैं । इसको चार का भाग देनेपर तिहत्तर होते हैं । इसको पांच से गुणा करनेपर तीन सौ पैंसठ योजन प्रमाण *(३६५ घनयोजन)* शंख का क्षेत्रफल होता है ।

त्रीन्द्रियों में स्वयंभूरमण द्वीप के परभाग में जो कर्मभूमि संबंधी क्षेत्र है, वहां रक्त बीच्छू जीव हैं । उनमें योजन का तीन चतुर्थ भाग प्रमाण ($\frac{३}{४}$) लम्बा, लम्बाई के आठवें भाग ($\frac{३}{३२}$) चौड़ा, चौड़ाई से आधा ($\frac{३}{६४}$) ऊंचा ऐसा उत्कृष्ट अवगाह है । यह क्षेत्र आयतचतुरस्र है - लम्बाई सहित चौकोर है, सो इसका प्रतर क्षेत्रफल भुज और कोटि के परस्पर गुणने से होता है । सन्मुख दो दिशाओं में से किसी एक दिशा में जितना प्रमाण है, उसका नाम भुज है । तथा अन्य दो दिशाओं में से किसी एक दिशा में जितना प्रमाण, उसका नाम कोटि है । अर्थ यह है कि लम्बाई-चौड़ाई में एक का नाम भुज, एक का नाम कोटि जानना । इनका वेध अर्थात् परस्पर गुणा करनेपर प्रतर क्षेत्रफल होता है । सो यहां लम्बाई तीन चतुर्थ भाग ($\frac{३}{४}$), चौड़ाई तीन बत्तीसवां भाग ($\frac{३}{३२}$) इनको परस्पर गुणित करनेपर नौ का एक सौ अठ्ठाइसवां भाग ($\frac{९}{१२८}$) हुये । पुनश्च इसको वेध अर्थात् ऊंचाई का प्रमाण तीन का चौंसठवां भाग ($\frac{३}{६४}$) उससे गुणित करनेपर सत्ताइस योजन को इक्यासी सौ बानवे का भाग देनेपर एक भाग ($\frac{२७}{८१९२}$) प्रमाण रक्त बिच्छू का घन क्षेत्रफल होता है । *($\frac{२७}{८१९२}$ घनयोजन)*

पुनश्च चतुरिन्द्रियों में स्वयंभूरमण द्वीप के परभागवर्ती कर्मभूमि संबंधी क्षेत्र में भ्रमर हैं । सो उनमें एक योजन लम्बा, पौन योजन ($\frac{३}{४}$) चौड़ा, आधा योजन ($\frac{१}{२}$) ऊंचा उत्कृष्ट अवगाह है । उसके भुज, कोटि, वेध - एक योजन, और तीन योजन का चौथा भाग ($\frac{३}{४}$) और एक योजन का दूसरा भाग ($\frac{१}{२}$), इनको परस्पर गुणा करनेपर तीन योजन के आठवें भाग ($\frac{३}{८}$) प्रमाण घनक्षेत्रफल होता है। *($\frac{३}{८}$ घनयोजन)*

पुनश्च पंचेन्द्रियों में स्वयंभूरमण समुद्र के मध्यवर्ती महामत्स्यों में हजार (१०००) योजन लम्बा, पांच सौ (५००) योजन चौड़ा, दो सौ पचास (२५०) योजन ऊंचा उत्कृष्ट अवगाह है । वहां भुज, कोटि, वेध हजार (१०००), पांच सौ (५००) और अढ़ाई सौ (२५०) योजन प्रमाण, इनको परस्पर गुणित करनेपर साढ़े बारा करोड (१२५००००००) योजन प्रमाण घनफल होता है । *(साढ़े बारह करोड घनयोजन)*

ऐसे कहे हुये जो योजनरूप घनफल, इनको प्रदेशों के प्रमाण से करनेपर उत्कृष्ट अवगाहना में एकेन्द्रिय के चार बार संख्यातगुणा घनांगुल प्रमाण प्रदेश होते हैं, द्वीन्द्रिय के तीन बार संख्यातगुणा घनांगुल प्रमाण प्रदेश होते हैं, त्रीन्द्रिय के एक बार संख्यातगुणा घनांगुल प्रमाण प्रदेश होते हैं, चतुरिन्द्रिय के दो बार संख्यातगुणा घनांगुल प्रमाण प्रदेश

होते हैं, पंचेन्द्रिय के पांच बार संख्यातगुणा घनांगुल प्रमाण प्रदेश होते हैं ।

आगे पर्याप्त द्वीन्द्रियादि जीवों की जघन्य अवगाहना का प्रमाण और उनके स्वामी इनके निर्देश को कहते हैं -

बितिचपपुण्णंजहण्णं अणुंधरीकुंथुकाणमच्छीसु ।
सिच्छयमच्छे विंदंगुलसंखं संखगुणिदकमा ।।९६।।

द्वित्रिचपपूर्णजघन्यमनुधरीकुंथुकाणमक्षिकासु ।
सिक्थकमत्स्ये वृंदांगुलसंख्यं संख्यगुणितक्रमाः ।।९६।।

टीका - पर्याप्त द्वीन्द्रियों में अनुंधरी, त्रीन्द्रियों में कुंथु, चतुरिन्द्रियों में कानमक्षिका, पंचेन्द्रियों में तन्दुलमच्छ इन जीवों में जघन्य अवगाहना विशेष का धारक जो शरीर, उससे रोका हुआ क्षेत्र (प्रदेशों) का प्रमाण घनांगुल के संख्यातवें भाग से लेकर संख्यातगुणा अनुक्रम से जानना। वहां द्वीन्द्रिय में चार बार, त्रीन्द्रिय में तीन बार, चतुरिन्द्रिय में दो बार, पंचेन्द्रिय में एक बार संख्यात से भाजित घनांगुल मात्र पर्याप्तों की जघन्य अवगाहना के प्रदेशों का प्रमाण जानना। अब इनके चौड़ाई, लम्बाई, ऊंचाई का उपदेश यहां नहीं है । घनफल करनेपर जो प्रदेशों का प्रमाण हुआ, वह यहां कहा है ।

आगे सबसे जघन्य अवगाहना से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना पर्यंत शरीर की अवगाहना के भेद, उनके स्वामी और अल्पबहुत्व और क्रम से गुणकार इनको पांच गाथाओं द्वारा यहां दिखाते हैं ।

सुहमणिवातेआभूवातेआपुणिपदिट्ठिदं इदरं ।
बितिचपमादिल्लाणं एयाराणं तिसेढीय ।।९७।।

सूक्ष्मनिवातेआभूवातेअपृनिप्रतिष्ठितमितरत् ।
द्वित्रिचपमाद्यानामेकादशानां त्रिश्रेणयः ।।९७।।

टीका - यहां नाम का एकदेश, वह संपूर्ण नाम में वर्तता है । इस लघुकरण न्याय के आश्रय से गाथा में कहा हुआ **णिवा** इत्यादि प्रथम अक्षरों द्वारा निगोद, वायुकायिक आदि जीवों का ग्रहण करना । यहां अवगाहना के भेद जानने के लिए एक यंत्र करना ।

वहां सूक्ष्म निगोदिया, सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म तेजस्कायिक, सूक्ष्म अप्कायिक, सूक्ष्म पृथ्वीकायिक नाम धारक पांच सूक्ष्म उस यंत्र के प्रथम कोठे में लिखे हैं ।

पुनश्च उसके ठीक आगे बादर-वायु, तेज, जल, पृथ्वी, निगोद, प्रतिष्ठित प्रत्येक नामधारक के छह बादर पूर्ववत् अनुक्रम से दूसरे कोठे में लिखे हैं । पहले जिनके नाम लिये थे, उनके ही फिर से लिये, क्योंकि प्रयोजन की समर्थता से प्रथम कोठे में सूक्ष्म कहे थे, इस दूसरे कोठे में बादर ही है, ऐसा जानना ।

पुनश्च उसके आगे अप्रतिष्ठित प्रत्येक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय नामधारक ये पांच बादर तीसरे कोठे में लिखे हैं । इन सोलह में आदि के सूक्ष्म निगोदादि ग्यारह, उनकी आगे तीन पंक्तियां करनी । वहां एक-एक पंक्ति में दो-दो कोठे जानना । कैसे ? वह कहते हैं । पूर्व में तीसरा कोठा कहा था उसके आगे दो कोठे करना । उनमें जैसे पहले व दूसरे कोठे में पांच सूक्ष्म, छह बादर लिखे थे, वैसे यहां भी लिखे हैं । पुनश्च उन दो कोठों के नीचे की पंक्ति में दो कोठे और करने । वहां भी उसीप्रकार पांच सूक्ष्म, छह बादर लिखे हैं । पुनश्च उनके नीचे की पंक्ति में दो कोठे और करना, वहां भी उसीप्रकार पांच सूक्ष्म, छह बादर लिखे हैं । इसतरह सूक्ष्म निगोदादि ग्यारह स्थानों के दो-दो कोठों से संयुक्त तीन पंक्ति हुयी । इसप्रकार ऊपर की पंक्ति में पांच कोठे, उसके नीचे की पंक्ति में दो कोठे, उसके भी नीचे की पंक्ति में दो कोठे मिलकर नौ कोठे हुये ।

अपदिट्ठिदपत्तेयं बितिचपतिचबिअपदिट्ठिदं सयलं ।
तिचबिअपदिट्ठिदं च य सयलं बादालगुणिदकमा ।।९८।।

अप्रतिष्ठितप्रत्येकं द्वित्रिचपत्रिचद्व्यप्रतिष्ठितं सकलम् ।
त्रिचद्व्यप्रतिष्ठितं च च सकलं द्वाचत्वारिंशद्गुणितक्रमाः ।।९८।।

टीका – पुनश्च उन तीन पंक्तियों के आगे ऊपर की पंक्ति में दसवां कोठा करना । उसमें अप्रतिष्ठित प्रत्येक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय नामधारक पांच बादर लिखे हैं । उसके आगे ग्यारहवें कोठे में त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, पंचेन्द्रिय नामधारक पांच बादर लिखे हैं । पुनश्च उसके आगे बारहवें कोठे में त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, पंचेन्द्रिय

नामधारक पांच बादर लिखे हैं । इसतरह ये चौंसठ जीवसमासों की अवगाहना के भेद हैं । उनमें से ऊपर की पंक्ति के आठ कोठों में प्राप्त ऐसे जो बयालीस जीवसमास, उनकी अवगाहना के स्थान गुणित क्रम से हैं । अनुक्रम से पूर्व स्थान को यथासंभव गुणकार से गुणित करनेपर उत्तरस्थान होता है । पुनश्च इसके नीचे की दो पंक्तियों में प्राप्त हुये बाइस स्थान, वे **'सेढिगया अहिया तत्थेकपडिभागो'** इस वचन से अधिकरूप हैं । वहां एक प्रतिभाग का अधिकपना जानना । पूर्वस्थान को यथासंभव भागहार का भाग देकर एक भाग को पूर्व स्थान में अधिक करनेपर उत्तरस्थान होता है; ऐसा सूचित किया है ।

अवरमपुण्णं पढमं सोलं पुण पढमबिदियतदियोली ।
पुण्णिदरपुण्णियाणं जहण्णमुक्कस्समुक्कस्सं ।।९९।।

अवरमपूर्णं प्रथमे षोडश पुनः प्रथमद्वितीयतृतीयावलिः ।
पूर्णेतरपूर्णानां जघन्यमुत्कृष्टमुत्कृष्टं ।।९९।।

टीका – पहले तीन कोठों में प्राप्त सोलह जीवसमासों की अपर्याप्त संबंधी जघन्य अवगाहना जाननी । उससे आगे ऊपर से पहली, दूसरी, तीसरी पंक्ति में एक-एक पंक्ति में दो-दो कोठे किये थे, वे क्रम से पर्याप्त जीवों की जघन्य, अपर्याप्त की उत्कृष्ट और पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना है । इसका अर्थ इसप्रकार है – ऊपर की प्रथम पंक्ति के दो कोठों में पांच सूक्ष्म, छह बादर इन ग्यारह पर्याप्त जीवसमासों की जघन्य अवगाहना के स्थान हैं । उसीतरह नीचे दूसरी पंक्ति में प्राप्त उन्हीं ग्यारह अपर्याप्त जीवसमासों की उत्कृष्ट अवगाहना के स्थान हैं । उसीतरह तीसरी पंक्ति में प्राप्त उन्हीं ग्यारह पर्याप्त जीवसमासों की उत्कृष्ट अवगाहना के स्थान हैं ।

पुण्णजहण्णं तत्तोवरं अपुण्णस्स पुण्णउक्कस्सं ।
बीपुण्णजहण्णो त्ति असंखं संखं गुणं तत्तो ।।१००।।

पूर्णजघन्यं ततोवरमपूर्णस्य पूर्णोत्कृष्टं ।
द्विपूर्णजघन्यमिति असंख्यं संख्यं गुणं ततः ।।१००।।

टीका – उसके आगे दसवें कोठे में प्राप्त पर्याप्त पांच जीवसमासों की जघन्य अवगाहना के स्थान हैं । पुनश्च उसके आगे ग्यारहवें कोठे में अपर्याप्त पांच जीवसमासों

की उत्कृष्ट अवगाहना के स्थान हैं । पुनश्च उसके आगे बारहवें कोठे में पर्याप्त पांच जीवसमासों की उत्कृष्ट अवगाहना के स्थान हैं । इसतरह कहे हुये स्थानों में प्रथम कोठे में प्राप्त सूक्ष्म अपर्याप्त निगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना से लेकर दसवें कोठे में प्राप्त बादर पर्याप्त द्वीन्द्रिय की जघन्य अवगाहना पर्यंत ऊपर की पंक्ति संबंधी उनतीस अवगाहना के स्थान असंख्यात-असंख्यात गुणा क्रम सहित हैं । पुनश्च उसके आगे बादर पर्याप्त पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यंत तेरह अवगाहना के स्थान संख्यातगुणा-संख्यातगुणा अनुक्रम सहित हैं, ऐसा जानना ।

सुहमेदरगुणगारो आवलिपल्ला असंखभागो दु ।
सट्ठाणे सेढिगया अहिया तत्थेकपडिभागो ।।१०१।।

सूक्ष्मेतरगुणकार आवलिपल्यासंख्येयभागस्तु ।
स्वस्थाने श्रेणिगता अधिकास्तत्रैकप्रतिभागः ।।१०१।।

टीका – यहां उनतीस स्थान असंख्यातगुणे कहे, उनमें से जो सूक्ष्म जीवों की अवगाहना के स्थान हैं, वे आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित जानने । **घनावली** के असंख्यात भाग करके उसमें से एक भाग से पूर्व स्थान को गुणित करनेपर उत्तर स्थान होता है । पुनश्च जो बादर जीवों की अवगाहना के स्थान हैं, वे पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित हैं । पल्य के असंख्यात भाग करके, उसमें से एक भाग से पूर्व स्थान को गुणित करनेपर उत्तरस्थान होता है । इसतरह स्वस्थान संबंधी गुणकार है, इसतरह असंख्यात के गुणकार में भेद हैं, उसे देखना । *(सूक्ष्म का सूक्ष्म के साथ गुणकार है, वह स्वस्थान गुणकार है । बादर का बादर के साथ गुणकार है वह भी स्वस्थान गुणकार है । सूक्ष्म का बादर के साथ गुणकार परस्थान गुणकार कहलाता है ।)*

पुनश्च नीचे की दूसरी, तीसरी पंक्ति में प्राप्त अवगाहना के स्थान अधिक अनुक्रम सहित हैं । वहां सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना के स्थान से लेकर उत्तर-उत्तर स्थान पूर्व-पूर्व अवगाहना स्थान से, उसीको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर वहां एक भागमात्र अधिक है । पूर्व स्थान को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उतना पूर्व स्थान में अधिक करनेपर उत्तर स्थान का प्रमाण आता है । यहां अधिक का प्रमाण लाने के लिये भागहार वा भागहार का भागहार, वह आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । *(यहां सर्वत्र आवली कहने*

से घनावली समझना चाहिये - देखिये - पं.टोडरमलजी लिखित अर्थसंदृष्टि) ऐसा परमगुरु के उपदेश से चला आया प्रमाण जानना । पुनश्च यहां यह बात जानना - सूक्ष्म निगोदिया का तीनों पंक्तियों में अनुक्रम करके पश्चात् सूक्ष्म वायुकायिक का तीनों पंक्तियों में अनुक्रम करना । इसी क्रम से ग्यारह जीवसमासों का अनुक्रम जानना ।

यह यंत्र जीवसमासों की अवगाहना का है । यहां ऊपर की पंक्ति में प्राप्त बयालीस स्थान गुणकाररूप हैं । वहां पहले, चौथे कोठे में सूक्ष्म जीव कहे, वे क्रम से पूर्व स्थान से उत्तर स्थान आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित हैं । पुनश्च दूसरे, तीसरे, सातवें कोठे में बादर कहे और दसवें कोठे में अप्रतिष्ठित प्रत्येक *(५०वां)* और द्वीन्द्रिय *(५१वां)* कहे, वे क्रम से पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित हैं । पुनश्च दसवें कोठे में त्रीन्द्रिय *(५२वां)* से लेकर बारहवें कोठे में प्राप्त पंचेन्द्रिय *(६४वां)* पर्यंत संख्यात से गुणित हैं । पुनश्च नीचे की दो पंक्तियों के चार कोठों में जो स्थान कहे, वे आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित पूर्वस्थान प्रमाण से विशेष अधिक हैं । (देखिये पृ. १८८)

अब कहे गये हुये अवगाहना के स्थानों का गुणकार विधान कहते हैं । सूक्ष्म निगोदिया लब्धिअपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना का स्थान, वह आगे कहेंगे गुणकार, उनकी अपेक्षा निम्नप्रकार है । *(आगे के स्थान जितनी बार गुणकार के रूप में आयेंगे उन गुणकारों को यहां घनांगुल के छेदस्वरूप स्थापन किये हैं । जब आगे आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा कहेंगे, तब छेद में से उसको एक बार घटाकर ९ बार के बदले ८ बार कहेंगे । जब आगे का स्थान पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा कहेंगे तब छेद में पल्य का असंख्यातवां भाग १९ बार लिखा है उसको १८ बार कहेंगे। इसीतरह अन्य गुणकारों के बारे में भी समझना ।)*

उन्नीस बार पल्य का असंख्यातवां भाग, नौ बार आवली का असंख्यातवां भाग, बाइस बार एक अधिक आवली का असंख्यातवां भाग, नौ बार संख्यात इनका तो जिसको भाग दिया है तथा बाइस बार आवली के असंख्यातवें भाग से जिसको गुणा किया है ऐसा जो घनांगुल उस प्रमाण है । सो इसको प्रथम स्थानरूप से स्थापित करना ।

(यहां बाइस बार एक अधिक घनावली के असंख्यातवें भाग का भाग दिया है और उतनी ही बार घनावली के असंख्यातवें भाग से गुणा किया है । उसका

कारण यह है कि जहां विशेष अधिक का प्रमाण असंख्यातवें भाग से अधिक बताना हो उसकी अपेक्षा निगोद की अवगाहना उतनी हीन बतायी है । मान लेते हैं असंख्यात का प्रमाण १०० है । उसका १००० को भाग देनेपर १० आते हैं वे १००० में मिलाने पर १०१० होंगे, जिसको हम असंख्यातभाग वृद्धि कहेंगे । उसको लाने की विधी है - १००० को १०० से भाग दो और १००+१=१०१ से गुणा करो । $\frac{१०००}{१००}$×१०१=१०१० । यदि हमें आगे के १०१० की अपेक्षा १००० को बताना है तो $\frac{१०१०}{१०१}$×१००=१००० लिखेंगे । वैसा ही यहां समझना ।)

इस आदिभूत स्थान से सूक्ष्म अपर्याप्तक वायुकायिक जीव का जघन्य अवगाहना स्थान आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित है, सो इसका गुणकार आवली का असंख्यातवां भाग और पूर्व में आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार नौ बार कहा था, उसमें एक बार आवली का असंख्यातवां भाग सदृश देखकर दोनों का अपवर्तन करनेपर, पूर्व में जहां नौ बार कहा था, उसके बदले यहां आठ बार आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार जानना । इसीतरह आगे भी गुणकार, भागहार को समान देखकर दोनों का अपवर्तन करना । पुनश्च इससे सूक्ष्म अपर्याप्त तेजस्कायिक का जघन्य अवगाहना स्थान आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां भी पूर्वोक्त प्रकार से अपवर्तन करनेपर आठ बार की जगह सात बार आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार होता है । पुनश्च इससे सूक्ष्म अपर्याप्त अप्कायिक का जघन्य अवगाहना स्थान आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां पूर्ववत् अपवर्तन करना । पुनश्च इससे सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायिक का जघन्य अवगाहना स्थान आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां भी पूर्ववत् अपवर्तन करना । इसतरह यहां आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार तो पांच बार रहा, अन्य सब गुणकार, भागहार पूर्ववत् जानने । पुनश्च यहां तक सूक्ष्म से सूक्ष्म का गुणकार हुआ, इसलिये स्वस्थान गुणकार कहते हैं । अब सूक्ष्म से बादर का गुणकार कहते हैं, यह परस्थान गुणकार जानना । आगे भी सूक्ष्म से बादर, बादर से सूक्ष्म का जहां गुणकार है, वह परस्थान गुणकार है, ऐसा विशेष जानना ।

पुनश्च इस सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायिक के जघन्य अवगाहना स्थान से स्वस्थान गुणकार को उल्लंघ कर परस्थानरूप बादर अपर्याप्त वायुकायिक का जघन्य अवगाहना स्थान पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां इस गुणकार से उन्नीस बार पल्य के

(१) सूक्ष्म निगोद १ वायु २ तेज ३ अप् ४ पृथ्वी ५ इन पांच अपर्याप्तों की जघन्य अवगाहना ।	(२) बादर वायु ६ तेज ७ अप् ८ पृथ्वी ९ निगोद १० प्रति. प्रत्येक ११ इन छह अपर्याप्तों की जघन्य अवगाहना ।	(३) अप्रति. प्रत्येक १२ द्वीन्द्रिय १३ त्रीन्द्रिय १४ चतुरि. १५ पंचेन्द्रिय १६ इन पांच अपर्याप्तों की जघन्य अवगाहना ।	(४) सूक्ष्म निगोद १७ वायु १८ तेज १९ अप् २० पृथ्वी २१ इन पांच अपर्याप्तों की जघन्य अवगाहना ।	(७) बादर वायु २२ तेज २३ अप् २४ पृथ्वी २५ निगोद २६ प्रतिष्ठित प्रत्येक २७ इन छह पर्याप्तों की जघन्य अवगाहना ।	(१०) अप्रति. प्रत्येक ५० द्वीन्द्रिय ५१ त्रीन्द्रिय ५२ चतुरि. ५३ पंचेन्द्रिय ५४ इन पांच पर्याप्तों की जघन्य अवगाहना ।	(११) त्रीन्द्रिय ५५ चतुरि.५६ द्वीन्द्रि. ५७ अप्रतिष्ठित ५८ पंचेन्द्रिय ५९ इन पांच अपर्याप्तों की उत्कृष्ट अवगाहना ।	(१२) त्रीन्द्रिय ६० चतुरि. ६१ द्वीन्द्रिय ६२ अप्रति. प्रत्येक ६३ पंचेन्द्रिय ६४ इन पांच पर्याप्तों की उत्कृष्ट अवगाहना ।
			(५) सूक्ष्म निगोद २८ वायु २९ तेज ३० अप् ३१ पृथ्वी ३२ इन पांच अपर्याप्तों की उत्कृष्ट अवगाहना ।	(८) बादर वायु ३३ तेज ३४ अप् ३५ पृथ्वी ३६ निगोद ३७ प्रति. प्रत्येक ३८ इन छह अपर्याप्तों की उत्कृष्ट अवगाहना ।			
			(६) सूक्ष्म निगोद ३९ वायु ४० तेज ४१ अप् ४२ पृथ्वी ४३ इन पांच पर्याप्तों की उत्कृष्ट अवगाहना ।	(९) बादर वायु ४४ तेज ४५ अप् ४६ पृथ्वी ४७ निगोद ४८ प्रति. प्रत्येक ४९ इन छह पर्याप्तों की उत्कृष्ट अवगाहना ।			

शुद्धि –
कोठा ४ – अपर्याप्तों की जगह पर्याप्तों
कोठा ११ – अप्रतिष्ठित की जगह अप्रति.प्रत्येक

असंख्यातवें भाग का भागहार था, उसमें से एक बार का अपवर्तन करना । पुनश्च इससे बादर तेजस्कायिक अपर्याप्तक का जघन्य अवगाहना स्थान पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां भी पूर्ववत् अपवर्तन करना । इसीतरह पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा अनुक्रम से अपर्याप्त बादर अप्, पृथ्वी, निगोद, प्रतिष्ठित प्रत्येक के जघन्य अवगाहना स्थान और अपर्याप्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के जघन्य अवगाहना स्थान इन नौ स्थानों को प्राप्त कर पूर्ववत् अपवर्तन करनेपर अपर्याप्त पंचेन्द्रिय के जघन्य अवगाहना स्थान में आठ बार पल्य के असंख्यातवें भाग का भागहार रहता है । अन्य भागहार गुणकार पूर्ववत् जानना ।

पुनश्च इससे सूक्ष्म निगोद पर्याप्त का जघन्य अवगाहना स्थान, सो परस्थानरूप आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है । सो पूर्व में आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार पांच बार रहा था, उसमें से एक बार भागहार द्वारा इस गुणकार का अपवर्तन करना । पुनश्च इससे सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तक का उत्कृष्ट अवगाहना स्थान विशेष अधिक है । विशेष का प्रमाण कहते हैं – सूक्ष्म निगोद पर्याप्तक के जघन्य अवगाहना स्थान को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर वहां एक भागमात्र विशेष का प्रमाण है । इसको उसी सूक्ष्म निगोद पर्याप्त के जघन्य स्थान में समच्छेद विधान से मिलायी हुयी राशि का अपवर्तन करनेपर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहना स्थान होता है ।

अपवर्तन कैसे करते हैं ?

जहां जिस राशि का भागहार देकर एक भाग किसी विवक्षित राशि में जोड़ना हो, वहां उस राशि से एक अधिक का तो गुणकार और उस पूर्ण राशि का भागहार विवक्षित राशि को देते हैं । जैसे, चौंसठ का चौथा भाग चौंसठ में मिलाना हो तो चौंसठ को पांच गुणा करके चार का भाग देते हैं । उसीप्रकार यहां भी आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग मिलाना है, इसलिये एक अधिक आवली के असंख्यातवें भाग का गुणकार और आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार करना। पुनश्च पूर्व राशि में बाइस बार एक अधिक आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार है और बाइस बार ही आवली के असंख्यातवें भाग का गुणकार है । इसलिये इनमें से एक बार के भागहार गुणकार से अब कहे जो गुणकार भागहार, उनका अपवर्तन करनेपर बाइस बार की जगह गुणकार भागहार इक्कीस बार ही रहता है । इसीतरह

आगे भी जहां विशेष अधिक हो, वहां अपवर्तन द्वारा आवली के असंख्यातवें भाग का गुणकार और एक अधिक आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार एक-एक बार घटाना ।

पुनश्च सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना से सूक्ष्म निगोद पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । यहां विशेष का प्रमाण सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर एक भागमात्र है । इसको पूर्व अवगाहना में जोड़कर पूर्ववत् अपवर्तन करना ।

पुनश्च इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां अपवर्तन करनेपर चार बार आवली के असंख्यातवां भाग का भागहार था, वह अब तीन बार ही रहता है । पुनश्च इससे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । यहां विशेष का प्रमाण पूर्व राशि को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर एक भागमात्र है, उसको जोड़कर अपवर्तन करना। पुनश्च इससे इसके नीचे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना, सो विशेष अधिक है । पूर्व राशि को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर वहां एक भाग से अधिक जानना । यहां भी अपवर्तन करना ।

पुनश्च इससे सूक्ष्म तेजस्कायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना आवली के असंख्यात भाग गुणा है । यहां अपवर्तन करनेपर आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार तीन बार की जगह दो बार ही रहता है । ऐसे ही इससे सूक्ष्म तेजस्कायिक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे सूक्ष्म तेजस्कायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है ।

इससे सूक्ष्म अप्कायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है । इससे सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे सूक्ष्म अप्कायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है ।

इससे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है । इससे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इसतरह दो-दो तो आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित पूर्वराशि प्रमाण विशेष से

अधिक और एक-एक अपनी-अपनी पूर्वराशि से आवली के असंख्यातवें भाग गुणा जानना ।

ऐसे आठ अवगाहना स्थानों को उल्लंघकर वहां आठवां स्थान सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना, सो पूर्वोक्त प्रकार से अपवर्तन करनेपर बारह बार आवली के असंख्यातवें भाग का गुणकार और आठ बार पल्य का असंख्यातवां भाग, बारह बार एक अधिक आवली का असंख्यातवां भाग, नौ बार संख्यात का भाग जिसके पाया जाता है, ऐसे घनांगुल प्रमाण होता है । पुनश्च इससे बादर वायुकायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना परस्थानरूप है, इसलिये पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां पल्य के असंख्यातवें भाग का भागहार आठ बार था, उसमें एक बार का अपवर्तन करनेपर सात बार रहता है । पुनश्च इसके आगे दो-दो स्थान तो विशेष अधिक और एक-एक स्थान पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा जानना । वहां विशेष का प्रमाण अपनी-अपनी पूर्वराशि को आवली के असंख्यातवें भागरूप प्रतिभाग का भाग देनेपर एक भाग प्रमाण जानना। सो जहां अधिक थे, वहां अपवर्तन करनेपर बारह बार आवली के असंख्यातवें भाग का गुणकार और एक अधिक आवली के असंख्यातवें भाग का भागहार थे, उनमें से एक-एक बार घट जाता है । पुनश्च जहां पल्य के असंख्यातवें भाग का गुणकार हो, वहां अपवर्तन करनेपर सात बार पल्य के असंख्यातवें भाग का भागहार थे, उनमें से एक बार घटता है, ऐसा क्रम जानना । बादर वायुकायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना से बादर वायुकायिक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे बादर वायुकायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है।

इससे बादर तेजस्कायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । इससे बादर तेजस्कायिक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे बादर तेजस्कायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है ।

इससे बादर अप्कायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । इससे बादर अप्कायिक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। इससे बादर अप्कायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है ।

इससे बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । इससे बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक

है । इससे बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है ।

इससे बादर निगोद पर्याप्त की जघन्य अवगाहना पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । इससे बादर निगोद अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे बादर निगोद पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है ।

इससे प्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । इससे प्रतिष्ठित प्रत्येक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। इससे प्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इसतरह सत्रह अवगाहन स्थानों को उल्लंघकर पूर्वोक्त प्रकार से अपवर्तन करनेपर सत्रहवें बादर प्रतिष्ठित प्रत्येक की उत्कृष्ट अवगाहना दो बार पल्य का असंख्यातवां भाग और नौ बार संख्यात का भाग जिसको दिया है, ऐसे घनांगुल प्रमाण होता है ।

पुनश्च इससे अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त की जघन्य अवगाहना पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां भी अपवर्तन करना । पुनश्च इससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य अवगाहना पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । यहां भी अपवर्तन करनेपर पल्य के असंख्यातवें भाग का भागहार था, सो दूर होकर घनांगुल का नौ बार संख्यात का भागहार रहा । पुनश्च इससे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्तों की जघन्य अवगाहना हैं, वे क्रम से पूर्व-पूर्व से संख्यात-संख्यात गुणा हैं ।

इससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है । इससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है । इससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है । इससे अप्रतिष्ठित प्रत्येक अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है । इससे पंचेन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है। इसतरह एक-एक बार संख्यात के गुणकार से नौ बार संख्यात के भागहार में से एक-एक बार का अपवर्तन करनेपर पंचेन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना एक बार संख्यात से भाजित घनांगुल प्रमाण होता है ।

इससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है, उसका अपवर्तन करते हैं; तथापि यहां के गुणकार के संख्यात का प्रमाण भागहार के संख्यात के प्रमाण से बहुत है । इसलिये त्रीन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा घनांगुल प्रमाण है । इससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है । इससे

द्वीन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है । इससे अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है । इससे पंचेन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात गुणा है । ऐसे क्रम से अवगाहन के स्थान जानने ।

आगे सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त की जघन्य अवगाहना से सूक्ष्म वायुकायिक लब्धिअपर्याप्त की जघन्य अवगाहना का गुणकारस्वरूप आवली का असंख्यातवां भाग कहा । उसकी उत्पत्ति के अनुक्रम को और उन दोनों के मध्य अवगाहना के भेद हैं, उनके प्रकारों को नौ गाथाओं द्वारा कहते हैं –

अवरुवरि इगिपदेसे जुदे असंखेज्जभागवड्ढीए ।
आदी णिरंतरमदो एगेगपदेसपरिवड्ढी ।।१०२।।

अवरोपरि एकप्रदेशे युते असंख्यातभागवृद्धेः ।
आदिः निरंतरमतः एकैकप्रदेशपरिवृद्धिः ।।१०२।।

टीका – सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त जीव की जघन्य अवगाहना पूर्वोक्त प्रमाण, उसकी लघु संदृष्टि द्वारा **ज** ऐसा आदि अक्षर स्थापन किया क्योंकि यह सर्व से जघन्य भेद है । पुनश्च इससे दूसरे अवगाहना के भेद के लिये इस जघन्य अवगाहना में एक प्रदेश जोड़नेपर, सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्तक का दूसरा अवगाहना का भेद होता है। पुनश्च ऐसे ही एक-एक प्रदेश से बढ़ते हुये अनुक्रम से तब तक प्राप्त होना, जब तक सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त की जघन्य अवगाहना वह सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त की जघन्य अवगाहना से आवली के असंख्यातवें भाग गुणा हो जाय। वहां असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि ऐसे चतुःस्थानपतितवृद्धि और बीच-बीच में अवक्तव्यभागवृद्धि वा अवक्तव्यगुणवृद्धि द्वारा बढ़ते हुये जो अवगाहना के स्थान, उनके उपजने का विधान कहते हैं ।

भावार्थ – जघन्य अवगाहना का जितना प्रदेशों का प्रमाण है, उसको जघन्य अवगाहना प्रमाण असंख्यात से लेकर जघन्य परीतासंख्यात पर्यंत जिस-जिसका भाग देना संभव है, उस-उस असंख्यात का भाग देनेपर (जघन्य अवगाहना) जिस-जिस अवगाहना भेद में प्रदेश बढ़ता प्रमाण हो, वहां-वहां असंख्यातभागवृद्धि कहते हैं । पुनश्च उस जघन्य अवगाहना के प्रदेश प्रमाण को उत्कृष्ट संख्यात से लेकर यथासंभव दो पर्यंत संख्यात

के भेदों का भाग देनेपर जघन्य अवगाहना से जिस-जिस अवगाहना में बढ़ता प्रमाण हो, वहां-वहां संख्यातभागवृद्धि कहते हैं । पुनश्च दो से लेकर उत्कृष्ट संख्यात पर्यंत संख्यात के भेदों द्वारा जघन्य अवगाहना को गुणा करनेपर जिस-जिस अवगाहना में प्रदेशों का प्रमाण हो, वहां-वहां संख्यातगुणवृद्धि कहते हैं । पुनश्च जघन्य परीतासंख्यात से लेकर आवली के असंख्यातवें भाग पर्यंत असंख्यात के भेदों द्वारा जघन्य अवगाहना को गुणा करनेपर, जिस-जिस अवगाहना के भेद में प्रदेशों का प्रमाण हो, वहां-वहां असंख्यातगुणवृद्धि कहते हैं ।

पुनश्च जहां-जहां इन संख्यात या असंख्यात के भेदों का भागहार गुणकार संभव नहीं है ऐसे प्रदेश जघन्य अवगाहना से जहां-जहां बढ़ते हुये हो, वह अवक्तव्यभागवृद्धि या अवक्तव्यगुणवृद्धि कहलाती है । सो यह अवक्तव्यवृद्धि पूर्वोक्त चतुःस्थान वृद्धि के बीच-बीच में होती है । पुनश्च यहां जघन्य अवगाहना प्रमाण से बड़े असंख्यात के और अनंत के भाग की वृद्धि संभव नहीं है, क्योंकि इनका भाग जघन्य अवगाहना को बन नहीं सकता । पुनश्च यहां आवली के असंख्यातवें भाग से बड़े असंख्यात का और अनंत का गुणकार रूप वृद्धि संभव नहीं है, क्योंकि इनसे जघन्य अवगाहना को गुणा करनेपर प्रमाण बड़ा होगा । यहां सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त के जघन्य अवगाहन पर्यंत ही विवक्षा है।

इसतरह यहां प्रदेशवृद्धि का स्वरूप जानना, वही विशेष कहते हैं । सबसे जघन्य अवगाहना को इस जघन्य अवगाहना प्रमाण असंख्यात का भाग देनेपर एक आया, सो जघन्य अवगाहना के ऊपर एक प्रदेश जोड़नेपर अवगाहना का दूसरा भेद होता है । यह असंख्यातभागवृद्धि का आदि स्थान है । ($\frac{ज}{ज}=१$) पुनश्च जघन्य अवगाहना के आधे प्रमाणरूप असंख्यात का भाग उस जघन्य अवगाहना को देनेपर दो आये, ($\frac{ज}{\frac{ज}{२}}=२$), उसे जघन्य अवगाहना में जोड़नेपर, अवगाहना का तीसरा भेद होता है। यह असंख्यातभागवृद्धि का दूसरा स्थान है । इसी क्रम से जघन्य अवगाहना को यथायोग्य असंख्यात का भाग देनेपर तीन, चार, पांच इत्यादि संख्यायें असंख्यात आती हैं, उन्हें जघन्य अवगाहना में जोड़नेपर निरंतर एक-एक प्रदेश की वृद्धि से संयुक्त अवगाहना के स्थान असंख्यात होते हैं । उनको उल्लंघकर क्या होता है वह कहते हैं -

अवरोग्गाहणमाणे जहण्ण परिमिदअसंखरासिहिदे ।
अवरस्सुवरिं उड्ढे जेट्ठमसंखेज्जभागस्स ।।१०३।।

अवरावगाहनाप्रमाणे जघन्यपरिमितासंख्यातराशिहते ।
अवरस्योपरि वृद्धे ज्येष्ठमसंख्यातभागस्य ।।१०३।।

टीका – एक जगह जघन्य अवगाहना को जघन्य परीतासंख्यात राशि का भाग देनेपर, जो प्रमाण आये, उतना जघन्य अवगाहना में जोड़नेपर जितने हो, उतने प्रदेश जहां अवगाहना भेद में हो, वहां असंख्यातभागवृद्धिरूप अवगाहना स्थान का अंतस्थान होता है । ऐसे असंख्यातभागवृद्धि के स्थान कितने हुये ? वह कहते हैं – **'आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणे'** इस करणसूत्र द्वारा असंख्यातभागवृद्धिरूप अवगाहना के आदि स्थान के प्रदेश प्रमाण को अंतस्थान के प्रदेश प्रमाण में से घटाकर अवशेष रहे, उसको स्थान-स्थान प्रति एक-एक प्रदेश बढ़ता है, इसलिये एक का भाग देनेपर भी उतने ही रहे, उनमें एक और जोड़नेपर जितने होंगे, उतने असंख्यातभागवृद्धि के स्थान जानने ।

तस्सुवरि इगिपदेसे जुदे अवत्तव्वभागपारंभो ।
वरसंखमवहिदवरे रूऊणे अवरउवरिजुदे ।।१०४।।

तस्योपरि एकप्रदेशे युते अवक्तव्यभागप्रारंभः ।
वरसंख्यातावहितावरे रूपोने अवरोपरियुते ।।१०४।।

टीका – पूर्वोक्त असंख्यातभागवृद्धि का अंतिम अवगाहना स्थान, उसमें एकप्रदेश जुड़नेपर अवक्तव्यभागवृद्धि के प्रारंभरूप प्रथम अवगाहना स्थान होता है । पुनश्च इसके आगे एक-एक प्रदेश बढ़ते हुये अनुक्रम से अवक्तव्यभागवृद्धि के स्थानों का उल्लंघन कर एक बार उत्कृष्ट संख्यात का भाग जघन्य अवगाहना को देनेपर जो प्रमाण आये, उसमें से एक घटाकर जितने हो, उतने प्रदेश जघन्य अवगाहना के ऊपर जुड़नेपर क्या होता है, वह कहते हैं –

तव्वड्ढीए चरिमो तस्सुवरिं रूवसंजुदे पढमा ।
संखेज्जभागउड्ढी उवरिमदो रूवपरिवड्ढी ।।१०५।।

तद्वृद्धेश्चरमः तस्योपरि रूपसंयुते प्रथमा ।
संख्यातभागवृद्धिः उपर्यतो रूपपरिवृद्धिः ।।१०५।।

टीका – उस अवक्तव्यभागवृद्धि का अंतिम अवगाहन स्थान होता है । पुनश्च इस अवक्तव्यभागवृद्धि के स्थानों के भेद कितने हैं ? वह कहते हैं – **'आदी अंते सुद्धे वट्टिहिदे रूवसंजुदे ठाणे'** इस करणसूत्र द्वारा अवक्तव्यभागवृद्धि के आदिस्थान के प्रदेश प्रमाण को अंतिम स्थान के प्रदेश प्रमाण में से घटाकर अवशेष को वृद्धि का प्रमाण एक-एक का भाग देनेपर जो प्राप्त हो उसमें एक जोड़नेपर जितने हो, उतने अवक्तव्यभागवृद्धि के स्थान हैं ।

पुनश्च अब अवक्तव्यभागवृद्धि के स्थानों की उत्पत्ति को अंकसंदृष्टि द्वारा व्यक्त करते हैं । जैसे, जघन्य अवगाहना का प्रमाण अड़तालीस सौ (४८००), जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण सोलह (१६), उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण पंद्रह (१५) । वहां भागहारभूत जघन्य परीतासंख्यात सोलह (१६) का भाग जघन्य अवगाहना अड़तालीस सौ (४८००) को देनेपर तीन सौ (३००) आये । इतने जघन्य अवगाहना से बढ़नेपर असंख्यातभागवृद्धि का अंतिम अवगाहना स्थान होता है । पुनश्च उस जघन्य अवगाहना (४८००) को उत्कृष्ट संख्यात (१५) का भाग देनेपर तीन सौ बीस (३२०) आये, इतने बढ़नेपर संख्यातभागवृद्धि का प्रथम अवगाहना स्थान होता है । पुनश्च इन दोनों के बीच में अंतराल में तीन सौ एक से लेकर तीन सौ उन्नीस ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९ पर्यंत बढ़े हुये जो ये उन्नीस स्थान भेद होते हैं, वे असंख्यातभागवृद्धिरूप या संख्यातभागवृद्धिरूप नहीं कहे जाते क्योंकि जघन्य असंख्यात का भी और उत्कृष्ट संख्यात का भी भाग देनेपर वे तीन सौ एक आदि नहीं पाये जाते । क्यों ? क्योंकि जघन्य असंख्यात (१६) का भाग देनेपर तीन सौ (३००), उत्कृष्ट संख्यात (१५) का भाग देनेपर तीन सौ बीस (३२०) आये, इनसे उनकी संख्या हीन अधिक है। इसलिये इनको अवक्तव्यभागवृद्धि स्थान कहते हैं ।

सो यहां अवक्तव्यभागवृद्धि में भागहार का प्रमाण कैसे होता है ? वह कहते हैं – जघन्य का प्रमाण अड़तालीस सौ, उसको जिस भागहार से भाग देनेपर तीन सौ एक पाये जाय, वह भागहार होता है । वहां **'हारस्य हारो गुणकौंशराशेः'** इस करणसूत्र से भागहार का भागहार है, सो भाज्यराशि का गुणकार होता है, ऐसे भिन्न

गणित का आश्रय करके अड़तालीस सौ को तीन सौ एक से गुणित करके उसको अड़तालीस सौ का भाग देनेपर इतने प्रमाण उस अवक्तव्यभागवृद्धि के प्रथम अवगाहन भेद की वृद्धि का प्रमाण होता है । सो अपवर्तन करने पर तीन सौ एक ही आते है । $\frac{४८०० \times ३०१}{४८००} = ३०१$ । सो यहां संख्यात-असंख्यातरूप भागहार नहीं कह सकते; इसलिये अवक्तव्यभाग वृद्धिरूप कहा है ।

भावार्थ – यहां भिन्न गणित के आश्रय से भागहार का प्रमाण ऐसा आता है। पुनश्च जैसे यह अंकसंदृष्टि की अपेक्षा कथन किया है, ऐसे ही अर्थसंदृष्टि द्वारा कथन जोड़ना । इसी अनुक्रम से अवक्तव्यभागवृद्धि के अंतिमस्थान पर्यंत स्थान लाने। पुनश्च उस अवक्तव्यभागवृद्धि के अंतिम अवगाहना स्थान में एक प्रदेश मिलानेपर संख्यातभागवृद्धि का प्रथम अवगाहना स्थान होता है । उसके आगे एक-एक प्रदेश की वृद्धि के अनुक्रम से अवगाहना स्थान असंख्यात प्राप्त होते हैं ।

अवरद्धे अवरुवरिं, उड्ढे तव्वड्ढिपरिसमत्तीहु ।
रूवे तदुवरि उड्ढे, होदि अवत्तव्वपढमपदं ।।१०६।।

अवरार्धे अवरोपरिवृद्धे तद्वृद्धिपरिसमाप्तिर्हि ।
रूपे तदुपरिवृद्धे, भवति अवक्तव्यप्रथमपदम् ।।१०६।।

टीका – जघन्य अवगाहना के आधे प्रमाणरूप प्रदेश जघन्य अवगाहना के ऊपर बढ़नेपर संख्यातभागवृद्धि का अंतिम स्थान होता है । ($ज + \frac{ज}{२}$) क्योंकि जघन्य संख्यात का प्रमाण दो है, उसका भाग देनेपर राशि का आधा प्रमाण होता है । पुनश्च ये संख्यातभागवृद्धि के स्थान कितने होते हैं ? वह कहते हैं – **'आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणे'** इस सूत्र द्वारा संख्यातभागवृद्धि के आदिस्थान के प्रदेश प्रमाण को अंतिमस्थान के प्रदेश प्रमाण में से घटाकर अवशेष को वृद्धि का प्रमाण एक का भाग देनेपर भी उतने ही रहे । वहां एक मिलानेपर जो प्रमाण होता है, उतने संख्यातभागवृद्धि के स्थान हैं । पुनश्च संख्यातभागवृद्धि के अंतिम अवगाहना स्थान में एक प्रदेश मिलानेपर अवक्तव्यभागवृद्धि का प्रथम अवगाहन स्थान उपजता है । पुनश्च उसके आगे एक-एक प्रदेश से बढ़ते हुये अनुक्रम से अवक्तव्यभागवृद्धि के स्थान असंख्यात उल्लंघकर एक जगह क्या कहा है, वह कहते हैं ।

रूऊणवरे अवरुस्सुवरिं संवड्ढिदे तदुक्कस्सं ।
तम्हि पदेसे उड्ढे पढमा संखेज्जगुणवड्ढि ।।१०७।।

रूपोनावरे अवरस्योपरि संवर्धिते तदुत्कृष्टं ।
तस्मिन् प्रदेशे वृद्धे प्रथमा संख्यातगुणवृद्धिः ।।१०७।।

टीका – एक कम जघन्य अवगाहना के प्रदेश प्रमाण जघन्य अवगाहना के ऊपर बढ़नेपर अवक्तव्यभागवृद्धि का अंतिम उत्कृष्ट अवगाहना स्थान होता है । क्योंकि जघन्य संख्यात का प्रमाण दो है, सो दुगुणा होनेपर संख्यातगुणवृद्धि का आदिस्थान होता है *(ज+ज=२ज)*। इसलिये एक कम होनेपर इसका अंतिमस्थान (ज+ज-१) होता है। यहां अवक्तव्यभागवृद्धि के स्थान कितने है ? **'आदी अंते सुद्धे'** इत्यादि सूत्र द्वारा इसके आदि को अंत में से घटाकर, अवशेष को वृद्धि एक का भाग देकर एक जोड़नेपर जो प्रमाण हो, उतने अवक्तव्यभागवृद्धि के स्थान होते हैं । पुनश्च उस अवक्तव्यभागवृद्धि के अंतिम स्थान में एक प्रदेश जुड़नेपर, संख्यातगुणवृद्धि का प्रथम अवगाहन स्थान होता है । उसके आगे एक-एक प्रदेश की वृद्धि से संख्यातगुणवृद्धि के असंख्यात अवगाहना स्थान को प्राप्त होकर, एक स्थान में क्या कहा है वह कहते हैं -

अवरे वरसंखगुणे तच्चरिमो तह्मि रूवसंजुत्ते ।
उग्गाहणह्मि पढमा होदि अवत्तव्वगुणवड्ढी ।।१०८।।

अवरे वरसंख्यगुणे तच्चरमः तस्मिन् रूपसंयुक्ते ।
अवगाहने प्रथमा भवति अवक्तव्यगुणवृद्धिः ।।१०८।।

टीका – जघन्य अवगाहना को उत्कृष्ट संख्यात से गुणा करनेपर जितने हो, उतने प्रदेश जहां पाये जाय, वह संख्यातगुणवृद्धि का अंतिम अवगाहना स्थान है । पुनश्च ये संख्यातगुणवृद्धि के स्थान कितने हैं ? वह कहते हैं - पूर्ववत् **'आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणे'** इत्यादि सूत्र द्वारा इसके आदि को अंत में से घटाकर वृद्धि एक का भाग देकर, एक जोड़नेपर, जितने पाये जाते हैं, उतने हैं । पुनश्च आगे संख्यातगुणवृद्धि के अंतिम अवगाहना स्थान में एक प्रदेश जोड़नेपर अवक्तव्यगुणवृद्धि का प्रथम अवगाहना स्थान होता है । इसके आगे एक-एक प्रदेश की वृद्धि से अवक्तव्यगुणवृद्धि के स्थान असंख्यात प्राप्त होकर, एक स्थान में क्या कहा है वह कहते हैं -

अवरपरितासंखेणवरं संगुणिय रूवपरिहीणे ।
तच्चरिमो रूवजुदे तह्मि असंखेज्जगुणपढमं ।।१०९।।

अवरपरीतासंख्येनावरं संगुण्य रूपपरिहीने ।
तच्चरमो रूपयुते तस्मिन् असंख्यातगुणप्रथमम् ।।१०९।।

टीका – जघन्य परीतासंख्यात से जघन्य अवगाहना को गुणा करके उसमें से एक घटानेपर जो प्रमाण हो, उतने प्रदेशरूप उस अवक्तव्यगुणवृद्धि का अंतिम अवगाहना स्थान होता है । ये अवक्तव्यगुणवृद्धि के स्थान कितने हैं ? वह कहते हैं– पूर्ववत् **'आदी अंते सुद्धे'** इत्यादि सूत्र द्वारा इसके आदि को अंत में से घटाकर, अवशेष को वृद्धि एक का भाग देकर, एक जोड़ने से जितने हो, उतने हैं । पुनश्च यहां अवक्तव्यगुणवृद्धि का स्वरूप अंकसंदृष्टि द्वारा अवलोकन करते हैं । जैसे, जघन्य अवगाहना का प्रमाण सोलह (१६), एक घाटि जघन्य परीतासंख्यात प्रमाण जो उत्कृष्ट संख्यात, उसका प्रमाण तीन (३), उससे जघन्य को गुणा करनेपर अड़तालीस (४८) हुये । तथा जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण चार (४), उससे जघन्य को गुणा करनेपर चौंसठ (६४) हुये । इनके बीचवाले जो भेद *(४९ से ६३)*, वे अवक्तव्यगुणवृद्धि के स्थान हैं । क्योंकि इनको संख्यात या असंख्यात गुणवृद्धिरूप कहा नहीं जाता । वहां जघन्य अवगाहना सोलह को एक कम परीतासंख्यात उसका प्रमाण तीन, उससे गुणा करनेपर अड़तालीस होते हैं उसमें एक जोड़नेपर अवक्तव्यगुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है। इसको जघन्य अवगाहना सोलह का भाग देनेपर प्राप्त उनचास का सोलहवां भाग प्रमाण $(\frac{४९}{१६})$ अवक्तव्यगुणवृद्धि का प्रथम स्थान लाने के लिये गुणकार है। इससे जघन्य अवगाहना को गुणा करके अपवर्तन करनेपर अवक्तव्यगुणवृद्धि का प्रथम अवगाहना स्थान उनचास प्रदेश प्रमाण होता है । अथवा अवक्तव्यगुणवृद्धि का प्रथम स्थान एक अधिक तिगुणा सोलह, उसको जघन्य अवगाहन सोलह का भाग देनेपर आया एक सोलहवां भाग अधिक तीन $(१+(३\times१६)=४९,\ \frac{४९}{१६} = ३\frac{१}{१६})$ इससे जघन्य अवगाहना सोलह को गुणा करनेपर उनचास आये, उतने ही प्रदेश प्रमाण अवक्तव्यगुणवृद्धि का प्रथम अवगाहना स्थान होता है । ऐसे अन्य उत्तरोत्तर भेदों में भी गुणकार का अनुक्रम जानना । वहां अवक्तव्यगुणवृद्धि का अंतिम अवगाहना स्थान, वह जघन्य अवगाहना सोलह को जघन्य परीतासंख्यात चार से गुणा करनेपर जो प्राप्त हुआ उसमें से एक

घटानेपर तिरसठ (६३) होते हैं, इतने प्रमाण है । पुनश्च इसको जघन्य अवगाहना सोलह का भाग देकर आया तिरसठ का सोलहवां भाग $\frac{६३}{१६}$, वही अवक्तव्यगुणवृद्धि का अंतिम अवगाहना स्थान लाने में गुणकार है । इससे जघन्य अवगाहना सोलह को गुणा करनेपर, अवक्तव्यगुणवृद्धि के अंतिम अवगाहना स्थान की उत्पत्ति होती है, वह अवलोकन करना । अथवा अवक्तव्यगुणवृद्धि के अंतिम अवगाहना स्थान तिरसठ को जघन्य अवगाहना सोलह का भाग देकर प्राप्त तीन और पंद्रह सोलहवां भाग $\frac{६३}{१६} = ३\frac{१५}{१६}$ से जघन्य अवगाहना सोलह को गुणा करनेपर, अवक्तव्यगुणवृद्धि के अंतिम अवगाहना स्थान के प्रदेश का प्रमाण होता है । सो सर्व अवक्तव्यगुणवृद्धि का स्थापन उनचास आदि एक-एक बढ़ते हुये तिरसठ पर्यंत जानना । ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३ । पुनश्च इसी अनुक्रम से अर्थसंदृष्टि में भी एक कम जघन्य अवगाहना प्रमाण इस अवक्तव्यगुणवृद्धि के स्थान जानने । पुनश्च अब पूर्वोक्त अवक्तव्यगुणवृद्धि के अंतिम अवगाहना स्थान में एक प्रदेश जुड़नेपर असंख्यातगुणवृद्धि का प्रथम अवगाहना स्थान होता है ।

रूवुत्तरेण तत्तो आवलियासंखभागगुणगारे ।
तप्पाउग्गे जादे वाउस्सोग्गाहणं कमसो ।।११०।।

रूपोत्तरेण तत आवलिकासंख्यभागगुणकारे ।
तत्प्रायोग्ये जाते वायोरवगाहनं क्रमशः ।।११०।।

टीका - ततः अर्थात् उस असंख्यातगुणवृद्धि के प्रथम अवगाहना स्थान से आगे एक-एक प्रदेश वृद्धि से असंख्यातगुणवृद्धि के अवगाहना स्थान असंख्यात हैं । उनको उल्लंघकर एक स्थान में यथायोग्य आवली *(घनावली)* के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात का गुणकार, वह सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्तक निगोद के जघन्य अवगाहनारूप गुण्य के होनेपर सूक्ष्म वायुकायिक लब्धिअपर्याप्तक के जघन्य अवगाहना स्थान की उत्पत्ति होती है । यहां ये कितने स्थान हुये ? वहां **'आदी अंते सुद्धे'** इत्यादि सूत्र द्वारा आदि स्थान को अंतिम स्थान में से घटाकर, अवशेष को वृद्धि एक का भाग देकर लब्धराशि में एक मिलानेपर, स्थानों का प्रमाण आता है ।

आगे सर्व अवगाहना के स्थानों के गुणकार की उत्पत्ति का अनुक्रम कहते हैं -

एवं उवरि वि णेओ पदेसवड्ढिक्कमो जहाजोग्गं ।
सव्वत्थेक्केकह्मि य जीवसमासाण विच्चाले ।।१११।।

एवमुपर्यपि ज्ञेयः प्रदेशवृद्धिक्रमो यथायोग्यम् ।
सर्वत्रैकैकस्मिंश्च जीवसमासानामंतराले ।।१११।।

टीका – एवं अर्थात् इसीप्रकार जैसे सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्तक के जघन्य अवगाहना स्थान को आदि में रखकर सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्तक वायुकायिक जीव के जघन्य अवगाहना स्थान पर्यंत पूर्वोक्त प्रकार चतुःस्थानपतित प्रदेशवृद्धि का अनुक्रम कहा, वैसे ऊपर भी सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्तक तेजस्कायिक के जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के जघन्य अवगाहना स्थान पर्यंत जीवसमास के अवगाहना स्थानों के अंतराल में प्रत्येक में जुदे-जुदे चतुःस्थानपतित वृद्धि के अनुक्रम से प्राप्त होकर यथायोग्य गुणकार की उत्पत्ति का विधान जानना ।

भावार्थ – जैसे सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्तक के जघन्य अवगाहना स्थान और सूक्ष्म वायुकायिक लब्धिअपर्याप्तक के जघन्य अवगाहना स्थान के बीच अंतराल में चतुःस्थानपतित वृद्धि का अनुक्रम कहा, वैसे ही सूक्ष्म वायुकायिक लब्धिअपर्याप्तक और सूक्ष्म तेजस्कायिक लब्धिअपर्याप्तकों के अंतराल में और ऐसे ही द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के जघन्य अवगाहना स्थान पर्यंत आगे के अंतरालों में चतुःस्थानपतित वृद्धि का अनुक्रम जानना । विशेष इतना - वहां आदि अवगाहना स्थान का प्रमाण और भागवृद्धि, गुणवृद्धि में असंख्यात का प्रमाण और अनुक्रम तथा स्थानों का प्रमाण इत्यादि यथासंभव जानने ।

पुनश्च उसीप्रकार उसके आगे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक के जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के उत्कृष्ट अवगाहना स्थान तक अवगाहना स्थानों के एक-एक अंतराल में असंख्यातगुणवृद्धि बिना त्रिस्थानपतित प्रदेशों की वृद्धि के अनुक्रम से प्राप्त होकर यथायोग्य गुणकार का विधान जानना ।

भावार्थ – यहां पूर्वस्थान से आगे का स्थान संख्यातगुणा ही है । इसलिये वहां असंख्यातगुणवृद्धि संभव नहीं है, त्रिस्थानपतित वृद्धि ही संभव है । यहां भी विशेष इतना - आदि अवगाहना स्थान का और भागवृद्धि में असंख्यात का और गुणवृद्धि में संख्यात का प्रमाण और अनुक्रम और स्थानों का प्रमाण इत्यादि यथासंभव

जानने । ऐसे यहां प्रसंगवश चतुःस्थानपतित वृद्धि का वर्णन किया ।

पुनश्च कहीं षट्स्थानपतित, कहीं पंचस्थानपतित, कहीं चतुःस्थानपतित, कहीं त्रिस्थानपतित, कहीं द्विस्थानपतित, कहीं एकस्थानपतित वृद्धि होती है अथवा कहीं ऐसी ही हानि होती है, वहां भी ऐसा ही विधान जानना । वहां जिसका निरूपण है ऐसा जो विवक्षित, उसके आदि स्थान के प्रमाण से आगे के स्थान में प्रमाण बढ़ता हो, वहां वृद्धि होती है और जहां घटता हो वहां हानि होती है । इनका स्वरूप अच्छी तरह से जानने के लिये इस भाषा टीका में कुछ कथन करते हैं ।

प्रथम षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि का स्वरूप कहते हैं । अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि, इसतरह षट्स्थानपतित वृद्धि जाननी । पुनश्च अनंतभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यात-भागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि, अनंतगुणहानि, इसतरह षट्स्थानपतित हानि जाननी । पुनश्च इनके बीच-बीच अवक्तव्यवृद्धि वा हानि होती है । सो इनका स्वरूप अंकसंदृष्टिरूप दृष्टांत द्वारा दिखाते हैं, क्योंकि इसके जाननेपर यथार्थ स्वरूप का ज्ञान सुगम होता है ।

वहां जघन्य संख्यात का प्रमाण दो (२), उत्कृष्ट संख्यात का पांच (५), जघन्य असंख्यात का छह (६), उत्कृष्ट असंख्यात का पंद्रह (१५), जघन्य अनंत का सोलह (१६), उत्कृष्ट अनंत का प्रमाण बहुत है, तथापि यहां भागहार में तो आदिस्थान प्रमाण जानना और गुणकार में आदिस्थान से जितने गुणा बढ़ता वा घटता अंतिम स्थान हो, उस प्रमाण ग्रहण करना । यहां अंकसंदृष्टि में आदि स्थान का प्रमाण चौबीस सौ (२४००) स्थापन किया । पुनश्च वृद्धिरूप होकर दूसरा स्थान चौबीस सौ एक (२४०१) प्रमाणरूप हुआ । वहां अनंतभागवृद्धि का प्रारंभ है क्योंकि आदि स्थान के प्रमाण को आदि स्थान प्रमाण जो अनंत का भेद, उसका भाग देनेपर एक आया, सो आदि स्थान से यहां एक की वृद्धि हुयी । इसीतरह जिस-जिस स्थान में आदि स्थान से जो अधिक का प्रमाण हो, वह प्रमाण यथायोग्य किसी अनंत के भेद का भाग आदि स्थान को देनेपर आता हो, वहां-वहां अनंतभागवृद्धि होती है। वहां जो स्थान पच्चीस सौ पचास प्रमाणरूप हुआ वहां अनंतभागवृद्धि का अंत जानना। क्योंकि जघन्य अनंत का प्रमाण सोलह उसका भाग आदि स्थान को देनेपर एक सौ पचास आये, वही यहां आदि स्थान से अधिक का प्रमाण है । पुनश्च पच्चीस सौ

इक्यावन से लेकर पच्चीस सौ उनसठ पर्यंत प्रमाणरूप जो स्थान, वे अवक्तव्यभागवृद्धिरूप हैं । क्योंकि जघन्य अनंत के वा उत्कृष्ट असंख्यात के भी भाग की वृद्धि करनेपर जो प्रमाण हो, उससे इनका प्रमाण हीनाधिक हैं । यद्यपि भिन्न गणित द्वारा यहां भागहार का प्रमाण सोलह से कुछ कम वा पंद्रह से कुछ अधिक पाया जाता है तथापि सोलह प्रमाण जघन्य अनंत से भी इसका प्रमाण हीन हुआ । इसलिये इसको अनंतभागरूप नहीं कहा जा सकता । और उत्कृष्ट असंख्यात पंद्रह से भी इसका प्रमाण अधिक हुआ, इसलिये इसको असंख्यातभागरूप नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उत्कृष्ट से अधिक और जघन्य से हीन कहना असंभव है, इसलिये यहां अवक्तव्यभाग का ग्रहण किया है । इसीतरह आगे भी यथासंभव अवक्तव्यभागवृद्धि वा गुणवृद्धि वा अवक्तव्यभागहानि वा गुणहानि का स्वरूप जानना ।

पुनश्च वृद्धिरूप होकर जो स्थान पच्चीस सौ साठ प्रमाणरूप हुआ, वहां असंख्यातभागवृद्धि प्रारंभ होती है । क्योंकि उत्कृष्ट असंख्यात पंद्रह का भाग आदि स्थान को देनेपर *($\frac{२४००}{१५}$ =१६०)* एक सौ साठ आये, इतने यहां आदि स्थान से अधिक का प्रमाण है । पुनश्च इसीतरह जिस-जिस स्थान में आदि स्थान से अधिक का प्रमाण यथायोग्य असंख्यात के भेद का भाग आदि स्थान को देनेपर आता है, वहां-वहां असंख्यातभागवृद्धि होती है । वहां जो स्थान अट्ठाइस सौ प्रमाण हुआ, वहां असंख्यातभागवृद्धि का अंत जानना । क्योंकि जघन्य असंख्यात छह का भाग आदि स्थान को देनेपर चार सौ आये, वही यहां आदि स्थान से अधिक का प्रमाण है । पुनश्च जो स्थान अट्ठाइस सौ एक से लेकर अट्ठाइस सौ उन्नासी पर्यंत प्रमाणरूप हैं, वहां अवक्तव्यभागवृद्धि होती है । क्योंकि जघन्य असंख्यात के भी या उत्कृष्ट संख्यात के भी भाग की वृद्धिरूप प्रमाण से इनका प्रमाण अधिक और हीन है । *(जघन्य असंख्यातभागवृद्धि से अधिक है, उत्कृष्ट संख्यातभागवृद्धि से हीन है ।)*

पुनश्च वृद्धिरूप होकर जो स्थान अट्ठाइस सौ अस्सी प्रमाणरूप हुआ, वहां संख्यातभागवृद्धि का प्रारंभ होता है । क्योंकि उत्कृष्ट संख्यात पांच का भाग आदि स्थान को देनेपर चार सौ अस्सी आये *($\frac{२४००}{५}$ =४८०)*, इतने यहां आदिस्थान से अधिक हैं । पुनश्च इसीप्रकार जिस-जिस स्थान में आदिस्थान से अधिक का प्रमाण यथायोग्य संख्यात के भेद का भाग आदिस्थान को देनेपर आता है, वहां-वहां संख्यातभागवृद्धि होती है । यहां जो स्थान छत्तीस सौ प्रमाणरूप हुआ, वहां संख्यातभागवृद्धि का अंत जानना।

क्योंकि जघन्य संख्यात दो का भाग आदिस्थान को देनेपर बारह सौ आये, इतने यहां आदिस्थान से अधिक हैं ।

पुनश्च जो स्थान छत्तीस सौ एक आदि सैंतालीस सौ निन्यानबे पर्यंत प्रमाणरूप हैं, वहां अवक्तव्यभागवृद्धि होती है । क्योंकि जघन्य संख्यातभागवृद्धि और जघन्य संख्यातगुणवृद्धिरूप प्रमाण से भी इनका प्रमाण अधिक और हीन है ।

पुनश्च वृद्धिरूप जो स्थान अड़तालीस सौ प्रमाणरूप हुआ, वहां संख्यातगुणवृद्धि का प्रारंभ होता है । क्योंकि जघन्य संख्यात दो से आदिस्थान को गुणा करनेपर इतना प्रमाण होता है । इसीतरह जिस-जिस स्थान का प्रमाण यथायोग्य संख्यात के भेद से आदिस्थान को गुणा करनेपर आता है, वहां-वहां संख्यातगुणवृद्धि होती है। वहां जो स्थान बारह हजार प्रमाणरूप हुआ, वहां संख्यातगुणवृद्धि का अंत जानना। क्योंकि उत्कृष्ट संख्यात पांच से आदिस्थान को गुणा करनेपर इतना प्रमाण आता है।

पुनश्च जो स्थान बारह हजार एक से लेकर चौदह हजार तीन सौ निन्यानबे पर्यंत प्रमाणरूप हैं, वहां अवक्तव्यगुणवृद्धि होती है । क्योंकि उत्कृष्ट संख्यातगुणवृद्धि और जघन्य असंख्यातगुणवृद्धिरूप प्रमाण से भी इनका प्रमाण अधिक और हीन है।

पुनश्च वृद्धिरूप होकर जो स्थान चौदह हजार चार सौ प्रमाणरूप हुआ वहां असंख्यातगुणवृद्धि का प्रारंभ होता है । क्योंकि जघन्य असंख्यात छह से आदिस्थान को गुणा करनेपर इतना प्रमाण होता है । पुनश्च इसीप्रकार जिस-जिस स्थान का प्रमाण यथायोग्य असंख्यात के भेद से आदिस्थान को गुणा करनेपर आता है, वहां-वहां असंख्यातगुणवृद्धि होती है । वहां जो स्थान छत्तीस हजार प्रमाणरूप हुआ, वहां असंख्यातगुणवृद्धि का अंत जानना । क्योंकि उत्कृष्ट असंख्यात पंद्रह से आदिस्थान को गुणा करनेपर इतना प्रमाण होता है ।

पुनश्च जो स्थान छत्तीस हजार एक से लेकर अड़तीस हजार तीन सौ निन्यानबे पर्यंत प्रमाणरूप हैं, वहां अवक्तव्यगुणवृद्धि होती है । क्योंकि उत्कृष्ट असंख्यातगुणवृद्धि और जघन्य अनंतगुणवृद्धिरूप प्रमाण से भी इनका प्रमाण अधिक और हीन है ।

पुनश्च वृद्धिरूप होकर जो स्थान अड़तीस हजार चार सौ प्रमाणरूप हुआ, वहां अनंतगुणवृद्धि का प्रारंभ होता है । क्योंकि जघन्य अनंत सोलह से आदिस्थान को गुणा करनेपर इतना प्रमाण होता है । इसीतरह जिस-जिस स्थान का प्रमाण यथायोग्य

अनंत के भेद से आदिस्थान को गुणा करनेपर आता है, वहां अनंतगुणवृद्धि होती है । वहां जो स्थान दो लाख चालीस हजार प्रमाणरूप हुआ, वहां अनंतगुणवृद्धि का अंत जानना । क्योंकि यद्यपि अनंत का प्रमाण बहुत है, तथापि यहां जिस अनंत के भेद से गुणा करनेपर अंतिमस्थान होता है, वही अनंत का भेद यहां अंत में ग्रहण करना । सो अंकसंदृष्टि में एक सौ प्रमाणवाले अनंत के भेद का अंत में ग्रहण किया । उससे आदिस्थान को गुणा करनेपर दो लाख चालीस हजार होते हैं, वही विवक्षित के अंतिमस्थान का प्रमाण जानना । इसप्रकार यहां षट्स्थानपतित वृद्धि का विधान दिखाया ।

अब षट्स्थानपतित हानि का विधान दिखाते हैं । यहां विवक्षित का आदिस्थान दो लाख चालीस हजार प्रमाणरूप स्थापन किया । इससे घटकर दूसरा स्थान दो लाख उनतालीस हजार नौ सौ निन्यानबे प्रमाणरूप हुआ, वह अनंतभागहानि का प्रारंभरूप है। क्योंकि आदिस्थान को आदिस्थान प्रमाणरूप अनंत के भेद का भाग देनेपर एक आया, वही यहां आदिस्थान से एक कम हुआ । पुनश्च इसीतरह जिस-जिस स्थान में आदिस्थान से जितना घटता हो, उतना प्रमाण किसी अनंत के भेद का भाग आदिस्थान को देनेपर आता है, वह-वह स्थान अनंतभागहानिरूप जानना । वहां जो स्थान दो लाख पच्चीस हजार प्रमाणरूप है, वह स्थान अनंतभागहानि का अंत जानना । क्योंकि जघन्य अनंत सोलह का भाग आदिस्थान को देनेपर पंद्रह हजार आये, वही यहां आदिस्थान से हीन का प्रमाण है । *(२,४०,०००-१५,०००=२,२५,०००)*

पुनश्च दो लाख चौबीस हजार नौ सौ निन्यानबे से लेकर दो लाख चौबीस हजार एक पर्यंत प्रमाणरूप जो स्थान हैं, वे अवक्तव्यभागहानिरूप हैं । क्योंकि जघन्य अनंतभागहानि और उत्कृष्ट असंख्यातभागहानिरूप प्रमाण से भी इनका प्रमाण हीन और अधिक आता है । इसलिये इनको अनंतभागहानि या असंख्यातभागहानिरूप नहीं कह सकते ।

पुनश्च हानिरूप होकर जो स्थान दो लाख चौबीस हजार प्रमाण होता है, वह स्थान असंख्यातभागहानि का प्रारंभरूप जानना । क्योंकि उत्कृष्ट असंख्यात पंद्रह का भाग आदिस्थान को देनेपर सोलह हजार आये, उतने ही यहां आदिस्थान से हीन हैं। पुनश्च इसीतरह जिस-जिस स्थान में आदिस्थान से हीन का प्रमाण यथायोग्य असंख्यात के भेद का भाग देनेपर आता है, वह-वह स्थान असंख्यातभागहानिरूप जानना । जो

स्थान दो लाख प्रमाणरूप हुआ, वहां असंख्यातभागहानि का अंत जानना । क्योंकि जघन्य असंख्यात छह का भाग आदिस्थान को देनेपर चालीस हजार आये, इतने यहां आदिस्थान से हीन हैं ।

पुनश्च एक कम दो लाख से लेकर एक अधिक एक लाख बानबे हजार पर्यंत प्रमाणरूप जो स्थान हैं, वे अवक्तव्यभागहानिरूप हैं । क्योंकि जघन्य असंख्यातभागहानि वा उत्कृष्ट संख्यातभागहानिरूप प्रमाण से इनका प्रमाण हीन अधिक है, इसलिये इनको असंख्यातभागहानिरूप या संख्यातभागहानिरूप नहीं कह सकते ।

पुनश्च हानिरूप होकर जो स्थान एक लाख बानबे हजार प्रमाणरूप होता है, वहां संख्यातभागहानि का प्रारंभ है; क्योंकि उत्कृष्ट संख्यात पांच का भाग आदिस्थान को देनेपर अड़तालीस हजार आये, इतने यहां आदिस्थान से हीन हैं । इसीतरह जिस-जिस स्थान में आदिस्थान से हीन का प्रमाण यथायोग्य संख्यात का भाग देनेपर आता है, वह-वह स्थान संख्यातभागहानिरूप जानना । वहां जो स्थान एक लाख बीस हजार प्रमाण हो, वह स्थान संख्यातभागहानि का अंतरूप जानना । क्योंकि जघन्य संख्यात दो का भाग आदिस्थान को देनेपर एक लाख बीस हजार आये, इतने यहां आदिस्थान से हीन हैं ।

पुनश्च इसी स्थान को संख्यातगुणहानि के प्रारंभरूप कहते हैं, क्योंकि जघन्य संख्यात दो, सो आदिस्थान को दुगुणा घटानेपर *(आधा करनेपर)* एक लाख बीस हजार आये, वही इस स्थान का प्रमाण है । पूर्वराशि को जितने का भाग देनेपर उत्तर राशि का प्रमाण आता है और उस उत्तरराशि के प्रमाण को उतने से ही गुणा करनेपर पूर्व राशि का प्रमाण आता है, इसलिये भागहार का कहना और गुणहानि का कहना एकार्थरूप जानना । जैसे, चौंसठ को चार का भाग देनेपर भी सोलह होते हैं और सोलह को चार से गुणा करनेपर भी चौंसठ होते हैं, इसलिये सोलह को चौंसठ का चौथा भाग भी कहते हैं और चौंसठ से चौगुणा घाटि (हीन) *(चार गुणा हीन)* भी कहते हैं । इसीतरह जहां जितनी गुणहानि का प्रमाण होता है वहां उतने का भागहार जानना । यहां जघन्य संख्यात दो, सो आदिस्थान को दोगुणा घाटि *(दो गुणाहानि)* करनेपर या दो का भाग देनेपर एक लाख बीस हजार होते हैं, उस प्रमाण जो स्थान वह संख्यातगुणहानि का प्रारंभरूप जानना । पुनश्च इसीतरह जिस-जिस स्थान का प्रमाण यथायोग्य संख्यात के भेदों से गुणा करनेपर आदिस्थान के प्रमाण मात्र होता है, वह-

वह स्थान संख्यातगुणहानिरूप जानना । वहां जो स्थान अड़तालीस हजार प्रमाण हुआ, वह स्थान संख्यातगुणहानि का अंतरूप जानना। क्योंकि उत्कृष्ट संख्यात पांच, सो आदिस्थान के प्रमाण को पांच गुणा हीन करने पर इतना (४८०००) प्रमाण आता है ।

पुनश्च सैंतालीस हजार नौ सौ निन्यानबे से लेकर चालीस हजार एक पर्यंत प्रमाणरूप जो स्थान हैं, वे अवक्तव्यगुणहानिरूप जानने । क्योंकि आदिस्थान को उत्कृष्ट संख्यातगुणाहीन वा जघन्य असंख्यातगुणाहीन करनेपर भी जो प्रमाण आता है, उससे इनका प्रमाण हीन अधिक है । इसलिये इनको संख्यातगुणहानिरूप या असंख्यातगुणहानिरूप नहीं कहा जाता ।

पुनश्च हानिरूप होकर जो स्थान चालीस हजार प्रमाण हुआ, वह स्थान असंख्यात-गुणहानि का प्रारंभरूप है । क्योंकि जघन्य असंख्यात छह, सो आदिस्थान को छह गुणा हीन करनेपर इतना प्रमाण आता है । इसीतरह जिस-जिस स्थान का प्रमाण यथायोग्य असंख्यात के भेदों से गुणा करनेपर आदिस्थान मात्र होता है, वह-वह स्थान असंख्यातगुणहानिरूप जानना । वहां जो स्थान सोलह हजार प्रमाणरूप हो, वह स्थान असंख्यातगुणहानि का अंतरूप है । क्योंकि उत्कृष्ट असंख्यात पंद्रह, सो आदिस्थान को पंद्रह गुणा हीन करनेपर इतना प्रमाण होता है ।

पुनश्च एक कम सोलह हजार से लेकर एक अधिक पंद्रह हजार पर्यंत जो स्थान हैं, वे अवक्तव्यगुणहानिरूप जानने । क्योंकि आदिस्थान को उत्कृष्ट असंख्यातगुणा हीन वा जघन्य अनंतगुणा हीन करनेपर भी जो प्रमाण हो, उनसे इनका प्रमाण हीन अधिक है ।

पुनश्च हानिरूप होकर जो स्थान पंद्रह हजार प्रमाणरूप हुआ, वहां अनंतगुणहानि का प्रारंभ जानना । क्योंकि जघन्य अनंत सोलह, सो आदिस्थान को सोलह गुणा हीन करनेपर इतना प्रमाण आता है । पुनश्च इसीप्रकार जिस-जिस स्थान का प्रमाण यथायोग्य अनंत के भेद से गुणा करनेपर आदिस्थान मात्र होता है, वह-वह स्थान अनंतगुणहानिरूप जानना । वहां जो स्थान चौबीस सौ प्रमाणरूप हुआ, वह स्थान अनंतगुणहानि का अंतरूप है । क्योंकि यद्यपि अनंत का प्रमाण बहुत है, तथापि यहां आदिस्थान से अंतिमस्थान जितने गुणा हीन है, उतने प्रमाणवाले अनंत का अंत में ग्रहण करना, चूंकि अंकसंदृष्टि में सौ प्रमाण अनंत के भेद का ग्रहण किया है, इसलिये आदिस्थान को सौगुणा हीन करनेपर इतना ही (२४००) प्रमाण आता है ।

इसप्रकार जैसे अंकसंदृष्टि द्वारा कथन किया, वैसे ही यथार्थ कथन समझना। इतना विशेष - वहां जघन्य संख्यात का प्रमाण दो है, उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण एक कम जघन्य परीतासंख्यात मात्र है । जघन्य असंख्यात का प्रमाण जघन्य परीतासंख्यात है । उत्कृष्ट असंख्यात का प्रमाण उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात मात्र है । जघन्य अनंत का प्रमाण जघन्य परीतानंत है । उत्कृष्ट अनंत का प्रमाण केवलज्ञानमात्र है । तथापि यहां भागवृद्धि वा भागहानि में तो आदिस्थान प्रमाण अनंत का ग्रहण है और गुणवृद्धि वा गुणहानि में आदिस्थान से अंतिमस्थान जितने गुणा बढ़ता वा घटता हो, उतने प्रमाण अनंत का ही अंत में ग्रहण करना । पुनश्च जिसका निरूपण करते हैं उसको विवक्षित कहते हैं, उसके आदि भेद में जितना प्रमाण हो, वह आदिस्थान का प्रमाण जानना । उसके पश्चात् आगे के स्थान वृद्धिरूप वा हानिरूप होते हैं, उनका प्रमाण यथासंभव जानना । इत्यादि विशेष हैं, वे विशेष जानना और अन्य विधान अंकसंदृष्टि द्वारा जानना । पुनश्च जहां आदिस्थान का प्रमाण असंख्यातरूप ही है, वहां अनंतभाग की वृद्धि या हानि नहीं होती, जहां आदिस्थान का प्रमाण संख्यातरूप ही है, वहां अनंतभाग और असंख्यातभाग की वृद्धि वा हानि नहीं होती । पुनश्च जहां आदिस्थान से अंतिमस्थान का प्रमाण असंख्यातगुणा ही अधिक वा हीन है, वहां अनंतगुणवृद्धि वा हानि नहीं होती । जहां आदिस्थान से अंतिमस्थान का प्रमाण संख्यातगुणा ही अधिक वा हीन है, वहां अनंतगुणवृद्धि वा हानि तथा असंख्यातगुणवृद्धि वा हानि नहीं होती । इसलिये कहीं पंचस्थानपतित, कहीं चतुःस्थानपतित, कहीं त्रिस्थानपतित, कहीं द्विस्थानपतित, कहीं एकस्थानपतित वृद्धि वा हानि यथासंभव जाननी । इसतरह आदिस्थान की अपेक्षा से वृद्धि-हानि का स्वरूप कहा ।

पुनश्च कहीं एक स्थान के प्रमाण की अपेक्षा दूसरे स्थान में वृद्धि वा हानि कही, दूसरे स्थान के प्रमाण की अपेक्षा तीसरे स्थान में वृद्धि वा हानि कही, इसतरह स्थान-स्थान प्रति वृद्धि वा हानि का अनुक्रम होता है । वहां अनंतभागादिरूप वृद्धि वा हानि होती है, वह यथासंभव जाननी । पुनश्च पर्यायसमास नामक श्रुतज्ञान के भेदों का वा कषाय स्थान इत्यादि में होनेवाली षट्स्थानपतित वृद्धि या हानि का अनुक्रम का विधान आगे ज्ञानमार्गणा अधिकार में लिखेंगे, वह जानना । इसतरह वृद्धि-हानि का विधान अनुक्रम अनेक प्रकार है, वह यथासंभव है । इसप्रकार प्रसंग पाकर षट्गुणी आदि हानि-वृद्धि का वर्णन किया ।

आगे जिस-जिस जीवसमास की अवगाहना कही, उस-उसके सर्व अवगाहना के भेदों के प्रमाण को लाते हैं -

हेट्ठा जेसिं जहण्णं उवरिं उक्कस्सयं हवे जत्थ ।
तत्थंतरगा सव्वे तेसिं उग्गाहणविअप्पा ।।११२।।

अधस्तनं येषां जघन्यमुपर्युत्कृष्टकं भवेद्यत्र ।
तत्रांतरगाः सर्वे तेषामवगाहनविकल्पाः ।।११२।।

टीका – यहां मत्स्यरचना को मन में विचारकर यह कहते हैं -

जिन अवगाहना स्थानों का प्रदेशप्रमाण थोड़ा है, वे अधस्तन स्थान हैं । पुनश्च जिन अवगाहना स्थानों का प्रदेशप्रमाण बहुत है वे उपरितन स्थान हैं, ऐसा कहते हैं। सो जिन जीवों का जघन्य अवगाहना स्थान तो नीचे स्थित है और जहां उत्कृष्ट अवगाहना स्थान ऊपर तिष्ठता है, उन दोनों के अंतराल में वर्तमान सर्व ही अवगाहना के स्थान उन जीवों के मध्य अवगाहना स्थान के भेदरूप हैं – ऐसा सिद्धांत में प्रतिपादन किया है ।

भावार्थ – पहले अवगाहना के स्थान कहे थे, उनमें जिसका जघन्य स्थान जहां कहा है, वहां से लेकर एक-एक प्रदेश की वृद्धि के अनुक्रम सहित जहां उसीका उत्कृष्ट स्थान कहा है, वहां पर्यंत जितने भेद हैं, वे सर्व ही भेद उस जीव की अवगाहना के जानना । वहां सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त का पूर्वोक्त प्रमाणरूप जो जघन्य स्थान, वह तो आदि जानना । पुनश्च इसीका पूर्वोक्त प्रमाणरूप जो उत्कृष्ट स्थान, वह अंतिम जानना। वहां **'आदी अंते सुद्धे वट्टिहिदे रूवसंजुदे ठाणे'** इस करणसूत्र द्वारा आदि के प्रमाण को अंत के प्रमाण समच्छेद में से अपवर्तनादि विधान से घटानेपर जो अवशेष प्रमाण रहे, उसको स्थान-स्थान प्रति वृद्धिरूप जो एक प्रदेश, उसका भाग देनेपर भी उतना ही रहा, उसमें एक जोड़नेपर जो प्रमाण आता है, उतने सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त के सर्व अवगाहना के भेद हैं । इनमें से आदिस्थान और अंतिमस्थान दोनों को ही घटानेपर, अवशेष उसी जीव के मध्यम अवगाहना के स्थान होते हैं । पुनश्च इसीप्रकार सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्त वायुकायिक जीव से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव पर्यंत के जीवों के अपने-अपने जघन्य अवगाहना स्थान को लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट अवगाहना स्थानपर्यंत सर्व अवगाहना के स्थान और उनमें से जघन्य, उत्कृष्ट दो स्थान घटानेपर

उन्हीं के मध्य अवगाहना स्थान, वे सूत्र के अनुसार लाते हैं ।

अब मत्स्यरचना के मध्य प्राप्त हुये सर्व अवगाहना स्थान उनके स्थापना का अनुक्रम कहते हैं । पूर्व में अवगाहना के स्थान चौंसठ कहे थे, उनमें से ऊपर की पंक्ति में प्राप्त जो बयालीस गुणकाररूप स्थान उनको गुणितक्रमस्थान कहते हैं । पुनश्च नीचे की दो पंक्तियों में प्राप्त जो बाइस अधिकरूप स्थान उनको अधिकस्थान कहते हैं । वहां चौंसठ स्थानों में गुणितक्रमरूप और अधिकरूप स्थान अपने-अपने जघन्य से लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट पर्यंत जितने-जितने हैं, उन एक-एक स्थान की दो-दो बिंदी एकसाथ लिखनी; क्योंकि एक-एक स्थान के बीच में अवगाहना के भेद बहुत हैं, उनकी संदृष्टि के लिये दो बिंदी स्थापित की । पुनश्च उन जीवसमासों के स्थानों की नीचे-नीचे पंक्तियां करनी । ऐसे करनेपर मत्स्य जैसा आकार होता है, उसे कहते हैं । *(मत्स्यरचना यंत्र पृ. नं. २१०-२११)*

प्रथम सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त के जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर उसी के उत्कृष्ट पर्यंत सत्रह स्थान हैं, उसमें से सोलह गुणितस्थान हैं, एक अधिकस्थान है । सो प्रथमादि एक-एक स्थान की दो-दो बिंदी की संदृष्टि करनेपर एक के आगे एक ऐसी चौंतीस बिंदी ऊपर की पंक्ति में लिखनी । यहां सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त का जघन्य स्थान पहला है, उत्कृष्ट स्थान अठारहवां है तथापि गुणकारपनारूप और अधिकपनारूप अंतराल सत्रह ही है, इसलिये सत्रह ही स्थान लिये हैं । इसीतरह आगे भी जानना ।

पुनश्च उसीप्रकार उस पंक्ति के नीचे दूसरी पंक्ति में सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्त वायुकायिक जीव के जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर उसके उत्कृष्ट अवगाहना स्थान पर्यंत उन्नीस स्थान हैं, इसलिये उनकी अड़तीस बिंदी लिखनी । सो यहां दूसरे स्थान से लेकर स्थान हैं, इसलिये ऊपर की पंक्ति में प्रथम स्थान की दो बिंदी लिखी थी, उसके नीचे की जगह छोड़कर द्वितीय स्थान की दो बिंदी से लेकर आगे एक साथ अड़तीस बिंदी लिखनी। पुनश्च उसी प्रकार उस पंक्ति के नीचे तीसरी पंक्ति में सूक्ष्म लब्धि अपर्याप्त तेजस्कायिक की जघन्य अवगाहना से उत्कृष्ट अवगाहना पर्यंत इक्कीस स्थान हैं, उनकी बयालीस बिंदी लिखनी । सो यहां तीसरे स्थान से लेकर स्थान हैं, इसलिये ऊपर की पंक्ति में दूसरे स्थान की दो बिंदी लिखी थी उसके नीचे की जगह छोड़कर तीसरे स्थान की दो बिंदी से लेकर बयालीस बिंदी लिखनी ।

पुनश्च उसीप्रकार उस पंक्ति के नीचे चौथी पंक्ति में सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्त अप्कायिक के जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर उसके उत्कृष्ट अवगाहना स्थान पर्यंत तेइस स्थानों की छियालीस बिंदी लिखनी । सो यहां चौथे स्थान से लेकर स्थान हैं, इसलिये तीसरे स्थान की दो बिंदी लिखी थी, उसके नीचे की जगह छोड़कर चौथे स्थान की दो बिंदी से लेकर छियालीस बिंदी लिखनी । पुनश्च उसीप्रकार उस पंक्ति के नीचे पांचवी पंक्ति में सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्त पृथ्वीकायिक की जघन्य अवगाहना से लेकर उसकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यंत पच्चीस स्थान हैं, उसकी पचास बिंदी लिखनी । सो यहां पांचवें स्थान से लेकर स्थान हैं, इसलिये चौथे स्थान की दो बिंदी के नीचे की जगह छोड़कर पांचवें स्थान की दो बिंदी से लेकर पचास बिंदी लिखनी । पुनश्च वैसे ही उस पंक्ति के नीचे-नीचे छठवीं, सातवीं, आठवीं, नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं, चौदहवीं, पंद्रहवीं, सोलहवीं पंक्ति में बादर लब्धिअपर्याप्त वायु, तेज, अप्, पृथ्वी, निगोद, प्रतिष्ठितप्रत्येक, अप्रतिष्ठितप्रत्येक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन ग्यारह जीवसमासों के अपने-अपने जघन्य स्थान से लेकर उत्कृष्ट स्थान पर्यंत अनुक्रम से सत्ताइस, उनतीस, इकतीस, तेंतीस, पैंतीस, सैंतीस, छियालीस, चौवालीस, इकतालीस, इकतालीस, तैंतालीस स्थान हैं । उनकी चौवन, अट्ठावन, बासठ, छासठ, सत्तर, चौहत्तर, बानबे, अट्ठासी, बयासी, बयासी, छियासी बिंदी लिखनी । सो यहां छठवें, सातवें आदि स्थान से लेकर स्थान हैं, इसलिये ऊपर की पंक्ति के आदि स्थान की दो-दो बिंदी के नीचे की जगह छोड़कर छठवें, सातवें आदि स्थान की दो बिंदी से लेकर ये बिंदियां उन पंक्तियों में क्रम से लिखनी ।

पुनश्च उस पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त की पंक्ति के नीचे सत्रहवीं पंक्ति में सूक्ष्म निगोद पर्याप्त के जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना स्थान पर्यंत दो स्थान हैं उनकी चार बिंदी लिखनी । पुनश्च इसीप्रकार आगे इस एक ही पंक्ति में सूक्ष्म पर्याप्त वायु, तेज, अप्, पृथ्वी; पुनश्च बादर पर्याप्त वायु, तेज, पृथ्वी, अप्, निगोद, प्रतिष्ठितप्रत्येक इनके अपने-अपने जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट अवगाहना स्थान पर्यंत दो-दो स्थानों की चार-चार बिंदी लिखनी । पुनश्च इसीतरह प्रतिष्ठितप्रत्येक के उत्कृष्ट अवगाहना स्थान के आगे उसी पंक्ति में अप्रतिष्ठितप्रत्येक पर्याप्त के जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना स्थान पर्यंत तेरह स्थान हैं । उनकी छब्बीस बिंदी लिखनी । इसतरह इस एक ही पंक्ति

में बिंदी लिखनी कही । वहां सूक्ष्म निगोद पर्याप्त का आदिस्थान सत्रहवां है, इसलिये सोलहवें स्थान की दो बिंदी के नीचे की जगह छोड़कर इनके दो स्थानों की अर्थात् सत्रहवें अठारहवें स्थान की चार बिंदी लिखनी । पुनश्च सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त का आदिस्थान बीसवां है । इसलिये उसी पंक्ति में उन्नीसवें स्थान की दो बिंदी के नीचे की जगह छोड़कर बीसवें और इक्कीसवें दो स्थानों की चार बिंदी लिखनी । इसीतरह बीच-बीच में एक स्थान की दो दो बिंदियों के नीचे की जगह छोड़कर सूक्ष्म तेजस्कायिक पर्याप्त आदि के दो-दो स्थानों की चार-चार बिंदी लिखनी । पुनश्च उसी पंक्ति में अप्रतिष्ठितप्रत्येक के पचासवें से लेकर स्थान हैं, इसलिये पचासवें स्थान की बिंदी से लेकर तेरह स्थानों की छब्बीस बिंदी लिखनी । इसतरह एक-एक पंक्ति में कहा।

पुनश्च उस पंक्ति के नीचे-नीचे अठारहवीं, उन्नीसवीं, बीसवीं, इक्कीसवीं पंक्ति में पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों के अपने-अपने जघन्य अवगाहना स्थान से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना स्थान पर्यंत ग्यारह, आठ, आठ, दस स्थान हैं। इनकी क्रम से बाइस, सोलह, सोलह, बीस बिंदी लिखनी । वहां पर्याप्त द्वीन्द्रिय के इक्यावन से लेकर स्थान हैं, इसलिये सत्रहवीं पंक्ति में अप्रतिष्ठितप्रत्येक की छब्बीस बिंदी लिखी थी, उनके नीचे आदि के पचास स्थानों की दो बिंदी के नीचे की जगह छोड़कर आगे बाइस बिंदी लिखनी । पुनश्च इसीतरह नीचे-नीचे आदि के दो-दो बिंदी के नीचे की जगह छोड़कर बावनवें, तिरपनवें, चौवनवें स्थानों की बिंदी से लेकर क्रम से सोलह, सोलह, बीस बिंदी लिखनी ।

इसप्रकार मत्स्यरचना में सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त के जघन्य अवगाहना स्थान से शुरु करके संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट अवगाहना स्थान पर्यंत सर्व अवगाहना स्थानों की प्रत्येक की दो-दो शून्य की विवक्षा से उन स्थानों की गिनती के आश्रय से इसतरह हीनाधिक से रहित बिंदियों की स्थापना का अनुक्रम, सो अनादिनिधन ऋषिप्रणीत आगम में कहा है । इसप्रकार जीवसमास की अवगाहना कही ।

अब उनकी कुल की संख्या का जो विशेष, उसे चार गाथाओं द्वारा कहते हैं-

बावीस सत्त तिण्णि य सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं ।
णेया पुढविदगागणि वाउक्कायाण परिसंखा ।।११३।।

द्वाविंशतिः सप्त त्रीणि च सप्त च कुलकोटिशतसहस्राणि ।
ज्ञेया पृथिवीदकाग्निवायुकायिकानां परिसंख्या ।।११३।।

टीका – पृथ्वीकायिकों के कुल बाइस लाख कोटि हैं । अप्‌कायिकों के कुल सात लाख कोटि हैं । तेजस्‌कायिकों के कुल तीन लाख कोटि हैं । वायुकायिकों के कुल सात लाख कोटि हैं; ऐसे जानना ।

कोडिसयसहस्साइं सत्तट्ठणव य अट्ठवीसाइं ।
बेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ।।११४।।

कोटिशतसहस्राणि सप्ताष्ट नव च अष्टाविंशतिः ।
द्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियहरितकायानाम् ।।११४।।

टीका – द्वीन्द्रियों के कुल सात लाख कोटि हैं । त्रीन्द्रियों के कुल आठ लाख कोटि हैं । चतुरिन्द्रियों के कुल नौ लाख कोटि हैं । वनस्पतिकायिकों के कुल अट्ठाइस लाख कोटि हैं ।

अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं ।
जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ।।११५।।

अर्धत्रयोदश द्वादश दशकं कुलकोटिशतसहस्राणि ।
जलचरपक्षिचतुष्पदोरुपरिसर्पेषु नव भवंति ।।११५।।

टीका – पंचेन्द्रियों में जलचरों के कुल साढ़े बारा लाख कोटि हैं । पंछियों के कुल बारा लाख कोटि हैं । चौपदों के कुल दस लाख कोटि हैं । उरसर्प अर्थात् सरीसृप आदि, उनके कुल नव लाख कोटि हैं ।

छप्पंचाधियवीसं बारसकुलकोडिसदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होंति णेयाणि ।।११६।।

षट्पंचाधिकविंशतिः द्वादश कुलकोटिशतसहस्राणि ।
सुरनैरयिकनराणां यथाक्रमं भवंति ज्ञेयानि ।।११६।।

टीका – देवों के कुल छब्बीस लाख कोटि हैं । नारकियों के कुल पच्चीस

लाख कोटि हैं । मनुष्यों के कुल बारह लाख कोटि हैं । ये सर्व कुल यथाक्रम से कहे हैं, वे भव्य जीवों द्वारा जानने योग्य हैं ।

आगे सर्व जीवसमासों के कुलों के जोड़ को बताते हैं -

एया य कोडिकोडी सत्ताणउदी य सदसहस्साइं ।
पण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाणं य ।।११७।।

एका च कोटिकोटी सप्तनवतिश्च शतसहस्राणि ।
पंचाशत्कोटिसहस्राणि सर्वांगिनां कुलानां च ।।११७।।

टीका - इसतरह कहे हुये जो पृथ्वीकायिकादि मनुष्य पर्यंत सब प्राणी उनका कुलों का जोड़ एक कोडाकोडि *(करोड×करोड = १ कोडाकोडि)* और सत्तानबे लाख पचास हजार कोडिप्रमाण १९७५00000000000 हैं ।

यहां कोई पूछेगा कि कुल और जाति में क्या भेद है ?

उसका समाधान - जाति है वह तो योनि है, वहां उपजने के स्थानरूप पुद्गल स्कंधों के भेदों का ग्रहण करना । पुनश्च कुल है वह जिन पुद्गलों से शरीर निपजता है उनके भेदरूप है । जैसे शरीररूप पुद्गल आकारादि भेदों द्वारा पंचेन्द्रिय तिर्यंच में हाथी, घोडा इत्यादि भेद हैं, इसतरह यथासंभव जानना ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से जीवसमास प्ररूपणा नामक दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।।२।।

तीसरा अधिकार : पर्याप्ति प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

संभव स्वामि नमौं सदा घातिकर्म विनसाय ।
पाय चतुष्टय जो भयो तीजो श्री जिनराय ।।

अब यहां बारम्बार अलौकिक गणित का प्रयोजन पाया जाता है, इसकारण अलौकिक गणित कहते हैं । इनकी संदृष्टि आगे संदृष्टि अधिकार में से जानना ।

मान दो प्रकार का है, एक लौकिक मान, एक अलौकिक मान । वहां **लौकिक मान** छह प्रकार का है – मान, उन्मान, अवमान, गणितमान, प्रतिमान, तत्प्रतिमान इसतरह छह प्रकार जानना । वहां पाइ, माणी *(पैसा)* आदि मान जानना । ताखडी का तौल *(तराजू में तोलना – वजन– किलो, पौंड आदि)* उन्मान है । चल इत्यादि का प्रमाण *(प्रवाही चीजों का माप – लीटर, औंस आदि)* अवमान जानना । एक–दो से लेकर गणितमान जानना । चरिम तोला, मासा *(जैसे ग्रॅम, मिलिग्रॅम आदि)* प्रतिमान जानना। घोडे का मूल्य इत्यादि तत्प्रतिमान जानना ।

पुनश्च **अलौकिक मान** के चार भेद हैं – द्रव्यमान, क्षेत्रमान, कालमान, भावमान। वहां द्रव्यमान में जघन्य द्रव्यमान एक परमाणु और उत्कृष्ट द्रव्यमान सभी पदार्थों का प्रमाण । क्षेत्रमान में जघन्य क्षेत्रमान एक प्रदेश और उत्कृष्ट क्षेत्रमान सम्पूर्ण आकाश। कालमान में जघन्य कालमान एक समय और उत्कृष्ट कालमान तीन काल के समयों का समूह । भावमान में जघन्य भावमान सूक्ष्म निगोदिया लब्धिअपर्याप्त का लब्धि अक्षरज्ञान और उत्कृष्ट भावमान केवलज्ञान है ।

पुनश्च द्रव्यमान के दो भेद हैं – एक संख्यामान, एक उपमामान ।

संख्यामान – वहां संख्यामान के तीन भेद हैं – संख्यात, असंख्यात, अनंत। वहां संख्यात तीन प्रकार का है – जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट । पुनश्च असंख्यात है वह परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात इन तीनों के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से नौ प्रकार का है । पुनश्च अनंत है वह परीतानंत, युक्तानंत, अनंतानंत इन तीनों के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से नौ प्रकार का है – ऐसे संख्यामान के इक्कीस भेद

हुये । उनमें जघन्य संख्यात दो संख्यामात्र है । यहां एक का गुणकार भागहार करनेपर कुछ वृद्धि हानि होती नहीं, इसलिये दो को ही संख्यात के भेदरूप से ग्रहण किया है, एक को नहीं । पुनश्च तीन आदि संख्यायें मध्यम संख्यात के भेद हैं, इसलिये दो ही को जघन्य संख्यात कहते हैं । पुनश्च तीन से लेकर एक कम उत्कृष्ट संख्यात पर्यंत मध्यम संख्यात जानना । *(पुनश्च एक कम जघन्य परीतासंख्यात को उत्कृष्ट संख्यात जानना ।)*

वह जघन्य परीतासंख्यात कितना है ?

उसको जानने के लिये उपाय कहते हैं । अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका नामधारक चार कुण्ड करना । उनका प्रत्येक का प्रमाण जम्बूद्वीपसमान लाख योजन चौड़ा और एक हजार योजन ऊंडा जानना ।

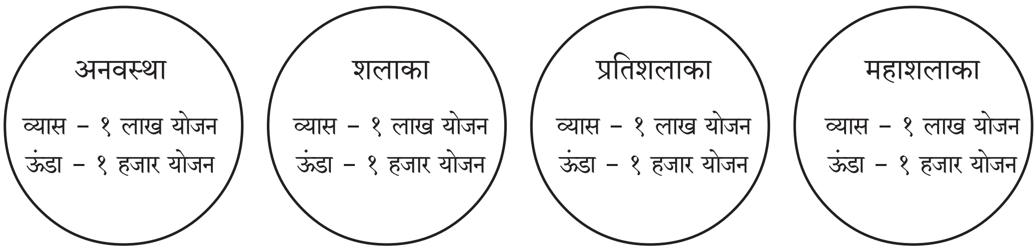

उनमें से अनवस्था कुण्ड गोल सरसों से सिघाऊ भरना *(पूर्ण भरकर ऊपर ढ़ेर करना)* । वह कितने सरसों द्वारा भर जाता है, उसे कहते हैं । एक, नौ, सात, नौ, एक, दो, शून्य, नौ, दो, नौ, नौ, नौ, छह, आठ इतने तो अंक अनुक्रम से लिखने, उनके आगे इकतीस शून्य और लिखने, इतने प्रमाण सरसों तो कुण्ड के अंदर भर जाते हैं । (१९७९१२०९२९९९६८0000000000000000000000000000000) उस कुण्ड के ऊपर आकाश में राशि करते हैं उसे सिघाऊ भरना कहते हैं, सो ऊपर कितने सरसों का ढ़ेर होता है, वह कहते हैं । एक, सात, नौ, नौ, दो, शून्य, शून्य, आठ, चार, पांच, चार, पांच, एक, छह इतने तो अनुक्रम से लिखने और इनके आगे सोलह बार छत्तीस-छत्तीस लिखने । १७९९२००८४५४५१६३६३६३६३६३६३६३६-३६३६३६३६३६३६३६३६३६ इतनी सरसों और चार सरसों का ग्यारहवां भाग $\frac{४}{११}$ इतनी सरसों का ऊपर ढ़ेर होता है । इनका लाना गोल घनरूप क्षेत्रफल के करणसूत्र द्वारा और अन्य राशि के करणसूत्र द्वारा होता है, सो त्रिलोकसार आदि ग्रंथों में से जानना।

इन दोनों राशियों का जोड़ देनेपर एक हजार नौ सौ सत्तानबे कोडाकोडि कोडाकोडि कोडाकोडि, ग्यारह लाख उनतीस हजार तीन सौ चौरासी कोडाकोडि कोडाकोडि कोडि, इक्यावन लाख इकतीस हजार छह सौ छत्तीस कोडाकोडि कोडाकोडि, छत्तीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ तिरसठ कोडाकोडि कोडि, तिरसठ लाख तिरसठ हजार छह सौ छत्तीस कोडाकोडि, छत्तीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ तिरसठ कोडि, तिरसठ लाख तिरसठ हजार छह सौ छत्तीस सरसों और चार सरसों का ग्यारहवां भाग (१९९७, ११२९३८४, ५१३१६३६, ३६३६३६३, ६३६३६३६, ३६३६३६३, ६३६३६३६, $\frac{४}{११}$)इतनी सरसों द्वारा अनवस्था कुण्ड सिघाऊ भर गया । ऐसा भरनेपर अन्य एक सरसो को शलाका कुण्ड में ड़ाला और उस अनवस्था कुण्ड की सर्व सरसों को मनुष्य है, वह बुद्धि द्वारा अथवा देव है, वह हस्तादिक से ग्रहण करके जम्बूद्वीपादिक द्वीप-समुद्रों में अनुक्रम से एक द्वीप में एक समुद्र में ड़ालता गया । वे सरसों जिस द्वीप वा समुद्र में समाप्त होगी उस द्वीप वा समुद्र के सूचीप्रमाण चौड़ा और पूर्वोक्त हजार ही योजन ऊंड़ा ऐसा दूसरा अनवस्था कुण्ड वहींपर करना।

सूची किसे कहते हैं ?

विवक्षित के सन्मुख अंत के दोनों तटों के बीच जितना चौड़ाई का प्रमाण हो, वही सूची जाननी । *(विवक्षित द्वीप या समुद्र के बाहरी तटों का व्यास जिसमें अंदर के सभी द्वीप-समुद्र समाहित हो जाते हैं । आउटर डायमीटर)* जैसे, लवण समुद्र की सूची पांच लाख योजन है । जिस द्वीप या समुद्र की सूची कहते हैं, उससे पहले के सभी द्वीप और समुद्र उस सूची के अंदर आ गये ।

इसतरह वहां किया हुआ अनवस्था कुण्ड सरसों से सिघाऊ भरना । भरनेपर अन्य एक सरसो उसी शलाका कुण्ड में ड़ालनी । और इस दूसरे अनवस्था कुण्ड की सरसों को लेकर वहां से आगे एक द्वीप में एक समुद्र में ड़ालते जाना । वे जिस द्वीप या समुद्र में समाप्त होगी उस सहित पूर्व के द्वीप-समुद्र उनके व्यासरूप जो सूची, उसप्रमाण चौड़ा और पूर्वोक्त हजार योजन ऊंड़ा ऐसा तीसरा अनवस्था कुण्ड सरसों से सिघाऊ भरना । भरनेपर अन्य एक सरसो शलाका कुण्ड में ड़ालनी और इस तीसरे अनवस्था कुण्डकी सरसों लेकर वहां से आगे एक द्वीप में एक समुद्र में ड़ालनी । वह जहां पूर्ण हो, वहां उसकी सूची प्रमाण चौथा अनवस्था कुण्ड करना, उसको सरसों से सिघाऊ भरना । भरकर अन्य एक सरसो शलाका कुण्ड में ड़ालनी,

इन सरसों को वहां से आगे एक द्वीप में एक समुद्र में ड़ालते जाना । इसीतरह व्यास से बढ़ते हुये अनवस्था कुण्ड करके और एक-एक सरसो शलाका कुण्ड में ड़ालते हुये जब शलाका कुण्ड भर जाये, तब एक सरसो प्रतिशलाका कुण्ड में ड़ालनी। इसतरह एक नौ आदि अंकप्रमाण जितनी सरसों प्रथम अनवस्था कुण्ड में समायी थी, उतनी बार अनवस्था कुण्ड होनेपर शलाका कुण्ड एक बार सिघाऊ भरा गया *। (मान लेते हैं 'क्ष' अनवस्था कुण्ड होनेपर एक बार शलाका कुण्ड भर जाता है ।)*

पुनश्च इस शलाका कुण्ड को रीता किया और उससे पूर्व के अनवस्था कुण्ड की सरसों वहां से आगे एक द्वीप में एक समुद्र में ड़ालते हुये जहां समाप्त होती हैं, वहां फिर उसकी सूचीप्रमाण चौड़ा अनवस्था कुण्ड करके एक सरसो रीते किये हुये शलाका कुण्ड में ड़ालनी । इसीतरह पूर्ववत् व्यास से बढ़ते हुये उतने ही अनवस्था कुण्ड करते हैं, तब दूसरी बार शलाका कुण्ड पूर्ण होता है, तब प्रतिशलाका कुण्ड में एक सरसो और ड़ालनी । पश्चात् फिरसे शलाका कुण्ड रीता करके उसीप्रकार से भरना । जब भर जाय, तब एक सरसो प्रतिशलाका कुण्ड में और ड़ालनी । ऐसे ही जब एक नौ आदि प्रमाण को एक नौ आदि अंकों से गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है उतने अनवस्था कुण्ड होंगे तब प्रतिशलाका कुण्ड पूर्ण भर जाता है, तब ही एक सरसो महाशलाका कुण्ड में ड़ालनी । *(क्ष×क्ष बार अनवस्था कुण्ड होनेपर एक बार प्रतिशलाका कुण्ड भर जाता है ।)*

पुनश्च वे शलाका कुण्ड और प्रतिशलाका कुण्ड दोनों रीते करने । पुनश्च पूर्वोक्त रीति से एक-एक अनवस्था कुण्ड द्वारा एक-एक सरसो शलाका कुण्ड में ड़ालनी । जब शलाका कुण्ड भर जाये, तब एक सरसो प्रतिशलाका कुण्ड में ड़ालनी । ऐसे करते-करते जब प्रतिशलाका कुण्ड फिरसे सम्पूर्ण भर जाय, तब दूसरी सरसो महाशलाका कुण्ड में फिर से ड़ालनी । पुनश्च उसीप्रकार शलाका, प्रतिशलाका कुण्ड रीता करके उसी रीति से प्रतिशलाका कुण्ड सम्पूर्ण भर जाय, तब तीसरी सरसो महाशलाका कुण्ड में ड़ालनी । ऐसे करते-करते एक नौ आदि अंकों का घन करनेपर जो प्रमाण होता है, उतने अनवस्था कुण्ड जब हो जाय तब महाशलाका कुण्ड भी सम्पूर्ण भर जायेगा, तब प्रतिशलाका, शलाका, अनवस्था कुण्ड भी भर जायेंगे । *(क्ष×क्ष×क्ष=क्ष^{3} बार अनवस्था कुण्ड होनेपर महाशलाका कुण्ड सम्पूर्ण भर जाता है ।)*

यहां जो एक नौ आदि अंकों के घनप्रमाण अनवस्था कुण्ड कहे वे सर्व ऊंडे तो हजार योजन ही जानने । परंतु इनका व्यास अपने द्वीप वा समुद्र की सूचीप्रमाण बढ़ता बढ़ता जानना । सो जितने क्रमांक का द्वीप या समुद्र हो, उतनी बार लक्ष योजन को दुगुणा करनेपर उस द्वीप या समुद्र का व्यास आता है । पुनश्च व्यास को चौगुणा करके उसमें से तीन लाख योजन घटानेपर सूची का प्रमाण आता है। इसलिये वहां प्रथम अनवस्था कुण्ड के व्यास का प्रमाण लाख योजन है । पुनश्च पहले कुण्ड में जितनी सरसों समायी थी, उतनी ही बार लाख योजन को दुगुणा दुगुणा करनेपर जिस द्वीप या समुद्र में वे सरसों समाप्त हुयी थी, उस द्वीप या समुद्र के व्यास का प्रमाण आता है । *(१ लाख×२×२×२....क्ष बार = $२^{क्ष}$ लाख)* पुनश्च व्यास के प्रमाण को चौगुणा करके उसमें से तीन लाख योजन घटाते हैं, तब उसी द्वीप या समुद्र के सूची का प्रमाण आता है । जो सूची का प्रमाण आता है, वही दूसरे कुण्ड के व्यास का प्रमाण जानना ।

पुनश्च पहले और दूसरे कुण्ड में जितनी सरसों समायी उतनी बार लाख योजन को दुगुणा-दुगुणा करके जो प्रमाण आता है, उसको चौगुणा करके तीन लाख योजन घटाते हैं, तब तीसरे अनवस्था कुण्ड के व्यास का प्रमाण आता है । पुनश्च पहले और दूसरे और तीसरे अनवस्था कुण्डों में सब में मिलकर जितनी सरसों समायी हैं, उतनी बार लाख योजन को दुगुणा-दुगुणा करके जो प्रमाण आता है, उसको चौगुणा करके तीन लाख योजन घटानेपर चौथे अनवस्था कुण्ड के व्यास का प्रमाण आता है। इसतरह से बढ़ता हुआ व्यास का प्रमाण अंतिम अनवस्था कुण्ड पर्यंत जानना। वहां जो अंतिम अनवस्था कुण्ड हुआ, उसमें जितना सरसों का प्रमाण होता है, उतना जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण जानना ।

यहां शलाका कुण्ड में एक सरसो ड़ालनेपर एक अनवस्था कुण्ड होता है तो शलाका कुण्ड में एक नौ आदि अंक प्रमाण सरसों ड़ालनेपर कितने अनवस्था कुण्ड होते हैं ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर प्रमाणराशि एक, फलराशि एक, इच्छाराशि एक नौ आदि अंकप्रमाण (१९=) । वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि एक नौ आदि अंकप्रमाण होती है ।

पुनश्च प्रतिशलाका कुण्ड में एक सरसो ड़ालनेपर एक नौ आदि प्रमाण अनवस्था कुण्ड होते हैं, तो प्रतिशलाका कुण्ड में एक नौ आदि अंक प्रमाण सरसों ड़ालनेपर

कितने होते हैं ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर प्रमाण १, फल १९=, इच्छा १९=, लब्ध राशि एक नौ आदि अंकों के वर्गप्रमाण होती है ।

पुनश्च महाशलाका कुण्ड में एक सरसो ड़ालनेपर अनवस्था कुण्ड एक नौ आदि अंकों के वर्गप्रमाण होते हैं, तो महाशलाका कुण्ड में एक नौ आदि अंक प्रमाण सरसों ड़ालनेपर कितने अनवस्था कुण्ड होते हैं ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर प्रमाण १, फल १९=वर्ग, इच्छा १९=, लब्धराशि एक नौ आदि अंकों के घन प्रमाण होती है । सो इतने अनवस्था कुण्ड होते हैं, ऐसा अनवस्था कुण्डों का प्रमाण जानना। पुनश्च जघन्य परीतासंख्यात के ऊपर एक-एक अधिक के क्रम से एक कम उत्कृष्ट परीतासंख्यात तक मध्यम परीतासंख्यात के भेद जानने । पुनश्च एक कम जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण उत्कृष्ट परीतासंख्यात जानना ।

अब जघन्य युक्तासंख्यात का प्रमाण कहते हैं - जघन्य परीतासंख्यात का विरलन करना । विरलन क्या है ? जितना उसका प्रमाण है, उतने ही एक-एक करके अलग-अलग स्थापना करना । *(जैसे चार का विरलन करना हो तो चार बार एक-एक लिखना १ १ १ १)* पुनश्च एक-एक की जगह एक-एक जघन्य परीतासंख्यात मांडकर पश्चात् सभी को परस्पर गुणित करना अर्थात् पहले जघन्य परीतासंख्यात को दूसरे जघन्य परीतासंख्यात से गुणा करना, जो प्रमाण आये उसे तीसरे जघन्य परीतासंख्यात से गुणा करना । पुनश्च जो प्रमाण आये उसे चौथे जघन्य परीतासंख्यात से गुणा करना, ऐसे अंत तक परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, वह प्रमाण जघन्य युक्तसंख्यात का जानना । इसी को अंकसंदृष्टि द्वारा दिखाते हैं -

जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण (४), इसका विरलन किया १ १ १ १ । एक-एक स्थान प्रति चार दिये ४ ४ ४ ४ और परस्पर गुणा किया तब दो सौ
१ १ १ १
छप्पन आये । इसीतरह जानना । इसी जघन्य युक्तासंख्यात का नाम आवली है, क्योंकि एक आवली के समय जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण हैं । पुनश्च इसके ऊपर एक-एक से बढ़ते हुये एक कम उत्कृष्ट युक्तासंख्यात पर्यंत मध्यम युक्तासंख्यात के भेद जानने। पुनश्च एक कम जघन्य असंख्यातासंख्यात प्रमाण उत्कृष्ट युक्तासंख्यात जानना ।

अब जघन्य असंख्यातासंख्यात कहते हैं - जघन्य युक्तासंख्यात को जघन्य युक्तासंख्यात

से एक बार परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, वह जघन्य असंख्यातासंख्यात जानना । इसके ऊपर एक-एक से बढ़ते हुये एक कम उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात तक मध्यम असंख्यातासंख्यात जानने । एक कम जघन्य परीतानंत प्रमाण उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात जानना ।

अब जघन्य परीतानंत कहते हैं - जघन्य असंख्यातासंख्यात प्रमाण तीन राशि करना - एक शलाकाराशि, एक विरलनराशि, एक देयराशि । वहां विरलनराशि का तो विरलन करना, बिखेरकर जुदा-जुदा एक-एक रूप करना और एक-एक के ऊपर एक-एक देयराशि रखना । भावार्थ यह है कि जघन्य असंख्यातासंख्यात प्रमाण स्थानों में जघन्य असंख्यातासंख्यात जुदे-जुदे लिखने । उनको परस्पर में गुणित करना, ऐसा करनेपर उस शलाकाराशि में से एक कम करना । परस्पर में गुणित करनेपर जो प्रमाण आया, उतना प्रमाण लेकर दो राशियां करना - एक विरलनराशि, एक देयराशि । वहां विरलनराशि का विरलन करके उसके एक-एक के प्रति एक-एक देयराशि को स्थापित करके परस्पर गुणित करना । ऐसा करनेपर उस शलाकाराशि में से एक और कम करना । गुणित करनेपर जो प्रमाण आया, उतने प्रमाण विरलन-देय स्थापित कर, विरलनराशि का विरलन करके, एक-एक के प्रति देयराशि को देकर परस्पर गुणा करना। तब शलाकाराशि में से एक और कम करना ।

इसतरह करते-करते यह पहली बार स्थापित शलाकाराशि सर्व समाप्त हो जाती है, तब वहां जो कुछ प्रमाण आया, वह महाराशि असंख्यातासंख्यात का मध्यम भेद है । उतनी-उतनी प्रमाण तीन राशियां पुनश्च करनी - एक शलाकाराशि, एक विरलनराशि, एक देयराशि । वहां विरलनराशि का विरलन करके एक-एक के स्थान पर देयराशि स्थापित कर परस्पर गुणा करना, तब शलाकाराशि में से एक कम करना। पुनश्च जो प्रमाण आया, उसका विरलन कर, एक-एक के प्रति उसी प्रमाण को स्थापित करके परस्पर गुणा करना, तब शलाकाराशि में से एक और कम करना । इसप्रकार करते करते जब दूसरी बार की हुयी शलाकाराशि समाप्त हो जाती है, तब वहां जो प्रमाण मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेदरूप आया, उसप्रमाण तीन राशि स्थापन करनी - शलाका, विरलन, देय । वहां विरलनराशि को बिखेरकर एक-एक स्थान प्रति देयराशि को स्थापित कर परस्पर गुणा करना, तब तीसरी शलाकाराशि में से एक कम करना। पुनश्च गुणित करनेपर जो प्रमाण आया था, उस प्रमाण राशि का विरलन करके, एक-एक स्थान

में उस प्रमाण को ही स्थापित करके परस्पर गुणा करना, तब शलाका राशि में से एक और कम करना ।

इसतरह करते-करते जब तीसरी बार भी शलाकाराशि समाप्त हुयी, तब शलाकात्रय निष्ठापन हुआ कहते हैं । आगे भी जहां शलाकात्रय निष्ठापन कहेंगे, वहां इसीप्रकार विधान जानना । विशेष इतना - जो शलाका, विरलन, देय का प्रमाण वहां जैसा होगा, वैसा जानना ।

अब ऐसा करनेपर जो मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेदरूप राशि उत्पन्न हुयी उसमें ये छह राशियां मिलाना । लोकप्रमाण धर्मद्रव्य के प्रदेश, लोकप्रमाण अधर्मद्रव्य के प्रदेश, लोकप्रमाण एक जीव के प्रदेश, लोकप्रमाण लोकाकाश के प्रदेश, उससे असंख्यात गुणा अप्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण, उससे असंख्यात लोकगुणा तो भी सामान्यपने से असंख्यात लोकप्रमाण सप्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण ये छह राशियां पूर्वोक्त प्रमाण में मिलाना । मिलानेपर जो प्रमाण होगा, उसप्रमाण शलाका, विरलन, देय राशि करनी । पश्चात् अनुक्रम से शलाकात्रय निष्ठापन करना ।

इसतरह करनेपर जो कोई महाराशि मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेदरूप हुयी उसमें चार राशियां और मिलाना । बीस कोडाकोडि सागर प्रमाण उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी दोनों कालरूप कल्पकाल के संख्यात पल्यमात्र समय, तथा असंख्यात लोकमात्र स्थितिबंध के कारणभूत जो परिणाम - उनके स्थान, तथा इनसे असंख्यात लोक गुणे तो भी असंख्यात लोकमात्र अनुभागबंध को कारणभूत जो परिणाम उनके स्थान, तथा इनसे असंख्यात लोक गुणे तो भी असंख्यात लोकमात्र मन, वचन, काय के योगों के अविभाग प्रतिच्छेद - ऐसी ये चार राशियां पूर्वोक्त प्रमाण में मिलाना । मिलानेपर जो प्रमाण होगा, उस महाराशि प्रमाण शलाका, विरलन, देय राशि करके अनुक्रम से पूर्वोक्त प्रकार शलाकात्रय निष्ठापन करना । ऐसा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह जघन्य परीतानंत है । पुनश्च इसके ऊपर एक-एक से बढ़ते हुये एक कम उत्कृष्ट परीतानंत तक मध्यम परीतानंत जानना । पुनश्च एक कम जघन्य युक्तानंत प्रमाण उत्कृष्ट परीतानंत जानना।

अब जघन्य युक्तानंत कहते हैं - जघन्य परीतानंत का विरलन करके बिखेरकर एक-एक स्थान में एक-एक जघन्य परीतानंत को स्थापित करके परस्पर गुणा करनेपर

जो प्रमाण आता है, वह जघन्य युक्तानंत जानना । यह अभव्यराशि समान है । अभव्य जीवराशि जघन्य युक्तानंत प्रमाण है । पुनश्च इसके ऊपर एक-एक से बढ़ते हुये एक कम उत्कृष्ट युक्तानंत तक मध्यम युक्तानंत के भेद जानना । पुनश्च एक कम जघन्य अनंतानंत प्रमाण उत्कृष्ट युक्तानंत जानना ।

अब जघन्य अनंतानंत कहते हैं - जघन्य युक्तानंत को जघन्य युक्तानंत से एक ही बार गुणा करनेपर जघन्य अनंतानंत होता है । पुनश्च इसके ऊपर एक-एक से बढ़ते हुये एक कम केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद प्रमाण उत्कृष्ट अनंतानंत तक मध्यम अनंतानंत जानने । इसके भेदों को जानते हुये इसतरह विधान करते हैं - जघन्य अनंतानंत प्रमाण शलाका, विरलन, देयरूप तीन राशि करके अनुक्रम से शलाकात्रय निष्ठापन पूर्वोक्त प्रकार से करना । ऐसा करनेपर जो मध्यम अनंतानंत भेदरूप प्रमाण होता है, उसमें ये छह राशियां और मिलानी । जीवराशि के अनंतवें भागप्रमाण सिद्धराशि, पुनश्च उससे अनंतगुणा ऐसी पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति और त्रसराशि इनसे रहित संसारी जीवराशि मात्र निगोदराशि, पुनश्च प्रत्येक वनस्पति सहित निगोदराशि प्रमाण वनस्पतिराशि, पुनश्च जीवराशि से अनंतगुणा पुद्गलराशि, पुनश्च इससे अनंतानंतगुणा व्यवहारकाल के समयों की राशि, पुनश्च इससे अनंतानंतगुणा अलोकाकाश के प्रदेशों की राशि - ऐसे छहों राशियों के प्रमाण पूर्व प्रमाण में मिलाना ।

पुनश्च मिलानेपर जो प्रमाण होगा, उसप्रमाण शलाका, विरलन, देय करके क्रम से पूर्ववत् शलाकात्रय निष्ठापन करनेपर जो कोई मध्यम अनंतानंत के भेदरूप प्रमाण आता है, उसमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य के अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण अनंतानंत है, उसे मिलाना । ऐसा करनेपर जो महाप्रमाण होगा, उसप्रमाण शलाका, विरलन, देय द्वारा पूर्वोक्त विधि से शलाकात्रय निष्ठापन करनेपर जो कोई मध्यम अनंतानंत के भेदरूप महाप्रमाण होता है उस प्रमाण को केवलज्ञानशक्ति के अविभागप्रतिच्छेदों के समूहरूप प्रमाण में से घटाना और फिर ज्यों का त्यों मिलाना, तब केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के प्रमाणस्वरूप उत्कृष्ट अनंतानंत होता है ।

यहां प्रश्न - पूर्वोक्त प्रमाण को पहले केवलज्ञान में से घटाकर बाद में फिरसे मिलाया, उसका क्या कारण है ?

उसका समाधान - केवलज्ञान का प्रमाण ऐसा नहीं है कि जो पूर्वोक्त प्रमाण

के गुणनादि क्रम से जाना जाय । और उस प्रमाण को केवलज्ञान में मिलायेंगें तो केवलज्ञान से अधिक प्रमाण होगा, वह तो है नहीं । पुनश्च कुछ न कहेंगे तो गणित में संबंध टूट जायगा, इसलिये पूर्वोक्त प्रमाण को पहले केवलज्ञान में से घटाकर, फिर मिलाकर केवलज्ञानमात्र उत्कृष्ट अनंतानंत कहा । इसतरह ये इक्कीस भेद संख्यामान के कहे ।

अब संख्याओं के विशेषरूप जो चौदह धारायें, उनका कथन करते हैं -

१) सर्वधारा २) समधारा ३) विषमधारा ४) कृतिधारा ५) अकृतिधारा ६) घनधारा ७) अघनधारा ८) कृतिमातृकधारा ९) अकृतिमातृकधारा १०) घनमातृकधारा ११) अघनमातृकधारा १२) द्विरूपवर्गधारा १३) द्विरूपघनधारा १४) द्विरूपघनाघनधारा - ऐसी ये चौदह धारायें जाननी ।

१) ***सर्वधारा*** - पूर्व में कहे हुये जो सभी संख्यातादि भेद, वे एक से लेकर ऐसे सर्व संख्याविशेषरूप वह सर्वधारा है ।

अवशेष तेरह धारायें इसीमें उत्पन्न जाननी । इस धारा का प्रथम स्थान एक प्रमाण, द्वितीय स्थान दो प्रमाण, तृतीय स्थान तीन प्रमाण - इसतरह एक-एक से बढ़ते हुये केवलज्ञान तक जानना । केवलज्ञान शब्द से उत्कृष्ट अनंतानंत जानना । इस धारा में सभी संख्या के विशेष आये, इसलिये इसके सर्व स्थान केवलज्ञान प्रमाण जानना ।

२) ***समधारा*** - पुनश्च जिसमें समरूप संख्याविशेष पाये जाय, वह समधारा है । इसका आदि स्थान दो, दूसरा स्थान चार, तीसरा स्थान छह, इसतरह दो दो से बढ़ता हुआ केवलज्ञान तक जानना । इसके सर्व स्थान केवलज्ञान के आधे प्रमाण है । सर्वधारा में संख्या के सर्व विशेष थे, उनमें आधे तो समरूप हैं, आधे विषमरूप हैं, इसलिये इसके स्थान केवलज्ञान के आधे प्रमाण कहे ।

३) ***विषमधारा*** - पुनश्च जिसमें विषमरूप संख्याविशेष पाये जाते हैं, वह विषमधारा है । इसका आदि स्थान एक, दूसरा स्थान तीन, तीसरा स्थान पांच इसतरह दो-दो से बढ़ते हुये एक कम केवलज्ञान तक जानना । इसके सर्वस्थान आधे केवलज्ञान प्रमाण हैं ।

४) ***कृतिधारा*** - पुनश्च जिसमें वर्गरूप संख्याविशेष पाये जाते हैं, वह कृतिधारा

है । इसका प्रथम स्थान एक है, क्योंकि एक का वर्ग एक ही है । पुनश्च दूसरा स्थान चार, क्योंकि दो का वर्ग चार होता है । पुनश्च तीसरा स्थान नौ, क्योंकि तीन का वर्ग नौ है । पुनश्च चौथा स्थान सोलह, क्योंकि चार का वर्ग सोलह है। इसीतरह पांच आदि के वर्ग पच्चीस से लेकर इसके स्थान केवलज्ञान तक जानने । इसके सर्व स्थान केवलज्ञान के वर्गमूल प्रमाण जानने । जिस प्रमाण का वर्ग करनेपर केवलज्ञान का प्रमाण होता है, उतने इसके स्थान हैं ।

५) ***अकृतिधारा*** **–** पुनश्च जिसमें वर्गरूप संख्याविशेष नहीं पाये जाते, वह अकृतिधारा है । सर्वधारा के स्थानों में से कृतिधारा के स्थान दूर करनेपर अवशेष सर्व स्थान इस धारा के जानना । इसका पहला स्थान दो, दूसरा स्थान तीन, तीसरा स्थान पांच, चौथा स्थान छह, पांचवां स्थान सात, छठवां स्थान आठ, इत्यादि एक कम केवलज्ञान तक जानने । इसके सर्व स्थान केवलज्ञान के वर्गमूल से हीन केवलज्ञान प्रमाण जानने।

६) ***घनधारा*** **–** पुनश्च जिसमें घनरूप संख्याविशेष पाये जाते हैं, वह घनधारा है । इसका पहला स्थान एक, क्योंकि एक का घन एक ही है । पुनश्च दूसरा स्थान आठ, क्योंकि दो का घन आठ होता है । पुनश्च तीसरा स्थान सत्ताइस, क्योंकि तीन का घन सत्ताइस होता है । चौथा स्थान चौंसठ, क्योंकि चार का घन चौंसठ होता है । इसतरह पांच का घन सव्वा सौ से लेकर केवलज्ञान के आसन्नघन तक इसके स्थान जानने ।

केवलज्ञान का आसन्नघन किसे कहते हैं ?

वह अंकसंदृष्टि द्वारा दिखाते हैं – केवलज्ञान का प्रमाण पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस (६५५३६) । इसका आधा करनेपर घनधारा का स्थान होता है, (३२७६८)। इसका घनमूल बत्तीस (३२) । पुनश्च इसके ऊपर तैंतीस से लेकर चालीस तक घनमूल के स्थान हैं । चालीस का घन करनेपर चौंसठ हजार होता है, वही आसन्नघन जानना। क्योंकि इकतालीस के घन करनेपर अड़सठ हजार नौ सौ इक्कीस (६८९२१) होता है, सो केवलज्ञान के प्रमाण से बढ़ता होगा, सो संभव नहीं है । इसलिये केवलज्ञान के नीचे जो प्रमाण घनरूप है, उसको केवलज्ञान का आसन्नघन कहते हैं । इस आसन्नघन का जो घनमूल, उसका जो प्रमाण, उतने इस धारा के स्थान जानने ।

कोई कहेगा कि केवलज्ञान के अर्ध प्रमाण को घनस्थान तुमने कैसे जाना?

उसका समाधान – द्विरूपवर्गधारा के जो स्थान कहेंगे, उनमें पहले, तीसरे, पांचवें से लेकर जो विषम स्थान हैं, उनके चौथा भाग प्रमाण तो घनधारा के स्थान जानना। जैसे, द्विरूपवर्गधारा का पहला स्थान चार, उसका चौथा भाग एक, वह घनधारा का स्थान है । पुनश्च तीसरा स्थान दो सौ छप्पन, उसका चौथा भाग चौंसठ, सो घनधारा का स्थान है, ऐसा सर्वत्र जानना । पुनश्च जो दूसरे, चौथे, छठवें स्थान से लेकर समस्थान हैं, उनके आधे प्रमाण घनस्थान जानना । जैसे, दूसरा स्थान सोलह, उसका आधा आठ, वह घनधारा का स्थान है । चौथा स्थान पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस, उसका आधा बत्तीस हजार सात सौ अड़सठ, वह भी घनस्थान है । चूंकि केवलज्ञान भी द्विरूपवर्गधारा के समस्थान में है, इसलिये इसके आधे प्रमाण को घनस्थान कहा ।

पुनश्च प्रश्न – केवलज्ञान को द्विरूपवर्गधारा के समस्थान में कैसे जाना ?

उसका समाधान – केवलज्ञान की वर्गशलाका का प्रमाण भी द्विरूपवर्गधारा में ही कहा है और द्विरूपवर्गधारा के जो स्थान हैं उनमें प्रमाण समरूप ही है, इसलिये जाना जाता है । इसतरह घनधारा कही ।

७) ***अघनधारा*** – पुनश्च जिसमें घनरूप संख्याविशेष नहीं पाये जाते, वह अघनधारा है । सर्वधारा में जो स्थान हैं, उनमें से घनधारा के स्थान घटानेपर अवशेष सर्व स्थान इस धारा के जानने । इसका प्रथम स्थान दो, दूसरा स्थान तीन, इत्यादि केवलज्ञान तक जानना । इसके सर्व स्थान घनधारा के स्थानों के प्रमाण से हीन केवलज्ञान प्रमाण जानने ।

८) ***कृतिमातृकधारा*** – पुनश्च जिनका वर्ग होता है ऐसे संख्याविशेष जिस धारा में पाये जाते हैं, वह कृतिमातृकधारा है, सो एक से लेकर सभी का वर्ग होता है, परंतु इसका अंतिम स्थान केवलज्ञान का वर्गमूल ही जानना । केवलज्ञान के वर्गमूल से एक भी अधिक का यदि वर्ग करते हैं, तो केवलज्ञान से अधिक का प्रमाण होगा, इसलिये इसके स्थान एक से लेकर एक-एक बढ़ते हुये केवलज्ञान के वर्गमूल तक जानने। इसके सर्व स्थान केवलज्ञान के वर्गमूल प्रमाण जानने ।

९) ***अकृतिमातृकधारा*** – पुनश्च जिनका वर्ग नहीं होता, ऐसी संख्यायें जिस धारा में पायी जाती हैं, वह अकृतिमातृकधारा है । सो एक अधिक केवलज्ञान के वर्गमूल से लेकर एक-एक से बढ़ते हुये केवलज्ञान तक जानना । इनका वर्ग नहीं होता ।

इसके सर्व स्थान केवलज्ञान के वर्गमूल से हीन केवलज्ञान प्रमाण जानना । अंकसंदृष्टि द्वारा केवलज्ञान का प्रमाण सोलह, उसका वर्गमूल चार, सो चार तक के तो वर्ग होते हैं और पांच से लेकर सोलह तक के वर्ग नहीं होते, यदि करेंगे तो केवलज्ञान से अधिक प्रमाण होगा, वह तो है नहीं ।

१०) ***घनमातृकधारा*** – पुनश्च जिनका घन हो सकता है ऐसे संख्याविशेष जिस धारा में पाये जाते हैं, वह घनमातृकधारा है, एक से लेकर सर्व का घन होता है, परंतु इसका अंतिमस्थान केवलज्ञान का जो आसन्नघन, उसके घनमूल प्रमाण ही जानना। इसके सर्व स्थान केवलज्ञान के आसन्नघन के घनमूल प्रमाण जानने ।

११) ***अघनमातृकधारा*** – पुनश्च जिनका घन नहीं हो सकता ऐसे संख्याविशेष जिस धारा में पाये जाते हैं, वह अघनमातृकधारा है । केवलज्ञान के एक अधिक आसन्नघनमूल से लेकर एक-एक से बढ़ते हुये केवलज्ञान तक इसके स्थान जानने। अंकसंदृष्टि द्वारा केवलज्ञान पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस प्रमाण (६५५३६), इसका आसन्नघन चौंसठ हजार (६४०००), उसका घनमूल चालीस (४०), सो चालीस तक का घन होता है, इकतालीस से लेकर केवलज्ञान तक का घन नहीं होता, यदि करेंगे तो केवलज्ञान से अधिक प्रमाण होगा, वह तो है नहीं ।

१२) ***द्विरूपवर्गधारा*** – पुनश्च द्विरूप के वर्ग से लेकर पूर्व-पूर्व के वर्ग करनेपर जो संख्याविशेष होते हैं, वे जिस धारा में पाये जाते हैं, वह द्विरूपवर्गधारा है । इसका प्रथम स्थान दो का वर्ग चार, पुनश्च दूसरा स्थान चार का वर्ग सोलह, पुनश्च इसका वर्ग तीसरा स्थान दो सौ छप्पन (२५६) । पुनश्च इसका वर्ग चौथा स्थान पणट्ठी, सो पैंसठ हजार पांचसौ छत्तीस (६५५३६) प्रमाण का नाम पणट्ठी है । पुनश्च इसका वर्ग पांचवां स्थान बादाल, सो बयालीस, चौरानबे, छानबे, बहत्तर, छानबे ये अंक लिखनेपर जो प्रमाण होता है, उसको बादाल कहते हैं (४२९४९६७२९६)।

पुनश्च इसका वर्ग छठवां स्थान एकट्ठी, सो एक, आठ, चार, चार, छह, सात, चार, चार, शून्य, सात, तीन, सात, शून्य, नौ, पांच, पांच, एक, छह, एक, छह इन अंकों का जो प्रमाण है, उसको एकट्ठी कहते हैं (१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६)। पुनश्च इसका वर्ग सातवां स्थान, इसीतरह पूर्व-पूर्व स्थानों का वर्ग करनेपर एक-एक स्थान होता है । वहां संख्यात स्थान जानेपर जघन्य परीतासंख्यात की वर्गशलाका होती है।

वर्गशलाका किसे कहते हैं ?

दो के वर्ग से लेकर जितनी बार वर्ग करनेपर विवक्षित राशि होती है, उतनी ही विवक्षित राशि की वर्गशलाका जाननी । इसलिये द्विरूपवर्गधारा आदि तीन धाराओं में जितने स्थान होनेपर जो राशि होती है, उस राशि की उतनी वर्गशलाका है । जैसे, पणट्ठी की वर्गशलाका चार, बादाल की वर्गशलाका पांच इत्यादि जाननी ।

पुनश्च जघन्य परीतासंख्यात की वर्गशलाका स्थान से लेकर संख्यात स्थान होते हैं, तब जघन्य परीतासंख्यात के अर्धच्छेदों का प्रमाण आता है ।

अर्धच्छेद किसे कहते हैं ?

विवक्षित राशि का जितनी बार आधा आधा होता है, उतने उस राशि के अर्धच्छेद जानने । जैसे सोलह को एक बार आधा करनेपर आठ होते है, दूसरा आधा करनेपर चार होते है, तीसरा आधा करनेपर दो होते है, चौथा आधा करनेपर एक होता है, इसतरह चार बार आधा हुआ, इसलिये सोलह के अर्धच्छेद चार जानने। *(अर्धच्छेद* $= log_2$*)* इसीतरह चौंसठ के अर्धच्छेद छह होते हैं । ऐसे सर्व के अर्धच्छेद जानने ।

पुनश्च उस जघन्य परीतासंख्यात के अर्धच्छेदरूप स्थान से संख्यात वर्गस्थान जानेपर जघन्य परीतासंख्यात का वर्गमूल आता है, इससे एक स्थान जानेपर इस वर्गमूल का वर्ग करनेपर जघन्य परीतासंख्यात होता है । पुनश्च इससे संख्यात स्थान जानेपर जघन्य युक्तासंख्यात होता है, वही आवली का प्रमाण है । यहां वर्गशलाकादि नहीं कहे उसका कारण आगे कहेंगे । पुनश्च इससे एक स्थान जानेपर अर्थात् इसका एक बार वर्ग करनेपर प्रतरावली होती है; क्योंकि आवली के वर्ग को ही प्रतरावली कहते हैं । *(इसी को जघन्य असंख्यातासंख्यात कहते हैं ।)*

पुनश्च यहां से असंख्यात स्थान जानेपर अद्धापल्य की वर्गशलाकाराशि होती है। पुनश्च इससे असंख्यात स्थान जानेपर अद्धापल्य की अर्धच्छेदराशि है । पुनश्च इससे असंख्यात स्थान जानेपर अद्धापल्य का वर्गमूल है । *(इससे एक स्थान जानेपर अद्धापल्य है ।)* इससे असंख्यात स्थान जानेपर सूच्यंगुल है । पुनश्च इससे एक स्थान जानेपर प्रतरांगुल है । पुनश्च इससे असंख्यात स्थान जानेपर जगत्श्रेणी का घनमूल है। इससे असंख्यात *(अ)*संख्यात स्थान जानेपर क्रम से जघन्य परीतानंत की वर्गशलाकाराशि और

अर्धच्छेदराशि और वर्गमूल है । इससे एक स्थान जानेपर जघन्य परीतानंत है । पुनश्च इससे असंख्यात स्थान जानेपर जघन्य युक्तानंत है । पुनश्च इससे एक स्थान जानेपर जघन्य अनंतानंत है । पुनश्च इससे अनंतानंत अनंतानंत स्थान जानेपर क्रम से जीवराशि की वर्गशलाकाराशि, और अर्धच्छेदराशि और वर्गमूल है । इससे एक स्थान जानेपर जीवराशि है । अब यहां से आगे जो राशि कहेंगे इनकी वर्गशलाकाराशि, अर्धच्छेदराशि, वर्गमूल सब का इसीतरह कहना ।

जीवराशि से अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर पुद्गल परमाणुओं का प्रमाण है। इससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर तीन काल के समयों का प्रमाण है । इससे अनंतानंत स्थान जानेपर श्रेणीरूप आकाश के प्रदेशों का प्रमाण है, यह लोक-अलोकरूप सम्पूर्ण आकाश के लम्बाईरूप प्रदेशों का प्रमाण है, इसमें चौड़ाई-ऊंचाई नहीं लेनी । पुनश्च इससे एक स्थान जानेपर प्रतराकाश के प्रदेशों का प्रमाण है, यह लोक-अलोकरूप सर्व आकाश के प्रदेशों का लम्बाईरूप और चौड़ाईरूप प्रदेशों का प्रमाण है, इसमें ऊंचाई नहीं लेनी। ऊंचाई सहित घनरूप सम्पूर्ण आकाश के प्रदेशों का प्रमाण द्विरूपघनधारा में है, इस धारा में नहीं है । पुनश्च इससे अनंतानंत स्थान जानेपर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य के अगुरुलघुगुणों के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण है । जिसका भाग न हो, ऐसा किसी शक्ति का सूक्ष्म अंश, उसका नाम अविभागप्रतिच्छेद है । पुनश्च इससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर एक जीव के अगुरुलघुगुण के षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण है। पुनश्च इससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर सूक्ष्म निगोदिया का जो लब्धिअक्षर नामक जघन्य ज्ञान है, उसके अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण है । पुनश्च इससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच की जो जघन्य सम्यक्त्वरूप क्षायिक लब्धि होती है, उसके अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण है । पुनश्च इससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर केवलज्ञान की वर्गशलाकाराशि है । पुनश्च इससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर केवलज्ञान की अर्धच्छेदराशि है । पुनश्च इससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर केवलज्ञान का अष्टम वर्गमूल है । पुनश्च इससे एक-एक स्थान जानेपर क्रम से केवलज्ञान का सप्तम, षष्टम, पंचम, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम वर्गमूल है ।

विवक्षित राशि के वर्गमूल को प्रथम वर्गमूल कहते हैं । तथा उस प्रथम वर्गमूल के वर्गमूल को द्वितीय वर्गमूल कहते हैं । तथा उस द्वितीय वर्गमूल का भी वर्गमूल हो उसे तृतीय वर्गमूल कहते हैं । इसीतरह चतुर्थादिक वर्गमूल जानने । पुनश्च उस प्रथम

वर्गमूल से एक स्थान आगे जानेपर अर्थात् उसका वर्ग करनेपर गुण-पर्याय संयुक्त जो त्रिलोक के मध्यवर्ती त्रिलोक संबंधी जीवादिक पदार्थों का समूह, उसका प्रकाशक केवलज्ञान सूर्य, उसकी प्रभा के प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वथा नाश से प्रकट हुये समस्त अविभागप्रतिच्छेदों के समूहरूप सर्वोत्कृष्ट भाग प्रमाण उपजता है, वही उत्कृष्ट क्षायिक लब्धि है । यहीं इस धारा का अंतिम स्थान है । यही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है । इससे कोई अधिक प्रमाण नहीं है । ऐसी यह द्विरूपवर्गधारा कही । इसके सर्व स्थान केवलज्ञान की वर्गशलाका प्रमाण जानने ।

अब यहां कई नियम दिखाते हैं - जो राशि विरलन, देय क्रम से उत्पन्न होती है, वह राशि जिस धारा में होती है, उसी धारा में उस राशि की वर्गशलाका और अर्धच्छेद नहीं होते । जैसे, विरलनराशि सोलह (१६), उसका विरलन करके एक-एक के प्रति सोलह जगह देयराशि सोलह (१६) को स्थापित करके, परस्पर गुणित करनेपर एकट्ठी प्रमाण होता है, सो एकट्ठी प्रमाणराशि द्विरूपवर्गधारा में पायी जाती है । इसकी वर्गशलाका छह (६) और अर्धच्छेद चौंसठ (६४) दोनों इस धारा में नहीं पाये जाते । इसीतरह सूच्यंगुल और जगत्श्रेणी इत्यादिक का जानना । यह नियम इस द्विरूपवर्गधारा में और द्विरूपघनधारा में और द्विरूपघनाघनधारा में जानना। वहां वे सूच्यंगुलादिक द्विरूपवर्गधारा में अपनी-अपनी देयराशि के स्थान से ऊपर जितने विरलनराशि के अर्धच्छेद हो, उतने वर्गस्थान जानेपर उत्पन्न होते हैं । वहां सूच्यंगुल की विरलनराशि पल्य के अर्धच्छेद प्रमाण है और देयराशि पल्यप्रमाण है । पुनश्च जगत्श्रेणी की विरलनराशि पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागमात्र जानना, देयराशि घनांगुलमात्र जानना । वहां अपनी-अपनी विरलनराशि का विरलन करके एक-एक बिखेरकर, वहां एक-एक के प्रति देयराशि को देकर परस्पर गुणित करनेपर जो-जो राशि उत्पन्न होती है, सो आगे कथन करेंगे । पुनश्च द्विरूपवर्गधारादि तीन धाराओं में पहले-पहले वर्गस्थान से ऊपर-ऊपर के वर्गस्थान में अर्धच्छेद तो दुगुणे-दुगुणे जानने और वर्गशलाका एक-एक से अधिक जाननी । जैसे, दूसरा वर्गस्थान सोलह, उसका अर्धच्छेद चार और तीसरा वर्गस्थान दो सौ छप्पन, उसका अर्धच्छेद आठ, ऐसे ही दुगुणे-दुगुणे जानने। पुनश्च सोलह की वर्गशलाका दो और दो सौ छप्पन की वर्गशलाका तीन, ऐसी एक अधिक जाननी ।

पुनश्च एक धारा के विवक्षित स्थान के ऊपर का निकटवर्ती स्थान जितनेवां हो,

उतनेवां अन्य धारा में स्थान हो, तो वहां उस पहले के विवक्षित स्थान के अर्धच्छेदों से तिगुणे अर्धच्छेद होते हैं । जैसे, द्विरूपवर्गधारा का द्वितीय स्थान सोलह, उसके अर्धच्छेद चार, और उसके ऊपर के द्विरूपघनधारा का तीसरा स्थान चार हजार छानबे, उसके अर्धच्छेद बारह, ऐसे सर्वत्र जानना । तथा वर्गशलाका दोनों की समान जानना। जैसे, दो सौ छप्पन की भी वर्गशलाका तीन है और चार हजार छानबे की भी वर्गशलाका तीन है ।

पुनश्च राशि के जितने अर्धच्छेद हैं, उन अर्धच्छेदों के जितने अर्धच्छेद होते हैं, उतनी उस राशि की वर्गशलाका होती है । जैसे, राशि का प्रमाण सोलह, इसके अर्धच्छेद चार, इसके अर्धच्छेद दो, सो राशि सोलह की वर्गशलाका दो है, ऐसा सर्वत्र जानना। पुनश्च जितनी वर्गशलाका है उतनी जगह दो-दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर अर्धच्छेदों का प्रमाण आता है । जैसे, सोलह की वर्गशलाका दो, सो दो जगह दो-दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर चार होते हैं, सो सोलह के अर्धच्छेद चार हैं, यह नियम द्विरूपवर्गधारा में ही है । पुनश्च जितने अर्धच्छेद हो, उतनी बार दो मांडकर परस्पर गुणा करते हैं, तब राशि का प्रमाण आता है । जैसे, अर्धच्छेद चार, सो चार जगह दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर राशि सोलह का प्रमाण आता है।

वर्गशलाका क्या है ? जितनी बार वर्ग करनेपर राशि होती है, वह वर्गशलाका है। अथवा द्विरूपवर्गधारा में अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद प्रमाण वर्गशलाका वही होती है।

पुनश्च अर्धच्छेद क्या है ? राशि का जितने बार आधा आधा होता है, वह अर्धच्छेदराशि है । इत्यादि यथासंभव जानना ।

१३) ***द्विरूपघनधारा*** – पुनश्च द्विरूप के घन को आदि में रखकर पूर्व-पूर्व स्थान के वर्गरूप संख्याविशेष जिस धारा में होते हैं, वह द्विरूपघनधारा है । दो का घन आठ होता है, वह इसका पहला स्थान है । पुनश्च इसका वर्ग चौंसठ, वह दूसरा स्थान । पुनश्च इसका वर्ग चार हजार छानबे, वह तीसरा स्थान, यह सोलह का घन है । पुनश्च इसका वर्ग दो सौ छप्पन का घन, वह चौथा स्थान है । पुनश्च पणट्ठी का घन पांचवां स्थान, बादाल का घन छठवां स्थान । इसतरह पूर्व-पूर्व स्थान का वर्ग करनेपर एक-एक स्थान होता है, ऐसे संख्यात स्थान जानेपर जघन्य परीतासंख्यात का घन है । इससे संख्यात स्थान जानेपर आवली का घन है । इससे एक स्थान

जानेपर प्रतरावली का घन होता है । इससे असंख्यात असंख्यात स्थान जानेपर क्रम से पल्य की वर्गशलाका का घन और अर्धच्छेद का घन और वर्गमूल का घन है। इससे एक स्थान जानेपर पल्य का घन है ।

पुनश्च इससे असंख्यात स्थान जानेपर घनांगुल है । इससे असंख्यात स्थान जानेपर जगत्श्रेणी है । इससे एक स्थान जानेपर जगत्प्रतर है । इससे अनंतानंत-अनंतानंत स्थान जानेपर क्रम से जीवराशि की वर्गशलाका का घन और अर्धच्छेद का घन और वर्गमूल का घन है । इससे एक स्थान जानेपर जीवराशि का घन है । इससे अनंतानंत स्थान जानेपर श्रेणीरूप सर्व आकाश की वर्गशलाका का घन है । इससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर उसीके अर्धच्छेद का घन है । उससे अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर, उसीके प्रथम वर्गमूल का घन है । उससे एक स्थान जाकर श्रेणी आकाश का घन है, वही सर्व आकाश के प्रदेशों का प्रमाण है ।

पुनश्च इससे अनंतानंत स्थान जानेपर केवलज्ञान के द्वितीय वर्गमूल का घन है, इसी को अंतिम स्थान जानना । प्रथम वर्गमूल और द्वितीय वर्गमूल को परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, वही द्वितीय वर्गमूल का घन जानना । जैसे, सोलह का प्रथम वर्गमूल चार, द्वितीय वर्गमूल दो, इनका परस्पर गुणा करनेपर आठ होते है, वही द्वितीय वर्गमूल दो, उसका घन भी आठ ही है । पुनश्च द्वितीय वर्गमूल के अनंतर वर्ग केवलज्ञान का प्रथम वर्गमूल, उसका घन करनेपर केवलज्ञान का उल्लंघन होगा, परंतु केवलज्ञान से अधिक संख्या का अभाव है, इसलिये वही अंतिम स्थान कहा । इसतरह इस धारा के सर्व स्थान दो कम केवलज्ञान की वर्गशलाका मात्र जानने । द्विरूपवर्गधारा में जिस राशि का जहां वर्ग ग्रहण किया, वहां उस राशि का घन इस धारा में जानना ।

१४) ***द्विरूपघनाघनधारा –*** पुनश्च दो रूप के घन का जो घन, उसको आदि में रखकर पूर्व-पूर्व स्थान का वर्ग करनेपर जो संख्याविशेष हो, वे जिस धारा में पाये जाते हैं, वह द्विरूपघनाघनधारा है । सो दो का घन आठ, उसका घन पांच सौ बारह, वह इसका आदि स्थान जानना । तथा इसका वर्ग दो लाख बासठ हजार एक सौ चवालीस (२६२१४४), वह इसका दूसरा स्थान जानना । इसीतरह पूर्व-पूर्व स्थान के वर्ग करनेपर इसके स्थान होते हैं । इसतरह असंख्यात वर्गस्थान जानेपर लोकाकाश के प्रदेशों का प्रमाण आता है ।

पुनश्च इससे असंख्यात स्थान जानेपर अग्निकायिक (तेजस्कायिक) जीवोंकी गुणकार शलाका आती है । जितनी बार गुणित करनेपर अग्निकायिक जीवों का प्रमाण आता है उतनी गुणकारशलाका जाननी । इसका प्रमाण दिखाने के लिये कथन करते हैं - लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण जुदी-जुदी तीन राशि करना - शलाका, विरलन, देय। वहां विरलनराशि के एक-एक स्थान में देयराशि को स्थापित करके परस्पर गुणित करना। ऐसा करनेपर शलाकाराशि में से एक निकाल लेना । यहां जो राशि हुयी उसकी गुणकारशलाका एक हुयी और वर्गशलाका पल्य के असंख्यातवें भागमात्र हुयी, क्योंकि विरलनराशि के अर्धच्छेद देयराशि के अर्धच्छेद के अर्धच्छेद में मिलानेपर विवक्षित राशि की वर्गशलाका का प्रमाण आता है । *(इसे हम अंकसंदृष्टि द्वारा देखते हैं - ४ संख्या प्रमाण विरलन, देय, शलाका राशि । प्रथम बार गुणित करनेपर ४×४×४×४=२५६ हुये । शलाकाराशि में से एक कम करनेपर तीन रहे । २५६ की गुणकारशलाका एक आयी तथा वर्गशलाका तीन आयी । क्योंकि ४ के अर्धच्छेद २ में, ४ के अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद १ मिलानेपर तीन हुये ।)*

पुनश्च अर्धच्छेदराशि असंख्यात लोकप्रमाण हुयी, क्योंकि देयराशि के अर्धच्छेदों से विरलनराशि को गुणा करनेपर विवक्षित राशि के अर्धच्छेदों का प्रमाण आता है। *(४×२=८; उत्पन्न राशि २५६ के अर्धच्छेद ८ हुये)* । पुनश्च उत्पन्न हुयी राशि असंख्यात लोकप्रमाण है । पुनश्च ऐसा करनेपर जो राशि हुयी उस राशि प्रमाण विरलन, देयराशि करके विरलनराशि का विरलन करना, एक-एक के प्रति देयराशि को देना, पश्चात् परस्पर गुणा करना, तब शलाकाराशि में से एक और निकाल लेना । यहां गुणकारशलाका दो हुयी और वर्गशलाकाराशि और अर्धच्छेदराशि और गुणा करनेपर उत्पन्न राशि ये तीनों ही असंख्यात लोकप्रमाण हुये । *(यहां असंख्यात लोक यह सामान्य कथन है। तीनों का प्रमाण यथायोग्य असंख्यात लोक होगा । संदृष्टि में २५६ को २५६ बार लिखकर आपस में गुणा करना तब बड़ी राशि उत्पन्न हुयी, उसकी वर्गशलाका ग्यारह ८+३=११ हुयी तथा अर्धच्छेद चौबीस ८×२५६=२०४८ हुये । इसकी गुणकारशलाका दो हुयी । शलाकाराशि में से दो निकाल लिये ।)*

पुनश्च जब वह लोकमात्र शलाकाराशि एक-एक निकालने से समाप्त होगी तब तक ऐसे ही करना । *(गुणित करनेपर जो नयी-नयी राशियां उत्पन्न होती हैं उन्हें उतनी-उतनी बार रखकर आपस में गुणित करते जाना, तब गुणकारशलाका बढ़ते-बढ़ते शलाकाराशि*

प्रमाण होगी और शलाकाराशि समाप्त हो जायेगी ।)

ऐसे करनेपर जो राशि उत्पन्न हुयी उसकी गुणकारशलाका तो लोकमात्र हुयी और अन्य तीनों राशियां असंख्यात लोकमात्र असंख्यात लोकमात्र हुयी । पुनश्च जो यह नयी उत्पन्न राशि का प्रमाण आया उसप्रमाण जुदी-जुदी शलाका, विरलन, देय ऐसी तीन राशियां स्थापित करनी । वहां विरलनराशि को एक-एक करके बिखेरकर, एक-एक के प्रति देयराशि को देकर परस्पर गुणा करके दूसरी बार स्थापित की हुयी शलाकाराशि में से एक कम करना । यहां जो राशि उत्पन्न हुयी उसकी गुणकार शलाका एक अधिक लोकप्रमाण है, अवशेष तीनों राशियां असंख्यात लोकमात्र असंख्यात लोकमात्र हैं । पुनश्च जो राशि उत्पन्न हुयी उसप्रमाण विरलन, देयराशि स्थापित करके, विरलनराशि को बिखेरकर, एक-एक के प्रति देयराशि को देकर परस्पर गुणा करके दूसरी बार बनायी हुयी शलाकाराशि में से एक और कम करना, तब गुणकारशलाका दो अधिक लोकप्रमाण हुयी । अवशेष तीनों राशियां असंख्यात लोकमात्र असंख्यात लोकमात्र हुयी।

पुनश्च इसीप्रकार दो कम उत्कृष्ट संख्यात लोकमात्र गुणकारशलाका प्राप्त करके उसमें पूर्वोक्त दो अधिक लोकमात्र गुणकार शलाका जोड़नेपर गुणकारशलाका भी असंख्यात लोकप्रमाण होती है । *(उत्कृष्ट संख्यात लोक-२+लोक+२=उत्कृष्ट संख्यात लोक+१लोक=जघन्य परीतासंख्यात लोक । इसीको यहां गुणकारशलाका असंख्यात लोकमात्र हुयी ऐसा कहते हैं ।)* तब यहां से लेकर गुणकारशलाका, वर्गशलाका, अर्धच्छेदराशि और उत्पन्न हुयी राशि ये चारों विशेष की अपेक्षा हीनाधिक हैं तथापि सामान्यपने असंख्यातलोक असंख्यात-लोकप्रमाण जाननी ।

इसी क्रम से जाकर दूसरी बार स्थापित शलाकाराशि को भी एक-एक कम करते हुये समाप्त करते हैं । पुनश्च वहां उत्पन्न जो राशि, उसप्रमाण शलाका, विरलन, देय जुदी-जुदी तीन राशि स्थापना । पूर्वोक्त प्रकार से इस तीसरी बार स्थापी हुयी शलाकाराशि को भी पूर्ण करके वहां जो राशि उत्पन्न हुयी, उसप्रमाण शलाका, विरलन, देय तीन राशि स्थापना । वहां पूर्वोक्त तीन गुणकारशलाका राशियां, उनका प्रमाण इस चौथी बार स्थापी हुयी शलाकाराशि में से घटानेपर जो अवशेष प्रमाण रहे, वह पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक कम करने से जब समाप्त हो जाय, तब वहां उत्पन्न जो राशि होती है, उस प्रमाण अग्निकायिक जीवराशि है ।

ऐसा देखकर **'आउड्डराशिवारं लोगे अण्णोण्णसंगुणे तेओ'** ऐसा आचार्यों ने कहा है । इसका यह अर्थ है कि – साढ़े तीन बार शलाकाराशि द्वारा लोक को परस्पर गुणा करनेपर अग्निकायिक जीवराशि होती है ।

इसप्रकार अग्निकायिक जीवराशि की गुणकारशलाका के ऊपर असंख्यात असंख्यात वर्गस्थान जाकर उसकी वर्गशलाका, अर्धच्छेदराशि और प्रथम वर्गमूल होता है, उसको एक बार वर्गरूप करनेपर अग्निकायिक जीवोंका प्रमाण आता है । पुनश्च उससे असंख्यात असंख्यात वर्गस्थान जाकर अग्निकायिक की स्थिति की वर्गशलाका और अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है । इससे एक स्थान जाकर अग्निकायिक की स्थिति होती है, सो स्थिति किसे कहते हैं ? अन्य काय से आकर अग्निकाय में जीव उत्पन्न हुआ, वहां उत्कृष्टपने से जितने काल तक अन्य काय धारण नहीं करता, अग्निकाय ही के पर्यायों को धारण करता रहता है, उस काल के समयों का जो प्रमाण, वह अग्निकायिक की स्थिति जाननी ।

पुनश्च इससे असंख्यात असंख्यात वर्गस्थान जाकर अवधिज्ञान संबंधी उत्कृष्ट क्षेत्र की वर्गशलाका, अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है । उसको एक बार वर्गरूप करनेपर अवधिज्ञान संबंधी उत्कृष्ट क्षेत्र होता है, वह किसे कहते हैं ? सर्वावधिज्ञान की जितने क्षेत्र तक जानने की शक्ति, उतने क्षेत्र के प्रदेशों का प्रमाण, यह क्षेत्र असंख्यात लोकप्रमाण है ।

यहां कोई कहे कि अवधिज्ञान तो रूपी पदार्थों को जानता है और रूपी पदार्थ तो एक लोकप्रमाण क्षेत्र में ही हैं । यहां इतना क्षेत्र कैसे कहा ? उसका समाधान– जैसे, अहमिन्द्रों के सातवीं नरक पृथ्वी तक गमन शक्ति है, तथापि इच्छा न होने के कारण कदाचित् गमन नहीं होता । वैसे, सर्वावधि में ऐसी शक्ति है कि इतने क्षेत्र में यदि रूपी पदार्थ होते तो उनको जाने, परंतु वहां रूपी पदार्थ नहीं है, इसलिये वह शक्ति व्यक्त नहीं होती ।

पुनश्च उससे असंख्यात असंख्यात स्थान जाकर स्थितिबंधअध्यवसायस्थानों की वर्गशलाका और अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होते हैं । इसको एक बार वर्गरूप करनेपर स्थितिबंधअध्यवसायस्थान होते हैं । वे क्या हैं ? वह कहते हैं– ज्ञानावरणादि कर्मों का ज्ञान को आवरण करना इत्यादि स्वभाव से संयुक्त रहने का जो काल, उसे स्थिति

कहते हैं । उस स्थितिबंध को कारणभूत जो परिणामों के स्थान, उनका नाम स्थितिबंधअध्यवसाय-स्थान है ।

पुनश्च उससे असंख्यात असंख्यात वर्गस्थान जाकर अनुभागबंधअध्यवसायस्थानों की वर्गशलाका और अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है । उसे एक बार वर्गरूप करनेपर अनुभागबंधअध्यवसायस्थान होते हैं । वे क्या हैं ? वह कहते हैं - ज्ञानावरणादि कर्मों का वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि और स्थानरूप से रहनेवाला जो अविभागप्रतिच्छेदों के समूहरूप अनुभाग, उसके बंध को कारणभूत जो परिणाम, उनके स्थानों का नाम अनुभागबंधअध्यवसायस्थान है । स्थितिबंधअध्यवसायस्थान और अनुभागबंधअध्यवसायस्थान इनका विशेष व्याख्यान आगे कर्मकाण्ड के अंतिम अधिकार में लिखेंगे ।

पुनश्च उससे असंख्यात असंख्यात वर्गस्थान जाकर निगोद शरीरों की उत्कृष्ट संख्या की वर्गशलाका और अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होते हैं । इससे एक स्थान जाकर निगोद शरीरों की उत्कृष्ट संख्या होती है । स्कंध, अंडर, आवास, पुलवी, देह - ये पांच असंख्यात लोक से लेकर असंख्यात लोक गुणे क्रम से हैं । इसलिये पांच जगह असंख्यात लोक मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतनी लोक में निगोद शरीरों की उत्कृष्ट संख्या है ।

पुनश्च उससे असंख्यात लोक असंख्यात लोकमात्र वर्गस्थान जाकर निगोद कायस्थिति की वर्गशलाका और अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है, इसका एक बार वर्ग करनेपर निगोद काय की स्थिति होती है, वह निगोद शरीररूप से परिणमित हुये जो पुद्गल स्कंध, वे उत्कृष्टपने से निगोद शरीर को जितने काल तक नहीं छोड़ते, उतने काल के समयों का प्रमाण जानना । यहां इतर निगोद जीव निगोद पर्याय को छोड़कर अन्य पर्याय को उत्कृष्टपने जितने काल तक नहीं धारण करता उस काल का ग्रहण नहीं करना । क्योंकि वह काल अढ़ाई पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है, जो अनंत काल है; इसलिये उसका यहां ग्रहण नहीं है ।

पुनश्च उससे असंख्यात असंख्यात वर्गस्थान जाकर उत्कृष्ट योगस्थान के अविभाग-प्रतिच्छेदों की वर्गशलाका और अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है । इसका एक बार वर्ग करनेपर एक-एक समान प्रमाणरूप चय द्वारा बढ़ते हुये ऐसे जो जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान हैं, उनमें जो उत्कृष्ट योगस्थान है, उसके अविभागप्रतिच्छेदों

का प्रमाण होता है । *(योग क्या है ? वह कहते हैं -)* एक जीव के प्रदेश लोकप्रमाण हैं, उनमें कर्म-नोकर्म पर्यायरूप परिणमने योग्य जो तेइस वर्गणाओं में से कार्माणवर्गणा और आहारवर्गणा, उनको उस कर्म-नोकर्म पर्यायरूप परिणमने में प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध का कारणभूत जानना । *(योग के कारण प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है । कर्म और नोकर्म के आकर्षण की शक्ति जीव के प्रदेशों में पायी जाती है । वह योग है । यह शक्ति अविभागप्रतिच्छेदों में मापी जाती है । किसी जीव के किसी काल में सबसे अधिक अर्थात् उत्कृष्ट योग पाया जाता है । एक-एक योगस्थान में वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि, नानागुणहानि होती हैं, जिसका व्याख्यान पं. टोडरमलजी आगे योग के प्रकरण में कर्मकाण्ड में करेंगे ।)*

पुनश्च उससे अनंतानंत वर्गस्थान जाकर केवलज्ञान के चतुर्थ वर्गमूल के घन का घन होता है, सो केवलज्ञान के प्रथम वर्गमूल और चतुर्थ वर्गमूल को परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतने मात्र है । जैसे, अंकसंदृष्टि से केवलज्ञान का प्रमाण पणट्ठी (६५५३६), उसका प्रथम वर्गमूल दो सौ छप्पन (२५६), चतुर्थ वर्गमूल दो (२), इनको परस्पर गुणा करनेपर पांच सौ बारह होते हैं; चतुर्थ मूल दो का घन आठ, उसका घन पांच सौ बारह होता है । सो यह द्विरूपघनाघनधारा का अंतिम स्थान है । इससे अधिक का घनाघन करनेपर केवलज्ञान का उल्लंघन होता है, वह है नहीं । बहुत कहने से क्या ? द्विरूपवर्गधारा में जिस-जिस स्थान में जिस-जिस राशि का वर्ग ग्रहण किया उस-उस राशि को उस-उस स्थान में नौ जगह मांडकर, परस्पर गुणा करनेपर इस द्विरूपघनाघनधारा में प्रमाण होता है । इस धारा के सर्व स्थान चार कम केवलज्ञान की वर्गशलाका मात्र है । ऐसे यहां सर्वधारा और द्विरूपवर्गादि तीन धाराओं का प्रयोजन जानकर विशेष कथन किया । अब शेष सम, विषम, कृति, अकृति, कृतिमूल, अकृतिमूल, घन, अघन, घनमूल, अघनमूल इन धाराओं का विशेष प्रयोजन न जानकर सामान्य कथन किया । यदि इनका विशेष जानना चाहते हो, तो त्रिलोकसार में से वा बृहत् परिकर्मा नामक ग्रंथ में से जानना ।

***उपमामान* -** अब आठ प्रकार के उपमामान का वर्णन करते हैं । वहां एक, दो गणना के द्वारा कहने को असमर्थरूप ऐसी जो राशि, उसका किसी उपमा के द्वारा प्रतिपादन, वह उपमामान है । उसरूप प्रमाण के (उस उपमामान के) आठ प्रकार हैं ।

१) पल्य, २) सागर, ३) सूच्यंगुल, ४) प्रतरांगुल
५) घनांगुल, ६) जगत्श्रेणी, ७) जगत्प्रतर, ८) जगत्घन

वहां पल्य तीन प्रकार का है - व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य, अद्धापल्य । वहां पहले पल्य द्वारा बालों की (रोमखण्डों की) संख्या कहते हैं । दूसरे पल्य द्वारा द्वीप समुद्रों की संख्या कहते हैं । तीसरे पल्य द्वारा कर्मों की और देवादिकों की स्थिति वर्णित है । अब परिभाषा के कथनपूर्वक उन पल्यों का स्वरूप कहते हैं ।

(परमाणु का स्वरूप -) जो तीक्ष्ण शस्त्रों से भी छेदने, भेदने, मोड़ने को समर्थ नहीं होता ऐसा है, पुनश्च जल-अग्नि आदि से नाश को प्राप्त नहीं होता, पुनश्च एक-एक तो रस, वर्ण, गंध और दो स्पर्श ऐसे पांच गुण संयुक्त है; *(परमाणु के स्पर्श गुण की शीत-उष्ण में से एक और स्निग्ध-रूक्ष में से एक ऐसी दो ही पर्यायें एकसाथ होती हैं । स्कंध में इनके अलावा हलका-भारी में से एक और कड़ा-नरम में से एक ऐसी दो पर्यायें और होती हैं ।)* पुनश्च शब्दरूप स्कंध का कारण है परंतु स्वयं शब्दरहित है, पुनश्च स्कंध रहित हुआ है, पुनश्च जिसका आदि, मध्य, अंत कहा नहीं जा सकता ऐसा है; पुनश्च बहु प्रदेशों के अभाव से अप्रदेशी है, पुनश्च इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य नहीं है, तथा जिसका विभाग नहीं होता ऐसा है-ऐसा जो द्रव्य, उसे परमाणु कहते हैं । वह परमाणु अंतरंग और बहिरंग कारणों से अपने वर्ण, रस, गंध, स्पर्श द्वारा सदा काल पुद् अर्थात् पूरे अर्थात् जुड़े और गले अर्थात् बिखरे, तब अपने को स्कंधवान करता है, इसलिये पुद्गल ऐसा नाम है ।

पुनश्च उन अनंतानंत परमाणुओं का जो स्कंध होता है, वह अवसन्नासन्न नामधारक है । पुनश्च उससे सन्नासन्न, तृटरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, उत्तम भोगभूमिवालों के बाल का अग्रभाग, मध्यम भोगभूमिवालों के बाल का अग्रभाग, जघन्य भोगभूमिवालों के बाल का अग्रभाग, कर्मभूमिवालों के बाल का अग्रभाग, लीख, सरसो, यव और अंगुल ये बारह चीजें पूर्व-पूर्व से क्रम से आठ-आठ गुणे हैं ।

वहां अंगुल तीन प्रकार का है - उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल, आत्मांगुल । वहां पूर्वोक्त क्रम से उत्पन्न हुआ वह उत्सेधांगुल है । इसके द्वारा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवों के शरीर के और भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों के नगर और मंदिर इत्यादिकों के प्रमाण का वर्णन हैं । पुनश्च उस उत्सेधांगुल से पांच सौ गुणा जो भरत

क्षेत्र के अवसर्पिणी काल में पहले चक्रवर्ती का अंगुल है, वही प्रमाणांगुल है । इसके द्वारा द्वीप, समुद्र, पर्वत, वेदी, नदी, कुण्ड, जगती, वर्ष इत्यादिकों का प्रमाण वर्णन करते हैं । पुनश्च भरत, ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का अपने-अपने वर्तमान काल में जो अंगुल, वह आत्मांगुल है । इसके द्वारा झारी, कलश, आरसा, धनुष, ढोल, जूड़ा, शय्या, गाड़ा, हल, मूसल, शक्ति, शौले, सिंहासन, बाण, चमर, दुंदुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यों के मंदिर और नगर और उद्यान इत्यादिकों का प्रमाण वर्णन करते हैं । इसतरह जहां जैसा होता हो, वहां उसी अंगुल से उत्पन्न प्रमाण जानना ।

छह अंगुलों का एक पाद होता है । दो पाद की एक विलस्ति, दो विलस्ति का एक हाथ, दो हाथ का एक बीख, दो बीख का एक धनुष, दो हजार धनुषों का एक कोस, चार कोसों का एक योजन होता है ।

सो प्रमाणांगुल द्वारा उत्पन्न ऐसे एक योजन प्रमाण ऊंडा और चौड़ा ऐसा एक गर्त-खाड़ा-गड्ढ़ा करना । वह गड्ढ़ा उत्तम भोगभूमि में जन्मे हुये, जन्म से लेकर एक दिन से सात दिन तक जो मेंढ़े के युगल, उनके बालों के अग्रभाग से, जिनकी लम्बाई चौड़ाई अग्रभागों के समान हो, अत्यंत गाढा भूमिसमान भरना, सिघाऊ न भरना । उसमें कितने बाल समाते हैं उसका प्रमाण लाते हैं-

विक्खंभवग्गदहगुण करणी वट्टस्स परिरयो होदि ।
विक्खंभचउत्थाभे परिरयगुणिदे हवे गुणियं ।।

इस करणसूत्र द्वारा गोल क्षेत्र का फल प्रथम ही लाते हैं । इस सूत्र का अर्थ - व्यास के वर्ग को दसगुणा करनेपर वृत्तक्षेत्र का करणिरूप परिधि होता है। जिस राशि का वर्गमूल ग्रहण करना हो, उस राशि को करणि कहते हैं । पुनश्च व्यास के चौथे भाग से परिधि को गुणित करनेपर क्षेत्रफल होता है । सो यहां व्यास एक योजन, उसका वर्ग भी एक योजन, उसको दसगुणा करनेपर दस योजन प्रमाण करणिरूप परिधि होती है, सो इसका वर्गमूल ग्रहण करना । सो नौ का वर्गमूल तीन और अवशेष एक रहा उसको दुगुणे मूल का भाग देना सो एक का छठवां भाग आया। इनको समच्छेद करके मिलानेपर उन्नीस के छठवें भागप्रमाण परिधि हुयी $\frac{१९}{६}$ । इसको व्यास का चौथा भाग पाव योजन ($\frac{१}{४}$), उससे गुणा करनेपर उन्नीस के चौबीसवें

भागप्रमाण ही क्षेत्रफल हुआ । इसको वेध एक से गुणा करनेपर उन्नीस के चौबीसवें भागप्रमाण घनक्षेत्रफल हुआ । अब यहां एक योजन के आठ हजार (८०००) धनुष, एक धनुष के छानबे (९६) अंगुल, एक प्रमाणांगुल के पांच सौ (५००) उत्सेधांगुल, आगे एक-एक के आठ-आठ यव, जू, लीख, कर्मभूमिवालों के बाल के अग्रभाग, जघन्य भोगभूमिवालों के बालाग्र, मध्यम भोगभूमिवालों के बालाग्र, उत्तम भोगभूमिवालों के बालाग्र होते हैं । सो यहां घनराशि का गुणकार-भागहार घनरूप ही होता है । इसलिये सबका घनरूप गुणकार करने के लिये उन्नीस का चौबीसवां भाग लिखकर आगे आठ हजार आदि तीन तीन बार लिखकर परस्पर गुणन करना । $\frac{१९}{२४}$ ।८००० ।८००० । ८००० ।९६ ।९६ ।९६ ।५०० ।५०० ।५०० ।८ । सो राशि के गुणकार भागहार को अपवर्तनादि विधान से गुणित करनेपर व्यवहार पल्य के सभी बालों के खण्डों का (रोमखण्डों का) प्रमाण अंकों के अनुक्रम से बायें तरफ से लेकर पहले अठारह बिंदी और पश्चात् दो, नौ, एक, दो, एक, पांच, नौ, चार, सात, सात, सात, एक, तीन, शून्य, दो, आठ, शून्य, तीन, शून्य, तीन, छह, दो, पांच, चार, तीन, एक, चार ये अंक लिखने । ४१३, ४५,२६३०३, ०८२०३१७, ७७४९५१२, १९२००००००००००००००००० । इन अंकों द्वारा चार सौ तेरह कोडाकोडि कोडाकोडि कोडाकोडि, पैंतालीस लाख छब्बीस हजार तीन सौ तीन कोडाकोडि कोडाकोडि कोडि, आठ लाख बीस हजार तीन सौ सत्रह कोडाकोडि कोडाकोडि, सतहत्तर लाख उनचास हजार पांच सौ बारह कोडाकोडि कोडि, उन्नीस लाख बीस हजार कोडाकोडि प्रमाण होता है, इतने रोमखण्ड व्यवहारपल्य के जानने । पुनश्च उस एक-एक रोमखण्ड को सौ-सौ वर्ष जानेपर निकालिये, जितने काल में वे सब रोमखण्ड समाप्त होंगे, वह सर्व व्यवहारपल्य का काल जानना ।

यहां एक वर्ष के दो अयन, एक अयन के तीन ऋतु, एक ऋतु के दो मास, एक मास के तीस अहोरात्र, एक अहोरात्र के तीस मुहूर्त, एक मुहूर्त की संख्यात आवली, एक आवली के जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण समय, सो क्रम से गुणा करनेपर उस काल के समयों का प्रमाण आता है ।

पुनश्च उस एक-एक रोमखण्ड के अग्रभाग के असंख्यात कोटि वर्षों के जितने समय, उतने-उतने खण्ड करनेपर दूसरे उद्धारपल्य के रोमखण्ड होते हैं । यहां इसके समय भी इतने ही जानना । ये कितने हैं ? वह निकालते हैं - विरलनराशि को देयराशि

के अर्धच्छेदों से गुणा करनेपर, उत्पन्न राशि के अर्धच्छेदों का प्रमाण होता है । इसलिये अद्धापल्य की अर्धच्छेदराशि *(विरलनराशि)* को अद्धापल्य *(देयराशि)* की अर्धच्छेदराशि से ही गुणा करनेपर सूच्यंगुल की अर्धच्छेदराशि होती है । पुनश्च इसको तीनगुणा करनेपर घनांगुल की अर्धच्छेदराशि होती है । पुनश्च इससे अद्धापल्य की अर्धच्छेदराशि के असंख्यातवें भाग को गुणा करनेपर जगत्श्रेणी की अर्धच्छेदराशि होती है । इसमें से तीन कम करनेपर एक राजू के अर्धच्छेदों का प्रमाण होता है । यहां एक अर्धच्छेद तो बीच में मेरु के मस्तक में प्राप्त हुआ । उस सहित लाख योजनों के संख्यात अर्धच्छेद होनेपर एक योजन रहता है । एक योजन के सात लाख अड़सठ हजार अंगुल होते हैं, सो इनके संख्यात अर्धच्छेद होनेपर एक अंगुल होता है । ये सब मिलकर संख्यात अर्धच्छेद हुये । इनसे सहित एक सूच्यंगुल शेष रहा था उसके अर्धच्छेदों का प्रमाण होगा, वह घटानेपर समस्त द्वीप-समुद्रों की संख्या होती है । वह घटाना कैसे होता है ? यहां तीनगुणा सूच्यंगुल के अर्धच्छेद प्रमाण गुणकार है, इतने घटाना हो, वहां अद्धापल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग में से एक घटाते हैं, तो यहां संख्यात अधिक सूच्यंगुल के अर्धच्छेद घटाना हो तो कितना घटायेंगे ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर कुछ अधिक त्रिभाग घटाते हैं । इसतरह साधिक एक के तीसरे भाग से हीन पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग को पल्य के अर्धच्छेद के वर्ग से तीनगुणा प्रमाण से गुणा करनेपर समस्त द्वीप-समुद्रों की संख्या आती है । सो इतने ये द्वीप-समुद्र अढ़ाई उद्धारसागर प्रमाण हैं, उनके पच्चीस कोडाकोडि पल्य हुये । सो इतने पल्यों की पूर्वोक्त संख्या होती है तो एक उद्धारपल्य की कितनी होगी ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर पूर्वोक्त द्वीप-समुद्रों की संख्या को पच्चीस कोडाकोडि का भाग देनेपर वहां जो प्रमाण आये उतनी उद्धारपल्य के रोमखण्डों की संख्या जाननी।

पुनश्च इस एक-एक रोमखण्ड के असंख्यात वर्षों के जितने समय हो, उतने खण्ड करनेपर जितने हो, उतने अद्धापल्य के रोमखण्ड हैं, उसके समय भी इतने ही हैं । क्योंकि एक-एक समय में एक-एक रोमखण्ड निकालनेपर सभी जितने काल में समाप्त होते हैं, सो अद्धापल्य का काल है ।

वे असंख्यात वर्षों के समय कितने हैं ? वह कहते हैं -

उद्धारपल्य के सर्व रोमखण्डों के प्रत्येक के असंख्यात वर्षों के समय प्रमाण खण्ड करनेपर एक अद्धापल्य प्रमाण होता है, तो एक रोमखण्ड के खण्डों का कितना

प्रमाण होगा ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर जितना लब्धराशि का प्रमाण हो, उतने एक उद्धारपल्य के रोमखण्ड के खण्डों का प्रमाण जानना । पुनश्च अद्धापल्य है सो द्विरूपवर्गधारा में अपने अर्धच्छेदराशि के ऊपर असंख्यात वर्गस्थान जाकर उत्पन्न होता है । इसको तीनगुणा पल्य के अर्धच्छेदराशि के वर्ग को किंचित् न्यून पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग से गुणित करनेपर जो प्रमाण आये, उसको पच्चीस कोडाकोडि का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसका भाग देनेपर जो प्राप्त हो, उतने असंख्यात वर्षों के समय जानना । इस प्रमाण से उस उद्धारपल्य के रोमखण्डों को गुणा करनेपर अद्धापल्य के रोमखण्डों की संख्या आती है । ऐसे तीन प्रकार के पल्य कहे । जैसे खास में अन्न भरते हैं, वैसे यहां गर्त में रोम भरकर प्रमाण कहा, इसलिये इसका नाम पल्योपम कहा है ।

पुनश्च इनको प्रत्येक को दस कोडाकोडि से गुणा करनेपर अपने-अपने नाम का सागर आता है । दस कोडाकोडि व्यवहारपल्य का व्यवहारसागर, उद्धारपल्य का उद्धारसागर और अद्धापल्य का अद्धासागर जानना ।

यहां लवणसमुद्र की उपमा है, इसलिये इसका नाम सागरोपम है, सो इसकी उत्पत्ति कहते हैं - लवणसमुद्र की बाहरी सूची पांच लाख योजन ५००००० (५ल), आदि की सूची एक लाख योजन १००००० (१ल) । इनको मिलानेपर ६ल । आधे व्यास का प्रमाण एक लाख से गुणा करनेपर ६लल । पुनश्च इसके वर्ग को दस गुणा करते हैं, तब करणिरूप सूक्ष्मक्षेत्र होता है ६लल ६लल १० । इसके वर्गमूल प्रमाण लवणसमुद्र का सूक्ष्म क्षेत्रफल है । उस करणिरूप लवणसमुद्र के क्षेत्रफल को पल्य का गर्त एक योजन मात्र, उसका करणिरूप सूक्ष्म क्षेत्रफल एक योजन के वर्ग के दसगुणा को योजन के चौथे भाग के वर्ग का भाग देनेपर जो हो, उसप्रमाण है, उसका भाग देना ६ ल ल ६ ल ल १० । यहां दस करणि से दस करणि

$\frac{१}{४}$ $\frac{१}{४}$ १०

का अपवर्तन करना । पुनश्च भागहार का भागहार, वह राशि का गुणकार होता है इस न्याय से भागहार दो जगह चार से राशि के दो जगह छह को गुणा करना २४ लल २४ लल, तब पल्यगर्तों के प्रमाण का वर्ग होता है । इसका वर्गमूल करनेपर सर्व गर्तों का प्रमाण लाख गुणा चौबीस लाख प्रमाण (२४ लल) होता है । इसको

हजार योजन ऊंड़ाई से गुणा करनेपर लवणसमुद्र में पल्यगर्त के समान सर्व गर्तों का प्रमाण २४ लल १००० होता है । इसके अपने-अपने विवक्षित पल्य के रोमखण्डों से गुणा करनेपर गर्तों के रोमों का प्रमाण आता है । पुनश्च छह रोम जितना क्षेत्र रोकते हैं, उतने क्षेत्र का जल निकालने में पच्चीस समय व्यतीत होते हैं, तो सर्व रोमों के क्षेत्र का जल निकालने में कितने समय होंगे ? ऐसा त्रैराशिक करना। वहां प्रमाणराशि रोम छह (६), फलराशि समय पच्चीस (२५), इच्छाराशि सर्व गर्तों के रोमों का प्रमाण । वहां फल से इच्छा को गुणा करके प्रमाण का भाग देनेपर समयों का प्रमाण आता है ।

पुनश्च पूर्वोक्त अपने-अपने समयों के प्रमाण से एक पल्य होता है, तो इतने यहां समय हुये, उनके कितने पल्य होंगे ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर दस कोडाकोडि पल्यों का प्रमाण आता है । इसलिये दस कोडाकोडि पल्यों के समूह का नाम सागर कहा है ।

पुनश्च अद्धापल्य की अर्धच्छेदराशि का विरलन करके एक-एक करके बिखेरकर एक-एक रूप के प्रति अद्धापल्य को देकर परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल उपजता है। एक प्रमाणांगुल प्रमाण लम्बे, एकप्रदेश प्रमाण चौड़े-ऊंचे क्षेत्र के इतने प्रदेश जानने। जैसे, पल्य का प्रमाण सोलह, उसके अर्धच्छेद चार, उनका विरलन करके १।१।१।१ एक-एक के प्रति पल्य सोलह को देकर १६।१६।१६।१६ परस्पर गुणा करनेपर पणट्ठी प्रमाण (६५५३६) होता है, वैसे यहां जानना ।

पुनश्च सूच्यंगुल का जो वर्ग, सो प्रतरांगुल है । एक अंगुल चौड़े, एक अंगुल लम्बे, एक प्रदेश ऊंचे क्षेत्र के प्रदेशों का प्रमाण इतना है । जैसे, पणट्ठी को पणट्ठी से गुणा करनेपर बादाल होता है, वैसे यहां सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करनेपर प्रतरांगुल होता है ।

पुनश्च सूच्यंगुल का घन सो घनांगुल है । एक अंगुल चौड़े, एक अंगुल लम्बे, एक अंगुल ऊंचे क्षेत्र के प्रदेशों का इतना प्रमाण है । जैसे, बादाल को पणट्ठी से गुणा करनेपर पणट्ठी का घन होता है, वैसे प्रतरांगुल को सूच्यंगुल से गुणा करनेपर घनांगुल होता है ।

पुनश्च अद्धापल्य के जितने अर्धच्छेद, उनके असंख्यातवें भाग का जो प्रमाण,

उसका विरलन करके एक-एक के प्रति घनांगुल को देकर, परस्पर गुणा करनेपर जगत्श्रेणी उपजती है । क्षेत्रखंडन विधान से हीनाधिक को समान करनेपर, लोक का लम्बा श्रेणीबद्ध प्रदेशों का प्रमाण इतना है । क्योंकि जगत्श्रेणी का सातवां भाग राजू है। सात राजू का घनप्रमाण लोक है । जैसे, पल्य का अर्धच्छेद चार, उसका असंख्यातवां भाग दो, सो दो जगह पणट्ठी गुणा बादाल को मांडकर परस्पर गुणा करनेपर विवक्षित प्रमाण होता है, वैसे यहां भी जगत्श्रेणी का प्रमाण जानना ।

पुनश्च जगत्श्रेणी का वर्ग, वह जगत्प्रतर है । क्षेत्रखंडन विधान से हीनाधिक समान करनेपर लम्बे-चौड़े लोक के प्रदेशों का इतना प्रमाण है । भावार्थ यह है कि जगत्श्रेणी को जगत्श्रेणी से गुणा करनेपर जगत्प्रतर होता है ।

पुनश्च जगत्श्रेणी का घन, वह लोक है । लम्बे, चौड़े, ऊंचे सर्व लोक के प्रदेशों का प्रमाण इतना है । भावार्थ यह है - जगत्प्रतर को जगत्श्रेणी से गुणा करनेपर लोक का प्रमाण होता है ।

अब इनके अर्धच्छेद और वर्गशलाकाओं का प्रमाण कहते हैं - वहां प्रथम अद्धापल्य के अर्धच्छेद द्विरूपवर्गधारा में अद्धापल्य के स्थान से पहले असंख्यात वर्गस्थान नीचे उतरकर जो राशि हुयी, उसप्रमाण हैं । तथा अद्धापल्य की वर्गशलाका उसी द्विरूपवर्गधारा में उस पल्य ही के अर्धच्छेद स्थान से पहले असंख्यात वर्गस्थान नीचे उतरकर उपजी है ।

पुनश्च सागरोपम के अर्धच्छेद सर्वधारा में पाये जाते हैं । वे पल्य के अर्धच्छेदों में गुणकार जो दस कोडाकोडि उसके संख्यात अर्धच्छेद मिलानेपर जो प्रमाण होता है, उतने हैं । पुनश्च उसकी वर्गशलाका यहां पल्यराशि से गुणकार संख्यात ही का है, इसलिये नहीं हो सकती ।

पुनश्च सूच्यंगुल है, वह द्विरूपवर्गधारा में प्राप्त है, यह राशि विरलन, देय से उत्पन्न हुयी है, इसलिये इसके अर्धच्छेद और वर्गशलाका सर्वधारा आदि यथासंभव धाराओं में प्राप्त हैं, द्विरूपवर्गधारा आदि तीन धाराओं में प्राप्त नहीं हैं । वहां विरलन राशि पल्य के अर्धच्छेद, उनके देयराशि पल्य, उसके अर्धच्छेद से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतने तो सूच्यंगुल के अर्धच्छेद हैं । पुनश्च द्विरूपवर्गधारा में पल्यरूप स्थान से ऊपर सूच्यंगुल की विरलनराशि जो पल्य के अर्धच्छेद, उसके जितने अर्धच्छेद हैं, उतने

वर्गस्थान जाकर सूच्यंगुल स्थान उत्पन्न होता है । इसलिये पल्य की वर्गशलाका से सूच्यंगुल की वर्गशलाका का प्रमाण दो गुणा है । इसलिये पल्य तक एक बार पल्य की वर्गशलाका प्रमाण स्थान होने के पश्चात् पल्य के अर्धच्छेदों के अर्धच्छेदों का जो प्रमाण हो, वही पल्य की वर्गशलाका का प्रमाण, सो पल्य के ऊपर दूसरी बार पल्य की वर्गशलाका प्रमाण स्थान होनेपर सूच्यंगुल होता है । इसलिये दुगुणी पल्य की वर्गशलाका प्रमाण सूच्यंगुल की वर्गशलाका कही । अथवा विरलनराशि पल्य के अर्धच्छेद, उनके जो अर्धच्छेद उनमें देयराशि पल्य, उसके अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद को जोड़नेपर सूच्यंगुल की वर्गशलाका होती है । सो पल्य के अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद प्रमाण पल्य की वर्गशलाका है, वह यहां भी दुगुणी हुयी, इसप्रकार भी पल्य की वर्गशलाका से दोगुणी सूच्यंगुल की वर्गशलाका है ।

पुनश्च प्रतरांगुल है, वह द्विरूपवर्गधारा में प्राप्त है । उसकी वर्गशलाका, अर्धच्छेद यथायोग्य धाराओं में प्राप्त जानने । वहां **'वग्गादुवरिमवग्गे दुगुणा-दुगुणा हवंति अद्धछिदा'** इस सूत्र से वर्ग के ऊपर के वर्गस्थान में दोगुणे-दोगुणे अर्धच्छेद कहे, इसलिये यहां सूच्यंगुल के अर्धच्छेदों से दोगुणे प्रतरांगुल के अर्धच्छेद जानने । अथवा गुण्य और गुणकार के अर्धच्छेद जोड़नेपर राशि के अर्धच्छेद होते हैं, इसलिये यहां सूच्यंगुल गुण्य को सूच्यंगुल का गुणकार है, इसलिये दो सूच्यंगुल के अर्धच्छेद मिलानेपर भी सूच्यंगुल के अर्धच्छेदों से दोगुणा प्रतरांगुल के अर्धच्छेद होते हैं । पुनश्च **'वग्गसला रूवहिया'** इस सूत्र से वर्गशलाका ऊपर के स्थान में एक अधिक होती है, इसलिये यहां सूच्यंगुल के अनंतर प्रतरांगुल का वर्गस्थान है, इसलिये सूच्यंगुल की वर्गशलाका से एक अधिक प्रतरांगुल की वर्गशलाका है ।

पुनश्च घनांगुल है, वह द्विरूपघनधारा में प्राप्त है, यह अन्य धारा में उत्पन्न है, सो **'तिगुणा तिगुणा परट्ठाणे'** इस सूत्र से अन्य धारा के ऊपर के स्थान में तिगुणा-तिगुणा अर्धच्छेद होता है, इसलिये सूच्यंगुल के अर्धच्छेदों से तिगुणे घनांगुल के अर्धच्छेद हैं । अथवा तीन जगह सूच्यंगुल मांडकर परस्पर गुणा करनेपर घनांगुल होता है । इसलिये गुण्य-गुणकाररूप तीन सूच्यंगुल, उनके अर्धच्छेदों को जोड़नेपर भी घनांगुल के अर्धच्छेद उतने ही होते हैं । पुनश्च **'परसम'** इस सूत्र से अन्य धारा में वर्गशलाका समान होती है । इसलिये यहां द्विरूपवर्गधारा में जितनेवें स्थान में सूच्यंगुल है, उतनेवें ही स्थान में द्विरूपघनधारा में घनांगुल है । इसलिये जितनी सूच्यंगुल की

वर्गशलाका, उतनी ही घनांगुल की वर्गशलाका जानना ।

पुनश्च जगत्श्रेणी है, वह द्विरूपघनधारा में प्राप्त है; सो इसके अर्धच्छेद, वर्गशलाका अन्य धारा में उपजते हैं । वहां **'विरलज्जमाणरासिं दिण्णस्सद्धछिदीहिं संगुणिदे लद्धछेदा होंति'** इस सूत्र से विरलनरूप राशि को देयराशि के अर्धच्छेदों से गुणा करनेपर लब्धराशि के अर्धच्छेद होते हैं । इसलिये यहां विरलनराशि पल्य के अर्धच्छेदों का असंख्यातवां भाग, उसको देयराशि घनांगुल, उसके अर्धच्छेदों से गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतने जगत्श्रेणी के अर्धच्छेद हैं । पुनश्च दुगुणे जघन्य परीतासंख्यात का भाग अद्धापल्य की वर्गशलाका को देनेपर जो प्रमाण होता है, उतने विरलनराशि के अर्धच्छेद हैं । उसको देयराशि घनांगुल, उसकी वर्गशलाका में जोड़नेपर जो प्रमाण होता है, उतनी जगत्श्रेणी की वर्गशलाका है । अथवा जगत्श्रेणी में देयराशि घनांगुल, उसरूप द्विरूपघनधारा के स्थान से ऊपर विरलनराशि पल्य के अर्धच्छेदों का असंख्यातवां भाग, उसके जितने अर्धच्छेद हो, उतने वर्गस्थान जाकर जगत्श्रेणीरूप स्थान उत्पन्न होता है । इसलिये भी जगत्श्रेणी की वर्गशलाका पूर्वोक्त प्रमाण जाननी ।

जगत्श्रेणी में विरलनराशि का प्रमाण कितना है ? वह कहते हैं - अद्धापल्य की जो अर्धच्छेदराशि, उसका प्रथम वर्गमूल, द्वितीय वर्गमूल इत्यादि क्रम से दुगुणे जघन्य परीतासंख्यात के जितने अर्धच्छेद होते हैं, उतने वर्गमूल करने, सो द्विरूपवर्गधारा के स्थानों में पल्य के अर्धच्छेदरूप स्थान से नीचे उतने स्थान आकर अंत में जो वर्गमूलरूप स्थान होगा, उसके अर्धच्छेद दुगुणे जघन्य परीतासंख्यात का भाग पल्य की वर्गशलाका को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना है । पुनश्च **'तम्मित्तदुगे गुणरासी'** इस सूत्र से अर्धच्छेदों का जितना प्रमाण तितनी बार दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर राशि होती है, यहां पल्य की वर्गशलाका का प्रमाण भाज्य है, उतनी बार दो मांडकर परस्पर गुणा करे तो पल्य की अर्धच्छेदराशि होती है; और दुगुणा जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण भागहार है, उतनी बार दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर यथासंभव असंख्यात होगा । इसतरह उस अंतिम वर्गमूल का प्रमाण पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागप्रमाण जानना, वही यहां जगत्श्रेणी में विरलनराशि है ।

पुनश्च जगत्प्रतर है, वह द्विरूपघनधारा में प्राप्त है, सो इसके अर्धच्छेद, वर्गशलाका अन्य धाराओं में प्राप्त जानने । वहां जगत्श्रेणी के अर्धच्छेदों से दुगुणे जगत्प्रतर के अर्धच्छेद हैं । **'वग्गसला रूवहिया'** इस सूत्र से जगत्श्रेणी की वर्गशलाका से

जगत्प्रतर की वर्गशलाका एक अधिक है ।

पुनश्च घनरूप लोक, वह द्विरूपघनाघनधारा में उपजता है । वहां **'तिगुणा तिगुणा परट्ठाणे'** इस सूत्र से द्विरूपघनधारा में प्राप्त जो जगत्श्रेणी उसके अर्धच्छेदों से लोक (जगत्घन) के अर्धच्छेद तिगुणे जानने । अथवा तीन जगह जगत्श्रेणी मांडकर परस्पर गुणा करनेपर लोक होता है, सो गुण्य-गुणकार तीन जगत्श्रेणी के अर्धच्छेद जोड़नेपर भी, उतने ही लोक के अर्धच्छेद होते हैं । पुनश्च **'परसम'** इस सूत्र से जगत्श्रेणी की वर्गशलाका मात्र ही लोक की वर्गशलाका है । यहां प्रयोजनरूप गाथा सूत्र कहते हैं । कहा ही है -

गुणयारद्धच्छेदा गुणिज्जमाणस्स अद्धच्छेदजुदा ।
लद्धस्सद्धच्छेदा अहियस्सच्छेदणा णत्थि ।।

इसका अर्थ - गुणकार के अर्धच्छेद गुण्यराशि के अर्धच्छेद सहित जोड़नेपर लब्धराशि के अर्धच्छेद होते हैं । जैसे, गुणकार आठ, उसके अर्धच्छेद तीन और गुण्य सोलह, उसके अर्धच्छेद चार, इनको जोड़नेपर लब्धराशि एक सौ अट्ठाइस के अर्धच्छेद सात होते हैं । इसीतरह गुणकार दस कोडाकोडि के अर्धच्छेद संख्यात और गुण्यराशि पल्य के अर्धच्छेद इनको जोड़नेपर लब्धराशि सागर के अर्धच्छेद होते हैं। तथा अधिक के छेद नहीं हैं, क्यों ? वह कहते हैं - अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद प्रमाण वर्गशलाका होती है । सो यहां पल्य के अर्धच्छेदों से सागर के अर्धच्छेद संख्यात से अधिक हैं । इन अधिक अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद होंगे परंतु वर्गशलाकारूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं है, इसलिये अधिक के अर्धच्छेद नहीं करने, ऐसा कहा, इसीलिये सागर की वर्गशलाका का अभाव है । कहा ही है -

भज्जस्सद्धछेदा हारद्धछेदणाहि परिहीणा ।
अद्धच्छेदसलागा लद्धस्स हवंति सव्वत्थ ।।

अर्थ - भाज्यराशि के अर्धच्छेद भागहार राशि के अर्धच्छेदों से हीन करनेपर लब्धराशि की अर्धच्छेदशलाका सर्वत्र होती है । जैसे, एक सौ अट्ठाइस भाज्य के अर्धच्छेद सात, इनमें से भागहार आठ के तीन अर्धच्छेद घटानेपर लब्धराशि सोलह के अर्धच्छेद चार आते हैं, ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

विरलज्जमाणरासिं दिण्णस्सद्धच्छिदीहिं संगुणिदे ।
अद्धच्छेदा होंति हु सव्वत्थुप्पण्णरासिस्स ।।

अर्थ – विरलनराशि को देयराशि के अर्धच्छेदों से गुणित करनेपर उत्पन्न राशि के अर्धच्छेद सर्वत्र होते हैं । जैसे, विरलनराशि चार, उसको देयराशि सोलह के अर्धच्छेद चार से गुणित करनेपर उत्पन्न राशि पणट्ठी के अर्धच्छेद सोलह होते हैं । इसीतरह यहां भी पल्य के अर्धच्छेद प्रमाण विरलनराशि को देयराशि पल्य, उसके अर्धच्छेदों से गुणित करनेपर उत्पन्न राशि सूच्यंगुल के अर्धच्छेद होते हैं । ऐसे ही अन्यत्र जानना।

विरलिदराशिच्छेदा दिण्णद्धच्छेदच्छेदसंमिलिदा ।
वग्गसलागपमाणं होंति समुप्पण्णरासिस्स ।।

अर्थ – विरलनराशि के अर्धच्छेद देयराशि के अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद सहित जोड़नेपर उत्पन्न राशि की वर्गशलाका का प्रमाण होता है। जैसे, विरलनराशि चार के अर्धच्छेद दो और देयराशि सोलह के अर्धच्छेद चार, उसके अर्धच्छेद दो, इनको मिलानेपर उत्पन्न राशि पणट्ठी की वर्गशलाका चार होती है । इसीतरह विरलनराशि पल्य के अर्धच्छेद, उनके अर्धच्छेद, उनमें देयराशि पल्य, उसके अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद मिलानेपर उत्पन्न राशि सूच्यंगुल की वर्गशलाका का प्रमाण होता है । ऐसे ही अन्यत्र जानना।

दुगुणपरित्तासंखेणवहरिदद्धारपल्लवग्गसला ।
बिंदंगुलवग्गसला सहिया सेढिस्स वग्गसला ।।

अर्थ – दुगुणे जघन्य परीतासंख्यात का भाग अद्धापल्य की वर्गशलाका को देनेपर जो प्रमाण आता है, उससे संयुक्त घनांगुल की वर्गशलाका का जो प्रमाण, उतनी जगत्श्रेणी की वर्गशलाका होती है ।

विरलिदरासीदो पुण जेत्तियमेत्ताणि अहियरूवाणि ।
तेसिं अण्णोण्णहदी गुणयारो लद्धरासिस्स ।।

अर्थ – विरलनराशि से जितने अधिक रूप होते हैं, उनका परस्पर गुणन करनेपर लब्धराशि का गुणकार होता है । जैसे, चार अर्धच्छेदरूप विरलनराशि और तीन अर्धच्छेद अधिक राशि, वहां विरलनराशि के अर्धच्छेद प्रमाण दो लिखकर परस्पर गुणा करनेपर २×२×२×२=१६ सोलह लब्धराशि आती है । और अधिक राशि तीन अर्धच्छेद प्रमाण

दो लिखकर २×२×२ परस्पर गुणा करनेपर आठ गुणकार होता है, सो लब्धराशि को गुणकार से गुणा करनेपर सात अर्धच्छेद जिसके है, ऐसी एक सौ अट्ठाइस राशि होती है । इसीतरह पल्य के अर्धच्छेद प्रमाण विरलनराशि, इतनी बार दो लिखकर परस्पर गुणा करनेपर लब्धराशि पल्य होती है और अधिक राशि संख्यात अर्धच्छेद, इतनी बार दो लिखकर परस्पर गुणा करनेपर दस कोडाकोडि गुणकार होता है । पल्य को दस कोडाकोडि से गुणा करनेपर सागर का प्रमाण होता है । ऐसे ही अन्यत्र जानना।

विरलिदरासीदो पुण जेत्तियमेत्ताणि हीणरूवाणि ।
तेसिं अण्णोण्णहदी हारो उप्पण्णरासिस्स ।।

अर्थ – विरलनराशि से जितने हीन रूप होते हैं, उनका परस्पर गुणन करनेपर उत्पन्न राशि का भागहार होता है । जैसे विरलनराशि अर्धच्छेद सात और हीनरूप अर्धच्छेद तीन, वहां विरलनराशि मात्र दो लिखकर २×२×२×२×२×२×२ परस्पर गुणा करनेपर एक सौ अट्ठाइस उत्पन्न राशि है । पुनश्च हीनरूप प्रमाण दो लिखकर २×२×२ परस्पर गुणा करनेपर आठ भागहारराशि होती है, सो उत्पन्न राशि को भागहाररूप राशि का भाग देनेपर चार अर्धच्छेद जिसके पाये जाते हैं ऐसा सोलह होता है, ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

इसतरह मान का वर्णन किया । इसप्रकार मान के भेदों द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का प्रमाण करते हैं ।

जहां द्रव्य का प्रमाण हो, वहां उतने पदार्थ जुदे जुदे जानने । तथा जहां क्षेत्र का प्रमाण हो, वहां उतने प्रदेश जानने । जहां काल का प्रमाण हो वहां उतने समय जानने । जहां भाव का प्रमाण हो, वहां उतने अविभागप्रतिच्छेद जानने ।

यहां दृष्टांत कहते हैं – जैसे, हजार मनुष्य हैं कहते हैं वहां वे हजार जुदे-जुदे जानना, वैसे द्रव्यप्रमाण में जुदे-जुदे पदार्थ प्रमाण जानना ।

पुनश्च जैसे, यह वस्त्र बीस हाथ है कहते हैं, वहां उस वस्त्र में बीस अंश जुदे-जुदे नहीं हैं, परंतु एक हाथ जितना क्षेत्र रोकता है, उसकी कल्पना करके बीस हाथ कहते हैं । उसीप्रकार क्षेत्रप्रमाण में परमाणु जितना क्षेत्र रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं, उसकी कल्पना करके क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं ।

पुनश्च जैसे एक वर्ष के तीन सौ छासठ दिन-रात्रि कहते हैं, वहां अखंडित काल

प्रवाह में अंश नहीं हैं, परंतु सूर्य के उदय-अस्त की अपेक्षा कल्पना करके कहते हैं । वैसे काल प्रमाण में जितने काल में परमाणु मंद गति से एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जाता है, उस काल को समय कहते हैं । उस अपेक्षा कल्पना करके काल का प्रमाण कहते हैं ।

पुनश्च जैसे यह सोलह वान का (सोलह टंच) सोना है कहते हैं, वहां उस सोने में सोलह अंश नहीं हैं, तथापि एक वान में सोने में जैसे वर्णादिक पाये जाते हैं उनकी अपेक्षा कल्पना करके कहते हैं । वैसे भावप्रमाण में केवलज्ञानगम्य अतिसूक्ष्म जिसका दूसरा भाग न हो सके ऐसा कोई शक्ति का अंश उसको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं उसकी कल्पना करके भाव का प्रमाण कहते हैं । मुख्य प्रमाण तो ऐसा जानना, विशेष जैसा विवक्षित हो वैसा जानना ।

पुनश्च जहां क्षेत्र प्रमाण में आवली का प्रमाण कहते हैं, वहां आवली के जितने समय होते हैं, उतने वहां प्रदेश जानना ।

पुनश्च काल प्रमाण में जहां लोकप्रमाण कहते हैं, वहां लोक के जितने प्रदेश होते हैं, उतने समय जानने; इत्यादि ऐसा जानना । तथा जहां संख्यात, असंख्यात, अनंत कहते हैं, वहां उनका भेद यथायोग्य जानना ।

सर्व भेद कहने में नहीं आते, ज्ञानगम्य हैं, इसलिये किस रीति से कहना ? परंतु जैसे, जगत में कहते हैं इसके पास लाखों रुपये हैं, वहां ऐसा जानना कि करोड़ों नहीं हैं, हजारों नहीं हैं; वैसे, हीनाधिक भाव से स्थूलपने प्रमाण जानना, सूक्ष्मपने प्रमाण ज्ञानगम्य है । इसप्रकार इस ग्रंथ में जहां-वहां मान का प्रयोजन जानकर मान का वर्णन किया है ।

अब पर्याप्ति प्ररूपणा का प्रारम्भ करते हुये प्रथम ही दृष्टांतपूर्वक जीवों की उन पर्याप्तियों द्वारा पूर्णता-अपूर्णता दिखाते हैं -

जह पुण्णापुण्णाइं गिहघडवत्थादियाइं दव्वाइं ।
तह पुण्णिदरा जीवा पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा ।।११८।।

यथा पूर्णापूर्णानि गृहघटवस्त्रादिकानि द्रव्याणि ।
तथा पूर्णेतरा जीवाः पर्याप्तेतरा मंतव्याः ।।११८।।

टीका – जिसतरह जगत में गृह, घट, वस्त्र इत्यादि पदार्थ व्यंजनपर्यायरूप, पूर्ण और अपूर्ण दिखायी देते हैं; जो अपने कार्यरूप शक्ति से सम्पूर्ण हुये हैं उन्हें पूर्ण कहते हैं । तथा जिनका प्रारम्भ होकर कुछ हुये, कुछ नहीं हुये वे अपने कार्यरूप शक्ति से सम्पूर्ण नहीं हुये, उनको अपूर्ण कहते हैं ।

इसतरह पर्याप्त, अपर्याप्त नामक नामकर्म की प्रकृति के उदय से संयुक्त जीव भी अपनी-अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण और अपूर्ण होते हैं । जो सर्व पर्याप्तियों की शक्ति से सम्पूर्ण होते हैं, वे पूर्ण कहलाते हैं । तथा जो सर्व पर्याप्तियों की शक्ति से पूर्ण नहीं होते, वे अपूर्ण कहलाते हैं ।

आगे वे पर्याप्ति कौनसी हैं ? और किसके कितनी पायी जाती हैं ? सो विशेष कहते हैं –

आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो ।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदियवियलसण्णीणं ।।११९।।

आहार शरीरेंद्रियाणि पर्याप्तः आनप्राणभाषामनांसि ।
चतस्रः पंच षडपि च एकेंद्रियविकलसंज्ञिनां ।।११९।।

टीका – १) आहारपर्याप्ति २) शरीरपर्याप्ति, ३) इन्द्रियपर्याप्ति ४) आनपान अर्थात् श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति ५) भाषापर्याप्ति ६) मनःपर्याप्ति ऐसी छह पर्याप्ति हैं । इनमें से एकेन्द्रिय के तो भाषा और मन बिना पहली चार पर्याप्ति पायी जाती हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन विकलचतुष्क के मन बिना पांच पर्याप्ति पायी जाती हैं । संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्ति पायी जाती हैं ।

वहां औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इनमें से किसी शरीररूप नामकर्म की प्रकृति का उदय होने के प्रथम समय से लेकर जो तीन शरीर और छह पर्याप्तिरूप पर्याय के परिणमने योग्य पुद्गल स्कंध, उनको खल-रस भागरूप परिणमाने की पर्याप्ति नामक नामकर्म के उदय से होनेवाली ऐसी जो आत्मा की शक्ति निपजती है, जिसतरह तिल को पेलकर खल और तेलरूप परिणमाते हैं, उसतरह किन्हीं पुद्गलों को तो खलरूप परिणमाते हैं, किन्हीं पुद्गलों को रसरूप परिणमाते हैं, ऐसी शक्ति होने को आहारपर्याप्ति कहते हैं ।

(औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से औदारिक शरीररूप परिणमने योग्य पुद्गल स्कंधों का जीव के द्वारा ग्रहण होता है । उन्हें खल-रसरूप परिणमाने की शक्ति जीव में उत्पन्न होती है । उसमें पर्याप्त नामकर्म के उदय से उस शक्ति की पूर्णता होती है । वैक्रियिकशरीर नामकर्म और आहारकशरीर नामकर्म के उदय में अपने-अपने योग्य पुद्गल स्कंधों का ग्रहण होता है । उसी प्रकार छह पर्याप्तिरूप पर्याय के परिणमने योग्य पुद्गल स्कंधों का भी ग्रहण होता है ।)

पुनश्च खल-रस भागरूप परिणत पुद्गलों में जिन्हें खलरूप परिणमाया था उन्हें तो हड्डि-चर्म(त्वचा) इत्यादि स्थिर अवयवरूप परिणमावे और जिन्हें रसरूप परिणमाया था, उन्हें रुधिर-शुक्र इत्यादि द्रव अवयवरूप परिणमावे, ऐसी जो शक्ति होती है, उसे शरीरपर्याप्ति कहते हैं ।

पुनश्च इन्द्रियरूप मति, श्रुतज्ञान और चक्षु, अचक्षु दर्शन का आवरण और वीर्यान्तराय इनके क्षयोपशम द्वारा उत्पन्न जो आत्मा के यथायोग्य द्रव्येन्द्रिय के स्थानरूप प्रदेशों से वर्णादिक ग्रहणरूप उपयोग की शक्ति, जाति नामक नामकर्म के उदय से उत्पन्न होती है, उसे इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं ।

पुनश्च तेइस जाति की वर्गणा में से आहारवर्गणारूप पुद्गल स्कंधों को श्वासोच्छ्वासरूप परिणमाने की शक्ति, श्वासोच्छ्वास नामकर्म के उदय से उत्पन्न होती है, वह श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति है ।

पुनश्च स्वर नामक नामकर्म के उदय से भाषावर्गणारूप पुद्गल स्कंधों को सत्य, असत्य, उभय, अनुभय भाषारूप परिणमाने की शक्ति उत्पन्न होती है, वह भाषापर्याप्ति है ।

पुनश्च मनोवर्गणारूप जो पुद्गल स्कंध, उनको अंगोपांग नामक नामकर्म के बल से द्रव्यमनरूप परिणमाने की शक्ति होती है । उस द्रव्यमन के आधार से मन का आवरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशमविशेष से गुण-दोष का विचार, अतीत को याद करना, अनागत में याद रखना इत्यादिरूप भावमन के परिणमाने की शक्ति होती है, उसको मनःपर्याप्ति कहते हैं । ऐसी छह पर्याप्ति जानना ।

पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं ।
अन्तोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ।।१२०।।

पर्याप्तिप्रस्थापनं युगपत्तु क्रमेण भवति निष्ठापनम् ।
अंतर्मुहूर्तकालेन अधिकक्रमास्तावदालापात् ।।१२०।।

टीका – जितनी-जितनी अपनी पर्याप्ति हो, उन सबका प्रतिष्ठापन अर्थात् प्रारंभ तो युगपत् शरीर नामकर्म के उदय के पहले समय ही होता है, परन्तु निष्ठापन अर्थात् उनकी पूर्णता अनुक्रम से होती है । निष्ठापन का काल अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त से अधिक है । तथापि उन सबका काल सामान्य आलाप *(कथन)* से अंतर्मुहूर्त ही कहते हैं।

निष्ठापन का काल किसतरह है ?

वह कहते हैं - आहारपर्याप्ति का निष्ठापन काल सबसे अल्प है, तथापि अंतर्मुहूर्तमात्र है । पुनश्च इसको संख्यात का भाग देनेपर जो काल का प्रमाण आता है, वह भी अंतर्मुहूर्त है । यह अंतर्मुहूर्त उस आहारपर्याप्ति के अंतर्मुहूर्त में मिलानेपर जो प्रमाण होता है, वह शरीरपर्याप्ति का निष्ठापन काल जानना । यह भी अंतर्मुहूर्त ही जानना । पुनश्च इसके संख्यातवें भागप्रमाण अंतर्मुहूर्त इसीमें मिलानेपर इन्द्रियपर्याप्ति का काल होता है, वह भी अंतर्मुहूर्त ही है । पुनश्च इसीके संख्यातवें भागप्रमाण अंतर्मुहूर्त इसीमें मिलानेपर श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति का काल होता है, वह भी अंतर्मुहूर्त ही है । इसतरह एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की तो ये चारों ही पर्याप्ति इस अनुक्रम से सम्पूर्ण होती हैं । पुनश्च श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति काल के संख्यातवें भागप्रमाण अंतर्मुहूर्त इसीमें मिलानेपर भाषापर्याप्ति का काल होता है, वह भी अंतर्मुहूर्त ही है । इसतरह विकलेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की ये पांच पर्याप्ति इस अनुक्रम से सम्पूर्ण होती हैं । पुनश्च भाषापर्याप्ति काल के संख्यातवें भागप्रमाण अंतर्मुहूर्त इसीमें मिलानेपर मनःपर्याप्ति का काल होता है, वह भी अंतर्मुहूर्त ही है । इसतरह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की छह पर्याप्ति इस अनुक्रम से सम्पूर्ण होती हैं । इसतरह इनका निष्ठापन काल कहा ।

आगे पर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त के काल का विभाग कहते हैं -

पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि ।
जाव शरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव ।।१२१।।

पर्याप्तस्य च उदये निजनिजपर्याप्तिनिष्ठितो भवति ।
यावत् शरीरमपूर्णं निर्वृत्यपूर्णकस्तावत् ।। १२१ ।।

टीका – पर्याप्त नामक नामकर्म का उदय होनेपर अपने-अपने एकेन्द्रिय की चार, विकलेन्द्रिय की पांच, संज्ञी पंचेन्द्रिय की छह पर्याप्तियों से '**निष्ठिताः**' अर्थात् सम्पूर्ण शक्ति युक्त होते हैं, वे ही जब तक दूसरी शरीरपर्याप्ति, उससे पूर्ण नहीं होते, तब तक एक समय कम शरीरपर्याप्ति संबंधी अंतर्मुहूर्त तक निर्वृत्तिअपर्याप्त कहलाते हैं। क्योंकि निर्वृत्ति अर्थात् शरीरपर्याप्ति की निष्पत्ति, उससे जो अपर्याप्त अर्थात् सम्पूर्ण नहीं हुये हैं, वे निर्वृत्तिअपर्याप्त कहलाते हैं ।

आगे लब्धिअपर्याप्त का स्वरूप कहते हैं –

उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि ।
अन्तोमुहुत्तमरणं लद्धिअपज्जत्तगो सो दु ।।१२२।।

उदये तु अपूर्णस्य च स्वकस्वकपर्याप्तिर्न निष्ठापयति ।
अन्तर्मुहूर्तमरणं लब्ध्यपर्याप्तकः स तु ।।१२२।।

टीका – अपर्याप्त नामक नामकर्म का उदय होनेपर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अपनी-अपनी चार, पांच, छह पर्याप्ति, उनको '**न निष्ठापयति**' अर्थात् सम्पूर्ण नहीं करते, श्वास के अठारहवें भागप्रमाण अंतर्मुहूर्त में ही मरण को प्राप्त होते हैं, वे जीव लब्धिअपर्याप्त कहलाते हैं । क्योंकि लब्धि अर्थात् अपनी-अपनी पर्याप्ति की सम्पूर्णता की योग्यता, उससे '**अपर्याप्त**' अर्थात् निष्पन्न नहीं हुये हैं, वे लब्धिअपर्याप्त कहलाते हैं ।

आगे एकेन्द्रिय से संज्ञी तक के लब्धिअपर्याप्त जीवों के निरंतर जन्म और मरण के कालप्रमाण को कहते हैं –

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठिसहस्सगाणि मरणाणि ।
अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ।।१२३।।

त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् षट्षष्टिसहस्रकानि मरणानि ।
अंतर्मुहूर्तकाले तावंतश्चैव क्षुद्रभवाः ।।१२३।।

टीका – क्षुद्रभव अर्थात् लब्धिअपर्याप्त जीव, उनके यदि बीच में पर्याप्तपना पाये बिना निरंतरपने उत्कृष्ट हो, तो अंतर्मुहूर्त काल में छासठ हजार तीन सौ छत्तीस (६६३३६) मरण होते हैं; तथा इतने ही भव अर्थात् जन्म होते हैं ।

आगे वे जन्म-मरण एकेन्द्रियादि जीवों के कितने-कितने संभवते हैं और उनके काल का प्रमाण क्या है ? उसका विशेष कहते हैं –

सीदी सट्ठी तालं वियले चउवीस होंति पच्चक्खे ।
छावट्ठिं च सहस्सा सयं च बत्तीसमेयक्खे ।।१२४।।

अशीतिः षष्टिः चत्वारिंशत् विकले चतुर्विंशतिर्भवंति पंचाक्षे ।
षट्षष्टिश्च सहस्राणि शतं च द्वात्रिंशमेकाक्षे ।।१२४।।

टीका – पूर्व में लब्धिअपर्याप्तों के निरंतर क्षुद्रभव कहे थे, उनमें से एकेन्द्रियों के छासठ हजार एक सौ बत्तीस निरंतर क्षुद्रभव होते हैं, उसे कहते हैं –

कोई एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त जीव, उस क्षुद्रभव के प्रथम समय से लेकर, श्वास के अठारहवें भाग अपनी आयुप्रमाण जीकर मरता है, पुनश्च एकेन्द्रिय होकर वहां उतनी ही आयु भोगकर, मरकर पुनश्च एकेन्द्रिय होता है । इसतरह एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के निरंतर क्षुद्रभव उत्कृष्टपने हो तो छासठ हजार एक सौ बत्तीस (६६१३२) होते हैं, अधिक नहीं होते । इसीतरह द्वीन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के अस्सी (८०) होते हैं, त्रीन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के साठ (६०) होते हैं, चतुरिन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के चालीस (४०) होते हैं, पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के चौबीस होते हैं; उनमें भी मनुष्य के आठ (८), असंज्ञी तिर्यंच के आठ (८), संज्ञी तिर्यंच के आठ (८) ऐसे पंचेन्द्रिय के चौबीस होते हैं। इसतरह लब्धिअपर्याप्तों के निरंतर क्षुद्रभवों का प्रमाण कहा ।

अब एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के निरंतर क्षुद्रभव कहे, उनकी संख्या स्वामियों की अपेक्षा कहते हैं –

पुढविदगागणिमारुद साहारणथूलसुहमपत्तेया ।
एदेसु अपुण्णेसु य एक्केक्के बार खं छक्कं ।।१२५।।

पृथ्वीदकाग्निमारुतसाधारणस्थूलसूक्ष्मप्रत्येकाः ।
एतेषु अपूर्णेषु च एकैकस्मिन् द्वादश खं षट्कम् ।।१२५।।

टीका – पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, साधारण वनस्पति – इन पांचों के सूक्ष्म तथा बादर ऐसे दस भेद हुये और एक प्रत्येक वनस्पति – इन ग्यारह लब्धिअपर्याप्तों में एक-एक भेद में बारह, शून्य, छह इन अंकों द्वारा छह हजार बारह (६०१२) निरंतर क्षुद्रभव जानने । पूर्व में एकेन्द्रिय के निरंतर क्षुद्रभव छासठ हजार एक सौ बत्तीस कहे । उनको ग्यारह का भाग देनेपर एक-एक के क्षुद्रभवों का प्रमाण छह हजार बारह आता है । इसतरह लब्धिअपर्याप्त के निरंतर क्षुद्रभव कहे वहां उनकी संख्या और काल का निर्णय करने के लिये चार प्रकार के अपवर्तन त्रैराशिक करके दिखाते हैं। त्रैराशिक का स्वरूप ग्रंथ के पीठबंध में कहा था, वहां से जानना । वही यहां दिखाते हैं – यदि एक क्षुद्रभव का काल श्वास का अठारहवां भाग होता है, तो छासठ हजार तीन सौ छत्तीस निरंतर क्षुद्रभवों का काल कितना होगा ? वहां प्रमाणराशि १, फलराशि एक श्वास का अठारहवां भाग $\frac{१}{१८}$ और इच्छाराशि छासठ हजार तीन सौ छत्तीस (६६३३६), वहां फल को इच्छा से गुणित करके प्रमाण का भाग देनेपर लब्धराशि में छत्तीस सौ पचासी और एक का त्रिभाग ३६८५ $\frac{१}{३}$ इतने श्वास हुये । ऐसा सब क्षुद्रभवों के काल का प्रमाण हुआ । यहां इतने प्रमाण अंतर्मुहूर्त जानना । क्योंकि ऐसा वचन है, कहा है –

आढ्यानलसानुपहतमनुजोच्छ्वासैस्त्रिसप्तसप्तत्रिप्रमितैः ।
आहुर्मुहूर्तमंतर्मुहूर्तमष्टाष्टवर्जितैस्त्रिभागयुतैः ।।

इसका अर्थ – सुखी, धनवान, आलसरहित, निरोगी मनुष्य के सैंतीस सौ तिहत्तर (३७७३) उश्वासों का एक मुहूर्त; वहां अट्ठासी उश्वास और एक उश्वास का तीसरा भाग हीन, घटानेपर सर्व क्षुद्रभवों का काल अंतर्मुहूर्त होता है । पुनश्च कहा ही है–

आयुरंतर्मुहूर्तः स्यादेषोऽस्याष्टादशांशकः ।
उच्छ्वासस्य जघन्यं च नृतिरश्चां लब्ध्यपूर्णके ।।

इसका अर्थ – लब्धिअपर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच की आयु एक उच्छ्वास के अठारहवें भागप्रमाण अंतर्मुहूर्त मात्र है । इसप्रकार कहे हुये उच्छ्वास के अठारहवें भाग काल का एक क्षुद्रभव होता है, तो छत्तीस सौ पचासी और एक का त्रिभाग प्रमाण उच्छ्वास के कितने क्षुद्रभव होते हैं ? यहां प्रमाणराशि $\frac{१}{१८}$, फलराशि १, इच्छाराशि ३६८५ $\frac{१}{३}$ यथोक्त करनेपर लब्धराशि छासठ हजार तीन सौ छत्तीस (६६३३६) क्षुद्रभवों का प्रमाण

आया । पुनश्च यदि छासठ हजार तीन सौ छत्तीस क्षुद्रभवों का काल छत्तीस सौ पचासी और एक का त्रिभाग इतने उच्छ्वास होता है, तो एक क्षुद्रभव का काल कितना है ? यहां प्रमाणराशि ६६३३६, फलराशि ३६८५ $\frac{१}{३}$, इच्छाराशि १, यथोक्त करने-पर लब्धराशि एक श्वास का अठारहवां भाग $\frac{१}{१८}$ एक क्षुद्रभव का काल हुआ ।

पुनश्च ३६८५ $\frac{१}{३}$ श्वास के ६६३३६ क्षुद्रभव होते हैं, तो $\frac{१}{१८}$ श्वास के कितने क्षुद्रभव होते हैं ? यहां प्रमाणराशि ३६८५ $\frac{१}{३}$, फलराशि ६६३३६, इच्छाराशि $\frac{१}{१८}$, यथोक्त करनेपर लब्धराशि १ क्षुद्रभव हुआ । यहां सर्व फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करना, प्रमाणराशि से भाग देना, तब लब्धराशि का प्रमाण आता है । इसतरह एक क्षुद्रभव का काल, समस्त क्षुद्रभव, समस्त क्षुद्रभव का काल इनको क्रम से प्रमाणराशि करने से चार प्रकार से त्रैराशिक किये हैं । और भी जगह जहां त्रैराशिक का वर्णन होगा, वहां ऐसा ही यथासंभव जानना ।

आगे समुद्घातकेवली के अपर्याप्तपने का होना कहते हैं -

पज्जत्तसरीरस्स य पज्जत्तुदयस्स कायजोगस्स ।
जोगिस्स अपुण्णत्तं अपुण्णजोगोत्ति णिद्दिट्ठं ।।१२६।।

पर्याप्तशरीरस्य च पर्याप्त्युदयस्य काययोगस्य ।
योगिनोऽपूर्णत्वमपूर्णयोगः इति निर्दिष्टम् ।।१२६।।

टीका - सम्पूर्ण परमऔदारिक शरीर जिनके पाया जाता है, पर्याप्त नामक नामकर्म के उदय से संयुक्त, काययोग के धारक - ऐसे जो सयोगकेवली भट्टारक, उनके समुद्घात करनेपर कपाट समुद्घात को करते हुये और समेटते हुये अपूर्ण काययोग कहा है । क्योंकि वहां संज्ञी पर्याप्त के समान पर्याप्तिओं का प्रारंभ करके क्रम से निष्ठापन करते हैं । इसलिये औदारिक मिश्र काययोग के धारक केवली भगवान कपाट युगल के काल में अपर्याप्तपने को प्राप्त है, ऐसा सिद्धांत में कहा है ।

आगे लब्धिअपर्याप्त आदि जीवों के गुणस्थानों के होने - न होने का विशेष कहते हैं -

लद्धिअपुण्णं मिच्छे तत्थवि विदिये चउत्थछट्ठे य ।
णिव्वत्ति अपज्जत्ती तत्थवि सेसेसु पज्जत्ती ।।१२७।।

लब्ध्यपूर्णं मिथ्यात्वे तत्रापि द्वितीये चतुर्थषष्ठे च ।
निर्वृत्यपर्याप्तिस्तत्रापि शेषेषु पर्याप्तिः ।।१२७।।

टीका – लब्धिअपर्याप्त जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही पाये जाते हैं, अन्य गुणस्थान उनके होते नहीं; क्योंकि सासादनपना आदि विशेष गुणों का उनके अभाव है । पुनश्च पहले मिथ्यादृष्टि में, दूसरे सासादन में, चौथे असंयत में, छठवें प्रमत्त में – इन चारों गुणस्थानों में निर्वृत्तिअपर्याप्त पाये जाते हैं । वहां पहले और चौथे गुणस्थान सहित तो मरकर जीव चारों गतियों में उपजते हैं और सासादन सहित मरकर नरक बिना तीन गतियों में उपजते हैं । सो इन तीनों गुणस्थानों में जन्म के प्रथम समय से लेकर जब तक औदारिक, वैक्रियिक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, तब तक अर्थात् एक समय कम शरीरपर्याप्ति के काल तक निर्वृत्तिअपर्याप्त है । पुनश्च प्रमत्त गुणस्थान में जब तक आहारक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, तब तक अर्थात् एक समय कम आहारक शरीरपर्याप्ति काल तक निर्वृत्तिअपर्याप्त है । पुनश्च इन कहे हुये चारों गुणस्थानों में और अवशेष रहे मिश्रादि सयोगी पर्यंत नौ गुणस्थानों में पर्याप्त जीव पाये जाते हैं, क्योंकि उसके कारणभूत पर्याप्त नामक नामकर्म का उदय सर्वत्र होता है ।

भावार्थ – लब्धिअपर्याप्तों का गुणस्थान एक पहला, निर्वृत्तिअपर्याप्तों के गुणस्थान चार – पहला, दूसरा, चौथा, छठवां; पर्याप्तों के गुणस्थान सर्व जानना ।

आगे अपर्याप्त काल में सासादन और असंयत गुणस्थान जहां नियम से नहीं होते, सो कहते हैं –

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं ।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ।।१२८।।

अधस्तनषट्पृथ्वीनां ज्योतिष्कवानभवनसर्वस्त्रीणाम् ।
पूर्णेतरस्मिन् न हि सम्यक्त्वं न सासनो नारकापूर्णे ।।१२८।।

टीका – नरकगति में रत्नप्रभा को छोड़कर छह पृथ्वी संबंधी नारकियों के और ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी देवों के और सभी स्त्रियां – देवांगना, मनुष्यनी, तिर्यंचनी, इनके निर्वृत्तिअपर्याप्त दशा में सम्यक्त्व नहीं पाया जाता । क्योंकि उस दशा

में सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य काल नहीं है और सम्यक्त्व सहित मरनेवाले मनुष्य और तिर्यंच वहां उपजते नहीं हैं । तथा सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर यदि जीव मिथ्यादृष्टि वा सासादन होता है, उनका वहां नरकादि में उपजने का विरोध नहीं है । पुनश्च सर्व ही सातों पृथ्वी के नारकी, उनके निर्वृत्तिअपर्याप्त दशा में सासादन गुणस्थान नहीं पाया जाता, ऐसा नियम जानना । क्योंकि नरक में उपजे हुये जीव के उस काल में सासादनपने का अभाव है ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से पर्याप्ति प्ररूपणा नामक तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।।३।।

चौथा अधिकार : प्राण प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

अभिनंदन वंदौं सदा, त्रेसठि प्रकृति खिपाय ।
जगतनमतपद पाय, जिनधर्म कह्यो सुखदाय ।।

अब प्राण प्ररूपणा का निरूपण करते हैं –

बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं ।
पाणंति जेहि जीवा पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा ।।१२९।।

बाह्यप्राणैर्यथा तथैवाभ्यंतरैः प्राणैः ।
प्राणंति यैर्जीवाः प्राणास्ते भवन्ति निर्दिष्टाः ।।१२९।।

टीका – जीव जिन अभ्यंतर भावप्राणों द्वारा 'प्राणंति' अर्थात् जीते हैं; जीवन के व्यवहार योग्य होते हैं, किसके समान ? जिसतरह जीव बाह्य द्रव्यप्राणों द्वारा जीते हैं । चूंकि 'यथा' शब्द दृष्टांतवाचक है; इसलिये जो आत्मा के भाव हैं, वे ही प्राण हैं ऐसा कहा है । इसतरह कहने से प्राण शब्द का अर्थ जानने का समर्थपना होता है, इसलिये उस प्राण का लक्षण जुदा नहीं कहा है । वहां पुद्‌गल द्रव्य से उत्पन्न जो इन्द्रियादिक, उनके प्रवर्तनरूप तो द्रव्यप्राण हैं । पुनश्च उनके कारणभूत ज्ञानावरण और वीर्यांतराय के क्षयोपशमादिक से प्रकट हुये चैतन्य उपयोग के प्रवर्तनरूप भावप्राण है।

यहां प्रश्न – पर्याप्ति और प्राण में क्या अंतर है ?

उसका समाधान – पांच इन्द्रियों के आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न ऐसे पांच इन्द्रियप्राण हैं । पुनश्च उस क्षयोपशम से पदार्थों के ग्रहण का जो समर्थपना उत्पन्न हुआ, उससे जन्म के प्रथम समय से लेकर अंतर्मुहूर्त तक निपजी ऐसी इन्द्रियपर्याप्ति है । यहां कारण-कार्य का विशेष है ।

पुनश्च मन सम्बन्धी ज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्त से प्रकट हुयी ऐसी मनोवर्गणा से उत्पन्न द्रव्यमन द्वारा निपजी हुयी जीव की जो शक्ति, वह अनुभय पदार्थों के ग्रहण से उपजी वह अंतर्मुहूर्त प्रमाण मनःपर्याप्ति काल के अंत में पूर्ण हुयी, ऐसी मनःपर्याप्ति

है । पुनश्च अनुभया पदार्थ का ग्रहण करना और अनुभया पदार्थ के ग्रहण करने का योग्यपने का होना, वह मनोप्राण है। *(ग्रहण करना = जानना)*

नोकर्मरूप शरीर के संचयरूप शक्ति की जो सम्पूर्णता, वह जीव के योग्य काल में प्राप्त हुयी भाषापर्याप्ति है, जो भाषावर्गणा का विशेष परिणमन करनेवाली है । स्वर नामक नामकर्म का उदय है निमित्त जिसका, ऐसी भाषापर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् वचन के विशेषरूप उपयोगादि का परिणमाना, उसस्वरूप वचनप्राण है ।

कायवर्गणा के अवलंबन से उत्पन्न हुयी जो आत्मा के प्रदेशों की समुच्चयरूप होने की शक्ति, वह कायबलप्राण है । खलभाग, रसभागरूप परिणत नोकर्मरूप पुद्गलों को हड्डी आदि स्थिर अवयवरूप और रुधिर आदि अस्थिर अवयवरूप परिणमाने की शक्ति का सम्पूर्ण होना, वह जीव की शरीरपर्याप्ति है ।

श्वास-उच्छ्वास निकलने की शक्ति का उत्पन्न होना, वह आनपानपर्याप्ति (श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति) है । तथा श्वासोच्छ्वास का परिणमन, वह श्वासोच्छ्वासप्राण है । इसतरह कारण-कार्य आदि के विशेष द्वारा पर्याप्ति और प्राणों में अंतर जानना ।

आगे प्राणों के भेदों को कहते हैं -

पंचवि इंदियपाणा मणवचकायेसु तिण्णि बलपाणा ।
आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ।।१३०।।

पंचापि इंद्रियप्राणाः मनोवचःकायेषु त्रयो बलप्राणाः ।
आनपानप्राणा आयुष्कप्राणेन भवंति दश प्राणाः ।।१३०।।

टीका – पांच इन्द्रियप्राण हैं - १) स्पर्शन २) रसना ३) घ्राण ४) चक्षु ५) श्रोत्र । तथा तीन बलप्राण हैं - १) मनोबल २) वचनबल ३) कायबल । तथा एक आनपान अर्थात् श्वासोच्छ्वास प्राण है । तथा एक आयुप्राण है । इसतरह प्राण दस हैं, अधिक नहीं हैं ।

आगे उन द्रव्यभाव प्राणों की उपजने की सामग्री को कहते हैं -

वीरियजुदमदिखउवसमुत्था णोइंदियेंदियेसु बला ।
देहुदये कायाणा वचीबला आउ आउदये ।।१३१।।

वीर्ययुतमतिक्षयोपशमोत्था नोइन्द्रियेषु बलाः ।
देहोदए कायानौ वचोबल आयुः आयुरुदये ।।१३१।।

टीका – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन्द्रियों से उत्पन्न पांच इन्द्रियप्राण और नोइन्द्रिय से उत्पन्न एक मनोबलप्राण, ये छहों तो मतिज्ञानावरण और वीर्यांतराय के क्षयोपशम से होते हैं । शरीर नामकर्म का उदय होनेपर कायबलप्राण और श्वासोच्छ्वास-प्राण होते हैं । शरीर नामकर्म का उदय होनेपर तथा स्वर नामकर्म का उदय होनेपर वचनबलप्राण होता है । आयुकर्म का उदय होनेपर आयुबलप्राण होता है । इसतरह प्राणों के उपजने की सामग्री कही ।

आगे ये प्राण किस-किस के पाये जाते हैं, उनके भेद कहते हैं -

इंदियकायाऊणि य पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा ।
बीइंदियादिपुण्णे वचीमणो सण्णिपुण्णेव ।।१३२।।

इन्द्रियकायायूंषि च पूर्णापूर्णेषु पूर्णके आनः ।
द्वीन्द्रियादिपूर्णे वचो मनः संज्ञिपूर्णे एव ।।१३२।।

टीका – इन्द्रियप्राण, कायबलप्राण, आयुप्राण - ये तीन प्राण पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों दशा में समान पाये जाते हैं । तथा श्वासोच्छ्वासप्राण पर्याप्त दशा में ही पाया जाता है, क्योंकि उसका कारण उच्छ्वास नामकर्म का उदय पर्याप्त काल में होता है। वचनबलप्राण द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीवों की पर्याप्त दशा में ही पाया जाता है, क्योंकि उसका कारणभूत स्वर नामकर्म का उदय अन्यत्र नहीं होता। मनबलप्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय की पर्याप्त दशा में ही पाया जाता है, क्योंकि उसका कारण वीर्यांतराय और मन आवरण का क्षयोपशम, वह अन्यत्र नहीं होता ।

आगे एकेन्द्रियादि जीवों के कितने-कितने प्राण पाये जाते हैं, वह कहते हैं-

दस सण्णीणं पाणा सेसेगुणंतिमस्स बेऊणा ।
पज्जत्तेसिदरेसु य सत्त दुगे सेसगेगूणा ।।१३३।।

दश संज्ञिनां प्राणाः शेषैकोनमंतिमस्य द्व्यूनाः ।
पर्याप्तिष्वितरेषु च सप्त द्विके शेषकैकोनाः ।।१३३।।

टीका – पहले बताया हुआ प्राणों के स्वामियों का नियम, उससे जो भेद पाये जाते हैं, उन्हें कहते हैं । संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के तो सभी दस प्राण पाये जाते हैं । तदनंतर अवशेष असंज्ञी से लेकर द्वीन्द्रिय तक के पर्याप्त जीवों के एक-एक कम प्राण पाये जाते हैं । वहां असंज्ञी के मन बिना नौ प्राण पाये जाते हैं। चतुरिन्द्रिय के मन और कर्णेन्द्रिय बिना आठ प्राण पाये जाते हैं, त्रीन्द्रिय के मन, कर्ण, चक्षु इन्द्रिय बिना सात प्राण पाये जाते हैं, द्वीन्द्रिय के मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण बिना छह प्राण पाये जाते हैं । पुनश्च अंतिम एकेन्द्रिय में द्वीन्द्रिय के प्राणों में से दो कम करना, सो मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना इन्द्रिय और वचनबल, इनके बिना एकेन्द्रिय के चार ही प्राण पाये जाते हैं । इसतरह ये प्राण पर्याप्त दशा की अपेक्षा से कहे ।

अब इतर जो अपर्याप्त दशा, उसकी अपेक्षा से कहते हैं - संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के तो सात-सात प्राण हैं । क्योंकि पर्याप्तकाल में होते हैं ऐसे श्वासोच्छ्वास, वचनबल और मनोबल ये तीन प्राण वहां नहीं होते । पुनश्च चतुरिन्द्रिय के कर्ण बिना छह पाये जाते हैं, त्रीन्द्रिय के चक्षु बिना पांच पाये जाते हैं, द्वीन्द्रिय के घ्राण बिना चार पाये जाते हैं, एकेन्द्रिय के रसना बिना तीन पाये जाते हैं, इसतरह प्राण पाये जाते हैं ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से प्राण प्ररूपणा नामक चौथा अधिकार पूर्ण हुआ ।।४।।

पांचवां अधिकार : संज्ञा प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

गुण अनंत पाए सकल, रज रहस्य अरि जीति ।
दोषरहित जगस्वामि सो, सुमति नमौं जुत प्रीति ।।

अब संज्ञा प्ररूपणा कहते हैं –

इह जाहि बाहयावि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं ।
सेवंतावि य उभये ताओ चत्तारि सण्णाओ ।।१३४।।

इह याभिर्बाधिता अपि च जीवाः प्राप्नुवंति दारुणं दुक्खं ।
सेवमाना अपि च उभयस्मिन ताश्चतस्रः संज्ञाः ।।१३४।।

टीका – आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इनके निमित्त से जो वांछा होती हैं, उन्हें चार संज्ञा कहते हैं । जिन संज्ञाओं से बाधित, पीड़ित हुये जीव संसार में विषयों का सेवन करते हुये भी, इहलोक और परलोक में उन विषयों की प्राप्ति वा अप्राप्ति होनेपर दारुण भयानक महा दुःख पाते हैं, वे चार संज्ञा जाननी । वांछा का नाम संज्ञा है। वांछा है, वह सर्व दुःख का कारण है ।

आगे आहारसंज्ञा उपजने के बाह्य, अभ्यंतर कारण कहते हैं –

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए ।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ।।१३५।।

आहारदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमकोष्ठतया ।
सातेतरोदीरणया भवति हि आहारसंज्ञा हि ।।१३५।।

टीका – विशिष्ट अन्नादिक चार प्रकार के आहार का देखना, तथा आहार को याद करना, कथा सुनना इत्यादि उपयोग का होना, कोठा अर्थात् उदर – पेट खाली होना अर्थात् क्षुधा का होना ये तो बाह्य कारण हैं । तथा असातावेदनीय कर्म का तीव्र उदय होना वा उदीरणा होनी अंतरंग कारण है । इन कारणों से आहारसंज्ञा होती है । आहार अर्थात् अन्नादिक, उनमें संज्ञा अर्थात् वांछा, वह आहारसंज्ञा जाननी।

आगे भयसंज्ञा उपजने के कारण कहते हैं –

अइभीमदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए ।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं ।।१३६।।

अतिभीमदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमसत्वेन ।
भयकर्मोदीरणया भयसंज्ञा जायते चतुर्भिः ।।१३६।।

टीका – अतिभयकारी व्याघ्र आदि वा क्रूर मृगादिक वा भूतादिक को देखना या उनकी कथादिक का सुनना या उनको याद करना इत्यादि उपयोग का होना तथा अपनी हीन शक्ति का होना ये तो बाह्य कारण हैं । तथा भय नोकषायरूप मोहकर्म, उसका तीव्र उदय होना अंतरंग कारण है । इन कारणों से भयसंज्ञा होती है । भय से उत्पन्न हुयी, जो भाग जाना, छिप जाना आदिरूप वांछा, वह भयसंज्ञा जानना ।

आगे मैथुनसंज्ञा उपजने के कारण कहते हैं –

पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए मेहुसण्णा हवदि एवं ।।१३७।।

प्रणीतरसभोजनेन च तस्योपयोगे कुशीलसेवया ।
वेदस्योदीरणया मैथुनसंज्ञा भवति एवं ।।१३७।।

टीका – वृष्य जो कामोत्पादक गरिष्ठ भोजन, उसको खाना और कामकथा को सुनना और भोगे हुये कामविषयादिक को याद करना इत्यादिरूप उपयोग होना, कुशीलवान कामी पुरुषों के साथ संगति करना, गोष्ठी करना ये तो बाह्य कारण हैं। पुनश्च स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदों में से किसी भी वेदरूप नोकषाय की उदीरणा वह अंतरंग कारण है । इन कारणों से मैथुनसंज्ञा होती है । मैथुन जो कामसेवनरूप स्त्री–पुरुष का युगल सम्बन्धी कर्म, उसमें वांछा, मैथुनसंज्ञा जानना ।

आगे परिग्रहसंज्ञा उपजने के कारण कहते हैं –

उवयरणदंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य ।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ।।१३८।।

उपकरणदर्शनेन च तस्योपयोगेन मूर्छिताये च ।
लोभस्योदीरणया परिग्रहे जायते संज्ञा ।।१३८।।

टीका – धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहरूप उपकरण सामग्री को देखना और उन धनादिकों की कथा सुनना, याद करना इत्यादि उपयोग होना, मूर्च्छित जो लोभी, उसको परिग्रह उपजाने में आसक्तता, उसका इस जीव के साथ सम्बन्ध होना, इत्यादि बाह्य कारण हैं । तथा लोभकषाय की उदीरणा, वह अंतरंग कारण है । इन कारणों से परिग्रहसंज्ञा होती है । परिग्रह जो धन-धान्यादिक, उनके उपजाने आदिरूप वांछा वह परिग्रहसंज्ञा जाननी ।

आगे ये संज्ञा किनके पायी जाती हैं, उनके भेद कहते हैं –

णट्ठपमाए पढमा, सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा ।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि णहि कज्जे ।।१३९।।

नष्टप्रमादे प्रथमा संज्ञा न हि तत्र कारणाभावात् ।
शेषाः कर्मास्तित्वेन उपचारेण संति न हि कार्ये ।।१३९।।

टीका – नष्ट हुये हैं प्रमाद जिनके, ऐसे जो अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती जीव, उनके प्रथम आहारसंज्ञा नहीं है । क्योंकि आहारसंज्ञा के कारणभूत जो असातावेदनीय की उदीरणा, उसकी व्युच्छित्ति प्रमत्त गुणस्थान में हुयी है; इसलिये कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव है । इसतरह प्रमादरहित जीवों के पहली संज्ञा नहीं है । पुनश्च इनके जो अवशेष तीन संज्ञा हैं, वे भी उपचार मात्र हैं; क्योंकि उन संज्ञा के कारणभूत जो कर्म, उनका उदय पाया जाता है; उस अपेक्षा से हैं । तथा वे भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञा अप्रमादी जीवों की कार्यरूप नहीं हैं ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से संज्ञा प्ररूपणा नामक पांचवां अधिकार पूर्ण हुआ ।।५।।

छठवां अधिकार : गतिमार्गणा प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

पद्मप्रभ जिनकौं भजौं, जीति घाति सब कर्म ।
गुण समूह फुनि पाय जिनि, प्रगट कियो हितधर्म ।।

आगे अरहंतदेव को नमस्काररूप मंगलपूर्वक मार्गणा महा अधिकार प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं –

धम्मगुणमग्गणाहयमोहारिबलं जिणं णमंसित्ता ।
मग्गणमहाहियारं विविहहियारं भणिस्सामो ।।१४०।।

धर्मगुणमार्गणाहतमोहारिबलं जिनं नमस्कृत्वा ।
मार्गणामहाधिकारं विविधाधिकारं भणिष्यामः ।।१४०।।

टीका – हम ग्रंथकर्ता अनेक प्रकार के गति इन्द्रियादि अधिकार संयुक्त मार्गणा महा अधिकार को कहेंगे ऐसी आचार्य ने प्रतिज्ञा की । क्या करके ? जिन जो अर्हन्त भट्टारक उन्हें नमस्कार करके । कैसे हैं जिन भगवान ? रत्नत्रय स्वरूप धर्म, वही हुआ धनुष, तथा उसका उपकारी जो ज्ञानादिक धर्म वे ही हुये गुण अर्थात् चिल्ला अर्थात् धनुष की डोरी, तथा उसके आश्रयभूत जो चौदह मार्गणा वे ही हुये मार्गण अर्थात् बाण, उसके द्वारा हता है मोहनीय कर्मरूप अरि अर्थात् वैरी का बल जिन्होंने ऐसे जिनदेव हैं ।

आगे मार्गणा शब्द की निरुक्ति सहित लक्षण कहते हैं –

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ।।१४१।।

याभिर्वा यासु वा जीवा मृग्यंते यथा तथा दृष्टाः ।
ताश्चतुर्दश जानीहि श्रुतज्ञाने मार्गणा भवंति ।।१४१।।

टीका – जैसा श्रुतज्ञान में उपदेशित हुआ है, वैसा ही जीव नामक पदार्थ जिनके द्वारा वा जिनमें जाने जाते हैं, वे चौदह मार्गणा हैं । पहले तो सामान्य अपेक्षा से

गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा इनके द्वारा त्रिलोकवर्ती समस्त जीवों का लक्षण से वा भेद से विचार किया ।

पुनश्च अब विशेषरूप गति इन्द्रियादि मार्गणा द्वारा उन्हीं का विचार करते हैं, ऐसे हे शिष्य ! तू जान । गति आदि जो मार्गणा कहते हैं वे जब एक जीव की नरकादि पर्यायों की विवक्षा लेते हैं तब तो जिन मार्गणाओं से (द्वारा) जीव जाने जाते हैं ऐसी तृतीया विभक्ति से कथन करते हैं । तथा जब एक द्रव्य प्रति पर्यायों के अधिकरण की विवक्षा 'इनमें जीव पाये जाते हैं' इसतरह लेते हैं, तब जिन मार्गणाओं में जीव जाने जाते हैं ऐसी सप्तमी से कथन करते हैं । क्योंकि विवक्षा के वश से कर्ता, कर्म आदि कारकों की प्रवृत्ति है ऐसा न्याय का सद्भाव है ।

आगे उन चौदह मार्गणाओं के नाम कहते हैं -

गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणेय ।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे ।।१४२।।

गतींद्रियेषु काये योगे वेदे कषायज्ञाने च ।
संयमदर्शनलेश्याभव्यतासम्यक्त्वसंज्ञ्याहारे ।।१४२।।

टीका - १) गति २) इन्द्रिय ३) काय ४) योग ५) वेद ६) कषाय ७) ज्ञान ८) संयम ९) दर्शन १०) लेश्या ११) भव्य १२) सम्यक्त्व १३) संज्ञी १४) आहार ऐसे ये गति आदि पद हैं । वे तृतीया विभक्ति वा सप्तमी विभक्ति के अंत सहित हैं । इसलिये गति से या गति में आदि व्याख्यान करना । सो इनसे या इनमें जीव मार्ग्यंते अर्थात् जाने जाते हैं, वे चौदह मार्गणा जिस अनुक्रम से नाम हैं, वैसे कहेंगे।

आगे उनमें आठ सांतर मार्गणा हैं, उनके स्वरूप, संख्या, विधान के निरूपण के अर्थ तीन गाथायें कहते हैं -

उवसमसुहमाहारे वेगुव्वियमिस्स णरअपज्जत्ते ।
सासणसम्मे मिस्से सांतरगा मग्गणा अट्ठ ।।१४३।।

सत्तदिणाछम्मासा वासपुधत्तं च बारसमुहुत्ता ।
पल्लासंखं तिण्हं वरमवरं एगसमयो दु ।।१४४।।

उपशमसूक्ष्माहारे वैगूर्विकमिश्रनरापर्याप्ते ।
सासनसम्यक्त्वे मिश्रे सांतरका मार्गणा अष्ट ।।१४३।।

सप्तदिनानि षण्मासा वर्षपृथक्त्वं च द्वादश मुहूर्ताः ।
पल्यासंख्यं त्रयाणां वरमवरमेकसमयस्तु ।।१४४।।

टीका – नाना जीवों की अपेक्षा विवक्षित गुणस्थान वा मार्गणास्थान को छोड़कर अन्य किसी गुणस्थान वा मार्गणास्थान में प्राप्त होकर, पुनश्च उसी विवक्षित गुणस्थान वा मार्गणास्थान को जितने काल तक प्राप्त नहीं होता, उस काल का नाम अंतर है ।

उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों का लोक में नाना जीवों की अपेक्षा अंतर सात दिन है । तीन लोक में कोई जीव उपशम सम्यक्त्वी नहीं होगा तो उत्कृष्टपने सात दिन तक नहीं होगा, पश्चात् कोई होगा ही होगा । इसीतरह सब का अंतर जानना ।

तथा सूक्ष्मसाम्पराय संयमी का उत्कृष्ट अंतर छह महिना है, पश्चात् कोई होगा ही होगा ।

आहारक और आहारकमिश्र काययोगवाले का उत्कृष्ट अंतर वर्षपृथक्त्व का है। तीन से ऊपर और नौ से नीचे पृथक्त्व संज्ञा है । इसलिये यहां तीन वर्ष से ऊपर और नौ वर्ष के नीचे अंतर जानना । पश्चात् कोई होगा ही होगा ।

वैक्रियिकमिश्र काययोगवाले का उत्कृष्ट अंतर बारह मुहूर्त का है, पश्चात् कोई होगा ही होगा ।

लब्धिअपर्याप्त मनुष्य और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव और मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव, इन तीनों का अंतर प्रत्येक का पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र जानना, पश्चात् कोई होगा ही होगा । ऐसी ये सांतर मार्गणा आठ हैं । इन सभी का जघन्य अंतर एक समय जानना ।

पढमुवसमसहिदाए विरदाविरदीए चोद्दसा दिवसा ।
विरदीए पण्णरसा विरहिदकालो दु बोधव्वो ।।१४५।।

प्रथमोपशमसहितायाः विरताविरतेश्चतुर्दश दिवसाः ।
विरतेः पंचदश विरहितकालस्तु बोद्धव्यः ।।१४५।।

टीका – विरहकाल अर्थात् उत्कृष्ट अंतर । प्रथमोपशम सम्यक्त्व से युक्त जो विरताविरत पंचम गुणस्थानवर्ती जीव, उनका अंतर चौदह दिन जानना । पुनश्च उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व संयुक्त षष्ठमादि गुणस्थानवर्ती, उनका अंतर पंद्रह दिन जानना। अथवा दूसरे सिद्धांत की अपेक्षा चौबीस दिन जानना । इसतरह नाना जीवों की अपेक्षा अंतर कहा । तथा इन मार्गणाओं का एक जीव की अपेक्षा अंतर अन्य ग्रंथ अनुसार जानना ।

यहां प्रसंग पाकर कार्यकारी जानकर, तत्त्वार्थसूत्र की टीका के अनुसार काल और अंतर का कथन करते हैं ।

वहां प्रथम **काल की अपेक्षा कथन** दो प्रकार – नाना जीव अपेक्षा और एक जीव अपेक्षा ।

वहां विवक्षित गुणस्थानों का अथवा मार्गणास्थानों में होनेवाले गुणस्थानों का सभी जीवों में से कई जीवों में जितने काल तक सद्भाव पाया जाता है, वह नाना जीवों की अपेक्षा काल जानना । और उन्हीं का विवक्षित एक जीव में जितने काल तक सद्भाव पाया जाता है, वह एक जीव अपेक्षा काल जानना ।

उनमें प्रथम **नाना जीवों की अपेक्षा काल कहते हैं,** वह सामान्य-विशेष से दो प्रकार । वहां गुणस्थानों में कहते हैं वह सामान्य और मार्गणा में कहते हैं वह विशेष जानना ।

वहां सामान्य से मिथ्यादृष्टि, असंयत, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, सयोगकेवली इनका सर्वकाल है । इनका कभी भी अभाव नहीं होता । पुनश्च सासादन का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भाग । पुनश्च मिश्र का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भाग। पुनश्च चारों उपशमश्रेणीवालों का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त । यहां जघन्य एक समय मरण की अपेक्षा कहा है । पुनश्च चारों क्षपकश्रेणीवाले और अयोगीकेवलियों का जघन्य वा उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त मात्र है।

अब विशेष से कहते हैं । वहां **गतिमार्गणा** में सातों पृथ्वियों के नारकियों में मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है । तिर्यंचगति में मिथ्यादृष्टि आदि पांच गुणस्थानों में सामान्यवत् काल है । मनुष्यगति में सासादन का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त और मिश्र का जघन्य वा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त और अन्य सर्व

गुणस्थानों में सामान्यवत् काल है । देवगति में मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है ।

इन्द्रियमार्गणा और **कायमार्गणा** में इन्द्रिय-काय अपेक्षा सर्व काल है । गुणस्थान अपेक्षा एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पांच स्थावरकाय में मिथ्यादृष्टि का सर्वकाल है और पंचेन्द्रिय तथा त्रसकाय में सर्व गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है ।

योगमार्गणा में तीनों योगों में मिथ्यादृष्टि आदि सयोगी पर्यंत का और अयोगी का सामान्यवत् काल है । विशेष इतना - मिश्र का जघन्य काल एक समय ही है। और क्षपकों का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त मात्र काल है ।

वेदमार्गणा में तीनों वेदों में और वेदरहित में मिथ्यादृष्टि आदि अनिवृत्तिकरण पर्यंत का वा ऊपर का सामान्यवत् काल है ।

कषायमार्गणा में चारों कषायों में मिथ्यादृष्ट्यादि अप्रमत्त तक का मनोयोगीवत् और दो उपशमक वा क्षपक वा केवल लोभयुक्त सूक्ष्मसाम्पराय और अकषाय, इनका सामान्यवत् काल है ।

ज्ञानमार्गणा में तीन कुज्ञान, पांच सुज्ञान इनमें अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है ।

संयममार्गणा में सात भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है।

दर्शनमार्गणा में चार भेदों में अपने-अपने स्थानों का सामान्यवत् काल है।

लेश्यारहितों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है ।

भव्यमार्गणा में दोनों भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है।

सम्यक्त्वमार्गणा में छह भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है । विशेष इतना - औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत, देशसंयत का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भाग और प्रमत्त, अप्रमत्त में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त काल है ।

संज्ञीमार्गणा में दोनों भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है।

आहारमार्गणा में आहारक में मिथ्यादृष्ट्यादि सयोगी तक का सामान्यवत् काल

है । अनाहारक में मिथ्यादृष्टि का सर्वकाल, सासादन और असंयत का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट आवली का असंख्यातवां भाग, सयोगी का जघन्य तीन समय, उत्कृष्ट संख्यात समय, अयोगी का सामान्यवत् काल है ।

अब एक जीव की अपेक्षा काल कहते हैं – वहां सामान्य से मिथ्यादृष्टि के काल में तीन भंग – अनादिअनंत, अनादिसांत, सादिसांत । वहां सादिसांत काल जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन अर्धपुद्‌गल परिवर्तन मात्र है । किंचित् हीन का नाम देशोन जानना । पुनश्च सासादन का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह आवली; मिश्र का जघन्य वा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त; पुनश्च असंयत का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट साधिक तैंतीस सागर, संयतासंयत का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन कोडिपूर्व; प्रमत्त-अप्रमत्त का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त, चारों उपशम श्रेणीवालों का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त, चारों क्षपकश्रेणीवालों और अयोगी का जघन्य तथा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त; सयोगी का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन कोडिपूर्व काल है ।

अब विशेष से कहते हैं – **गतिमार्गणा** में सातों पृथ्वियों के नारकियों में मिथ्यादृष्टि का काल जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट क्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाइस, तैंतीस सागर । सासादन, मिश्र का सामान्यवत्, असंयत का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन मिथ्यादृष्टि के उत्कृष्ट काल प्रमाण काल है ।

तिर्यंचगति में – मिथ्यादृष्टि का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट असंख्यात पुद्‌गल परिवर्तन मात्र अनंत काल है । सासादन, मिश्र, संयतासंयत का सामान्यवत्, वहां असंयत का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तीन पल्य काल है ।

(किसी गति में गुणस्थान का काल कहते हैं तब अन्य गति से इस गति में आनेपर उस गुणस्थान में कितना काल हो सकता है उसे बताते हैं । अन्य गति से तिर्यंचगति में आकर वहां मिथ्यात्व सहित रहने का उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्‌गल परिवर्तन होगा । यह जीव अनादि मिथ्यादृष्टि ही होगा । असंयत का उत्कृष्ट काल तीन पल्य कहा वह उत्तम भोगभूमि की अपेक्षा कहा है । वहां जन्म लेने के बाद सम्यक्त्व होगा तो देशोन तीन पल्य कहते । परंतु तीन पल्य तभी होगे जब सम्यक्त्व सहित जन्मे, जो क्षायिक सम्यक्त्व सहित ही होना चाहिये । जिस मनुष्य ने सम्यक्त्व होने से पहले तिर्यंचायु बांधी हो, बाद में सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया हो वही मरकर भोगभूमिवाला तिर्यंच होगा ।)

मनुष्यगति में – मिथ्यादृष्टि का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक तीन पल्य *(अंत में तीन पल्य कहा क्योंकि भोगभूमिवाले जीव मरकर नियम से देवगति में उत्पन्न होते हैं ।)* सासादन और मिश्र का सामान्यवत् । असंयत का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट साधिक तीन पल्य, अवशेष का सामान्यवत् काल है ।

देवगति में – मिथ्यादृष्टि का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट इकतीस सागर *(नौवें ग्रैवेयक में)*, सासादन और मिश्र का सामान्यवत्, असंयत का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तैंतीस सागर काल है ।

इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय का जघन्य क्षुद्रभव, उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल परिवर्तन मात्र । पुनश्च विकलत्रय का जघन्य क्षुद्रभव, उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष, पंचेन्द्रिय में मिथ्यादृष्टि का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक हजार सागर। अवशेष का सामान्यवत् काल है ।

कायमार्गणा में पृथ्वी, अप, तेज, वायु का जघन्य क्षुद्रभव, उत्कृष्ट असंख्यात लोकप्रमाण काल है । वनस्पतिकाय का एकेन्द्रियवत् काल है । त्रसकाय में मिथ्यादृष्टि का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक दो हजार सागर, अवशेष का सामान्यवत् काल है । यहां छह के ऊपर नौ के नीचे, उसका नाम पृथक्त्व जानना। और उच्छ्‌वास के (श्वास के) अठारहवें भागमात्र क्षुद्रभव जानना ।

योगमार्गणा में वचनयोग और मनोयोग में मिथ्यादृष्टि, संयत, संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, चारों उपशामक, क्षपक, सयोगी इनका जघन्य एक समय *(विवक्षित गुणस्थान में आनेपर एक समय में योग के पलटने से एक समय घटित होता है)*, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त, सासादन-मिश्र का सामान्यवत् काल है । काययोग में मिथ्यादृष्टि का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल परिवर्तन *(क्योंकि एकेन्द्रियों में काययोग के अलावा अन्य योग नहीं पाया जाता)*, अवशेष का मनोयोगवत् काल है । अयोगी में सामान्यवत् काल है ।

वेदमार्गणा में तीनों वेदों में मिथ्यादृष्टि आदि अनिवृत्तिकरण तक और अवेदियों में सामान्यवत् काल है । विशेष इतना – स्त्रीवेद में मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट काल पृथक्त्व सौ पल्य प्रमाण और असंयत का उत्कृष्ट काल देशोन पचपन पल्य है । *(स्त्रीवेद सहित मनुष्यनी, तिर्यंचनी और देवियों के भवों में मिथ्यादृष्टि का काल बताया*

है । असंयत में देवियों की उत्कृष्ट आयु पचपन पल्य होती है परंतु जन्म से कोई भी स्त्री असंयत गुणस्थान में नहीं होती । वहां जन्म के बाद सम्यक्त्व प्राप्त करेगी इसलिये देशोन पचपन पल्य कहा, तथा सम्यक्त्व के पश्चात् वह जीव पुरुषवेद सहित ही मनुष्य में जन्मेगा ।) पुनश्च पुरुषवेद में मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट काल पृथक्त्व सौ सागर प्रमाण है । और नपुंसकवेद में मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परिवर्तन मात्र है *(क्योंकि एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक एकमात्र नपुंसकवेद ही होता है)* और असंयत का उत्कृष्ट काल देशोन तैंतीस सागर काल है । *(सातवें नरक में मिथ्यात्व में ही जन्म होता है, पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करके आयु के अंतर्मुहूर्त बाकी रहनेपर मिथ्यात्व में जाकर ही मरण होता है । उसकी अपेक्षा देशोन तैंतीस सागर कहा है ।)*

कषायमार्गणा में चारों कषायों में मिथ्यादृष्टि आदि अप्रमत्त तक का मनोयोगवत् और दोनों उपशमक और क्षपक का तथा सूक्ष्म लोभ और अकषाय इनका सामान्यवत् काल है ।

ज्ञानमार्गणा में तीन कुज्ञानों में वा पांच सुज्ञानों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है । विशेष इतना - विभंगज्ञान में मिथ्यादृष्टि का काल देशोन तैंतीस सागर है ।

संयममार्गणा में सात भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है।

दर्शनमार्गणा में चारों भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है। विशेष इतना - चक्षुदर्शन में मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट काल दो हजार सागर है।

लेश्यामार्गणा में छह भेदों में और अलेश्या में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है । विशेष इतना कृष्ण, नील, कापोत में मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट काल क्रम से साधिक तैंतीस, सत्रह, सात सागर और असंयत का उत्कृष्ट काल क्रम से देशोन तैंतीस, सत्रह, सात सागर है और पीत-पद्म में मिथ्यादृष्टि और असंयत का उत्कृष्ट काल क्रम से दो, अठारह सागर है । संयतासंयत का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त काल है । पुनश्च शुक्ललेश्या में मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट काल साधिक इकतीस सागर, संयतासंयत का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त काल है । *(देवों में वही लेश्या कायम रहती है परंतु मनुष्य तिर्यंचों में किसी भी लेश्या में अधिक से अधिक रहने*

का काल अंतर्मुहूर्त ही है ।)

भव्यमार्गणा में भव्य में मिथ्यादृष्टि का अनादिसांत वा सादिसांत काल है। वहां सादिसांत जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन अर्धपुद्‌गल परिवर्तन मात्र है । अवशेष का सामान्यवत् काल है । अभव्य में अनादिअनंत काल है ।

सम्यक्त्वमार्गणा में छहों भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् काल है । विशेष इतना - उपशम सम्यक्त्व में असंयत, संयतासंयत का जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त मात्र है ।

संज्ञीमार्गणा में संज्ञी में मिथ्यादृष्टि आदि अनिवृत्तिकरण पर्यंत का पुरुषवेदवत्, अवशेष का सामान्यवत् काल है । असंज्ञी में मिथ्यादृष्टि का जघन्य क्षुद्रभव, उत्कृष्ट असंख्यात पुद्‌गलपरिवर्तन काल है । दोनों व्यपदेशरहितों *(जो संज्ञी असंज्ञीपनासे रहित है ऐसे सयोगी और अयोगी)* में सामान्यवत् काल है ।

आहारमार्गणा में आहारक मिथ्यादृष्टि का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट असंख्याता-संख्यात कल्पकाल प्रमाण जो अंगुल के असंख्यातवें भाग है, उसप्रमाण काल है । अवशेष का सामान्यवत् काल है । अनाहारक में मिथ्यादृष्टि में जघन्य एक समय उत्कृष्ट तीन समय । सासादन, असंयत का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट दो समय, सयोगी का जघन्य और उत्कृष्ट तीन समय । अयोगी का सामान्यवत् काल है ।

यहां मार्गणास्थानों में काल कहा, वहां इसतरह जानना - मार्गणा के विवक्षित भेद के काल में विवक्षित गुणस्थान का सद्भाव जितने काल तक पाया जाता है, उसका वर्णन है । मार्गणा के भेद के पलटने से या उसमें गुणस्थान के पलटने से उस काल का अभाव होता है ।

अब अंतर का निरूपण करते हैं - वह दो प्रकार से करते हैं, नाना जीवों की अपेक्षा और एक जीव की अपेक्षा । वहां विवक्षित गुणस्थानों में वा गुणस्थान की अपेक्षा सहित मार्गणास्थान में कोई भी जीव जितने काल तक नहीं पाये जाते, वह नाना जीवों की अपेक्षा अंतर जानना । पुनश्च विवक्षित स्थान में कोई जीव वर्तता था, वह जीव अन्य स्थान को प्राप्त होकर पुनश्च उसी स्थान को प्राप्त होता है, वहां बीच में जितना काल का प्रमाण हो, वह एक जीव की अपेक्षा अंतर जानना।

वहां प्रथम **नाना जीवों की अपेक्षा से अंतर** कहते हैं, वह सामान्य-विशेष से दो प्रकार । वहां सामान्य से मिथ्यादृष्टि, असंयत, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, सयोगी इनके अंतर नहीं है । सासादन और मिश्र का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भाग मात्र अंतर है । चारों उपशमकों का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पृथक्त्व वर्ष अंतर है । चारों क्षपकों का और अयोगी का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह मास अंतर है ।

पुनश्च विशेष से **गतिमार्गणा** में नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देवों में क्रम से मिथ्यादृष्ट्यादि चार, पांच, चौदह, चार गुणस्थानों में सामान्यवत् अंतर है । *(नारकी में चार, तिर्यंच में पांच, मनुष्य में चौदह और देवों में चार गुणस्थान ।)*

इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय का अंतर नहीं है । पंचेन्द्रियों में सभी गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है ।

कायमार्गणा में पांच स्थावरों का अंतर नहीं है । त्रसकाय में सर्व गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है ।

योगमार्गणा में तीनों योगों में आदि के तेरह गुणस्थानों का और अयोगी का सामान्यवत् अंतर है ।

वेदमार्गणा में तीनों वेदों में आदि के नौ गुणस्थानों का और अवेदियों का सामान्यवत् अंतर है । विशेष इतना दो क्षपकों का उत्कृष्ट अंतर स्त्री नपुंसक वेद में पृथक्त्व वर्ष मात्र और पुरुष वेद में साधिक वर्ष प्रमाण है । *(क्षपकों में ८ वें और ९ वें गुणस्थान में ही वेद है इसलिये दो क्षपक कहे ।)*

कषायमार्गणा में चार कषायों में और अकषायों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है । विशेष इतना - दो क्षपकों का उत्कृष्ट अंतर साधिक वर्ष मात्र है । *(९ वें गुणस्थान में कषाय क्रम से ४, ३, २, १ पाये जाते हैं तथा १० वें गुणस्थान में एक लोभ कषाय ही है इसलिये दो क्षपक कहे ।)*

ज्ञानमार्गणा में तीन कुज्ञान, पांच सुज्ञान में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है । विशेष इतना है - अवधि, मनःपर्ययज्ञान में क्षपकों का उत्कृष्ट अंतर साधिक वर्षमात्र है ।

संयममार्गणा में सात भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है।

दर्शनमार्गणा में चारों भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है। विशेष इतना - अवधिदर्शन में क्षपकों का अंतर साधिक वर्षमात्र है ।

लेश्यामार्गणा में छहों भेदों में और अलेश्या में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है ।

भव्यमार्गणा में दोनों भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है।

सम्यक्त्वमार्गणा में छह भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है । विशेष इतना - उपशम सम्यक्त्व में असंयतादिक का जघन्य अंतर एक समय और उत्कृष्ट अंतर असंयत का सात दिन-रात, देशसंयत का चौदह दिन-रात, प्रमत्त-अप्रमत्त का पंद्रह दिन-रात है ।

संज्ञीमार्गणा में दोनों भेदों और दोनों व्यपदेशरहितों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है ।

आहारमार्गणा में दोनों भेदों में अपने-अपने गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है। विशेष इतना - अनाहारक में असंयत का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पृथक्त्व मास।

सयोगी का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पृथक्त्व वर्षमात्र अंतर है ।

अब **एक जीव अपेक्षा से अंतर** कहते हैं, वह सामान्य-विशेष से दो प्रकार। वहां सामान्य से मिथ्यादृष्टि का अंतर जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन दुगुणा छासठ सागर । पुनश्च सासादन का जघन्य पल्य का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट देशोन अर्धपुद्गल परिवर्तन । पुनश्च मिश्र, असंयत, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, चारों उपशमक इनका जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन अर्धपुद्गल परिवर्तन । पुनश्च चारों क्षपक, सयोगी, अयोगी इनका अंतर नहीं है ।

विशेष से **गतिमार्गणा** में नारक मिथ्यादृष्टि आदि असंयत पर्यंत का जघन्य अंतर सामान्यवत् । उत्कृष्ट अंतर सात पृथ्वियों में क्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाइस, तैंतीस देशोन सागर जानना । तिर्यंचो में मिथ्यादृष्टि आदि देशसंयत पर्यंत का सामान्यवत् अंतर है । विशेष इतना - मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट अंतर देशोन तीन पल्य है । मनुष्यगति में मिथ्यादृष्टि आदि चारों उपशमक पर्यंत जघन्य अंतर सामान्यवत्।

उत्कृष्ट अंतर मिथ्यादृष्टि का तिर्यंचवत् । सासादन, मिश्र, असंयत का पृथक्त्व कोटि पूर्व अधिक तीन पल्य । देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, चारों उपशमकों का पृथक्त्व कोटि पूर्व प्रमाण है । और क्षपक, सयोगी, अयोगी का सामान्यवत् है। देव मिथ्यादृष्टि आदि असंयत पर्यंत का जघन्य अंतर सामान्यवत् । उत्कृष्ट अंतर देशोन इकतीस सागर है ।

इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय का जघन्य अंतर क्षुद्रभव, उत्कृष्ट अंतर पृथक्त्व कोडि पूर्व अधिक दो हजार सागर । विकलेन्द्रिय का जघन्य अंतर क्षुद्रभव, उत्कृष्ट अंतर असंख्यात पुद्गल परिवर्तन मात्र है । यह अंतर एकेन्द्रियादिक पर्यायों का कहा है, उनमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही है, इसलिये उसका वहां अंतर है नहीं । पंचेन्द्रिय में मिथ्यादृष्टि का सामान्यवत्, सासादनादि चारों उपशमक पर्यंत का जघन्य अंतर सामान्यवत् उत्कृष्ट अंतर पृथक्त्व कोडिपूर्व अधिक हजार सागर है । अवशेष का सामान्यवत् अंतर है।

कायमार्गणा में पृथ्वी, अप्, तेज, वायुकाय का जघन्य क्षुद्रभव, उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल परिवर्तन और वनस्पतिकाय का जघन्य क्षुद्रभव, उत्कृष्ट असंख्यात लोकमात्र अंतर है । यह अंतर पृथ्वीकायिकादि का कहा, गुणस्थान मिथ्यादृष्टि ही है, इसलिये उसका वहां अंतर है नहीं । त्रसकायिक में मिथ्यादृष्टि का सामान्यवत्, सासादनादि चारों उपशमक पर्यंत का जघन्य सामान्यवत्, उत्कृष्ट कोडिपूर्व अधिक दो हजार सागर अंतर है । अवशेष का सामान्यवत् अंतर है ।

योगमार्गणा में मन, वचन, काय योगों में होनेवाले गुणस्थानों का और अयोगी का अंतर नहीं है। क्योंकि एक ही योग में अन्य गुणस्थान को प्राप्त होकर फिर से उसी गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता ।

वेदमार्गणा में स्त्री, पुरुष, नपुंसकवेद में मिथ्यादृष्टि आदि दो उपशमक पर्यंत *(८ वां और ९ वें का सवेद भाग पर्यंत)* जघन्य अंतर सामान्यवत् है । उत्कृष्ट अंतर स्त्रीवेद में मिथ्यादृष्टि का देशोन पचपन पल्य, अन्य का पृथक्त्व सौ पल्य । पुरुषवेद में मिथ्यादृष्टि का सामान्यवत्, अन्य का पृथक्त्व सौ सागर । नपुंसकवेद में मिथ्यादृष्टि का देशोन तैंतीस सागर, अन्य का सामान्यवत् अंतर है । दो क्षपकों का सामान्यवत् अंतर है *(सामान्य से चारों ही क्षपकों का अंतर नहीं होता यह बात पहले बता चुके हैं ।)* पुनश्च वेदरहितों में (अपगतवेदियों में) उपशम अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय का

जघन्य और उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त हैं, औरौं का अंतर नहीं है। *(वेदरहित अवस्था में विवक्षित गुणस्थान छोड़कर अन्य गुणस्थान को प्राप्त होकर दुबारा उसी विवक्षित गुणस्थान में आनेपर अंतर घटित होता है । सो वेदरहित ९ वां और १० वां गुणस्थान से छूटकर श्रेणी चढ़कर उतरनेवाले उपशमकों में दुबारा १० वां और ९ वां गुणस्थान प्राप्त होनेपर अंतर घटित होता है । क्षपक श्रेणीवाले ऊपर चढ़कर वापस उसी गुणस्थान में लौटते नहीं । इसलिये चारों क्षपक, सयोगी, अयोगी में अंतर नहीं होता ।)*

कषायमार्गणा में क्रोध, मान, माया, लोभ में मिथ्यादृष्ट्यादि उपशम अनिवृत्तिकरण पर्यंत का मनोयोगवत्, दो क्षपकों का और मात्र लोभ में सूक्ष्मसाम्पराय के उपशमक और क्षपक का और अकषाय में उपशांत कषाय आदि (क्षीणकषाय, सयोगी, अयोगी) का अंतर नहीं है । *(वेदमार्गणा में अवेदी रहते हुये वापस ९ वें, १० वें गुणस्थान को प्राप्त होता है इसलिये अंतर घटित होता है । परंतु कषायमार्गणा में कषाय से अकषाय होता है इसलिये वहां अंतर घटित नहीं होता ।)*

ज्ञानमार्गणा में कुमति, कुश्रुत, विभंग में मिथ्यादृष्टि, सासादन का अंतर नहीं। मति, श्रुत, अवधि में असंयत का अंतर जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन कोडिपूर्व। देशसंयत का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट साधिक छासठ सागर । प्रमत्त-अप्रमत्त का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट साधिक तैंतीस सागर । चार उपशमकों का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट साधिक छासठ सागर । चार क्षपकों का सामान्यवत् अंतर है । पुनश्च मनःपर्यय में प्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यंत का सामान्यवत् अंतर है । विशेष इतना - प्रमत्त-अप्रमत्त का अंतर्मुहूर्त, चार उपशमकों का देशोन कोडिपूर्व प्रमाण उत्कृष्ट अंतर है । पुनश्च केवलज्ञान में सयोगी, अयोगी का सामान्यवत् अंतर है ।

संयममार्गणा में सामायिक, छेदोपस्थापना में प्रमत्त-अप्रमत्त का जघन्य और उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त है । दो उपशमकों का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन कोडिपूर्व और दो क्षपकों का सामान्यवत् अंतर है । परिहारविशुद्धि में प्रमत्त-अप्रमत्त में जघन्य और उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त है । सूक्ष्मसाम्पराय में उपशमक और क्षपक का और यथाख्यातसंयम में उपशांत कषायादिक का और संयतासंयत में देशसंयत का अंतर नहीं है । असंयम में मिथ्यादृष्टि का जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन तैंतीस सागर । सासादन, मिश्र, असंयत का सामान्यवत् अंतर है ।

दर्शनमार्गणा में चक्षु, अचक्षु दर्शन में मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय पर्यंत का सामान्यवत् अंतर है । विशेष इतना - चक्षुदर्शन में सासादनादि चार उपशमक पर्यंत का उत्कृष्ट अंतर देशोन दो हजार सागर है । अवधिदर्शन में अवधिज्ञानवत् अंतर है। केवलदर्शन में सयोगी, अयोगी का अंतर नहीं है ।

लेश्यामार्गणा में कृष्ण, नील, कापोत में मिथ्यादृष्टि आदि असंयत पर्यंत का जघन्य अंतर सामान्यवत् है । उत्कृष्ट अंतर क्रम से देशोन तैंतीस, सत्रह और सात सागर प्रमाण है । पीत, पद्म में मिथ्यादृष्टि आदि असंयत पर्यंत का जघन्य अंतर सामान्यवत्, उत्कृष्ट अंतर क्रम से साधिक दो और अठारह सागर है । देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त का अंतर नहीं है । शुक्ल लेश्या में मिथ्यादृष्टि आदि असंयत पर्यंत का जघन्य अंतर सामान्यवत् है, उत्कृष्ट अंतर देशोन इकतीस सागर है । देशसंयत, प्रमत्त का अंतर नहीं है । अप्रमत्त, तीन उपशमक का जघन्य और उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त है । उपशांतकषाय, चार क्षपक, सयोगी इनका अंतर नहीं है । अलेश्या में अयोगी का अंतर नहीं है ।

भव्यमार्गणा में भव्य में सर्व गुणस्थानों का सामान्यवत् अंतर है । अभव्य में मिथ्यादृष्टि का अंतर नहीं है ।

सम्यक्त्वमार्गणा में क्षायिक सम्यक्त्व में असंयतादि चार उपशमक पर्यंत का जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट असंयत का देशोन कोडिपूर्व, औरौं का साधिक तैंतीस सागर अंतर है । चार क्षपक, सयोगी, अयोगी का अंतर नहीं है । क्षायोपशमिक में असंयतादि अप्रमत्त पर्यंत का जघन्य अंतर्मुहूर्त उत्कृष्ट असंयत का देशोन कोडिपूर्व, देशसंयत का देशोन छासठ सागर, प्रमत्त-अप्रमत्त का साधिक तैंतीस सागर अंतर है। औपशमिक में असंयतादि तीन उपशमक पर्यंत जघन्य और उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त मात्र है । उपशांतकषाय का अंतर नहीं है । मिश्र, सासादन, मिथ्यादृष्टि में अपने-अपने गुणस्थानों का अंतर नहीं है ।

संज्ञीमार्गणा में संज्ञी में मिथ्यादृष्टि का सामान्यवत्, सासादनादि चार उपशमक पर्यंत का जघन्य अंतर सामान्यवत्, उत्कृष्ट पृथक्त्व सौ सागर, चार क्षपक का सामान्यवत् अंतर है । असंज्ञी में मिथ्यादृष्टि में अंतर नहीं है । उभयरहित में सयोगी, अयोगी का अंतर नहीं है ।

आहारमार्गणा में आहारक मिथ्यादृष्टि का सामान्यवत्, सासादनादि चार उपशमक पर्यंत का जघन्य सामान्यवत्, उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात कल्पकालमात्र सूच्यंगुल का असंख्यातवां भाग अंतर है । चार क्षपक, सयोगी का अंतर नहीं है । अनाहारक में मिथ्यादृष्टि, सासादन, असंयत, सयोगी, अयोगी का अंतर नहीं है ।

यहां मार्गणास्थान में अंतर कहा है, वहां ऐसा जानना - विवक्षित मार्गणा के भेद के काल में विवक्षित गुणस्थान का अंतराल जितने काल तक पाया जाता है, उसका वर्णन है । मार्गणा के भेद के पलटने पर अथवा मार्गणा के भेद का सद्भाव होते हुये विवक्षित गुणस्थान का अंतराल हुआ था उसकी पुनश्च प्राप्ति होनेपर, उस अंतराल का अभाव होता है । इसतरह प्रसंग पाकर काल का और अंतर का कथन किया है, वह जानना ।

आगे इन चौदह मार्गणाओं में गतिमार्गणा के स्वरूप को कहते हैं -

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई ।
णारयतिरिक्खमाणुस देवगइ त्ति य हवे चदुधा ।।१४६।।

गत्युदयजपर्यायः चतुर्गतिगमनस्य हेतुर्वा हि गतिः ।
नारकतिर्यग्मानुषदेवगतिरिति च भवेत् चतुर्धा ।।१४६।।

टीका - गम्यते अर्थात् गमन करे वह गति है ।

यहां तर्क - यदि ऐसा कहेंगे, तो गमन क्रियारूप परिणत जीव के पाने योग्य द्रव्यादिक को भी गति कहना संभवता है ।

उसका समाधान - ऐसा नहीं है, गति नामक नामकर्म के उदय से जो जीव की पर्याय उत्पन्न हुयी, उसी को गति कहते हैं । वह गति चार प्रकार की है - १) नारकगति, २) तिर्यंचगति, ३) मनुष्यगति, ४) देवगति ये चार गति हैं ।

आगे नारकगति का कथन करते हैं -

ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य कालभावे य ।
अण्णोण्णेहिं य जह्मा तह्मा ते णारया भणिया ।।१४७।।

न रमंते यतो नित्यं द्रव्य क्षेत्रे च कालभावे च ।
अन्योन्यैश्च यस्मात्तस्मात्ते नारता (का) भणिताः ।।१४७।।

टीका – जिसकारण से जो जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अथवा परस्पर में रमते नहीं हैं – जहां क्रीडा नहीं करते, वहां नरक सम्बन्धी अन्न-पानादिक वस्तु, उसे द्रव्य कहते हैं । पुनश्च वहां की पृथ्वी, उसे क्षेत्र कहते हैं । पुनश्च उस गति संबंधी प्रथम समय से लेकर अपनी आयु पर्यंत का जो काल, उसे काल कहते हैं। उन जीवों के चैतन्यरूप परिणाम, उन्हें भाव कहते हैं । इन चारों में जो कभी भी रति नहीं मानते । पुनश्च अन्य भव संबंधी वैर द्वारा इस भव में उत्पन्न क्रोधादिक, उनके कारण नवीन-पुराने नारकी परस्पर में रमते नहीं है । रति अर्थात् प्रीतिरूप होना, उसकारण कभी भी 'न रताः' अर्थात् नरत, वे ही नारत जानना । क्योंकि स्वार्थ में अण् प्रत्यय का विधान है, उनकी जो गति, वह नारतगति जानना । अथवा नरक में उपजते हैं वे नारक, उनकी जो गति वह नारकगति जानना । अथवा हिंसादिक आचरण में निरता अर्थात् प्रवर्तन करते हैं ऐसे जो निरत, उनकी जो गति, वह निरतगति जानना । अथवा नर अर्थात् प्राणी, उनको कायति अर्थात् पीड़ा-दुःख देते हैं ऐसे जो नरक अर्थात् पापकर्म उसका अपत्य अर्थात् उसके उदय से उत्पन्न जो नारक, उनकी जो गति, वह नारकगति जानना । अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों में और परस्पर में रत अर्थात् प्रीतिरूप नहीं हैं, वे नरत, उनकी जो गति वह नरतगति जानना। निर्गत अर्थात् गया है अयः अर्थात् पुण्यकर्म जिनसे, ऐसे जो निरय, उनकी जो गति, वह निरयगति जानना । इसतरह निरुक्ति से नारकगति का लक्षण कहा ।

आगे तिर्यंचगति का स्वरूप कहते हैं –

तिरियंति कुडिलभावं सुविउलसंण्णा णिगिट्ठिमण्णाणा ।
अच्चंतपावबहुला तह्मा तेरिच्छया भणिया ।।१४८।।

तिरोंचंति कुटिलभावं सुविवृतसंज्ञा निकृष्टमज्ञानाः ।
अत्यंतपापबहुलास्तस्मात्तैरश्चिका　　　भणिताः ।।१४८।।

टीका – जिसकारण जो जीव, **सुविवृतसंज्ञाः** अर्थात् प्रकट है आहारादि संज्ञा जिनके, ऐसे हैं । पुनश्च प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धता इत्यादि से हीन हैं, इसलिये निकृष्ट हैं । पुनश्च हेयोपादेय के ज्ञान से रहित हैं इसलिये अज्ञान हैं । पुनश्च

नित्य निगोद की अपेक्षा अत्यंत पाप की है बहुलता जिनके, ऐसे हैं, उसकारण तिरोभाव, जो कुटिलभाव, मायारूप परिणाम उसे अंचंति अर्थात् प्राप्त होते हैं, वे तिर्यंच कहलाते हैं । पुनश्च तिर्यंच ही **तैरश्च** कहलाते हैं । यहां स्वार्थ में अण् प्रत्यय का विधान होता है । ऐसी जो तिर्यक् पर्याय, वही तिर्यक् गति है, ऐसा कहा है ।

आगे मनुष्यगति का स्वरूप कहते हैं -

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जह्मा ।
मण्णुब्भवा य सव्वे तह्मा ते माणुसा भणिदा ।।१४९।।

मन्यंते यतो नित्यं मनसा निपुणा मनसोत्कटा यस्मात् ।
मनोरुद्भवाश्च सर्वे तस्मात्ते मानुषा भणिताः ।।१४९।।

टीका - जिसकारण जो जीव नित्य ही **मन्यंते** अर्थात् हेयोपादेय के विशेष को जानते हैं । अथवा **मनसा निपुणाः** अर्थात् शिल्प आदि अनेक कलाओं में प्रवीण हैं । अथवा '**मनसोत्कटाः**' अर्थात् अवधारणा आदि दृढ़ उपयोग के धारी हैं । अथवा '**मनोरुद्भवाः**' अर्थात् कुलकर आदिकों से उत्पन्न हुये हैं, उसकारण वे जीव सर्व ही मनुष्य हैं ऐसा आगम में कहा हैं ।

आगे तिर्यंच, मनुष्य गति के जीवों के भेद दिखाते हैं -

सामण्णा पंचिंदी पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता ।
तिरिया णरा तहावि य पंचिंदियभंगदो हीणा ।।१५०।।

सामान्याः पंचेंद्रियाः पर्याप्ता योनिमत्यः अपर्याप्ताः ।
तिर्यंचो नरास्तथापि च पंचेंद्रियभंगतो हीनाः ।।१५०।।

टीका - तिर्यंच पांच प्रकार के हैं - १) सामान्य तिर्यंच २) पंचेन्द्रिय तिर्यंच ३) पर्याप्त तिर्यंच ४) योनिमति तिर्यंच ५) अपर्याप्त तिर्यंच । वहां तिर्यंचों के सभी भेदों का समुदायरूप, वह तो सामान्य तिर्यंच है । पुनश्च जो एकेन्द्रियादिकों को छोड़कर केवल पंचेन्द्रिय तिर्यंच, वह पंचेन्द्रिय तिर्यंच है । पुनश्च जो अपर्याप्तों के बिना केवल पर्याप्त तिर्यंच, वह पर्याप्त तिर्यंच है । पुनश्च जो स्त्रीवेदरूप तिर्यंचनी, वह योनिमति तिर्यंच है । पुनश्च जो लब्धिअपर्याप्त तिर्यंच है, वह अपर्याप्त तिर्यंच है । इसतरह तिर्यंच पांच प्रकार के हैं ।

पुनश्च वैसे ही मनुष्य हैं । इतना विशेष - पंचेन्द्रिय भेद नहीं है, इसलिये सामान्यादिरूप चार प्रकार हैं । क्योंकि मनुष्य सर्व ही पंचेन्द्रिय हैं, इसलिये तिर्यंचवत् जुदा भेद नहीं है । इसलिये १) सामान्य मनुष्य २) पर्याप्त मनुष्य ३) योनिमति मनुष्य ४) अपर्याप्त मनुष्य ये चार भेद मनुष्य के जानने । वहां मनुष्यों के सभी भेदों के समुदायरूप, वह सामान्य मनुष्य है । केवल पर्याप्त मनुष्य, वह पर्याप्त मनुष्य है । स्त्रीवेदरूप मनुष्यनी, वह योनिमति मनुष्य है । लब्धिअपर्याप्त मनुष्य, वह अपर्याप्त मनुष्य है ।

आगे देवगति को कहते हैं -

दिव्वंति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं ।
भासंतदिव्वकाया तह्मा ते वण्णिया देवा ।।१५१।।

दीव्यंति यतो नित्यं गुणैरष्टाभिर्दिव्यभावैः ।
भासमानदिव्यकायाः तस्मात्ते वर्णिता देवाः ।।१५१।।

टीका - जिसकारण जो जीव नित्य ही **दीव्यंति** अर्थात् कुलाचल समुद्रादिकों में क्रीडा करते हैं, हर्ष करते हैं, मदनरूप होते हैं - कामरूप होते हैं । पुनश्च मनुष्यों के अगोचर ऐसे अणिमादि दिव्यप्रभाव सहित गुण, उनके द्वारा प्रकाशमान हैं । पुनश्च धातु-मल-रोगादिक दोष उनसे रहित हैं । दैदीप्यमान, मनोहर शरीर है जिनका, ऐसे हैं। उसकारण वे जीव देव हैं, ऐसा आगम में कहा है । इसतरह निरुक्तिपूर्वक लक्षण द्वारा चार गति कही ।

यहां जो जीव सातों नरकों में महा दुःख पीड़ित हैं, वे नारक जानने । पुनश्च एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी तथा जलचरादि पंचेन्द्रिय, वे सर्व तिर्यंच जानने । पुनश्च आर्य, म्लेच्छ, भोगभूमि, कुभोगभूमि में उत्पन्न मनुष्य जानने । भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, वैमानिक भेदों सहित देव जानने ।

आगे संसार दशा के लक्षण रहित जो सिद्धगति उसे कहते हैं -

जाइजरामरणभया संजोगविजोगदुक्खसण्णाओ ।
रोगादिगा य जिस्से ण संति सा होदि सिद्धगई ।।१५२।।

जातिजरामरणभयाः संयोगवियोगदुःखसंज्ञाः ।
रोगादिकाश्च यस्यां न संति सा भवति सिद्धगतिः ।।१५२।।

टीका – जन्म, जरा, मरण, भय, अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, दुःख, संज्ञा, रोगादिक नाना प्रकार की वेदना जिनमें नहीं होती, ऐसी समस्त कर्मों के सर्वथा नाश से प्रकट हुये सिद्धपर्यायरूप लक्षण की धारक, वह सिद्धगति जानना । इस गति में संसारिक भाव नहीं हैं, इसलिये संसारिक गति की अपेक्षा गतिमार्गणा चार प्रकार की ही कही । मुक्तिगति की अपेक्षा उस मुक्तिगति को नामकर्मोदयरूप लक्षण नहीं है। इसलिये इसकी गतिमार्गणा में विवक्षा नहीं है ।

आगे गतिमार्गणा में जीवों की संख्या कहते हैं । वहां प्रथम ही नरकगति में दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सामण्णा णेरइया घणअंगुलबिदियमूलगुणसेढी ।
बिदियादि बारदसअड छत्तिदुणिजपदहदा सेढी ।।१५३।।

सामान्या नैरयिका घनांगुलद्वितीयमूलगुण श्रेणी ।
द्वितीयादिः द्वादश दशाष्टषट्त्रिद्विनिजपदहता श्रेणी ।।१५३।।

टीका – सामान्य सर्व सातों ही पृथ्वियों के कुल नारकी जगत्श्रेणी को घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित करनेपर जो संख्या हो, उस प्रमाण हैं । यहां घनांगुल का प्रथम वर्गमूल करके, उस प्रथम वर्गमूल का दूसरी बार वर्गमूल करते हैं, उसे घनांगुल का द्वितीय वर्गमूल जानना । जैसे अंकसंदृष्टि से घनांगुल का प्रमाण सोलह, उसका वर्गमूल चार, उसका द्वितीय वर्गमूल दो है, उससे जगत्श्रेणी का प्रमाण दो सौ छप्पन को गुणा करनेपर पांच सौ बारह होते हैं, वैसे यहां यथार्थ प्रमाण जानना। पुनश्च दूसरी पृथ्वी के नारकी जगत्श्रेणी को जगत्श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाग देनेपर जो प्रमाण होता है, उतने हैं । यहां जगत्श्रेणी का वर्गमूल करते हैं सो प्रथम वर्गमूल, पुनश्च उसका वर्गमूल करते हैं, वह द्वितीय वर्गमूल, पुनश्च उस द्वितीय वर्गमूल का वर्गमूल करते हैं, वह तृतीय वर्गमूल, इत्यादि इसीतरह यहां अन्य वर्गमूल जानना। पुनश्च तीसरी पृथ्वी के नारकी जगत्श्रेणी को जगत्श्रेणी के दसवें वर्गमूल से भाग देनेपर जो प्रमाण होता है, उतने जानने । पुनश्च चौथी पृथ्वी के नारकी जगत्श्रेणी को जगत्श्रेणी के आठवें वर्गमूल से भाग देनेपर जो प्रमाण होता है, उतने जानने । पुनश्च इसीतरह पांचवीं पृथ्वी, छठवीं

पृथ्वी, सातवीं पृथ्वी के नारकी अनुक्रम से जगत्श्रेणी के छठवें, तीसरे, दूसरे वर्गमूल का भाग जगत्श्रेणी को देनेपर जो जो प्रमाण आये, उतने उतने जानना । जैसे दो सौ छप्पन का प्रथम वर्गमूल सोलह, द्वितीय वर्गमूल चार, तृतीय वर्गमूल दो इनका भाग दो सौ छप्पन को देनेपर क्रम से सोलह, चौंसठ, एक सौ अट्ठाइस होते हैं । वैसे यहां भी यथासंभव प्रमाण जानना ।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं रासिविहीणो दु सव्वरासी दु ।
पढमावणिह्मि रासी णेरइयाणं तु णिद्दिट्ठो ।।१५४।।

अधस्तनषट्पृथ्वीनां राशिविहीनस्तु सर्वराशिस्तु ।
प्रथमावनौ राशिः नैरयिकाणां तु निर्दिष्टः ।।१५४।।

टीका – दूसरी वंशा पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक नीचे की पृथ्वी के नारकियों का जोड़ देनेपर साधिक जगत्श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित जगत्श्रेणी प्रमाण होता है । इसे पहले सामान्य सर्व नारकियों का प्रमाण कहा था, उसमें से घटानेपर जितने रहते हैं, उतने पहली धर्मा पृथ्वी के नारकी जानना । यहां घटानेरूप त्रैराशिक इसतरह करना – सामान्य नारकियों के प्रमाण में जगत्श्रेणी गुण्य है और घनांगुल का द्वितीय वर्गमूल गुणकार है । सो इस प्रमाण में से जगत्श्रेणीमात्र घटाना हो, तो गुणकार के प्रमाण में से एक घटाते हैं, तो साधिक जगत्श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित जगत्श्रेणी मात्र घटाना हो तो गुणकार में से कितने घटेंगे ? यहां प्रमाणराशि जगत्श्रेणी, फलराशि एक, इच्छाराशि जगत्श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित जगत्श्रेणी । यहां फल को इच्छा से गुणा करके प्रमाण का भाग देनेपर साधिक एक बटे जगत्श्रेणी का बारहवां वर्गमूल आया । इतना घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल में से घटाकर अवशेष से जगत्श्रेणी को गुणा करनेपर धर्मा पृथ्वी के नारकियों का प्रमाण आता है ।

आगे तिर्यंच जीवों की संख्या दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

संसारी पंचक्खा तप्पुण्णा तिगदिहीणया कमसो ।
सामण्णा पंचिंदी पंचिंदियपुण्णतेरिक्खा ।।१५५।।

संसारिणः पंचाक्षाः तत्पूर्णाः त्रिगतिहीनकाः क्रमशः ।
सामान्याः पंचेंद्रियाः पंचेंद्रियपूर्णतैरश्चाः ।।१५५।।

टीका – संसारी जीवों के प्रमाण में से नारकी, मनुष्य, देव इन तीन गतियों के जीवों का प्रमाण घटानेपर जो प्रमाण रहता है, उसप्रमाण सर्व सामान्य तिर्यंच राशि जानना । तथा आगे इन्द्रियमार्गणा में जो सामान्य पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण कहेंगे, उसमें से नारकी, मनुष्य, देवों का प्रमाण घटानेपर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का प्रमाण आता है । पुनश्च आगे पर्याप्त पंचेन्द्रियों का प्रमाण कहेंगे, उसमें से पर्याप्त नारकी, मनुष्य, देवों का प्रमाण घटानेपर पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचों का प्रमाण आता है ।

छस्सयजोयणकदिहदजगपदरं जोणिणीण परिमाणं ।
पुण्णूणा पंचक्खा तिरियअपज्जत्तपरिसंखा ।।१५६।।

षट्शतयोजनकृतिहतजगत्प्रतरं योनिमतीनां परिमाणं ।
पूर्णोनाः पंचाक्षाः तिर्यगपर्याप्तपरिसंख्या ।।१५६।।

टीका – छह सौ योजन के वर्ग का भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण आता है, वह योनिमति द्रव्यतिर्यंचनियों का प्रमाण जानना । छह सौ योजन लम्बे, छह सौ योजन चौड़े, एक प्रदेश ऊंचे ऐसे क्षेत्र में आकाश के जितने प्रदेश होते हैं उसका भाग जगत्प्रतर को देना । सो इन योजनों के प्रतरांगुल करनेपर चौगुणे पणट्ठी को इक्यासी हजार कोटि से गुणा करते हैं उतने प्रतरांगुल होते हैं । उनका भाग जगत्प्रतर को देते हैं तब एक भागप्रमाण द्रव्यतिर्यंचनी जाननी । पुनश्च पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के प्रमाण में से पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचों का प्रमाण घटानेपर अवशेष अपर्याप्त पंचेन्द्रियों का प्रमाण आता है ।

आगे मनुष्यगति के जीवों की संख्या तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सेढी सूईअंगुल आदिमतदियपदभाजिदेगूणा ।
सामण्णमणुसरासी पंचमकदिघणसमा पुण्णा ।।१५७।।

श्रेणी सूच्यंगुलादिमतृतीयपदभाजितैकोना ।
सामान्यमनुष्यराशिः पंचमकृतिघनसमाः पूर्णाः ।।१५७।।

टीका – जगत्श्रेणी को सूच्यंगुल के प्रथम वर्गमूल का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उसको सूच्यंगुल के तृतीय वर्गमूल का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उसमें

से एक घटानेपर जितने अवशेष रहते हैं, उतने सामान्य मनुष्य जानने । पुनश्च द्विरूपवर्गधारा में पंचम वर्गस्थान बादाल है, उसका घन करनेपर जितने होते हैं, उतने पर्याप्त मनुष्य जानना । वे कितने हैं ?

तल्लीनमधुगविमलं धूमसिलागाविचोरभयमेरू ।
तटहरिखझसा होंति हु माणुसपज्जत्तसंखंका ।।१५८।।

तल्लीनमधुगविमलं धूमसिलागाविचोरभयमेरू ।
तटहरिखझसा भवंति हि मानुषपर्याप्तसंख्यांकाः ।।१५८।।

टीका – यहां अक्षरसंज्ञा से वामभाग से अनुक्रम से अंक कहते हैं । सो अक्षरसंज्ञा द्वारा अंक कहने का सूत्र कहते हैं ।

कटपययपुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टकल्पितैः क्रमशः ।
स्वरञनशून्यं संख्या मात्रौपरिमाक्षरं त्याज्यं ।।

इसका अर्थ – ककार से लेकर नौ अक्षरों के अनुक्रम से एक, दो, तीन इत्यादि अंक जानना । जैसे ककार लिखा हो तो एक जानना, खकार लिखा हो तो दो जानना। गकार लिखा हो तो तीन जानना । इसीतरह झकार तक नौ तक अंक जानने । क=१, ख=२, ग=३, घ=४, ङ=५, च=६, छ=७, ज=८, झ=९ । पुनश्च इसीतरह टकार से लेकर नौ अक्षरों से एक, दो, तीन आदि नौ तक अंक जानने । ट=१, ठ=२, ड=३, ढ=४, ण=५, त=६, थ=७, द=८, ध=९ । पुनश्च इसीतरह पकार से लेकर पांच अक्षरों से एक से पांच अंक जानने । प=१, फ=२, ब=३, भ=४, म=५ । पुनश्च इसीतरह यकार से लेकर आठ अक्षरों से एक आदि आठ अंक तक जानने । य=१, र=२, ल=३, व=४, श=५, ष=६, स=७, ह=८। पुनश्च जहां अकार आदि स्वर लिखे हो अथवा ञकार वा नकार लिखा हो वहां शून्य जानना । पुनश्च अक्षरों की यदि मात्रा हो अथवा ऊपर के अक्षर लिखे हो तो उसका कोई प्रयोजन नहीं लेना। इसतरह इस सूत्र की अपेक्षा यहां अक्षर संज्ञा द्वारा अंक कहे हैं । आगे भी श्रुतज्ञानादि के वर्णन में ऐसे ही जानना ।

यहां *(गाथा १५८ में)* त=६, ल=३, ली=३, न=0, म=५, धु=९, ग=३ इत्यादि अनुक्रम से चार, पांच, तीन, नौ, पांच, सात, तीन, तीन, चार, छह, दो, चार, एक,

पांच, दो, छह, एक, आठ, दो, दो, नौ, सात ये अंक जानने । **'अंकानां वामतो गतिः'** इसलिये ये अंक बायें तरफ से लिखने । '७, ९२२८१६२, ५१४२६४३, ३७५९३५४, ३९५०३३६' सो ये सात कोडाकोडि कोडाकोडि, बानवे लाख अट्ठाइस हजार एक सौ बासठ कोडाकोडि कोडि, इक्यावन लाख बयालीस हजार छह सौ तैंतालीस कोडाकोडि, सैंतीस लाख उनसठ हजार तीन सौ चौवन कोडि, उनतालीस लाख पचास हजार तीन सौ छत्तीस पर्याप्त मनुष्य जानने । इनके अंक दाहिने तरफ से अक्षर संज्ञा से अन्यत्र भी कहे हैं –

साधूरराजकीर्तेरेणांको भारतीविलोलसमधीः ।
गुणवर्गधर्मनिगलितसंख्यावन्मानवेषु वर्णक्रमाः ।।

सो यहां सा=७, धू=९, र=२, रा=२, ज=८, की=१, र्ते=६ इत्यादि दक्षिण भाग से अंक जानना ।

पज्जत्तमणुस्साणं तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं ।
सामण्णा पुण्णूणा मणुवअपज्जत्तगा होंति ।।१५९।।

पर्याप्तमनुष्याणां त्रिचतुर्थो मानुषीणां परिमाणं ।
सामान्याः पूर्णोना मानवा अपर्याप्तका भवंति ।।१५९।।

टीका – पर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण कहा, उसके चार भाग करनेपर, उसमें तीन भागप्रमाण मनुष्यनी द्रव्यस्त्री जाननी । पुनश्च सामान्य मनुष्यराशि में से पर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण घटानेपर अवशेष अपर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण होता है । यहां **'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः'** इस सूत्र से पैंतालीस लाख योजन व्यासवाला मनुष्यलोक है । उसका **'विक्खंभवग्गदहगुण'** इत्यादि सूत्र से एक कोटि बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन, एक कोस, सत्रह सौ छासठ धनुष, पांच अंगुल प्रमाण परिधि होती है । पुनश्च इसको व्यास की चौथाई ग्यारह लाख पच्चीस हजार योजन से गुणा करनेपर सोलह लाख, नौ सौ तीन कोडि, छह लाख चौवन हजार छह सौ एक योजन और एक लाख योजन के दो सौ छप्पन भागों में उन्नीस भाग इतना क्षेत्रफल होता है । पुनश्च इसके अंगुल करने । सो एक योजन के सात लाख अड़सठ हजार अंगुल हैं । सो वर्गराशि का गुणकार वर्गरूप होता है इस न्याय से सात लाख अड़सठ हजार के वर्ग से उस क्षेत्रफल को गुणा

करनेपर नौ हजार चार सौ बयालीस कोडाकोडि कोडि, इक्यावन लाख चार हजार नौ सौ अड़सठ कोडाकोडि, उन्नीस लाख तैंतालीस हजार चार सौ कोडि प्रतरांगुल हैं । पुनश्च ये प्रमाणांगुल हैं, सो यहां उत्सेधांगुल नहीं करने, क्योंकि चौथे काल के आदि में और उत्सर्पिणी काल के तीसरे काल के अंत में और विदेहादि क्षेत्रों में आत्मांगुल का भी प्रमाण प्रमाणांगुल के समान ही है । सो इन प्रतरांगुल के प्रमाण से भी पर्याप्त मनुष्य संख्यात गुणे हैं । तथापि आकाश के अवगाहन की विचित्रता को जानकर संदेह मत करना ।

आगे देवगति के जीवों की संख्या चार गाथाओं द्वारा कहते हैं -

तिण्णिसयजोयणाणं बेसदछप्पण्णअंगुलाणं च ।
कदिहदपदरं वेंतर जोइसियाणं च परिमाणं ।।१६०।।

त्रिशतयोजनानां द्विशतषट्पंचाशदंगुलानां च ।
कृतिहतप्रतरं व्यंतरज्योतिष्काणां च परिमाणम् ।।१६०।।

टीका - तीन सौ योजन के वर्ग का भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण होता है, उतना व्यंतरों का प्रमाण जानना । तीन सौ योजन लम्बे तीन सौ योजन चौड़े, एक प्रदेश ऊंचे ऐसे क्षेत्र में जितने आकाश के प्रदेश होते हैं, उसका भाग देना है, सो इसके प्रतरांगुल करनेपर पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस को इक्यासी हजार कोडि से गुणा करते हैं उतने प्रतरांगुल होते हैं, उनका भाग जगत्प्रतर को देनेपर व्यंतरों का प्रमाण आता है ।

पुनश्च दो सौ छप्पन अंगुल के वर्ग *(पणट्ठी प्रमाण प्रतरांगुल)* का भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना ज्योतिषियों का प्रमाण जानना । दो सौ छप्पन अंगुल चौड़े, इतने ही लम्बे, एक प्रदेश ऊंचे ऐसे क्षेत्र में जितने आकाश के प्रदेश होते हैं, उसका भाग देना है, सो इसके प्रतरांगुल पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस हैं। उसका भाग जगत्प्रतर को देनेपर ज्योतिषी देवों का प्रमाण होता है ।

घणअंगुलपढमपदं तदियपदं सेढिसंगुणं कमसो ।
भवणे सोहम्मदुगे देवाणं होदि परिमाणं ।।१६१।।

घनांगुलप्रथमपदं तृतीयपदं श्रेणिसंगुणं क्रमशः ।
भवने सौधर्मद्विके देवानां भवति परिमाणम् ।।१६१।।

टीका – घनांगुल के प्रथम वर्गमूल से जगत्श्रेणी को गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतना भवनवासियों का प्रमाण जानना । पुनश्च घनांगुल के तृतीय वर्गमूल से जगत्श्रेणी को गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतना सौधर्म और ईशान स्वर्ग के वासी *(निवासी)* देवों का प्रमाण जानना ।

तत्तो एगारणवसगपणचउणियमूलभाजिदा सेढी ।
पल्लासंखेज्जदिमा पत्तेयं आणदादिसुरा ।।१६२।।

तत एकादशनवसप्तपंचचतुर्निजमूलभाजिता श्रेणी ।
पल्यासंख्यातकाः प्रत्येकमानतादिसुराः ।।१६२।।

टीका – पुनश्च वहां से ऊपर सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार इन पांच युगलों में अनुक्रम से जगत्श्रेणी के ग्यारहवें, नौवें, सातवें, पांचवें, चौथे जो वर्गमूल उनका भाग जगत्श्रेणी को देनेपर, जितना-जितना प्रमाण आता है, उतना-उतना वहां के वासी देवों का प्रमाण जानना ।

पुनश्च उसके ऊपर आनत-प्राणत, आरण-अच्युत युगल, तीन अधोग्रैवेयक, तीन मध्यग्रैवेयक, तीन उपरिमग्रैवेयक, नौ अनुदिश विमान तथा सर्वार्थसिद्धि विमान बिना चार अनुत्तर विमान इनमें प्रत्येक में देवों का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।

तिगुणा सत्तगुणा वा सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो ।
सामण्णदेवरासी जोइसियादो विसेसहिया ।।१६३।।

त्रिगुणा सप्तगुणा वा सर्वार्था मानुषीप्रमाणतः ।
सामान्यदेवराशिः ज्योतिष्कतो विशेषाधिकः ।।१६३।।

टीका – पुनश्च सर्वार्थसिद्धि के वासी अहमिन्द्र देवों का प्रमाण, पर्याप्त मनुष्यों के चार भागों में से तीन भाग प्रमाण मनुष्यनियों का प्रमाण कहा था, उससे तीन गुणा जानना । तथा किन्हीं आचार्यों के अभिप्राय से सात गुणा है । पुनश्च ज्योतिषी

देवों के प्रमाण में भवनवासी, कल्पवासी देवों के प्रमाण से साधिक ऐसी ज्योतिषी देवों के संख्यातवें भाग जो व्यंतरराशि, उसे जोड़नेपर सर्व सामान्य देवों का प्रमाण होता है ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से गति प्ररूपणा नामक छठवां अधिकार पूर्ण हुआ ।।६।।

सातवां अधिकार : इन्द्रियमार्गणा प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

लोकालोकप्रकाशकर जगत पूज्य श्रीमान ।
सप्तम तीर्थंकर नमौं श्रीसुपार्श्व भगवान ।।

अब इन्द्रियमार्गणा का आरंभ करते हैं । वहां प्रथम इन्द्रिय शब्द का निरुक्तिपूर्वक अर्थ कहते हैं –

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंति मण्णंता ।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदिये जाण ।।१६४।।

अहमिंद्रा यथा देवा अविशेषमहमहमिति मन्यमानाः ।
ईशते एकैकमिंद्रा इव इंद्रियाणि जानीहि ।।१६४।।

टीका – जिसतरह ग्रैवेयकादिक में उत्पन्न ऐसे अहमिन्द्र देव, वे सेवक स्वामी के भेद रहित 'मैं ही मैं हूं' ऐसा मानते हुये, जुदे-जुदे एक-एक होते हैं, आज्ञादिक द्वारा पराधीनता से रहित होते हुये, ईश्वरता के धारक हैं, प्रभाव के धारक हैं, स्वामीपने के धारक हैं । उसतरह स्पर्शनादिक इन्द्रिय भी अपने-अपने स्पर्शादि विषय में ज्ञान उपजाने में कोई किसी के आधीन नहीं हैं, जुदे-जुदे एक-एक इन्द्रिय पर की अपेक्षा रहित ईश्वरता के धारक हैं । प्रभाव के धारक हैं । इसलिये अहमिन्द्रवत् इन्द्रिय हैं। ऐसी समानतारूप निरुक्ति से सिद्ध हुये, ऐसे इन्द्रिय शब्द के अर्थ को हे शिष्य ! तू जान ।

आगे इन्द्रियों के भेदों का स्वरूप कहते हैं –

मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा ।
भाविंदियं तु दव्वं देहुदयजदेहचिण्हं तु ।।१६५।।

मत्यावरणक्षयोपशमोत्थविशुद्धिर्हि तज्जबोधो वा ।
भावेंद्रियं तु द्रव्यं देहोदयजदेहचिह्नं तु ।।१६५।।

टीका – इन्द्रिय दो प्रकार के हैं – एक भावेन्द्रिय, एक द्रव्येन्द्रिय ।

वहां लब्धिउपयोगरूप तो भावेन्द्रिय है । वहां मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से जीव की जो विशुद्धता होती है अर्थात् इन्द्रियों के जो विषय हैं उन्हें जानने की शक्ति होती है, वही जिसका लक्षण है वह लब्धि कहलाती है ।

पुनश्च मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न जो ज्ञान अर्थात् विषय जानने के प्रवर्तनरूप, वह उपयोग कहलाता है । जैसे किसी जीव के सुनने की शक्ति है परंतु उपयोग कहीं और जगह लग रहा है, सो बिना उपयोग कुछ सुनना नहीं होता । तथा कोई जानना चाहता है परंतु क्षयोपशम शक्ति नहीं है, तो कैसे जानेगा ? इसलिये लब्धि और उपयोग दोनों के मिलनेपर विषय का ज्ञान होता है । इसलिये इनको भावेन्द्रिय कहते हैं ।

भाव अर्थात् चेतना परिणाम, उसस्वरूप जो इन्द्रिय, वह भावेन्द्रिय कहलाता है । क्योंकि इन्द्र जो आत्मा, उसका जो लिंग अर्थात् चिह्न वह इन्द्रिय है । ऐसी निरुक्ति से भी लब्धि-उपयोगरूप भावेन्द्रिय का ही दृढ़पना होता है ।

पुनश्च निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय है । वहां जिन प्रदेशों द्वारा विषय को जानते हैं, वे निर्वृत्ति कहलाते हैं । तथा उसके सहकारी निकटवर्ती जो होते हैं, उनको उपकरण कहते हैं । जाति नामकर्म के उदय सहित शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न जो निर्वृत्ति-उपकरणरूप देह का चिह्न, एकेन्द्रियादिकों के शरीर के यथायोग्य अपने-अपने स्थान में आकार को प्रकट करनेवाला पुद्गलद्रव्यस्वरूप इन्द्रिय, वह द्रव्येन्द्रिय है ।

इसतरह इन्द्रिय द्रव्य-भाव भेद से दो प्रकार का है । वहां लब्धि-उपयोग भावेन्द्रिय है । वहां विषय को ग्रहण करने की (जानने की) शक्ति, वह लब्धि है । और विषय के ग्रहणरूप व्यापार, वह उपयोग है ।

अब इन्द्रिय शब्द की निरुक्ति द्वारा लक्षण कहते हैं -

'प्रत्यक्षनिरतानि इंद्रियाणि' अक्ष अर्थात् इन्द्रिय, अक्ष अक्ष प्रति जो प्रवर्ते, वह प्रत्यक्ष कहलाता है । ऐसे प्रत्यक्षरूप विषय अथवा इन्द्रियज्ञान, उसमें निरतानि अर्थात् व्यापाररूप प्रवर्तते हैं, वे इन्द्रिय हैं ।

यहां तर्क - इस लक्षण में विशेष के अभाव से उन इन्द्रियों के संकर व्यतिकररूप प्रवृत्ति प्राप्त होगी । परस्पर इन्द्रियों का स्वभाव मिल जाना उसे संकर कहते हैं । अपने स्वभाव से जुदापने का होना, उसे व्यतिकर कहते हैं ।

वहां समाधान – यहां **'प्रत्यक्षे नियमिते रतानि इंद्रियाणि'** अपने-अपने नियमरूप प्रत्यक्ष में जो रत, वे इन्द्रिय हैं, इसतरह लक्षण का प्रतिपादन है । इसलिये नियमरूप कहने से अपने-अपने विशेष का ग्रहण हुआ । अथवा संकर-व्यतिकर दोष का निवारण करने के लिये **'स्वविषयनिरतानि इंद्रियाणि'** स्वविषय अर्थात् अपना-अपना विषय, उसमें **'नि'** अर्थात् निश्चय से, निर्णय से रतानि अर्थात् प्रवर्तते हैं, वे इन्द्रिय हैं, ऐसा कहना ।

यहां तर्क – संशय, विपर्यय में निर्णयरूप रत नहीं है । इसलिये इस लक्षण से संशय विपर्ययरूप विषयग्रहण करने में आत्मा के अतीन्द्रियपना होगा ।

वहां समाधान – रूढ़ि के बल से निर्णय में और संशय विपर्यय में दोनों जगह उस लक्षण की प्रवृत्ति का विरोध नहीं है । जैसे **'गच्छतीति गौ'** गमन करे उसे गो कहते हैं; सो समभिरूढ़ नय से गमन करते हुये या शयनादि करते हुये भी गो कहते हैं, वैसे यहां भी जानना । अथवा **'स्ववृत्तिनिरतानि इंद्रियाणि'** स्ववृत्ति अर्थात् संशय विपर्ययरूप वा निर्णयरूप अपना प्रवर्तन, उसमें **निरतानि** अर्थात् व्यापाररूप प्रवर्तते हैं, वे इन्द्रिय हैं, ऐसा लक्षण कहना ।

यहां तर्क – यदि ऐसा लक्षण करते हैं तो जब अपने विषय के ग्रहणरूप व्यापार में नहीं प्रवर्तते, तब उस अवस्था में अतीन्द्रियपना कहना पड़ेगा ।

वहां समाधान – ऐसा नहीं है, क्योंकि पहले ही उत्तर दिया है । रूढ़ि से विषयग्रहणरूप व्यापार होनेपर अथवा नहीं होनेपर पूर्वोक्त लक्षण संभवता है । अथवा **'स्वार्थनिरतानि इंद्रियाणि'** अर्यंते अर्थात् जानते हैं वह अर्थ, सो अपने में या विषयरूप अर्थ में जो निरत, वे इन्द्रिय हैं । इस लक्षण में कोई दोष नहीं है; इसलिये यहां कुछ तर्करूप कहना ही नहीं । अथवा **'इंदनात् इंद्रियाणि'** इंदनात् अर्थात् स्वामीपना से इन्द्रिय हैं । स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द इनको जाननेरूप ज्ञान का आवरणभूत जो कर्म, उसके क्षयोपशम से अपने-अपने विषय को जाननेरूप स्वामीत्व के धारक द्रव्येन्द्रिय हैं कारण जिनका, वे इन्द्रिय हैं । ऐसा अर्थ जानना । कहा ही है –

यदिंद्रस्यात्मनो लिंगं यदि वेंद्रेण कर्मणा ।
सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं चेति तदिंद्रियम् ॥

इसका अर्थ – इन्द्र जो आत्मा, उसका चिह्न, वह इन्द्रिय है । अथवा इन्द्र

जो कर्म, उसके द्वारा निपजा हुआ तथा सेवित तथा दिखायी देनेवाला तथा दिया हुआ वह इन्द्रिय है ।

मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथानेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः ।।

इसका अर्थ – जैसे मलयुक्त रत्न की व्यक्ति *(प्रकट प्रकाशरूप अवस्था)* अनेक प्रकार से है, वैसे कर्मरूप आत्मा की जाननेरूप क्रिया अनेक प्रकार से होती है ।

इसतरह इन्द्रिय शब्द की निरुक्ति का अनेक प्रकार से वर्णन किया ।

पुनश्च उन इन्द्रियों में निर्वृत्ति दो प्रकार की – अभ्यंतर, बाह्य । वहां जो निज-निज इन्द्रियावरण की क्षयोपशमता की विशेषता सहित आत्मा के प्रदेशों का संस्थान, वह अभ्यंतर-निर्वृत्ति है । तथा उसी क्षेत्र में जो शरीर के प्रदेशों का संस्थान, वह बाह्य-निर्वृत्ति है ।

पुनश्च उपकरण भी दो प्रकार के हैं – अभ्यंतर, बाह्य ।

वहां इन्द्रियपर्याप्ति से आयी हुयी नोकर्मवर्गणा उनका जो स्कंधरूप, जो स्पर्शादि विषयों के ज्ञान में सहकारी (निमित्त) होता है, वह तो अभ्यंतर-उपकरण है । और उसके आश्रयभूत जो त्वचा आदि वे बाह्य-उपकरण हैं । ऐसा विशेष जानना ।

आगे इन इन्द्रियों से संयुक्त जीवों को कहते हैं –

फासरसगंधरूवे सद्दे णाणं च चिण्हयं जेसिं ।
इगिबितिचदुपंचिंदिय जीवा णियभेयभिण्णा ओ ।।१६६।।

स्पर्शरसगंधरूपे शब्दे ज्ञानं च चिह्नकं येषाम् ।
एकद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियजीवाः निजभेदभिन्ना ओः ।।१६६।।

टीका – जिन जीवों का स्पर्श में ज्ञान है, ऐसा चिह्न होता है, वे एकेन्द्रिय हैं ।

पुनश्च जिनके स्पर्श और रस में ज्ञान है, ऐसे चिह्न होते हैं, वे जीव द्वीन्द्रिय हैं।

पुनश्च जिनके स्पर्श, रस, गंध में ज्ञान है, ऐसे चिह्न होते हैं, वे जीव त्रीन्द्रिय हैं।

पुनश्च जिनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण में ज्ञान है, ऐसे चिह्न होते हैं, वे जीव

चतुरिन्द्रिय हैं।

पुनश्च जिनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द में ज्ञान है, ऐसे चिह्न होते हैं, वे जीव पंचेन्द्रिय हैं।

वे सर्व जीव अपने-अपने भेदों से जुदे हैं -ऐसा जानना ।

आगे एकेन्द्रियादि जीवों के कितनी-कितनी इन्द्रियां होती हैं, वह कहते हैं -

एइंदियस्स फुसणं एक्कं वि य होदि सेसजीवाणं ।
होंति कमउड्ढियाइं जिब्भाघाणच्छिसोत्ताइं ।।१६७।।

एकेन्द्रियस्य स्पर्शनमेकमपि च भवति शेषजीवानां ।
भवंति क्रमवर्धितानि जिह्वाघ्राणाक्षिश्रोत्राणि ।।१६७।।

टीका - इन्द्रिय पांच हैं । उनमें सर्व शरीर को स्पर्शन कहते हैं । जिह्वा को रसना कहते हैं, नासिका को घ्राण कहते हैं, नेत्र को चक्षु कहते हैं, कर्ण को श्रोत्र कहते हैं ।

वहां एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शनइन्द्रिय ही है । तथा अवशेष जीवों के अनुक्रम से एक-एक इन्द्रिय अधिक जानना । सो द्वीन्द्रिय के रसनाइन्द्रिय अधिक है, त्रीन्द्रिय के घ्राणइन्द्रिय अधिक है, चतुरिन्द्रिय के चक्षुइन्द्रिय अधिक है, पंचेन्द्रिय के श्रोत्रइन्द्रिय अधिक है । क्योंकि एक है इन्द्रिय जिनके, वे जीव एकेन्द्रिय हैं । दो हैं इन्द्रिय जिनके, वे जीव द्वीन्द्रिय हैं । तीन हैं इन्द्रिय जिनके, वे जीव त्रीन्द्रिय हैं । चार हैं इन्द्रिय जिनके, वे जीव चतुरिन्द्रिय हैं । पांच हैं इन्द्रिय जिनके वे जीव पंचेन्द्रिय हैं, इसतरह निरुक्ति होती है ।

आगे स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं -

धणुवीसडदसयकदी जोयणछादालहीणतिसहस्सा ।
अट्ठसहस्स धणूणं विसया दुगुणा असण्णि त्ति ।।१६८।।

धनुर्विंशत्यष्टदशककृतिः योजनषट्चत्वारिंशद्धीनत्रिसहस्राणि ।
अष्टसहस्रं धनुषां विषया द्विगुणा असंज्ञीति ।।१६८।।

टीका - एकेन्द्रिय जीव के स्पर्शनइन्द्रिय के विषय का क्षेत्र बीस की कृति (वर्ग) चार सौ धनुष प्रमाण जानना । तथा द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के दुगुणा-दुगुणा जानना, सो द्वीन्द्रिय के आठ सौ धनुष, त्रीन्द्रिय के सोलह सौ धनुष, चतुरिन्द्रिय के बत्तीस सौ धनुष, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के चौंसठ सौ धनुष स्पर्शनइन्द्रिय के विषय क्षेत्र जानना । इतने-इतने क्षेत्र तक स्थित जो स्पर्शनरूप विषय, उसको जानते हैं ।

पुनश्च द्वीन्द्रिय जीव के रसनाइन्द्रिय का विषय-क्षेत्र आठ की कृति चौंसठ धनुष प्रमाण जानना । आगे दुगुणा-दुगुणा, सो त्रीन्द्रिय का एक सौ अट्ठाइस धनुष, चतुरिन्द्रिय का दो सौ छप्पन धनुष, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का पांच सौ बारह धनुष रसनाइन्द्रिय के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण जानना ।

पुनश्च त्रीन्द्रिय के घ्राणेन्द्रिय का विषयभूत क्षेत्र दस की कृति, सौ धनुष प्रमाण जानना । आगे दुगुणा-दुगुणा, सो चतुरिन्द्रिय का दो सौ धनुष, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का चार सौ धनुष घ्राणेन्द्रिय के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण जानना ।

पुनश्च चतुरिन्द्रिय के नेत्रइन्द्रिय का विषयक्षेत्र छियालीस कम तीन हजार योजन जानना *(दो हजार नौ सौ चौवन)* । इससे दोगुणा पांच हजार नौ सौ आठ योजन असंज्ञी पंचेन्द्रिय के नेत्रइन्द्रिय का विषयभूत क्षेत्र जानना ।

पुनश्च असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्रइन्द्रिय के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण आठ हजार धनुष प्रमाण जानना ।

सण्णिस्स बार सोदे तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स ।
सत्तेतालसहस्सा बेसदतेसट्ठिमदिरेया ।।१६९।।

संज्ञिनो द्वादश श्रोत्रे त्रयाणां नव योजनानि चक्षुषः ।
सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्विशतत्रिषष्ट्यतिरेकाणि ।।१६९।।

टीका - संज्ञी पंचेन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, इन तीनों इन्द्रियों का नौ नौ योजन विषय क्षेत्र है । नेत्रइन्द्रिय का विषय क्षेत्र सैंतालीस हजार दो सौ तिरसठ योजन और सात योजन के बीसवें भाग से अधिक है । श्रोत्रइन्द्रिय का विषय क्षेत्र बारह योजन है ।

तिण्णिसयसट्ठिविरहिद, लक्खं दशमूलताडिदे मूलं ।
णवगुणिदे सट्ठिहिदे चक्खुप्फासस्स अद्धाणं ।।१७०।।

त्रिशतषष्टिविरहितलक्षं दशमूलताडिते मूलम् ।
नवगुणिते षष्टिहते चक्षुःस्पर्शस्य अध्वा ।। १७० ।।

टीका – सूर्य का चारक्षेत्र *(भ्रमणक्षेत्र)* पांच सौ बारह योजन चौड़ा है, उसमें एक सौ अस्सी योजन तो जम्बूद्वीप में है और तीन सौ बत्तीस योजन लवणसमुद्र में है । सो जब सूर्य श्रावण मास के कर्कसंक्राति में अभ्यंतर परिधि में आता है तब जम्बूद्वीप के अंत से एक सौ अस्सी योजन अंदर की ओर भ्रमण करता है, सो इस अभ्यंतर परिधि का प्रमाण कहते हैं – लाख योजन जम्बूद्वीप के व्यास में से दोनों तरफ के चारक्षेत्र का प्रमाण तीन सौ साठ योजन घटानेपर निन्यानबे हजार छह सौ चालीस योजन व्यास रहा । इसके परिधि के निमित्त **'विक्खंभवग्गदहगुण'** इत्यादि सूत्र अनुसार इसका वर्ग करके दस गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उसका वर्गमूल ग्रहण करना, ऐसा करनेपर तीन लाख पंद्रह हजार नवासी योजन प्रमाण इसका परिधि हुआ, सो दो सूर्य की अपेक्षा साठ मुहूर्त में इतने क्षेत्र में भ्रमण होता है, सो अभ्यंतर परिधि में दिन का प्रमाण अठारह मुहूर्त, सो मध्याह्न समय सूर्य मध्य में आये तब अयोध्या के बराबर होता है, इसलिये नौ मुहूर्त में कितने क्षेत्र में भ्रमण होता है, ऐसा त्रैराशिक करना । यहां प्रमाणराशि साठ (६०), फलराशि (३१५०८९), इच्छाराशि ९ स्थापित करके उस परिधि के प्रमाण को नौ से गुणा करके साठ का भाग देनेपर, लब्ध का प्रमाण सैंतालीस हजार दो सौ तिरसठ योजन और सात योजन का बीसवां भाग इतना चक्षुइन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र जानना ।

भावार्थ इसका यह है – अयोध्या का चक्रवर्ती अभ्यंतर परिधि में स्थित सूर्य को यहां से पूर्वोक्त प्रमाण योजन दूर देखता है । इसलिये इतना चक्षुइन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र कहा है ।

आगे एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनादि इन्द्रियों के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र का यंत्र –

इन्द्रियों के नाम	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय		असंज्ञी पंचेन्द्रिय		संज्ञी पंचेन्द्रिय
0	धनुष	धनुष	धनुष	धनुष	योजन	धनुष	योजन	योजन
स्पर्शन	४००	८००	१६००	३२००	0	६४००	0	९
रसना	0	६४	१२८	२५६	0	५१२	0	९
घ्राण	0	0	१००	२००	0	४००	0	९
चक्षु	0	0	0	0	२९५४	0	५९०८	४७२६३ ७/२०
श्रोत्र	0	0	0	0	0	८०००	0	१२

आगे इन्द्रियों का आकार कहते हैं -

चक्खू सोदं घाणं जिब्भायारं मसूरजवणाली ।
अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं ।।१७१।।

चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकारं मसूरयवनाल्यः ।
अतिमुक्तक्षुरप्रसमं स्पर्शनं तु अनेकसंस्थानम् ।।१७१।।

टीका - चक्षुइन्द्रिय तो मसूर की दाल के आकार का है । तथा श्रोत्रइन्द्रिय जव की नाली के आकार का है । तथा घ्राणइन्द्रिय अतिमुक्तक जो कदंब का फूल, उसके आकार का है । तथा रसनाइन्द्रिय खुरपे के आकार का है । तथा स्पर्शनइन्द्रिय अनेक आकार का है, क्योंकि पृथ्वी आदि और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के शरीर का आकार अनेक प्रकार का है । इसलिये स्पर्शनइन्द्रिय का भी आकार अनेक प्रकार का कहा, क्योंकि स्पर्शनइन्द्रिय सर्व शरीर में व्याप्त है ।

आगे निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रिय स्पर्शनादिकों का आकार कहा, वह कितने-कितने क्षेत्रप्रदेश को रोकता है - ऐसा अवगाहना का प्रमाण कहते हैं -

अंगुलअसंखभागं संखेज्जगुणं तदो विसेसहियं ।
तत्तो असंखगुणिदं अंगुलसंखेज्जयं तत्तु ।।१७२।।

अंगुलासंख्यभागं संख्यातगुणं ततो विशेषाधिकं ।
ततोऽसंख्यगुणितमंगुलसंख्यातं तत्तु ।।१७२।।

टीका – घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण आकाशप्रदेशों को चक्षुइन्द्रिय रोकता है । सो घनांगुल को पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणा करके और एक अधिक पल्य के असंख्यातवें भाग का तथा दो बार संख्यात का तथा पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतनी चक्षुइन्द्रिय की अवगाहना है । पुनश्च इससे संख्यातगुणा श्रोत्रइन्द्रिय की अवगाहना है । यहां इस गुणकार से एक बार संख्यात के भागहार का अपवर्तन करना । पुनश्च इसको पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना उसी श्रोत्रइन्द्रिय की अवगाहना में मिलानेपर घ्राणइन्द्रिय की अवगाहना होती है । सो यहां इस अधिक प्रमाण से एक अधिक पल्य के असंख्यातवें भाग का भागहार का और पल्य के असंख्यातवें भाग गुणकार का अपवर्तन करना। पुनश्च इसको पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर रसनाइन्द्रिय की अवगाहना होती है । इस गुणकार से पल्य के असंख्यातवें भागहार का अपवर्तन करना । इसतरह यह रसनाइन्द्रिय की अवगाहना घनांगुल के संख्यातवें भागमात्र जानना ।

आगे स्पर्शनइन्द्रिय के प्रदेशों की अवगाहना का प्रमाण कहते हैं –

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयह्मि ।
अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ।।१७३।।

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।
अंगुलासंख्यभागं जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ।।१७३।।

टीका – स्पर्शनइन्द्रिय की जघन्य अवगाहना, सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त के उपजने के तीसरे समय में शरीर की जघन्य अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र होती है, वही है । तथा उत्कृष्ट अवगाहना स्वयम्भूरमण समुद्र में महामत्स्य का उत्कृष्ट शरीर संख्यात घनांगुल मात्र होता है, वह है ।

आगे इन्द्रियज्ञानवाले जीवों को कहकर अब अतीन्द्रिय ज्ञानवाले जीवों का निरूपण करते हैं –

ण वि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहिं गाहया अत्थे ।
णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंतणाणसुहा ।।१७४।।

नापि इंद्रियकरणयुता अवग्रहादिभिः ग्राहकाः अर्थे ।
नैव च इंद्रियसौख्या अनिंद्रियानंतज्ञानसुखाः ।।१७४।।

टीका – जो जीव नियम से इन्द्रियों के करण भौहें टिमकारना आदि व्यापार, उनसे संयुक्त नहीं है, इसलिये ही अवग्रहादिक क्षयोपशम ज्ञान से पदार्थ का ग्रहण (जानना) नहीं करते । पुनश्च इन्द्रियजनित विषय संबंध से उत्पन्न सुख, उससे संयुक्त नहीं हैं वे अर्हंत और सिद्ध अतीन्द्रिय अनंतज्ञान और अतीन्द्रिय अनंतसुख से विराजमान जानना। क्योंकि उनका ज्ञान और सुख शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से उत्पन्न हुआ है।

आगे एकेन्द्रियादि जीवों की सामान्यपने संख्या कहते हैं –

थावरसंखपिपीलिय भमरमणुस्सादिगा सभेदा जे ।
जुगवारमसंखेज्जा णंताणंता णिगोदभवा ।।१७५।।

स्थावरशंखपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिकाः सभेदा ये ।
युगवारमसंख्येया अनंतानंता निगोदभवाः ।।१७५।।

टीका – स्थावर जो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति ये पांच प्रकार के तो एकेन्द्रिय; पुनश्च शंख, कौडी, लट इत्यादि द्वीन्द्रिय; पुनश्च कीड़ी, मकोडा इत्यादि त्रीन्द्रिय; पुनश्च भ्रमर, मक्खी, पतंग इत्यादि चतुरिन्द्रिय, पुनश्च मनुष्य, देव, नारकी, जलचरादि तिर्यंच वे पंचेन्द्रिय, ये जुदे-जुदे प्रत्येक असंख्यातासंख्यात प्रमाण हैं । पुनश्च निगोदिया जो साधारण वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय वे अनंतानंत हैं ।

आगे विशेष संख्या कहते हैं । वहां प्रथम ही एकेन्द्रिय जीवों की संख्या कहते हैं –

तसहीणो संसारी एयक्खा ताण संखगा भागा ।
पुण्णाणं परिमाणं संखेज्जदिमं अपुण्णाणं ।।१७६।।

त्रसहीनाः संसारिणः एकाक्षाः तेषां संख्यका भागाः ।
पूर्णानां परिमाणं संख्येयकमपूर्णानाम् ।।१७६।।

टीका – सर्व जीवराशि के प्रमाण में से सिद्धों का प्रमाण घटानेपर, संसारी राशि होती है । उसी संसारी जीवों के प्रमाण में से त्रस जीवों का प्रमाण घटानेपर

एकेन्द्रिय जीवों का प्रमाण होता है । पुनश्च उस एकेन्द्रिय जीवों के प्रमाण को संख्यात का भाग देनेपर उसमें एक भागप्रमाण तो अपर्याप्त एकेन्द्रियों का प्रमाण है तथा अवशेष बहुभाग प्रमाण पर्याप्त एकेन्द्रियों का प्रमाण है ।

आगे एकेन्द्रियों के भेदों की संख्या का विशेष कहते हैं –

बादरसुहमा तेसिं पुण्णापुण्णे त्ति छव्विहाणं पि ।
तक्कायमग्गणाये भणिज्जमाणक्कमो णेयो ।।१७७।।

बादरसूक्ष्मास्तेषां पूर्णापूर्ण इति षड्विधानामपि ।
तत्कायमार्गणायां भणिष्यमाणक्रमो ज्ञेयः ।।१७७।।

टीका – सामान्य एकेन्द्रियराशि के बादर और सूक्ष्म ये दो भेद । पुनश्च एक–एक भेद के पर्याप्त–अपर्याप्त ये दो–दो भेद – इसतरह चार हुये । उनका प्रमाण आगे कायमार्गणा में कहेंगे, वह अनुक्रम जानना, उसे कहते हैं । सामान्यपने एकेन्द्रिय का जो प्रमाण, उसको असंख्यात लोक का भाग देनेपर उसमें एक भाग प्रमाण तो बादर एकेन्द्रिय जानने और अवशेष बहुभाग प्रमाण सूक्ष्म एकेन्द्रिय जानने । पुनश्च बादर एकेन्द्रियों के प्रमाण को असंख्यात लोक का भाग देनेपर उसमें एक भाग प्रमाण पर्याप्त हैं और अवशेष बहुभाग प्रमाण अपर्याप्त हैं । पुनश्च सूक्ष्म एकेन्द्रिय के प्रमाण को संख्यात का भाग देनेपर एक भाग प्रमाण तो अपर्याप्त हैं और अवशेष बहुभाग प्रमाण पर्याप्त हैं। बादर में तो पर्याप्त थोड़े हैं, अपर्याप्त अधिक हैं तथा सूक्ष्म में पर्याप्त अधिक हैं, अपर्याप्त थोड़े हैं, ऐसा भेद जानना ।

आगे त्रस जीवों की संख्या तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं –

बितिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं ।
हीणकमं पडिभागो आवलियासंखभागो दु ।।१७८।।

द्वित्रिचतुः पंचमानमसंख्येनावहितप्रतरांगुलेनहतप्रतरम् ।
हीनक्रमं प्रतिभाग आवलिकासंख्यभागस्तु ।।१७८।।

टीका – द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय – इन सर्व त्रस जीवों का मिलाया हुआ प्रमाण, प्रतरांगुल को असंख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उसका भाग

जगत्प्रतर को देनेपर जितना होता है, उतना जानना । *(जगत्प्रतर÷प्रतरांगुल÷असंख्यात)* यहां द्वीन्द्रियराशि का प्रमाण सबसे अधिक है । पुनश्च उससे त्रीन्द्रिय विशेष हीन हैं। उससे चतुरिन्द्रिय विशेष हीन हैं । उससे पंचेन्द्रिय विशेष हीन हैं । सो कितने-कितने हीन हैं ऐसा विशेष का प्रमाण जानने के निमित्त भागहार और भागहार का भागहार आवली के असंख्यातवें भागमात्र जानना ।

वह भागहार का अनुक्रम कैसा है ? वह कहते हैं -

बहुभागे समभागो चउण्णमेदेसिमेक्कभागह्मि ।
उत्तकमो तत्थ वि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ।।१७९।।

बहुभागे समभागश्चतुर्णामेतेषामेकभागे ।
उत्क्रमस्तत्रापि बहुभागो बहुकस्य देयस्तु ।।१७९।।

टीका - त्रस जीवों का प्रमाण जो कहा उसमें आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दीजिये । उसमें एक भाग तो जुदा रखना और जो अवशेष बहुभाग रहे उनके चार हिस्से कीजिये, एक-एक हिस्सा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रियों को बराबर दीजिये । पुनश्च जो एक भाग जुदा रखा था उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दीजिये । उसमें से एक भाग तो जुदा रखना और अवशेष बहुभाग द्वीन्द्रिय को दीजिये । क्योंकि सर्व में अधिक प्रमाण द्वीन्द्रिय का है । पुनश्च जो एक भाग जुदा रखा था, उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दीजिये । उसमें से एक भाग तो जुदा रखना और अवशेष बहुभाग त्रीन्द्रिय को दीजिये । पुनश्च जो एक भाग जुदा रखा था, उसको पुनश्च आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दीजिये । उसमें से बहुभाग तो चतुरिन्द्रिय को दीजिये और एक भाग पंचेन्द्रिय को दीजिये । इसतरह दिये हुये प्रमाण कहे उन्हें नीचे स्थापन करना और पहले जो बराबर चार हिस्से किये थे उनको ऊपर स्थापन करना । पुनश्च अपने-अपने नीचे-ऊपर के प्रमाण को मिलानेपर द्वीन्द्रियादि जीवों का प्रमाण होता है ।

तिबिपचपुण्णपमाणं पदरंगुलसंखभागहिदपदरं ।
हीणकमं पुण्णूणा बितिचपजीवा अपज्जत्ता ।।१८०।।

त्रिद्विपंचचतुः पूर्णप्रमाणं प्रतरांगुलासंख्यभागहतप्रतरम् ।
हीनक्रमं पूर्णोना द्वित्रिचतुः पंचजीवा अपर्याप्ताः ।।१८०।।

टीका – पुनश्च पर्याप्त त्रस जीव प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग का भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण आये, उतने हैं, उसमें सर्वाधिक तो त्रीन्द्रिय हैं, उनसे हीन द्वीन्द्रिय हैं, उनसे हीन पंचेन्द्रिय हैं, उनसे हीन चतुरिन्द्रिय हैं । सो यहां भी पूर्वोक्त **'बहुभागे समभागो'** इत्यादि सूत्रोक्त प्रकार से सामान्य पर्याप्त त्रसराशि को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर, एक भाग मात्र जुदा रखकर, अवशेष बहुभागों के चार समान भाग करके एक-एक भाग त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय को देना । पुनश्च उस एक भाग को भागहार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर, एक भाग जुदा रखकर बहुभाग त्रीन्द्रिय को देना । पुनश्च उस एक भाग को भागहार का भाग देकर एक भाग जुदा रखकर बहुभाग द्वीन्द्रिय के देना । पुनश्च उस एक भाग को भागहार का भाग देकर एक भाग जुदा रखकर बहुभाग पंचेन्द्रिय को देना और एक भाग चतुरिन्द्रिय को देना । इसतरह अपना-अपना समभाग ऊपर स्थापन करके, देय भाग नीचे स्थापन करके जोड़नेपर त्रीन्द्रिय आदि पर्याप्त जीवों का प्रमाण होता है। पुनश्च पहले जो सामान्यपने द्वीन्द्रियादि जीवों का प्रमाण कहा था उसमें से यहां कहा हुआ जो अपने-अपने पर्याप्त जीवों का प्रमाण घटानेपर, द्वीन्द्रियादि पंचेन्द्रिय तक के जीवों का अपने-अपने अपर्याप्तों का प्रमाण आता है । सो अपर्याप्तों में सर्वाधिक तो द्वीन्द्रिय, उनसे हीन त्रीन्द्रिय, उनसे हीन चतुरिन्द्रिय, उनसे हीन पंचेन्द्रिय हैं - इसतरह इनका प्रमाण कहा ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से इन्द्रियमार्गणा प्ररूपणा नामक सातवां अधिकार पूर्ण हुआ ।।७।।

आठवां अधिकार : कायमार्गणा प्ररूपणा

॥ मंगलाचरण ॥

चंद्रप्रभ जिनकौं भजौं चंद्रकोटि सम जोति ।
जाकैं केवल लब्धि नव समवसरण जुत होति ॥

अब कायमार्गणा को कहते हैं –

जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ ।
सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादिछब्भेओ ॥१८१॥

जात्यविनाभावित्रसस्थावरोदयजो भवेत्कायः ।
स जिनमते भणितः पृथ्वीकायादिषड्भेदः ॥१८१॥

टीका – एकेन्द्रियादि जाति नामकर्म उदय सहित त्रस–स्थावर नामकर्म से उत्पन्न जो त्रस–स्थावर पर्याय जीव की होती है, वह काय कहलाती है । वह काय छह प्रकार की है ऐसा जिनमत में कहा है । १) पृथ्वीकाय, २) अप्काय, ३) तेजस्काय, ४) वायुकाय, ५) वनस्पतिकाय, ६) त्रसकाय – ये छह भेद जानना ।

कायते अर्थात् ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं ऐसा कहते हैं, वह काय जानना । वहां जो भयादिक से उद्वेगरूप होकर भागना आदि क्रिया संयुक्त होते हैं, वे त्रस कहलाते हैं । तथा जो भयादिक होनेपर स्थिति क्रिया युक्त होते हैं, वे स्थावर कहलाते हैं । अथवा **चीयते** अर्थात् पुद्गल स्कंधों द्वारा संचयरूप करना, पुष्टता प्राप्त करना, वह काय, औदारिकादि शरीरों का नाम काय हैं । तथा काय में स्थित जो आत्मा की पर्याय, उसको भी उपचार से काय कहते हैं । क्योंकि जीवविपाकी जो त्रस–स्थावर प्रकृति, उसके उदय से जो जीव की पर्याय होती है, वह काय है । इसतरह व्यवहार की सिद्धि है । पुनश्च पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न शरीर, उसका यहां काय शब्द से ग्रहण नहीं है ।

आगे स्थावरकाय के पांच भेद कहे हैं –

पुढवी आऊतेऊ वाऊ कम्मोदयेण तत्थेव ।
णियवण्णचउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा ।।१८२।।

पृथिव्यप्तेजोवायुकर्म्मोदयेन तत्रैव ।
निजवर्णचतुष्कयुतस्तेषां देहो भवेन्नियमात् ।।१८२।।

टीका – पृथ्वी, अप्, तेज, वायु विशेष के धारक नामकर्म की स्थावर प्रकृति के भेदरूप उत्तरोत्तर प्रकृति हैं । उनके उदय से जीवों के वहां ही पृथ्वी, अप्, तेज, वायु रूप परिणत जो पुद्गल स्कंध उनमें से अपने-अपने पृथ्वी आदिरूप वर्णादि चतुष्क संयुक्त शरीर नियम से होते हैं । ऐसे होनेपर पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव होते हैं ।

वहां पृथ्वी भेदवाली स्थावर पर्याय जिनके हो, वे पृथ्वीकायिक कहलाते हैं। अथवा पृथ्वी है काय अर्थात् शरीर जिनका वे पृथ्वीकायिक कहलाते हैं । इसीतरह अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक जानना । तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, स्थावरकाय इत्यादि नामकर्मों की प्रकृतियों के उदय अपेक्षा ऐसी निरुक्ति होती है ।

पुनश्च जो जीव पूर्व पर्याय को छोड़कर, पृथ्वी में उपजने के सन्मुख हुआ है, वह विग्रहगति में अंतराल में जब तक रहता है, तब तक उसको पृथ्वी जीव कहते हैं । क्योंकि यहां केवल पृथ्वी का जीव ही है, शरीर नहीं है ।

पुनश्च जो पृथ्वीरूप शरीर का धारक है, वह पृथ्वीकायिक जीव कहलाता है। क्योंकि वहां पृथ्वी का शरीर और जीव दोनों पाये जाते हैं ।

पुनश्च जीव तो निकल गया हो, उसका शरीर ही हो उसको पृथ्वीकाय कहते हैं । क्योंकि वहां केवल पृथ्वी का शरीर ही पाया जाता है । ऐसे तीन भेद जानने।

पुनश्च अन्य ग्रंथों में चार भेद कहे हैं । वहां ये तीनों भेद जिसमें गर्भित हो, वह सामान्यरूप पृथ्वी ऐसा एक भेद जानना । क्योंकि पूर्वोक्त तीनों भेद पृथ्वी के ही हैं । इसीतरह अप्जीव, अप्कायिक, अप्काय । तेजस्जीव, तेजस्कायिक, तेजस्काय। पुनश्च वायुजीव, वायुकायिक, वायुकायरूप तीन-तीन भेद जानने ।

बादरसुहुमदयेण य बादरसुहमा हवंति तद्देहा ।
घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं ।।१८३।।

बादरसूक्ष्मोदयेन च बादरसूक्ष्मा भवंति तद्देहाः ।
घातशरीरं स्थूलं अघातदेहं भवेत्सूक्ष्मम् ।।१८३।।

टीका – पहले कहे हुये जो पृथ्वीकायिकादि जीव, वे बादर नामक नामकर्म की प्रकृति के उदय से बादर शरीर धारण करके, बादर होते हैं । तथा सूक्ष्म नामक नामकर्म की प्रकृति के उदय से सूक्ष्म होते हैं । क्योंकि बादर, सूक्ष्म प्रकृति जीव विपाकी हैं । उनके उदय से जीव को बादर-सूक्ष्म कहते हैं । पुनश्च उनका शरीर भी बादर सूक्ष्म ही होता है । वहां इन्द्रिय विषय के संयोग से उत्पन्न सुख-दुःख के समान अन्य पदार्थ द्वारा अपना घात होता है, रूकना होता है और अपने द्वारा अन्य पदार्थों का घात होता है, रोके जाते हैं, ऐसा घातशरीर, उसे स्थूल या बादर शरीर कहते हैं । पुनश्च जो किसी को घातता नहीं और अपना घात अन्य के द्वारा जिसके नहीं होता है, ऐसा अघात-शरीर, उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं । पुनश्च उन शरीरों के धारक जो जीव, वे घात से युक्त है शरीर जिनका, वे घातदेह जो बादर जानने। तथा अघातरूप है देह जिनका, वे अघातदेह सूक्ष्म जानने । इसतरह शरीरों का रुकना या न रुकना होता है ।

तद्देहमंगुलस्स असंखभागस्स विंदमाणं तु ।
आधारे थूला ओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा ।।१८४।।

तद्देहमंगुलस्यासंख्यभागस्य वृंदमानं तु ।
आधारे स्थूला ओ सर्वत्र निरंतराः सूक्ष्माः ।।१८४।।

टीका – उन बादर और सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक जीवों के शरीर घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । क्योंकि पहले जीवसमासाधिकार में अवगाहना का कथन है । वहां सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त की जघन्य शरीर अवगाहना से लेकर बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यंत बयालीस स्थान कहे, उन सबमें घनांगुल को पल्य के असंख्यातवें भाग का भागहार होता है । अथवा वहां ही **'बीपुण्णजहण्णोत्तिय असंखसंख गुणो तत्तो'** इस सूत्र से बयालीसवें स्थान को असंख्यात का गुणकार करनेपर अगले स्थान में संख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहना होती है । इसलिए उस बयालीसवें स्थान में घनांगुल का असंख्यात का भागहार प्रकट ही सिद्ध हुआ । वहां सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकायिक की जघन्य अवगाहना वा पृथ्वीकायिक

वा पृथ्वीकायिक बादर पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण, वहां ही जीवसमासाधिकार में कहा है, वह जानना । पुनश्च **'आधारे थूला ओ'** आधारे अर्थात् अन्य पुद्गलों का आश्रय, उसमें वर्तमान शरीर संयुक्त जो जीव, वे सब **स्थूलः** अर्थात् बादर जानने। यद्यपि आधार द्वारा उनके शरीर का बादर स्वभाव का रुकना नहीं होता तथापि नीचे गिरनेरूप जो गमन, उसका रुकना होता है, सो वहां प्रतिघात होता है । इसलिये वहां बादर शरीरों का पूर्वोक्त घातरूप लक्षण ही दृढ़ हुआ ।

पुनश्च जिनके शरीर निरंतर आधार की अपेक्षा रहित सर्वत्र लोक में, जल में और स्थल में और आकाश में पाये जाते हैं, वे जीव सूक्ष्म हैं । जल-स्थल रूप आधार से उनके शरीर के गमन का नीचे ऊपर इत्यादि कहीं भी रुकना नहीं होता। अत्यंत सूक्ष्म परिणमन के कारण वे जीव सूक्ष्म कहलाते हैं । **अंतरयति** अर्थात् अंतराल करते हैं, ऐसा जो अंतर अर्थात् आधार उससे रहित वे निरंतर कहलाते हैं । इस विशेषण द्वारा भी पूर्वोक्त ही लक्षण दृढ़ हुआ । **'ओ'** संबोधन पद जानना । इसका अर्थ यह है - हे शिष्य ! ऐसा तू जान ।

पुनश्च यद्यपि बादर अपर्याप्त वायुकायिकादि जीवों की अवगाहना छोटी है । तथा इनसे सूक्ष्म पर्याप्त वायुकायिकादिक पृथ्वीकायिक पर्यंत जीवों की जघन्य तथा उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी है । तथापि सूक्ष्म नामकर्म के उदय की सामर्थ्य से अन्य पर्वतादिक से भी उनका रुकना नहीं होता, निकल जाते हैं । जिसतरह जल का बिन्दु वस्त्र में से निकल जाता है, रुकता नहीं, उसतरह सूक्ष्म शरीर जानना ।

पुनश्च बादर नामकर्म के उदय के वश से अन्य द्वारा रुकना होता है । जिसतरह सरसों वस्त्र में से निकसते नहीं हैं, उसतरह बादर शरीर जानना ।

पुनश्च यद्यपि ऋद्धिप्राप्त मुनि, देव इत्यादिकों का शरीर बादर है, तो भी वे वज्र पर्वतादिक से रुकते नहीं है; निकल जाते हैं, यह तपजनित अतिशय की महिमा है, क्योंकि तप, विद्या, रत्न, मंत्र, औषधि इनकी शक्ति के अतिशय की महिमा अचिंत्य है, ऐसा देखा जाता है । ऐसा ही द्रव्यत्व का स्वभाव है । तथा स्वभाव में कोई तर्क नहीं होता । यह समस्त वादी मानते हैं । यहां अतिशयवानों का ग्रहण नहीं है। इसलिये अतिशयरहित वस्तु के विचार में बादर सूक्ष्म जीवों का पूर्वोक्त शास्त्र का उपदेश ही सिद्ध हुआ ।

उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति ।
पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरे त्ति पत्तेयं ।।१८५।।

उदये तु वनस्पतिकर्मणश्च जीवा वनस्पतयो भवंति ।
प्रत्येकं सामान्यं प्रतिष्ठितेतरे इति प्रत्येकं ।।१८५।।

टीका – वनस्पतिरूप विशेष की धारक स्थावर नामक नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृति का उदय होनेपर, जीव वनस्पतिकायिक होता है । वे दो प्रकार के हैं – एक प्रत्येकशरीर, एक सामान्य अर्थात् साधारणशरीर । वहां एक प्रति नियमरूप होता है, एक जीव प्रति एक शरीर होता है, वह प्रत्येकशरीर है । प्रत्येक है शरीर जिनका, वे प्रत्येकशरीर जीव जानने । पुनश्च समान का भाव वह सामान्य, सामान्य है शरीर जिनका वे सामान्यशरीर जीव हैं ।

भावार्थ – बहुत जीवों का एक ही शरीर साधारण समानरूप होता है, उसे साधारणशरीर कहते हैं । ऐसा शरीर जिनके होता है, वे साधारणशरीर जानने । वहां प्रत्येकशरीर के दो भेद-एक प्रतिष्ठित, एक अप्रतिष्ठित । यहां गाथामें **इति** शब्द प्रकारवाची जानना । वहां प्रत्येकवनस्पति के शरीर बादर निगोद जीवों द्वारा आश्रित अर्थात् संयुक्त होते हैं, वे प्रतिष्ठित जानना । जो बादर निगोद जीवों द्वारा आश्रित नहीं हैं, वे अप्रतिष्ठित जानना ।

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ।।१८६।।

मूलाग्रपर्वबीजाः कंदास्तथा स्कंधबीजबीजरुहाः ।
सम्मूर्छिमाश्च भणिता प्रत्येकानंतकायाश्च ।।१८६।।

टीका – जिनका मूल अर्थात् जड़, वही बीज होता है, वे अदरक, हलदी आदि मूलबीज जानने । पुनश्च जिनका अग्र अर्थात् अग्रभाग वही बीज होता है, वे आर्यक आदि अग्रबीज जानने । पुनश्च जिनका पर्व अर्थात् पेली ही बीज होता है, वे सांठ अर्थात् गन्ना आदि पर्वबीज जानने । पुनश्च कंद है बीज जिनका, वे पिंडालु, सुरण आदि कंदबीज जानने । पुनश्च स्कंध जो पेड़ वही है बीज जिनका, वे सालरि, पलाश आदि स्कंधबीज जानने । पुनश्च जो बीज से ही ऊगते हैं, वे गेहूं, शालि

आदि बीजरुह जानने । पुनश्च जो मूल आदि निश्चित बीज की अपेक्षा से रहित, अपने आप उपजते हैं वे सम्मूर्छिम अर्थात् समंत से हुये पुद्गल स्कंध उनमें उपजते हैं ऐसे दोब आदि सम्मूर्छिम जानना ।

इसतरह कहे ये सर्व ही प्रत्येकवनस्पति हैं । वे अनंत जो निगोद जीव, उनके **कायः** अर्थात् शरीर जिनमें पाये जाते हैं ऐसे **'अनंतकायाः'** अर्थात् प्रतिष्ठितप्रत्येक हैं । पुनश्च चकार से अप्रतिष्ठितप्रत्येक हैं । इसतरह प्रतिष्ठित अर्थात् साधारणशरीरों से आश्रित है प्रत्येकशरीर जिनका, वे प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर हैं । पुनश्च उनसे आश्रित नहीं है प्रत्येकशरीर जिनका, वे अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर हैं । इसतरह ये मूलबीज आदि सम्मूर्छिम पर्यंत सभी दो-दो अवस्था सहित जानने । पुनश्च कोई समझेगा कि इनमें से सम्मूर्छिम के तो सम्मूर्छिम जन्म होगा, अन्य के गर्भादिक जन्म होगा, सो ऐसा नहीं है । वे सभी प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित प्रत्येक-शरीर जीव सम्मूर्छिम ही हैं ।

पुनश्च प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर की सर्वोत्कृष्ट भी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र ही है । इसलिये पूर्वोक्त अदरक आदि से लेकर एक-एक स्कंध में असंख्यात प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर पाये जाते हैं । कैसे ? घनांगुल को दो बार पल्य के असंख्यातवें भाग का और नौ बार संख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उतने क्षेत्र में यदि एक प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर होता है, तो संख्यात घनांगुलप्रमाण अदरक, मूली आदि स्कंध में कितने पाये जाते हैं ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर लब्धराशि दो बार पल्य का असंख्यातवां भाग और दस बार संख्यात मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जितना प्रमाण हो, उतने एक-एक अदरक आदि स्कंध में प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर पाये जाते हैं । पुनश्च एक स्कंध में अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति जीवों के शरीर यथासंभव असंख्यात भी होते हैं वा संख्यात भी होते हैं । जितने प्रत्येकशरीर हैं, उतने ही वहां वनस्पति जीव जानना; क्योंकि वहां एक-एक शरीर प्रति एक-एक ही जीव होने का नियम है।

बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा ।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ।।१८७।।

बीजे योनीभूते जीवः चंक्रामति स वा अन्यो वा ।
येऽपि च मूलादिकास्ते प्रत्येकाः प्रथमतायाम् ।।१८७।।

टीका – 'बीजे' अर्थात् पहले कहे हुये मूल से लेकर बीज तक बीजजीव

उपजने के आधारभूत पुद्गल स्कंध योनीभूत हैं अर्थात् जिसमें जीव उपजे ऐसी शक्ति युक्त होते हुये जल और कालादिक का निमित्त पाकर वही जीव या अन्य जीव आकर उपजता है ।

भावार्थ – पहले बीज में जो जीव रहता था, वह जीव तो निकल गया और उस बीज में ऐसी शक्ति रही कि इसमें जीव आकर पैदा हो, वहां जलादिक का निमित्त पानेपर पहले जो जीव उस बीज को अपना प्रत्येकशरीर करके पश्चात् अपने आयु के नाश से मरण को प्राप्त हो निकल गया था, वही जीव पुनश्च उसी अपने योग्य जो मूलादि बीज, उसमें आकर उपजता है । अथवा यदि वह जीव अन्यत्र उपजा हो, तो अन्य किसी शरीरांतर में स्थित जीव अपनी आयु के नाश से मरण को प्राप्त होकर इस बीज में आकर उपजता है । कोई विरोध नहीं है ।

जैसे गेहूं में जीव था, वह निकल गया । पुनश्च इसको बोया, तब उसीमें वही जीव या अन्य जीव आकर पैदा हुआ; सो जितने काल तक जीव उपजने की शक्ति हो, उतने काल तक योनीभूत कहते हैं । और जब ऊगने की शक्ति न हो तब अयोनीभूत कहते हैं, ऐसा भेद जानना । पुनश्च जो मूल से लेकर वनस्पतिकाय प्रत्येकरूप प्रतिष्ठित प्रसिद्ध हैं, वे प्रथम अवस्था में जन्म के प्रथम समय से लेकर अंतर्मुहूर्त काल तक अप्रतिष्ठितप्रत्येक ही रहते हैं । पश्चात् जब निगोद जीव आश्रय करते हैं तब सप्रतिष्ठितप्रत्येक होते हैं ।

आगे श्री माधवचन्द्र नामक आचार्य त्रैविद्यदेव सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित जीवों का विशेष लक्षण तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं –

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं (यं) च छिण्णरुहं ।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ।।१८८।।

गूढशिरासंधिपर्व समभंगमहीरुकं च छिन्नरुहम् ।
साधारणं शरीरं तद्विपरीतं च प्रत्येकम् ।।१८८।।

टीका – जिस प्रत्येकवनस्पति शरीर की सिरा, संधि, पर्व गूढ हो, बाह्य में दिखायी न दे, वहां सिरा तो लम्बी लकीरसी जैसे ककड़ी (खिरा) में होती है। संधि बीच में छेहा जैसे दाड़िम वा नारंगी में होती है । पर्व या गांठ जैसे गन्ने में होती है । सो कच्ची अवस्था में जिसके ये बाह्य में दिखायी नहीं देते ऐसी वनस्पति,

समभंगं अर्थात् उसका टुकड़ा करनेपर तो कोई तंतू लगा न रहे, समान बराबर टूटे ऐसी, पुनश्च **अहीरुहं** अर्थात् जिसमें सूत जैसा तंतू न हो ऐसी, पुनश्च **छिन्नरुहं** अर्थात् काटी हुयी ऊगे ऐसी वनस्पति वह साधारण है । यहां प्रतिष्ठितप्रत्येक को साधारण जीवों द्वारा अपेक्षा से उपचार से साधारण कहा है । पुनश्च **तद्विपरीतं** अर्थात् पूर्वोक्त गूढ सिरा आदि लक्षण रहित नारियल, आम्र आदि शरीर अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर जानना। गाथा में कहा हुआ चकार इस भेद को सूचित करता है ।

मूले कंदे छल्ली पवाल सालदलकुसुम फलबीजे ।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ।।१८९।।

मूले कंदे त्वक्प्रवालशालादलकुसुमफलबीजे ।
समभंगे सति नांता असमे सति भवंति प्रत्येकाः ।।१८९।।

टीका – मूल अर्थात् जड़, कंद अर्थात् पेड़, छल्ली अर्थात् छाल, प्रवाल अर्थात् कोंपल, अंकुर, शाला अर्थात् छोटी ड़ाली, शाखा अर्थात् बड़ी ड़ाली, दल अर्थात् पान (पत्ता), कुसुम अर्थात् फूल, फल अर्थात् फल, बीज अर्थात् जिससे फिर पैदा हो वह बीज, ये सब समभंग हो तो अनंत अर्थात् अनंतकायरूप प्रतिष्ठितप्रत्येक हैं। और यदि ये मूल आदि वनस्पति समभंग न हो, वे अप्रतिष्ठितप्रत्येक हैं । जिन वनस्पति का मूल, कंद, छाल इत्यादि समभंग हो, वे प्रतिष्ठितप्रत्येक हैं और जिनका समभंग न हो, वे अप्रतिष्ठितप्रत्येक हैं । तोड़नेपर तंतू कोई लगा न रहे, बराबर टूटे उसे समभंग कहते हैं ।

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वावि बहुलतरी ।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ।।१९०।।

कंदस्य वा मूलस्य वा शालास्कंधस्य वापि बहुलतरी ।
त्वक् सा अनंतजीवा प्रत्येकजीवास्तु तनुकतरी ।।१९०।।

टीका – जिस वनस्पति के कंद की, मूल की, क्षुद्र शाखा की वा स्कंध की छाल मोटी हो, वह अनंतकाय है । निगोद जीव सहित प्रतिष्ठितप्रत्येक है । तथा जिस वनस्पति के कंदादिक की छाल पतली हो, वह अप्रतिष्ठितप्रत्येक है ।

आगे श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती साधारण वनस्पति का स्वरूप सात गाथाओं

द्वारा कहते हैं -

साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा ।
ते पुण दुविहा जीवा बादर सुहमा त्ति विण्णेया ।।१९१।।

साधारणोदयेन निगोदशरीरा भवंति सामान्याः ।
ते पुनर्द्विविधा जीवा बादर-सूक्ष्मा इति विज्ञेयाः ।।१९१।।

टीका - साधारण नामक नामकर्म की प्रकृति के उदय से निगोद शरीर के धारक साधारण जीव होते हैं । **नि** अर्थात् नियतज अनंत जीव, उनको **गो** अर्थात् एक ही क्षेत्र को, **द** अर्थात् देता है, वह निगोद शरीर जानना । वह जिन के पाया जाता है वे निगोदशरीरी हैं । वे ही सामान्य अर्थात् साधारण जीव हैं । वे बादर और सूक्ष्म ऐसे भेद से दो प्रकार के हैं और पूर्वोक्त बादर सूक्ष्मपना लक्षण के धारक जानना ।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ।।१९२।।

साधारणमाहारः साधारणमानपानग्रहणं च ।
साधारणजीवानां साधारणलक्षणं भणितम् ।।१९२।।

टीका - साधारण नामक नामकर्म के उदय के वशवर्ती जो साधारण जीव, उनके उपजने के पहले समय में आहारपर्याप्ति होती है, वह साधारण अर्थात् अनंत जीवों की युगपत् एक काल में होती है । उस आहारपर्याप्ति का कार्य यह है कि जो आहारवर्गणारूप पुद्गल स्कंध, उनको खल-रस भागरूप परिणमाना । पुनश्च उन्हीं आहारवर्गणारूप पुद्गल स्कंधों को शरीर के आकाररूप परिणमानेरूप है कार्य जिसका, ऐसी शरीरपर्याप्ति, वह भी उन जीवों के साधारण होती है । पुनश्च उन्हीं को स्पर्शनइन्द्रिय के आकार परिणमाना है कार्य जिसका, ऐसी इन्द्रियपर्याप्ति, वह भी साधारण होती है । पुनश्च श्वासोच्छ्वास ग्रहणरूप है कार्य जिसका, ऐसी आनपानपर्याप्ति, वह भी साधारण होती है । एक निगोद शरीर है उसमें पहले अनंत जीव थे । पुनश्च दूसरे, तीसरे आदि समय में नये अनंत जीव उसी में अन्य आकर उपजते हैं, तो वहां जैसे वे नये उपजे हुये जीव आहार आदि पर्याप्ति को धारण करते हैं, वैसे ही पूर्व-पूर्व

समय में उपजे हुये अनंतानंत जीव भी उन्हीं के साथ आहारादि पर्याप्तियों को धारण करते हैं, सदृश युगपत् सर्व जीवों के आहारादिक होते हैं । इसलिये इनको साधारण कहते हैं । यह साधारण का लक्षण पूर्वाचार्यों द्वारा कहा हुआ जानना ।

जत्थेक्क मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थणंताणं ।।१९३।।

यत्रैको म्रियते जीवस्तत्र तु मरणं भवेदनंतानाम् ।
प्रक्रामति यत्र एकः प्रक्रमणं तत्रानंतानाम् ।।१९३।।

टीका – एक निगोद शरीर में से जिस समय एक जीव अपनी आयु के नाश से मरता है, उसी काल में जिनकी आयु समान हो, ऐसे अनंतानंत जीव युगपत् मरते हैं । जिस काल में एक जीव वहां उपजता है, उसी काल में उसी जीव के साथ समान स्थिति के धारक अनंतानंत जीव उपजते हैं । इसतरह उपजने मरने के समकालपने को भी साधारण जीवों का लक्षण कहते हैं । तथा द्वितीयादि समयों में उत्पन्न अनंतानंत जीवों का भी अपनी आयु का नाश होनेपर एकसाथ ही मरना जानना। ऐसे एक निगोद शरीर में समय-समय प्रति अनंतानंत जीव एकसाथ ही मरते हैं, एक साथ ही उपजते हैं । निगोद शरीर जैसा का वैसा रहता है । निगोद शरीर की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोडाकोडि सागरमात्र है । वह असंख्यात लोकमात्र समयप्रमाण जानना । वह स्थिति जब तक पूर्ण नहीं होती तब तक इसी प्रकार वहां जीवों का उपजना, मरना होता रहता है ।

इतना विशेष है कि – किसी एक बादर निगोद शरीर में वा एक सूक्ष्म निगोद शरीर में अनंतानंत जीव केवल पर्याप्त ही उपजते हैं, वहां अपर्याप्त नहीं उपजते । किसी एक शरीर में केवल अपर्याप्त ही उपजते हैं, वहां पर्याप्त नहीं उपजते । एक शरीर में पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों नहीं उपजते क्योंकि उन जीवों के समान कर्मों के उदय का नियम है ।

पुनश्च एक साधारण जीव के कर्मग्रहण शक्तिरूप लक्षण का धारक जो काययोग, उसके द्वारा ग्रहण किया हुआ जो पुद्गलपिण्ड, उसका उपकार कार्य, वह उस शरीर में रहनेवाले अनंतानंत अन्य जीवों का और उस जीव का उपकारी होता है । अनंतानंत साधारण जीवों की जो काययोगरूप शक्ति, उसके द्वारा ग्रहण किये हुये पुद्गलपिण्डों

का कार्यरूप उपकार, वह किसी एक जीव का वा उन अनंतानंत साधारण जीवों का उपकारी समान एकसाथपने होता है । पुनश्च एक बादर निगोद शरीर में वा सूक्ष्म निगोद शरीर में क्रम से पर्याप्त बादर निगोद जीव वा सूक्ष्म निगोद जीव पैदा होते हैं । वहां पहले समय में अनंतानंत पैदा होते हैं, दूसरे समय में उनसे असंख्यातगुणा हीन पैदा होते हैं । इसीतरह आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण काल तक समय-समय प्रति निरंतर असंख्यातगुणा हीन क्रम से जीव पैदा होते हैं । उसके पश्चात् जघन्य एक समय, उत्कृष्ट आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण काल का अंतराल होता है। वहां कोई जीव पैदा नहीं होता । उसके पश्चात् पुनश्च जघन्य एक समय, उत्कृष्ट आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण काल तक निरंतर असंख्यातगुणा हीन क्रम से उस निगोद शरीर में जीव पैदा होते हैं । इसतरह अंतर सहित और निरंतर निगोद शरीर में जीव पैदा होते हैं । सो जब तक प्रथम समय में उत्पन्न साधारण जीव का जघन्य निर्वृत्ति अपर्याप्त अवस्था का काल अवशेष रहे, तब तक ऐसे ही उपजना होता है। पश्चात् उन प्रथमादि समयों में उत्पन्न सर्व साधारण जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास पर्याप्तियों की पूर्णता अपने-अपने योग्य काल में होती है ।

खंधा असंखलोगा अंडर आवासपुलविदेहा वि ।
हेट्ठिल्लजोणिगाओ असंखलोगेण गुणिदकमा ।।१९४।।

स्कंधा असंख्यलोकाः अंडरावासपुलविदेहा अपि ।
अधस्तनयोनिका असंख्यलोकेन गुणितक्रमाः ।।१९४।।

टीका – बादर निगोद जीवों की शरीर की संख्या जानने के निमित्त उदाहरणपूर्वक यह कथन करते हैं । इस लोकाकाश में स्कंध यथायोग्य असंख्यात लोकप्रमाण हैं। प्रतिष्ठितप्रत्येक जीवों के शरीरों को स्कंध कहते हैं । सो यथायोग्य असंख्यात से लोक के प्रदेशों को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने प्रतिष्ठितप्रत्येक शरीर इस लोक में जानना। एक-एक स्कंध में असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं ।

यहां प्रश्न – एक स्कंध में असंख्यात लोकप्रमाण अंडर कैसे संभव है ?

उसका समाधान – यह अवगाहन की समर्थता है । जैसे जगत्श्रेणी के घनप्रमाण लोक के प्रदेशों में अनंतानंत पुद्गल परमाणु पाये जाते हैं, जैसे जहां एक निगोद जीव का कार्माण स्कंध है, वहीं अनंतानंत निगोद जीवों के कार्माणशरीर पाये जाते

हैं, वैसे ही एक-एक स्कंध में असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं । वे प्रतिष्ठितप्रत्येक शरीर के अवयवरूप विशेष हैं । जैसे मनुष्यशरीर में हस्तादिक होते हैं, वैसे स्कंध में अंडर जानना । एक-एक अंडर में असंख्यात लोकप्रमाण आवास पाये जाते हैं। वे आवास भी प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर के अवयवरूप विशेष ही जानना । जैसे हाथ में उंगली आदि होती हैं । एक-एक आवास में असंख्यात लोकप्रमाण पुलवी हैं । वे भी प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर के अवयवरूप विशेष ही जानना । जैसे एक उंगली में रेखायें आदि होती हैं । एक-एक पुलवी में असंख्यात लोकप्रमाण बादर निगोद के शरीर जानना । इसतरह ये अंडरादिक अधस्तन योनि कहे, इनमें अधस्तन अर्थात् पश्चात् कहा हुआ भेद, उसकी संख्या की उत्पत्ति का कारण ऊपर का भेद जानना । इसतरह वहां एक स्कंध में असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं, तो असंख्यातलोक प्रमाण स्कंधों में कितने अंडर हैं ? ऐसा त्रैराशिक करके लब्धराशि असंख्यातलोक गुणे असंख्यातलोक प्रमाण अंडर जानना । पुनश्च इसीतरह आवासादि में त्रैराशिक करनेपर उनसे असंख्यातलोक गुणे आवास जानना । पुनश्च उनसे असंख्यातलोक गुणे पुलवी जानना । पुनश्च उनसे असंख्यातलोक गुणे बादर निगोद शरीर जानना । वे सर्व निगोद शरीर पांच जगह असंख्यातलोक मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जितना प्रमाण हो उतने जानना ।

जंबूदीवं भरहो कोसलसागेदतग्घराइं वा ।
खंधंडरआवासा पुलविसरीराणि दिट्ठंता ।।१९५।।

जंबूद्वीपो भरतः कोशल साकेततद्गृहाणि वा ।
स्कंधांडरावासाः पुलविशरीराणि दृष्टांताः ।।१९५।।

टीका – स्कंधों का दृष्टांत जम्बूद्वीपादिक जानना । जैसे मध्यलोक में जम्बूद्वीपादिक द्वीप हैं, वैसे लोक में स्कंध हैं । अंडरों का दृष्टांत भरतादि क्षेत्र जानना । जैसे एक जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र आदि क्षेत्र पाये जाते हैं, वैसे स्कंध में अंडर जानना । आवासों का दृष्टांत कोशल आदि देश जानना । जैसे भरतक्षेत्र में कोशल देश आदि अनेक देश पाये जाते हैं, वैसे अंडर में आवास जानना । पुलवी का दृष्टांत अयोध्या आदि नगर जानना । जैसे एक कोशल देश में अयोध्या आदि अनेक नगर पाये जाते हैं, वैसे आवास में पुलवी जानना । शरीर का दृष्टांत अयोध्या के गृहादिक जानना। जैसे अयोध्या में अनेक गृहादिक पाये जाते हैं, वैसे पुलवी में बादर निगोद शरीर

जानना । वा शब्द से यह दृष्टांत दिया है, ऐसे ही और कोई उचित दृष्टांत जानना।

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ।।१९६।।

एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टाः ।
सिद्धैरनंतगुणाः सर्वेण व्यतीतकालेन ।।१९६।।

टीका – एक निगोद शरीर में वर्तमान निगोद जीव, वे द्रव्यप्रमाण अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा अर्थात् संख्या से अनंतानंत हैं । सर्व जीवराशि को अनंत का भाग देनेपर एक भागप्रमाण सिद्ध हैं । अनादिकाल से जितने सिद्ध हुये उनसे वे अनंत गुणे हैं। अवशेष बहुभाग प्रमाण संसारी हैं । उनके असंख्यातवें भागप्रमाण एक निगोद शरीर में जीव विद्यमान हैं, वे अक्षयानंत प्रमाण हैं । ऐसा परमागम में कहा है ।

उसीप्रकार अतीत काल के समयों से अनंतगुणे हैं । इस के द्वारा काल की अपेक्षा एक निगोद शरीर में निगोद जीवों की संख्या कही ।

इसीतरह क्षेत्र और भाव की अपेक्षा उनकी संख्या आगम अनुसार देखते हैं। वहां क्षेत्र प्रमाण से सर्व आकाश के प्रदेशों के अनंतवें भाग वा लोकाकाश के प्रदेशों से अनंतगुणे जानना ।

भावप्रमाण से केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के अनंतवें भाग और सर्वावधिज्ञानगोचर जो भाव, उनसे अनंतगुणे जानना । इसप्रकार एक निगोद शरीर में जीवों का प्रमाण कहा ।

यहां प्रश्न – यदि छह महिने और आठ समय में छह सौ आठ जीव कर्म का नाश करके सिद्ध होते हैं, सो इसतरह सिद्ध बढ़ते जाते हैं और संसारी घटते जाते हैं, इसलिये तुम सदाकाल सिद्धों से अनंतगुणे जीव एक निगोद शरीर में कैसे कह सकते हो ? सर्व जीवराशि से अनंतगुणा अनागत *(भविष्य)* काल का समयसमूह है । सो यथायोग्य अनंतवां भाग प्रमाण काल जानेपर *(अतीतकाल जानेपर)*, संसारी राशि का नाश और सिद्ध का बहुत्व होगा, इसलिये सर्वदा अर्थात् सभी काल में सिद्धों से निगोद शरीर में निगोद जीवों का प्रमाण अनंतगुणा संभव नहीं है ?

उसका समाधान – कहते हैं – रे तार्किक भव्य ! संसारी जीवों का प्रमाण

अक्षयानंत है । उसे केवली ने केवलज्ञानरूपी नेत्रों से और श्रुतकेवली ने श्रुतज्ञानरूपी नेत्रों से ऐसे ही देखा है । यह सूक्ष्मता तर्कगोचर नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण और आगम प्रमाण से विरुद्ध हो, वह तर्क अप्रमाण है । जैसे किसी ने कहा अग्नि उष्ण नहीं है क्योंकि अग्नि है वह पदार्थ है, जो जो पदार्थ है, वह वह उष्ण नहीं; जैसे जल उष्ण नहीं है – ऐसा तर्क किया परंतु यह तर्क प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है । अग्नि प्रत्यक्ष उष्ण है, इसलिये यह तर्क प्रमाण नहीं है । पुनश्च किसी ने कहा धर्म है वह परलोक में दुःखदायक है क्योंकि धर्म पुरुषाश्रित है । जो जो पुरुषाश्रित है वह वह परलोक में दुःखदायक है, जैसे अधर्म है – ऐसा तर्क किया । परंतु यह तर्क आगम प्रमाण से खण्डित है ।आगम में धर्म परलोक में सुखदायक कहा है, इसलिये यह तर्क प्रमाण नहीं है । इसीप्रकार जो केवलीप्रत्यक्ष और आगमोक्त कथन है, उससे विरुद्ध तेरा तर्क प्रमाण नहीं है ।

यहां पुनश्च तर्क करता है – तर्क से विरुद्ध आगम प्रमाण कैसे हो सकता है ?

उसका समाधान – प्रत्यक्ष प्रमाण और अन्य तर्क प्रमाण से संभवनेवाला जो आगम, उसके अविरुद्धपना से प्रमाणपना होता है । तो वह अन्य तर्क कौनसा है? उसे कहते हैं ह्न सर्व भव्य संसारीराशि अनंतकाल द्वारा भी क्षय को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि यह राशि अक्षयानंत है । जो जो अक्षयानंत है, वह वह अनंतकाल द्वारा भी क्षय को प्राप्त नहीं होता है । जैसे तीन काल के समयों का प्रमाण कहा कि इतना है, परंतु कभी भी अंत नहीं तथा सर्वद्रव्यों के अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेदों के समूह का प्रमाण कहा परंतु अंत नहीं है । वैसे संसारी जीवों का भी अक्षयानंत प्रमाण जानना । ऐसा यह अनुमान से आया जो तर्क है, वह प्रमाण है ।

पुनश्च प्रश्न – अनंतकाल द्वारा भी क्षय न होना वह साध्य है, उसे अक्षयअनंत के हेतु से दृढ़ किया । इसलिये यहां हेतु के साध्यसमत्व हुआ ?

उसका समाधान – भव्यराशि का अक्षयानंतपना आप्त के आगम द्वारा सिद्ध है, इसलिये साध्यसमत्व का अभाव है । अधिक कहने से क्या ? सर्व तत्त्वों के वक्ता पुरुष जो आप्त है, उनकी सिद्धि होनेपर उस आप्त के वचनरूप जो आगम, उसकी सूक्ष्म, अंतरित, दूरवर्ती पदार्थों में प्रमाणता की सिद्धि होती है । इसलिये उस आगमोक्त

पदार्थों में मेरा चित्त निस्संदेहरूप है । बहुत वादी होने से क्या साध्य है?

आप्त की सिद्धि कैसे हैं ? उसे कहते हैं -

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः' ऐसे वेद के वचन से 'प्रणम्य शंभुं' इत्यादि नैयायिक वचन से, 'बुद्धो भवेयं' इत्यादि बौद्ध वचन से, 'मोक्षमार्गस्य नेत्तारं' इत्यादि जैन वचन से तथा अन्य अन्य अपने-अपने मत के देवता के स्तवनरूप वचनों से सामान्यपने सर्व मतों में आप्त मानते हैं । परंतु विशेषपने से सर्वत्र, वीतरागदेव स्याद्वादी ही आप्त है। उसका युक्ति द्वारा साधन किया है । सो विस्तार से स्याद्वादरूप जैन न्यायशास्त्रों में से आप्त की सिद्धि जानना । ऐसे ही जहां निश्चयरूप खण्डन करनेवाला प्रमाण संभव नहीं है, इसलिये आप्त और आप्त द्वारा प्ररूपित आगम की सिद्धि होती है। इसलिये आप्त और आगम द्वारा प्ररूपित जो मोक्षतत्त्व और बंधतत्त्व, उसे अवश्य प्रमाण करना । इसप्रकार आगम प्रमाण से एक शरीर में निगोद जीवों का सिद्धराशि से अनंतगुणापना होता है। पुनश्च अक्षयानंतपना भी सर्व मतवाले मानते हैं, कोई ईश्वर में मानते हैं, कोई स्वभाव में मानते हैं । इसलिये कहा हुआ कथन प्रमाण है ।

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ।।१९७।।

संति अनंता जीवा यैर्न प्राप्तस्त्रसानां परिणामः ।
भावकलंकसुप्रचुरा निगोदवासं न मुंचंति ।।१९७।।

टीका - इस गाथा में नित्यनिगोद का लक्षण कहा है । अनादिसंसार में निगोद पर्याय ही को भोगते हुये अनंत जीव नित्यनिगोद नामधारक सदाकाल हैं । वे कैसे हैं ? जिन्हों ने त्रस जो द्वीन्द्रियादिक उनका परिणाम अर्थात् पर्याय, उसे कभी भी नहीं पाया । तथा भाव जो निगोद पर्याय के कारणभूत कलंक अर्थात् कषायों के उदय से प्रकट हुआ अशुभ लेश्यारूप भाव, उससे प्रचुरा अर्थात् अत्यंत संबंधरूप हैं । ऐसे ये नित्यनिगोद जीव कदाचित् निगोदवास को नहीं छोड़ते । इसीकारण निगोद पर्याय का आदि-अंत रहितपना जानकर अनंतानंत जीवों के नित्यनिगोदपना कहा । नित्य विशेषण द्वारा अनित्य निगोदिया - चतुर्गति निगोदरूप आदि-अंत निगोदपर्याय संयुक्त कितने ही जीव हैं, ऐसा सूचित है । क्योंकि **णिच्चचतुग्गदिणिगोद** इत्यादि प्रकार से परमागम में निगोद जीव दो प्रकार के कहे हैं ।

भावार्थ – जो अनादि से निगोदपर्याय ही के धारक हैं, वे नित्यनिगोद जीव हैं । बीच में अन्य पर्याय पाकर पुनश्च निगोद पर्याय को धारण करे, वे इतरनिगोद जीव जानना । वे आदि अंत सहित हैं । तथा जिनके प्रचुर भावकलंक है, वे निगोदवास को नहीं छोड़ते, सो यहां प्रचुर शब्द है वह एकदेश के अभावरूप है, सकल अर्थ का वाचक है । इसलिये इससे यह जानना कि जिनके भावकलंक थोड़ा है, वे जीव कदाचित् नित्यनिगोद में से निकलकर, चतुर्गति में आते हैं । सो छह महिने और आठ समय में छह सौ आठ जीव नित्यनिगोद में से निकलते हैं, उसी छह महिने और आठ समय में छह सौ आठ जीव संसार से निकलकर मुक्त होते हैं ।

आगे त्रसकाय की प्ररूपणा दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

बिहि तिहि चदुहिं पंचहिं सहिया जे इंदिएहिं लोयह्मि ।
ते तसकाया जीवा णेया वीरोवदेसेण ।।१९८।।

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पंचभिः सहिता ये इंद्रियैर्लोके ।
ते त्रसकाया जीवा ज्ञेया वीरोपदेशेन ।।१९८।।

टीका – दो इन्द्रिय स्पर्शन-रसना, उनसे संयुक्त द्वीन्द्रिय, पुनश्च तीन इन्द्रिय स्पर्शन-रसना-घ्राण उनसे संयुक्त त्रीन्द्रिय, पुनश्च चार इन्द्रिय स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु इनसे संयुक्त चतुरिन्द्रिय तथा पांच इन्द्रिय स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र इनसे संयुक्त पंचेन्द्रिय, ये कहे हुये जीव त्रसकाय जानना । ऐसे श्री वर्धमान तीर्थंकर परमदेव के उपदेश से परम्परा क्रम से चले आये सम्प्रदाय द्वारा शास्त्र का अर्थ धरकर हम भी कहते हैं, उसे जानना।

उववादमारणंतिय परिणदतसमुज्झिऊण सेसतसा ।
तसणालिबाहिरह्मि य णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।१९९।।

उपपादमारणांतिकपरिणतत्रसमुज्झित्वा शेषत्रसाः ।
त्रसनालीबाह्ये च न संतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ।।१९९।।

टीका – विवक्षित पर्याय के पहले समय में पर्याय की प्राप्ति, उसे उपपाद कहते हैं । मरण अर्थात् प्राणत्याग और अंत अर्थात् पर्याय का अंत जिसके होता है, वह मरणांतकाल वर्तमान पर्याय के आयु का अंतिम अंतर्मुहूर्तमात्र जानना । उस

मरणांतकाल में उत्पन्न हुआ उसे मारणांतिक समुद्घात कहते हैं । आगामी पर्याय के पैदा होने के स्थान तक आत्मप्रदेशों का फैलना, उसे मारणांतिक समुद्घात जानना। इसतरह उपपादरूप से परिणत, मारणांतिक समुद्घातरूप से परिणत और चकार से केवली समुद्घातरूप से परिणत जो त्रसजीव इनके स्थानों को छोड़कर, अवशेष स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत् स्वस्थान और अन्य पांच समुद्घातरूप से परिणत सर्व ही त्रसजीव, वे त्रसनाली से बाह्य में स्थित जो लोकक्षेत्र, उसमें नहीं पाये जाते - ऐसा जिन जो अर्हंतादिक, उन्हों ने कहा है । इसलिये जैसे नाली होती है, वैसे त्रस का रहने का स्थान, उसे त्रसनाली जानना ।

त्रसनाली इस लोक के मध्यभाग में चौदह राजू ऊंची, एक राजू चौड़ी-लम्बी सार्थक नामधारक जानना । त्रस जीव त्रसनाली में ही हैं । कोई जीव त्रसनाली के बाहर वातवलय में रहनेवाला स्थावर था, उसने त्रस की आयु बांधी । वह पहली वायुकायिक स्थावर पर्याय को छोड़कर पश्चात् विग्रहगति के प्रथम समय में त्रस नामक नामकर्म के उदय की अपेक्षा से त्रसनाली के बाहर त्रस हुआ, इसलिये उपपादवाले त्रस का अस्तित्व त्रसनाली से बाह्य में कहा । पुनश्च कोई जीव त्रसनाली के अंदर त्रस है, उसने त्रसनाली के बाहर तनुवातवलय संबंधी वायुकायिक स्थावर का बंध किया था । उसके आयु के अंतर्मुहूर्त शेष रहनेपर उसके आत्मप्रदेशों का फैलाव *(मारणांतिक समुद्घात)* जहां का बंध किया था उस त्रसनाली के बाह्य तनुवातवलय तक होता है । इसलिये मारणांतिक समुद्घातवाले त्रस का अस्तित्व त्रसनाली के बाह्य में कहा।

पुनश्च केवली कपाट-प्रतरादि आकार से त्रसनाली के बाह्य में अपने प्रदेशों को फैलावनेरूप समुद्घात करते हैं । इसलिये केवली समुद्घातवाले त्रस का अस्तित्व त्रसनाली के बाह्य कहा । इनके अलावा अन्य किसी त्रस का अस्तित्व त्रसनाली के बाह्य में नहीं है, ऐसा शास्त्रकर्ता का अभिप्राय जानना ।

आगे वनस्पतिवत् अन्य भी जीवों के प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठितपने का भेद दिखाते हैं-

पुढवीआदिचउण्हं केवलिआहारदेवणिरयंगा ।
अपदिट्ठिदा णिगोदहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ।।२००।।

पृथिव्यादिचतुर्णां केवल्याहारदेवनिरयांगानि ।
अप्रतिष्ठितानि निगोदैः प्रतिष्ठितांगा भवंति शेषाः ।।२००।।

टीका – पृथ्वी आदि चार प्रकार के जीव पृथ्वी, अप्, तेज, वायु इनका शरीर, पुनश्च केवली का शरीर, पुनश्च आहारक शरीर, पुनश्च देवों का शरीर, पुनश्च नारकियों का शरीर ये सर्व निगोदशरीरों से अप्रतिष्ठित हैं, आश्रित नहीं है । इनमें निगोदशरीर नहीं पाये जाते । अवशेष रहे जो जीव, उनके शरीर प्रतिष्ठित जानना। उनमें निगोदशरीर पाये जाते हैं । इसलिये अवशेष सर्व निगोदशरीरों से प्रतिष्ठित हैं, आश्रित हैं । वहां सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और पहले कहे हैं उनके अलावा अवशेष मनुष्य इन सभी के शरीर में निगोद पाये जाते हैं ।

आगे स्थावरकायिक, त्रसकायिक जीवों के शरीर का आकार कहते हैं –

मसुरंबुबिंदुसूईकलावधयसण्णिहो हवे देहो ।
पुढवीआदिचउण्हं तरुतसकाया अणेयविहा ।।२०१।।

मसूरांबुबिंदुसूचीकलापध्वजसन्निभो भवेद्देहः ।
पृथिव्यादिचतुर्णां तरुत्रसकाया अनेकविधाः ।।२०१।।

टीका – पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर मसूर अन्न के समान गोल आकार धरता है । अप्कायिक जीवों का शरीर जल की बूंद के समान गोल आकार धरता है । अग्निकायिक जीवों का शरीर सुइयों के समूह के समान लम्बा और ऊर्ध्व में चौड़ा बहुमुख आकार धरता है । वायुकायिक जीवों का शरीर ध्वजासमान लम्बा, चौकोर आकार धरता है । ऐसे इनके आकार कहे । तथापि इनकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र है, इसलिये जुदे-जुदे दिखायी नहीं देते । जो पृथ्वी आदि इन्द्रियगोचर हैं, वे अनेक शरीरों का समुदाय है ऐसा जानना । पुनश्च तरु जो प्रत्येक वनस्पतिकायिक और द्वीन्द्रियादि त्रसकायिक, इनके शरीर अनेक प्रकार के आकार धरते हैं, नियम नहीं है । वे घनांगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संख्यात घनांगुलप्रमाण अवगाहना के धारक हैं, ऐसा जानना ।

आगे कायमार्गणा के कथन के अनंतर काय सहित संसारी जीवों का दृष्टांतपूर्वक व्यवहार कहते हैं –

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावलियं ।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावलियं ।।२०२।।

यथा भारवहः पुरुषो वहति भारं गृहीत्वा कावटिकम् ।
एवमेव वहति जीवः कर्मभारं कायकावटिकम् ।।२०२।।

टीका – लोक में जैसे बोझ को ढ़ोनेवाला कोई पुरुष-कांवरिया कांवर में भरे हुये बोझ-भार को लेकर विवक्षित स्थान को पहुंचाता है, वैसे ही यह संसारी जीव औदारिक आदि नोकर्म शरीर में भरे हुये ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के भार को लेकर नाना प्रकार के योनिस्थानों को प्राप्त करता है । पुनश्च जैसे वही पुरुष कांवर के भार को गिराकर, किसी एक इष्ट स्थान में विश्राम करके उस भार से उत्पन्न दुःख के वियोग से सुखी होकर रहता है; वैसे कोई भव्यजीव कालादि लब्धियों द्वारा अंगीकार की हुयी सम्यग्दर्शनादि सामग्री से युक्त होता हुआ संसारी कांवर में भरे हुये कर्मभार को छोड़कर, उस भार से उत्पन्न नानाप्रकार के दुःख-पीड़ा के वियोग से, इस लोक के अग्रभाग में सुखी होकर विराजमान होता है । इसतरह आचार्य का हित के उपदेशरूप अभिप्राय है ।

आगे दृष्टांतपूर्वक कायमार्गणा रहित जो सिद्ध, उनके उपाय सहित स्वरूप को कहते हैं –

जह कंचणमग्गिगयं मुंचइ किट्टेण कालियाए य ।
तह कायबंधमुक्का अकाइया झाणजोगेण ।।२०३।।

यथा कांचनमग्निगतं मुच्यते किट्टेन कालिकया च ।
तथा कायबंधमुक्ता अकायिका ध्यानयोगेन ।।२०३।।

टीका – जैसे लोक में मलयुक्त सोना, अग्नि को प्राप्त होता हुआ, अंतरंग पारा आदि की भावना से संवारा हुआ, बाह्यमल कीटिका और अंतरंग मल श्वेतादिरूप अन्य वर्ण उससे रहित होता है, दैदीप्यमान सोलहवान निजस्वरूप की लब्धि को पाकर, सर्व जनों से सराहा जाता है । वैसे ध्यानयोग जो धर्मध्यान, शुक्लध्यानरूप भावना, उससे और बहिरंग तपरूपी अग्नि के संस्कार से निकट भव्य जीव हैं, वे भी औदारिक, तेजस शरीर सहित कार्माण शरीर के संबंधरूप से मुक्त होते हैं । **अकायिकाः** अर्थात्

शरीर रहित सिद्धपरमेष्ठी, वे अनंतज्ञानादिस्वरूप उपलब्धि को पाकर, लोकाग्र में सर्व इन्द्रादि लोक द्वारा स्तुति, नमस्कार, पूजनादि से सराहे जाते हैं । काय जिनके पाये जाय वे कायिक, शरीरधारक संसारी जानना । उनसे विपरीत कायरहित अकायिक मुक्त जीव जानना ।

आगे श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव ग्यारह गाथा सूत्रों से पृथ्वीकायिक आदि जीवों की संख्या कहते हैं –

आउड्ढरासिवारं लोगे अण्णोण्णसंगुणे तेऊ ।
भूजलवाऊ अहिया पडिभागोऽसंखलोगो दु ।।२०४।।

सार्धत्रयराशिवारं लोके अन्योन्यसंगुणे तेजः ।
भूजलवायवः अधिकाः प्रतिभागोऽसंख्यलोकस्तु ।।२०४।।

टीका – जगत्श्रेणी के घनप्रमाण लोक के प्रदेश, उस प्रमाण शलाका, विरलन और देय – ये तीन राशि करके वहां विरलनराशि का विरलन करके एक-एक जुदा जुदा बिखेरकर, वहां एक-एक के प्रति देयराशि को स्थापित करके वर्गितसंवर्ग करना। जिसका वर्ग किया उसका समंतपने वर्ग करना । यहां परस्पर गुणा करने का नाम वर्गितसंवर्ग है । उसे करनेपर शलाकाराशि में से एक घटाना । वर्गितसंवर्ग करने से जो राशि उत्पन्न हुयी, उसका विरलन करके एक-एक के प्रति उसी राशि को देकर, वर्गितसंवर्ग करके शलाकाराशि में से एक और घटाना । इसप्रकार लोकप्रमाण शलाकाराशि जब तक पूर्ण हो *(समाप्त हो)* तब तक करना ।

ऐसे करनेपर जो राशि उत्पन्न हुयी, उसप्रमाण शलाका, विरलन, देयराशि स्थापित करके, विरलनराशि का विरलन करके, एक-एक के प्रति देयराशि को देकर, वर्गितसंवर्ग करके दूसरी बार स्थापित शलाकाराशि में से एक घटाना । वहां उत्पन्न राशि का विरलन करके, एक-एक के प्रति वही राशि स्थापित कर *(देयरूप से देकर)*, वर्गितसंवर्ग करके, उस शलाकाराशि में से एक और घटाना । इसप्रकार दूसरी बार स्थापित शलाकाराशि को भी समाप्त करके वहां अंत में जो महाराशि उत्पन्न हुयी, उसप्रमाण शलाका, विरलन, देय स्थापित करके, विरलनराशि का विरलन करके, एक-एक के प्रति देयराशि को देकर, वर्गितसंवर्ग करके, तीसरी बार स्थापित शलाकाराशि में से एक घटाना । वहां जो राशि हुयी उसका विरलन करके, एक-एक के प्रति उसी राशि को देकर, वर्गितसंवर्ग करके,

उस शलाकाराशि में से एक और घटाना । इसप्रकार तीसरी बार स्थापित शलाकाराशि को समाप्त करके वहां अंत में उत्पन्न महाराशि उसप्रमाण शलाका, विरलन, देय स्थापित करके; विरलनराशि को बिखेरकर, एक–एक के प्रति देयराशि को देकर, वर्गितसंवर्ग करके चौथी बार स्थापित शलाकाराशि में से एक घटाना । वहां जो राशि हुयी उसका विरलन करके, एक–एक के प्रति उसीको देकर, वर्गितसंवर्ग करके, उस शलाकाराशि में से एक और घटाना । उसी क्रम से पहली, दूसरी और तीसरी बार स्थापित शलाकाराशियों को जोड़नेपर जो प्रमाण हो, उतना चौथी बार स्थापित शलाकाराशि में से घटानेपर अवशेष जितना प्रमाण रहा, उसको एक–एक घटाने से समाप्त होनेपर, अंत में जो महाराशि उत्पन्न हुयी उसप्रमाण तेजस्कायिक जीवराशि है । इस राशि की परस्पर गुणकारशलाका राशि, वर्गशलाकाराशि, अर्धच्छेदराशि इत्यादि का प्रमाण और अल्पबहुत्व पहले द्विरूपघना–घनधारा का कथन करते हुये कहा है, वैसे यहां भी जानना ।

इसप्रकार सामान्यपने साढ़े तीन बार वा विशेषपने किंचित् कम चार शलाकाराशि जिसप्रकार पूर्ण हो उसप्रकार लोक का परस्पर गुणा करनेपर जो राशि होती है उतना अग्निकायिक (तेजस्कायिक) जीवोंका प्रमाण है । इनसे पृथ्वीकायिक जीव अधिक हैं। इनसे अप्कायिक जीव अधिक हैं । इनसे वायुकायिक जीव अधिक हैं । यहां अधिक कितने हैं । इसे जानने के निमित्त भागहार असंख्यात लोकप्रमाण जानना । उसे कहते हैं –

असंख्यात लोकमात्र अग्निकायिक जीवों का प्रमाण, उसको यथायोग्य छोटे असंख्यात लोक का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है उतना अग्निकायिक जीवों के प्रमाण में मिलानेपर पृथ्वीकायिक जीवों का प्रमाण होता है । पुनश्च इस पृथ्वीकायिकराशि को असंख्यात लोक का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना पृथ्वीकायिकराशि में मिलानेपर अप्कायिक जीवों का प्रमाण आता है । पुनश्च अप्कायिकराशि को असंख्यात लोक का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना अप्कायिकराशि में मिलानेपर वायुकायिक जीवों का प्रमाण होता है, ऐसे अधिक–अधिक जानना ।

अपदिट्ठिदपत्तेया असंखलोगप्पमाणया होंति ।
तत्तो पदिट्ठिदा पुण असंखलोगेण संगुणिदा ।।२०५।।

अप्रतिष्ठितप्रत्येका असंख्यलोकप्रमाणका भवंति ।
ततः प्रतिष्ठिताः पुनः असंख्यलोकेन संगुणिताः ।।२०५।।

टीका – अप्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव यथायोग्य असंख्यातलोक प्रमाण हैं । पुनश्च इनको असंख्यात लोक से गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतने प्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव जानना । दोनों को मिलानेपर सामान्य प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण होता है ।

तसरासिपुढविआदी चउक्कपत्तेयहीणसंसारी ।
साहारणजीवाणं परिमाणं होदि जिणदिट्ठं ।।२०६।।

त्रसराशिपृथिव्यादि चतुष्कप्रत्येकहीनसंसारी ।
साधारणजीवानां परिमाणं भवति जिनदिष्टम् ।।२०६।।

टीका – आगे कहते हैं – आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो हो, उतना त्रसराशि का प्रमाण और पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु इन चारों का मिला हुआ साधिक चौगुणा अग्निकायिकराशि का प्रमाण, पुनश्च प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का मिला हुआ प्रमाण ऐसे इन तीन राशियों को संसारी जीवों के प्रमाण में से घटानेपर जो अवशेष रहे, उतना साधारण वनस्पति जो निगोद जीव, उनका प्रमाण अनंतानंत जानना; ऐसा जिनदेव ने कहा है ।

सगसगअसंखभागो बादरकायाण होदि परिमाणं ।
सेसा सुहुमपमाणं पडिभागो पुव्वणिद्दिट्ठो ।।२०७।।

स्वकस्वकासंख्यभागो बादरकायानां भवति परिमाणम् ।
शेषाः सूक्ष्मप्रमाणं प्रतिभागः पूर्वनिर्दिष्टः ।।२०७।।

टीका – पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, साधारण वनस्पतिकायिक इनका जो पहले प्रमाण कहा, उस अपने-अपने प्रमाण को असंख्यात का भाग देना । वहां एक भागप्रमाण तो अपने-अपने बादर कायिकों का प्रमाण है । अवशेष बहुभाग प्रमाण सूक्ष्म कायिकों का प्रमाण है । पृथ्वीकायिक के प्रमाण को असंख्यात का भाग दीजिये, वहां एक भाग बादर पृथ्वीकायिकों का प्रमाण है । अवशेष बहुभाग सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों का प्रमाण है । ऐसे ही सब का जानना । यहां भी भागहार का प्रमाण पहले कहा था वही असंख्यात लोकप्रमाण है । इसलिये यहां भी अग्निकायिकादिक में पूर्वोक्त प्रकार अधिक-अधिकपना जानना ।

सुहमेसु संखभागं संखा भागा अपुण्णगा इदरा ।
जस्सि अपुण्णद्धादो पुण्णद्धा संखगुणिदकमा ।।२०८।।

सूक्ष्मेषु संख्यभागः संख्या भागा अपूर्णका इतरे ।
यस्मादपूर्णाद्धातः पूर्णाद्धा संख्यगुणितक्रमाः ।।२०८।।

टीका – पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, साधारण वनस्पति इनका पहले जो सूक्ष्म जीवों का प्रमाण कहा, उनमें अपने-अपने सूक्ष्म जीवों के प्रमाण को संख्यात का भाग दीजिये, वहां एक भागप्रमाण तो अपर्याप्त हैं और अवशेष बहुभागप्रमाण पर्याप्त हैं । सूक्ष्म जीवों में अपर्याप्तराशि से पर्याप्तराशि का प्रमाण बहुत जानना । उसका कारण कहते हैं; क्योंकि अपर्याप्त अवस्था का काल अंतर्मुहूर्त मात्र है, इस काल से पर्याप्त अवस्था का काल संख्यातगुणा है । उसे दिखाते हैं – कोमल पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष प्रमाण है, कठिन पृथ्वीकायिक की बाइस हजार वर्ष प्रमाण है, जलकायिक की सात हजार वर्ष प्रमाण है, अग्निकायिक की तीन दिन प्रमाण है, वायुकायिक की तीन हजार वर्ष प्रमाण है, प्रत्येक वनस्पतिकायिक की दस हजार वर्ष प्रमाण है ।

यहां प्रसंग पाकर विकलत्रय में द्वीन्द्रिय की बारह वर्ष, त्रीन्द्रिय की उनचास दिन, चतुरिन्द्रिय की छह महिना प्रमाण है । इसप्रकार उत्कृष्ट आयु काल का प्रमाण कहा उनमें अंतर्मुहूर्त काल में तो अपर्याप्त अवस्था है, अवशेष काल में पर्याप्त अवस्था है । इसलिये अपर्याप्त अवस्था के काल से पर्याप्त अवस्था का काल संख्यातगुणा जानना । वहां पृथ्वीकायिक के पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों कालों में सर्व सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं, तो अंतर्मुहूर्त प्रमाण अपर्याप्त काल में कितने पाये जायेंगे ? इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर प्रमाणराशि पर्याप्त-अपर्याप्त दोनो कालों के समयों का समुदाय, फलराशि सूक्ष्म जीवों का प्रमाण, इच्छाराशि अपर्याप्त काल के समयों का प्रमाण, वहां फल से इच्छा को गुणा करके प्रमाण का भाग देनेपर लब्धराशि का प्रमाण आता है, उतने सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त जीव जानना । पुनश्च प्रमाणराशि, फलराशि पूर्वोक्त और इच्छाराशि पर्याप्त काल के समयों का प्रमाण करनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आता है, उतना सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना । इसीलिये संख्यात का भाग देनेपर एकभागप्रमाण अपर्याप्त कहे । अवशेष बहुभागप्रमाण पर्याप्त कहे हैं । इसीप्रकार सूक्ष्म अप्कायिक, अग्निकायिक,

वायुकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक में अपने-अपने सर्व काल को प्रमाणराशि करके, अपने-अपने प्रमाण को फलराशि करके, पर्याप्त वा अपर्याप्त काल को इच्छाराशि करके लब्धराशिप्रमाण पर्याप्त वा अपर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना। यहां पर्याप्त वा अपर्याप्त काल की अपेक्षा जीवोंका प्रमाण सिद्ध हुआ है ।

पल्लासंखेज्जवहिद पदंगुलभाजिदे जगप्पदरे ।
जलभूणिपबादरया पुण्णा आवलिअसंखभजिदकमा ।।२०९।

पल्यासंख्यावहितप्रतरांगुलभाजिते जगत्प्रतरे ।
जलभूनिपबादरकाः पूर्णा आवल्यसंख्यभाजितक्रमाः ।।२०९।।

टीका – पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग प्रतरांगुल को देनेपर जो प्रमाण आता है, उसका भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना बादर अप्कायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना । पुनश्च इस राशि को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना । पुनश्च उस राशि को भी आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना बादर प्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पति पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना। पुनश्च इस राशि को भी आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना बादर अप्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पति पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना ।

यहां **णि** इस आदि अक्षर से निगोद शब्द से प्रतिष्ठितप्रत्येक जानना; क्योंकि साधारण का कथन आगे प्रकट कहते हैं –

विंदावलिलोगाणमसंखं संखं च तेउवाऊणं ।
पज्जत्ताण पमाणं तेहिं विहीणा अपज्जत्ता ।।२१०।।

वृंदावलिलोकानामसंख्यं संख्यं च तेजोवायूनाम् ।
पर्याप्तानां प्रमाणं तैर्विहीना अपर्याप्ताः ।।२१०।।

टीका – आवली के जितने समय हैं, उसका घन करनेपर जितने समय आते हैं उसको वृंदावली कहते हैं । उसको असंख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना बादर अग्निकायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना । पुनश्च लोक को संख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना बादर वायुकायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण

जानना । सूक्ष्म जीवों का प्रमाण पहले कहा है इसलिये यहां बादर ही ग्रहण करना।

पहले जो पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिरूप बादर जीवों का प्रमाण कहा था उसमें से अपने-अपने पर्याप्त जीवों का प्रमाण घटानेपर, अवशेष रहे उतने-उतने बादर अपर्याप्त जीव जानना ।

साहारणबादरेसु असंखं भागं असंखगा भागा ।
पुण्णाणमपुण्णाणं परिमाणं होदि अणुकमसो ।।२११।।

साधारणबादरेषु असंख्यं भागं असंख्यका भागाः ।
पूर्णानामपूर्णानां परिमाणं भवत्यनुक्रमशः ।।२११।।

टीका – बादर साधारण वनस्पति का जो प्रमाण कहा था उसको असंख्यात का भाग दीजिये । वहां एक भागप्रमाण तो बादर निगोद पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना । और अवशेष असंख्यात बहुभागप्रमाण बादर निगोद अपर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना । इसप्रकार अनुक्रम से यहां काल की अपेक्षा अल्प-बहुत्व नहीं कहा है। बादरों में पर्याप्तपना दुर्लभ है । इसलिये पर्याप्त थोड़े, अपर्याप्त अधिक हैं ऐसा आचार्यों का अनुक्रम जानकर कथन किया । ऐसा आचार्यों का अभिप्राय जानना ।

आवलिअसंखसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं ।
कमसो तसतप्पुण्णा पुण्णूणतसा अपुण्णा हु ।।२१२।।

आवल्यसंख्यसंख्येनावहितप्रतरांगुलेन हितप्रतरम् ।
क्रमशस्त्रसतत्पूर्णाः पूर्णोनत्रसा अपूर्णा हि ।।२१२।।

टीका – आवली के असंख्यातवें भाग का भाग प्रतरांगुल को देनेपर जो प्रमाण आता है, उसका भाग जगत्प्रतर को देनेपर, जो प्रमाण आता है, उतना सर्व त्रसराशि का प्रमाण जानना । पुनश्च संख्यात का भाग प्रतरांगुल को देनेपर जो प्रमाण आता है, उसका भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना पर्याप्त त्रस जीवों का प्रमाण जानना । पुनश्च सामान्य त्रस जीवों के प्रमाण में से पर्याप्त त्रसों का प्रमाण घटानेपर जो प्रमाण अवशेष रहे, उतना अपर्याप्त त्रस जीवों का प्रमाण जानना। यहां भी पर्याप्तपना दुर्लभ है । इसलिये पर्याप्त त्रस थोड़े हैं, अपर्याप्त त्रस बहुत हैं; ऐसा जानना ।

आगे बादर अग्निकायिक आदि छह प्रकार के जीवों के प्रमाण का विशेष निर्णय करने के निमित्त दो गाथायें कहते हैं –

आवलिअसंखभागेणवहिदपल्लूणसायरद्धछिदा ।
बादरतेपणिभूजलवादाणं चरिमसायरं पुण्णं ।।२१३।।

आवल्यसंख्यभागेनावहितपल्योनसागरार्धच्छेदाः ।
बादरतेपनिभूजलवातानां चरमः सागरः पूर्णः ।।२१३।।

टीका – बादर अग्निकायिक, अप्रतिष्ठित-प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी, अप्, वायु इन छहों राशि के अर्धच्छेदों का प्रमाण पहले कहते हैं । अर्धच्छेद का स्वरूप पहले धाराओं के कथन में कहा ही था, सो यहां एक बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग पल्य को देनेपर जो एक भाग का प्रमाण आये, उतना सागर में से घटानेपर, बादर अग्निकायिक जीवों का जो प्रमाण, उसके अर्धच्छेदों का प्रमाण आता है । पुनश्च दो बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग पल्य को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना सागर में से घटायें, तब बादर अप्रतिष्ठितप्रत्येक राशि के अर्धच्छेदों का प्रमाण होता है । पुनश्च तीन बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग पल्य को देनेपर जो प्रमाण आता है उतना सागर में से घटायें, तब बादर प्रतिष्ठितप्रत्येक राशि के अर्धच्छेदों का प्रमाण आता है । पुनश्च चार बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग पल्य को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना सागर में से घटानेपर पृथ्वीकायिक राशि के अर्धच्छेदों का प्रमाण आता है । पुनश्च पांच बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग पल्य को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना सागर में से घटानेपर अप्कायिक राशि के अर्धच्छेदों का प्रमाण आता है । पुनश्च वायुकायिक राशि के अर्धच्छेदों का प्रमाण सम्पूर्ण सागर प्रमाण जानना । क्योंकि सूत्र में ऐसा कहा है कि 'अंत में सम्पूर्ण सागर है' ।

ते वि विसेसेणहिया पल्लासंखेज्जभागमेत्तेण ।
तम्हा ते रासीओ असंखलोगेण गुणिदकमा ।।२१४।।

तेऽपि विशेषेणाधिकाः पल्यासंख्यातभागमात्रेण ।
तस्मात्ते राशयोऽसंख्यलोकेन गुणितक्रमाः ।।२१४।।

टीका – चूंकि जो अर्धच्छेदराशियां अर्थात् बादर अग्निकायिकराशि के अर्धच्छेद राशि से लेकर अप्रतिष्ठितप्रत्येक आदि राशियों के अर्धच्छेद पांचों आवली के असंख्यातवें भागमात्र अपने-अपने एक-एक विशेष से क्रम से अधिक हैं । वहां अग्निकायिकराशि के अर्धच्छेदों से अप्रतिष्ठितप्रत्येकराशि के अर्धच्छेद पल्य को एक कम आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने और दो बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने से जो प्रमाण हो, उतने अधिक हैं । पुनश्च अप्रतिष्ठितप्रत्येकराशि के अर्धच्छेदों से प्रतिष्ठितप्रत्येकराशि के अर्धच्छेद पल्य को एक कम आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने और तीन बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने से, जो प्रमाण हो, उतने अधिक हैं । पुनश्च प्रतिष्ठितप्रत्येकराशि के अर्धच्छेदों से बादर पृथ्वीकायिक-राशि के अर्धच्छेद पल्य को एक कम आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने और चार बार आवली के असंख्यातवेंभाग का भाग देने से, जो प्रमाण हो, उतने अधिक हैं । पुनश्च बादर पृथ्वीकायिकराशि के अर्धच्छेदों से बादर जलकायिकराशि के अर्धच्छेद पल्य को एक कम आवली के असंख्यातवेंभाग से गुणा करने और पांच बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने से जो प्रमाण हो, उतने अधिक हैं। पुनश्च बादर जलकायिकराशि के अर्धच्छेदों से बादर वायुकायिकराशि के अर्धच्छेद पल्य को एक से गुणा करने और पांच बार आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने से, जो प्रमाण हो, उतने अधिक हैं; ऐसे अधिक-अधिक अर्धच्छेद जानना ।

अब इस कथन को अंकसंदृष्टि द्वारा प्रकट दिखाते हैं । पल्य का प्रमाण पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस (६५५३६), आवली के असंख्यातवें भाग का प्रमाण आठ, सागर का प्रमाण छह लाख पचपन हजार तीन सौ साठ (६५५३६०) । वहां एक बार, दो बार, तीन बार, चार बार, पांच बार आठ का भाग पणट्ठी को देनेपर इक्यासी सौ बानबे, एक हजार चौबीस, एक सौ अट्ठाइस, सोलह, दो (८१९२।१०२४।१२८।१६।२) इतने पाये । सो ये क्रम से आठ-आठ गुणा हीन हैं । पुनश्च इतने-इतने छह लाख पचपन हजार तीन सौ साठ में से घटाना, अंत में सम्पूर्ण है इसलिये कुछ भी न घटाना, ऐसा करनेपर अग्निकायिकादि राशियों के अर्धच्छेदों का प्रमाण आता है । ६४७१६८।६५४३३६।६५५२३२।६५५३४४।६५५३५८।६५५३६०। यहां अधिक का प्रमाण लाने के लिये पणट्ठी को सात से गुणा करने*(एक कम आवलीका असंख्यातवां भाग ८-१=७)* और दो, तीन, चार, पांच बार आठ का भाग देने से तथा अंत में एक

से गुणा करने और पांच बार आठ का भाग देने से अनुक्रम से अधिक का प्रमाण इसप्रकार आता है - इकहत्तर सौ अड़सठ, आठ सौ छानबे, एक सौ बारह, चौदह, दो (७१६८।८९६।११२।१४।२) । इसीप्रकार पूर्वोक्त कथन का भावार्थ जानना ।

पुनश्च यहां जितना-जितना अर्धच्छेदों का अधिक का प्रमाण कहा, उतने-उतने दो लिखकर परस्पर गुणा करने से, जो-जो यथासंभव असंख्यातलोक मात्र प्रमाण हो, उस-उस से गुणित किया हुआ अनुक्रम से अग्निकायिकादि से अप्रतिष्ठित प्रत्येकादि राशि जानना । क्योंकि ऐसा सूत्र पहले गणित कथन में कहा है -

विरलिदरासीदो पुण जेत्तियमेत्ताणि अहियरूवाणि ।
तेसिं अण्णोण्णहदी गुणयारो लद्धरासिस्स ।।

इस सूत्र के अभिप्राय से पूर्वराशि के अर्धच्छेदों से उत्तरराशि के अर्धच्छेद जितने-जितने अधिक कहे, उतने-उतने दो लिखकर परस्पर गुणा करने से जो-जो प्रमाण होगा, उतने-उतने प्रमाण से पूर्वराशि को गुणा करनेपर उत्तरराशि का प्रमाण आता है। सो यहां सामान्यपने गुणकार का प्रमाण सर्वत्र असंख्यात लोकमात्र है । यहां पूर्वोक्त प्रमाण दो लिखकर परस्पर गुणा करने से असंख्यात लोक कैसे होता है ? सो इस कथन को प्रकट अंकसंदृष्टि से और अर्थसंदृष्टि से दिखाते हैं । जैसे सोलह बार दो को परस्पर गुणा करने से पणट्ठी होती है, तो चौंसठ बार दो को परस्पर गुणा करने से कितने होते हैं, ऐसा त्रैराशिक करना । वहां प्रमाणराशि में देयराशि दो, विरलनराशि सोलह, फलराशि पणट्ठी (६५५३६), इच्छाराशि में देयराशि दो, विरलनराशि चौंसठ । अब यहां लब्धराशि का प्रमाण लाने के लिये करणसूत्र कहते हैं -

दिण्णच्छेदेणवहिदइट्ठच्छेदेहिं पयदविरलणं भजिदे ।
लद्धमिदइट्ठरासीणण्णोण्णहदीए होदि पयदधणं ।।२१५।।

देयच्छेदेनावहितेष्टच्छेदैः प्रकृतविरलनं भाजिते ।
लब्धमितेष्टराश्यन्योन्यहत्या भवति प्रकृतधनम् ।।२१५।।

टीका - देयराशि (२) के अर्धच्छेद के प्रमाण (१) का, जो फलराशि (६५५३६) के अर्धच्छेद प्रमाणराशि में विरलनराशिरूप (१६) कहे, उनको भाग देनेपर जो प्रमाण आता है (१६÷१=१६) उससे इच्छाराशिरूप प्रकृत राशि में जो विरनलराशि का (६४)

प्रमाण कहा, उसको भाग देनेपर जो प्रमाण आवे (६४÷१६=४), उतनी बार फलराशिरूप जो इष्टराशि (६५५३६) उसको लिखकर परस्पर गुणा करने से जो प्रमाण आता है, उतना लब्धराशिरूप प्रकृत धन का प्रमाण होता है । सो यहां देयराशि दो, उसका अर्धच्छेद एक, उसका फलराशि पणट्ठी के अर्धच्छेद प्रमाणराशि में विरलनराशिरूप कहे सोलह, उसको भाग देनेपर, सोलह ही आये । इसका साध्यभूत राशि के *(अर्धच्छेद प्रमाण)* इच्छाराशि में कही हुयी विरलनराशि चौंसठ, उसको भाग देनेपर चार आये। सो चार जगह फलराशिरूप पणट्ठी मांडकर ६५५३६ ।६५५३६ ।६५५३६ ।६५५३६ परस्पर गुणा करनेपर लब्धराशि एकट्ठीप्रमाण होती है । ऐसा ही यथार्थ कथन जानना ।

पहले गणित कथन में लोक के अर्धच्छेदों का जितना प्रमाण कहा है उतने दो मांडकर परस्पर गुणा करने से लोक होता है, तो यहां अग्निकायिकराशि के अर्धच्छेद प्रमाण दो लिखकर परस्पर गुणा करने से कितने लोक होंगे ? ऐसा त्रैराशिक करके यहां प्रमाणराशि में देयराशि दो, विरलनराशि लोक की अर्धच्छेदराशि, फलराशि लोक और इच्छाराशि में देयराशि दो, विरलनराशि अग्निकायिक के अर्धच्छेद प्रमाण जानना। वहां लब्धराशि लाने के लिये देयराशि दो, उसका अर्धच्छेद एक, उसका भाग, फलराशि लोक उसका अर्धच्छेदरूप प्रमाणराशि में जो विरलनराशि है, उसको देनेपर लोक के अर्धच्छेद मात्र आये । इसका भाग साध्यभूत अग्निकायिकराशि, उसके अर्धच्छेदरूप इच्छाराशि में विरलनराशि जो अग्निकायिकराशि के अर्धच्छेद, उसको देनेपर जो प्रमाण आया, वह किंचित् कम संख्यात पल्य को लोक के अर्धच्छेदराशि का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उतना यह प्रमाण आया । सो इतने लोक मांडकर परस्पर गुणा करने से जो असंख्यात लोकमात्र प्रमाण आया, वही लब्धराशिरूप बादर अग्निकायिकराशि का प्रमाण यहा जानना। यहां किंचित् कम संख्यात पल्य प्रमाण लोकों को परस्पर गुणा करने से जो महत् असंख्यात लोकमात्र प्रमाण आया, वह तो भाज्यराशि जानना। और लोक के अर्धच्छेद प्रमाण लोकों को परस्पर गुणा करने से, जो छोटा असंख्यातलोकमात्र प्रमाण आया, वह भागहार जानना। भागहार का भाग भाज्य को देनेपर जो प्रमाण हो, उतना बादर अग्निकायिक जीवों का प्रमाण जानना । पुनश्च यहां अग्निकायिकराशि में जो भागहार कहा, सो आगे के अप्रतिष्ठितप्रत्येक आदि राशियों में जो भागहारों के प्रमाण पूर्वोक्त प्रकार करने से आये, उन सभी से असंख्यात लोक गुणा जानना। क्योंकि सागर में से जो-जो राशि घटायी, वह-वह क्रम से आवली के असंख्यातवें

भाग गुणा हीन है । इसलिये प्रमाणराशि पूर्वोक्तवत् स्थापित कर और इच्छाराशि में विरलनराशि अपने-अपने अर्धच्छेदप्रमाण स्थापित कर पूर्वोक्त प्रकार से त्रैराशिक करके अप्रतिष्ठितप्रत्येक आदि राशि भी सामान्यपने असंख्यात लोकमात्र है तथापि उत्तर-उत्तर राशि असंख्यात लोकगुणा जानना । भागहार जहां घटता होता है, वहां राशि अधिक होती है, सो यहां भागहार असंख्यातलोक गुणा घटता क्रम से हुआ, इसलिये राशि असंख्यात लोकगुणा हुयी । यहां असंख्यात लोक वा आवली का असंख्यातवां भाग की संदृष्टि स्थापितकर अर्थसंदृष्टि का स्थापन है । उसे आगे संदृष्टि अधिकार में लिखेंगे ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से कायमार्गणा प्ररूपणा नामक आठवां अधिकार पूर्ण हुआ ।।८।।

नौवां अधिकार : योगमार्गणा प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

कुंदकुसुमसम दंतजुत पुष्पदंत जिनराय ।
वंदौ ज्योति अनंतमय पुष्पदंतवतकाय ।।

आगे शास्त्रकर्ता योगमार्गणा का निरूपण करते हैं । वहां प्रथम ही योग का सामान्य लक्षण कहते हैं –

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ।।२१६।।

पुद्गलविपाकिदेहोदयेन मनोवचनकाययुक्तस्य ।
जीवस्य या हि शक्तिः कर्मागमकारणं योगः ।।२१६।।

टीका – संसारी जीव के कर्म, जो ज्ञानावरणादिक कर्म और उपलक्षण से औदारिकादि नोकर्म, उनका आगम अर्थात् कर्म-नोकर्मवर्गणारूप पुद्गल स्कंधों का कर्म-नोकर्मरूप परिणमना, उसको कारणभूत जो शक्ति, उस शक्ति का धारक जो आत्मा, उसके प्रदेशों का चंचलरूप होना, उसे योग कहते हैं ।

कैसा है जीव ? पुद्गलविपाकी जो यथासंभव अंगोपांग नामक नामकर्म की प्रकृति वा देह जो शरीर नामक नामकर्म की प्रकृति, उसका उदय अर्थात् फल देनेरूप परिणमना, उसके द्वारा मन वा भाषा वा शरीररूप जो पर्याप्ति उनको धारण करता है । तथा मनोवर्गणा, भाषावर्गणा, कायवर्गणा के अवलंबन से संयुक्त है । यहां अंगोपांग और शरीर नामकर्म के उदय से शरीर, भाषा, मनःपर्याप्तिरूप परिणमित तथा काय, भाषा, मन वर्गणा के अवलंबन से युक्त आत्मा, उसके लोकमात्र सर्व प्रदेशों में ऐसी शक्ति-समर्थता प्राप्त होती है जो पुद्गल स्कंधों को कर्म-नोकर्म रूप परिणमाने को कारणभूत हो; वह भाव-योग है ।

उस शक्ति के धारक आत्मा के प्रदेशों में कुछ चलनरूप सकंप होना, वह द्रव्य-योग है ।

यहां यह अर्थ जानना कि जैसे अग्नि के संयोग से लोहे के जलाने की शक्ति होती है, वैसे अंगोपांग, शरीर नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा और भाषावर्गणा के आये हुये पुद्गलस्कंध और आहारवर्गणा के आये हुये नोकर्म पुद्गलस्कंध उनके संबंध से जीव के प्रदेशों के कर्म-नोकर्म ग्रहण की शक्ति-समर्थता होती है ।

आगे योगों का विशेष लक्षण कहते हैं -

मणवयणाण पउत्ती सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु ।
तण्णामं होदि तदा तेहिं दु जोगा हु तज्जोगा ।।२१७।।

मनोवचनयोः प्रवृत्तयः सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु ।
तन्नाम भवति तदा तैस्तु योगाद्धि तद्योगाः ।।२१७।।

टीका - सत्य, असत्य, उभय, अनुभयरूप जो पदार्थ, उनमें मन, वचन की जो प्रवृत्ति होती है, उन्हें जानने वा कहने के लिये जीव की प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति होती है, वह सत्यादिक पदार्थ के संबंध से सत्य, असत्य, उभय, अनुभय है विशेषण जिनका ऐसे चार प्रकार के मनोयोग और चार प्रकार के वचनयोग जानना ।

वहां यथार्थ जैसा का वैसा सांचा (सत्य) ज्ञानगोचर जो पदार्थ उसको सत्य कहते हैं । जैसे जल के जानने के गोचर जल है; चूंकि स्नान-पानादिक जलसंबंधी क्रिया उससे सिद्ध होती है, इसलिये सत्य कहते हैं ।

अयथार्थ अन्यथारूप पदार्थ जो मिथ्याज्ञान के गोचर है, उसको असत्य कहते हैं । जैसे जल के जानने के गोचर मृगजल है; चूंकि स्नान-पानादिक जलसंबंधी क्रिया मृगजल से सिद्ध नहीं होती, इसलिये असत्य कहते हैं ।

यथार्थ और अयथार्थरूप पदार्थ, यदि दोनों ज्ञानगोचर हो, उसको उभय कहते हैं । जैसे कमंडलु में घट का ज्ञान हो, चूंकि घट के समान जलधारणादि क्रिया कमंडल से सिद्ध होती है, इसलिये सत्य है, परंतु घट जैसा आकार नहीं है, इसलिये असत्य है; ऐसे यह उभय जानना ।

यथार्थ-अयथार्थ के निर्णय से रहित पदार्थ, यदि अनुभय ज्ञानगोचर हो, उसको अनुभय कहते हैं । सत्य-असत्य कहने योग्य नहीं है । जैसे यह कुछ प्रतिभासित है, ऐसे सामान्यरूप पदार्थ प्रतिभासित हुआ, वहां उस पदार्थ से कौनसी क्रिया सिद्ध होती

है ऐसा विशेष निर्णय नहीं हुआ, इसलिये सत्य भी न कहा जाय, और सामान्यपने तो जाना गया इसलिये असत्य भी न कहा जाय, इसलिये इसको अनुभय कहते हैं।

ऐसे चार प्रकार के पदार्थों में मन की वा वचन की प्रवृत्ति होती है, उन्हें चार प्रकार के मनोयोग वा चार प्रकार के वचनयोग जानना ।

यहां घट में घट का विकल्प वह सत्य और घट में पट का विकल्प वह असत्य, कुण्डी में जलधारण करके घट का विकल्प वह उभय और सम्बोधन आदि में हे देवदत्त! इत्यादि विकल्प वह अनुभय जानना ।

आगे सत्य पदार्थ है गोचर जिसके, ऐसा मनोयोग वह सत्य मनोयोग; इत्यादि विशेष लक्षण चार गाथाओं द्वारा कहते हैं -

सब्भावमणो सच्चो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसो त्ति ।।२१८।।

सद्भावमनः सत्यं यो योगः स तु सत्यमनोयोगः ।
तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ।।२१८।।

टीका - 'सद्भावः' अर्थात् सत्पदार्थ होता है गोचर जिसके, ऐसा जो मन अर्थात् सत्य पदार्थ के ज्ञान उपजाने की शक्ति युक्त भाव-मन हो, उस सत्यमन से उत्पन्न जो चेष्टा प्रवर्तनरूप योग, उसे सत्यमनोयोग कहते हैं ।

पुनश्च इसीप्रकार विपरीत असत्य पदार्थरूप विषय के ज्ञान उपजाने की शक्तिरूप जो भाव-मन, उससे जो चेष्टा प्रवर्तनरूप योग होता है, उसे असत्यमनोयोग कहते हैं।

पुनश्च युगपत् सत्य-असत्यरूप पदार्थ के ज्ञान उपजाने की शक्तिरूप जो भाव-मन, उससे जो प्रवर्तनरूप योग होता है, उसे उभयमनोयोग कहते हैं - ऐसे हे भव्य! तू जान ।

ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो ।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ।।२१९।।

न च सत्यमृषायुक्तं यत्तु मनस्तदसत्यमृषामनः ।
यो योगस्तेन भवेत् असत्यमृषा तु मनोयोगः ।।२१९।।

टीका – जो मन सत्य और मृषा अर्थात् असत्य से युक्त न हो तथा सत्य –असत्य के निर्णय से रहित जो अनुभय पदार्थ उनका ज्ञान उपजाने की शक्तिरूप जो भावमन, उससे उत्पन्न जो प्रवर्तनरूप योग, उसे सत्य-असत्य रहित अनुभयमनोयोग कहते हैं । ऐसे चार प्रकार के मनोयोग कहे ।

दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसो त्ति ।।२२०।।

दशविधसत्ये वचने यो योगः स तु सत्यवचोयोगः ।
तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ।।२२०।।

टीका – सत्य अर्थ का कहनेवाला वह सत्यवचन है । जनपद से लेकर जो दस प्रकार के सत्यरूप पदार्थ, उनमें वचनप्रवृत्ति करने को समर्थ, स्वर नामक नामकर्म के उदय से हुयी भाषापर्याप्ति से उत्पन्न, जो भाषावर्गणा के अवलंबन से युक्त आत्मा के प्रदेशों में शक्तिरूप भाववचन से उत्पन्न हुआ जो प्रवृत्तिरूप विशेष, उसे सत्यवचनयोग कहते हैं ।

पुनश्च उससे विपरीत असत्य पदार्थ में वचनप्रवृत्ति को कारण जो भाववचन, उससे जो प्रवर्तनरूप योग हो, उसे असत्यवचनयोग कहते हैं ।

पुनश्च कमंडल में यह घट हैं इत्यादि सत्य-असत्य पदार्थ में वचनप्रवृत्ति को कारण जो भाववचन, उससे जो प्रवर्तनरूप योग हो, उसे उभयवचनयोग कहते हैं; ऐसे हे भव्य! तू जान ।

जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजोगो ।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणी आदी ।।२२१।।

यो नैव सत्यमृषा स जानीहि असत्यमृषावचोयोगः ।
अमनसां या भाषा संज्ञिनामामंत्रण्यादिः ।।२२१।।

टीका – जो सत्य-असत्यरूप न हो ऐसे पदार्थ में वचनप्रवृत्ति को कारण जो भाववचन, उससे जो प्रवर्तनरूप योग हो, उसे सत्य असत्य निर्णयरहित अनुभय वचनयोग जानना । उसका उदाहरण उत्तर आधे सूत्र से *(सूत्र की दूसरी पंक्ति से)* कहते हैं।

द्वीन्द्रियादिक असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों की जो केवल अनक्षररूप भाषा है, वह सब अनुभय वचनयोग जानना । वा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की आगे कही है ऐसी जो आमंत्रणी आदि अक्षररूप भाषा, वह सर्व अनुभयवचनयोग जानना ।

आगे जनपद आदि दस प्रकार के सत्य को उदाहरणरूप तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं -

जणवदसम्मदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।
संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं ।।२२२।।

जनपदसम्मतिस्थापनानाम्नि रूपे प्रतित्यव्यवहारयोः ।
संभावनायां च भावे उपमायां दशविधं सत्यम् ।।२२२।।

टीका - जनपद में, संवृति या सम्मति में, स्थापना में, नाम में, रूप में, प्रतीत्य में, व्यवहार में, संभावना में, भाव में, उपमा में ऐसे दस स्थानों में दस प्रकार के सत्य जानना ।

भत्तं देवी चंदप्पह पडिमा तह य होदि जिणदत्तो ।
सेदो दिग्घो रज्झदि कूरो त्ति य जं हवे वयणं ।।२२३।।

भक्तं देवी चंद्रप्रभप्रतिमा तथा च भवति जिनदत्तः ।
श्वेतो दीर्घो रध्यते कूरमिति च यद्भवेद्वचनम् ।।२२३।।

टीका - दस प्रकार के सत्य कहे, उनके उदाहरण अनुक्रम से कहते हैं।

देश में, व्यवहारी मनुष्यों में प्रवृत्तिरूप वचन, उसे जनपदसत्य कहते हैं । जैसे ओदन *(पकाये हुए चावल)* को महाराष्ट्र देश में भात कहते हैं, आंध्रप्रदेश में वंटक, मुकूडु *(अन्नम्)* कहते हैं, कर्णाटक देश में कूलु कहते हैं, द्रविड देश में चोरु कहते हैं इत्यादि जानना ।

पुनश्च संवृति अर्थात् कल्पना या सम्मति अर्थात् बहुत जीवों द्वारा वैसे मानना। सर्व देशों में समान रूढिरूप नाम, उसे संवृतिसत्य कहते हैं या इसीको सम्मतिसत्य कहते हैं । जैसे किसी में पटरानीपना नहीं पाया जाता और उसे देवी कहते हैं ।

पुनश्च अन्य में अन्य की स्थापना करके उस मुख्य वस्तु का नाम कहना, उसे

स्थापनासत्य कहते हैं । जैसे रत्नादिक से निर्मित चंद्रप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा को चंद्रप्रभ कहते हैं ।

पुनश्च देशादिक की अपेक्षा भात इत्यादि नाम सत्य है वैसे अन्य अपेक्षा रहित केवल व्यवहार निमित्त जिसका जो नाम हो, वह कहना, उसे नामसत्य कहते हैं । जैसे किसी का नाम जिनदत्त है; सो जिनभगवान द्वारा दिया हो उसको जिनदत्त कहते हैं; यहां दानक्रिया की अपेक्षा बिना ही जिनदत्त नाम कहते हैं ।

पुनश्च पुद्गल के अनेक गुण होनेपर भी रूप की मुख्यतासहित वचन कहते हैं, उसे रूपसत्य कहते हैं । जैसे यह पुरुष गोरा कहते हैं, उसे रूपसत्य कहते हैं। वहां उसके केशादि काले हैं अथवा रसादिक अन्य गुण उसके पाये जाते हैं, परंतु उनकी मुख्यता नहीं की ।

पुनश्च अन्य वस्तु की अपेक्षा किसी विवक्षित वस्तु को हीन या अधिक मान *(लम्बाई, वजन इत्यादि)* वचन कहते हैं, उसे प्रतीत्यसत्य कहते हैं । इसी का नाम आपेक्षितसत्य *(सापेक्षसत्य)* है । जैसे यह दीर्घ है कहते हैं, वहां किसी छोटे की अपेक्षा इसको दीर्घ कहा । पुनश्च यही इससे दीर्घ की अपेक्षा छोटा है, परंतु उसकी विवक्षा नहीं की है । ऐसे ही स्थूलसूक्ष्मादि कहना, वह प्रतीत्यसत्य जानना ।

पुनश्च जो नैगमादि नय की अपेक्षा से प्रधानता सहित वचन कहते हैं, उसे व्यवहारसत्य जानना । जैसे नैगमनय की प्रधानता से ऐसा कहते हैं कि भात सीझ रहा है । वहां भात तो बाद में पचा जायगा (सीझेगा), अब तो चावल ही है। तथापि थोडे ही काल में भात होनेवाला है । इसलिये नैगमनय की विवक्षा से भातपर्यायरूप परिणमनेयोग्य द्रव्य की अपेक्षा सत्य कहते हैं । आदि शब्द से संग्रहनयादिक का भी व्यवहारविधान जानना ।

नयों के व्यवहार की अपेक्षा से जैसे सर्व पदार्थ सत्त्वरूप हैं या असत्त्वरूप हैं इत्यादि वचन, वह व्यवहारसत्य है । नैगमादि नय से संग्रहनयादिक का व्यवहार होता है, इसलिये इसको व्यवहारसत्य कहते हैं ।

सक्को जंबूदीवं पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च ।
पल्लोवमं च कमसो जणपदसच्चादिदिट्ठंता ।।२२४।।

शक्रो जंबूद्वीपं परिवर्तयति पापवर्जवचनं च ।
पल्योपमं च क्रमशो जनपदसत्यादिदृष्टांताः ।।२२४।।

टीका – असंभवपरिहार पूर्वक वस्तु के स्वभाव के विधानरूप लक्षणवाली जो संभावना, उसरूप वचन, उसे संभावनासत्य कहते हैं । जैसे इन्द्र जम्बूद्वीप पलटाने को समर्थ है कहना । वहां जम्बूद्वीप को पलटाने की शक्ति संभव नहीं । इसका परिहार करके केवल इसमें ऐसी शक्ति ही पायी जाती है; इसप्रकार जम्बूद्वीप पलटाने की क्रिया अपेक्षा रहित वचन सत्य है । जैसे बीज में अंकुर उपजाने की शक्ति है, वह इस क्रिया की अपेक्षा सहित वचन है । क्योंकि असंभव के परिहार द्वारा वस्तुस्वभाव के विधानरूप जो संभावना, उसके नियम से क्रिया की सापेक्षता नहीं है। क्योंकि क्रिया है, वह अनेक बाह्य कारण मिलनेपर उत्पन्न होती है ।

पुनश्च अतीन्द्रिय पदार्थ में सिद्धांत अनुसार विधिनिषेध के संकल्परूप जो परिणाम, उन्हें भाव कहते हैं । उनके सहित जो वचन, उसे भावसत्य कहते हैं । जैसे जो सूख गयी हो, अग्नि से पक्व हो वा घरटी, कोल्हू इत्यादि यंत्र से छिन्न की हो अथवा खटाई या लवण से मिश्रित हुयी हो या भस्मीभूत हुयी हो ऐसी वस्तु, उसे प्रासुक कहते हैं । इसके सेवन से पाप नहीं है । इत्यादि पापवर्जनरूप वचन, उसे भावसत्य कहते हैं । यद्यपि इन वस्तुओं में इन्द्रिय अगोचर सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं, तथापि आगम प्रमाण से प्रासुक अप्रासुक के संकल्परूप भाव के आश्रित ऐसा वचन यह सत्य है; क्योंकि समस्त अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञानियों ने कहा हुआ वचन सत्य है । चकार से ऐसा ही और भावसत्य जानना ।

पुनश्च किसी प्रसिद्ध पदार्थ की समानता किसी पदार्थ को कहते हैं वह उपमा है । उसरूप वचन, उसे उपमासत्य कहते हैं । जैसे उपमाप्रमाण में पल्योपम कहा वहां अनाज भरने का जो गोदाम (खास) उसे पल्य कहते हैं, उसकी उपमा जिसे हो, ऐसी संख्या को पल्योपम कहा, वह उपमासत्य है । असंख्यातासंख्यात रोमखण्डों के आश्रयभूत या उसप्रमाण समयों के आश्रयभूत जो संख्याविशेष है उसे किसी प्रकार गड्ढ़े में रोम भरने द्वारा, पल्य की समानता के आश्रय से पल्योपम कहते हैं । चकार से सागर आदि उपमासत्य के विशेष जानना ।

इसप्रकार अनुक्रम से जनपद आदि सत्य के भोजन आदि उदाहरण क्रम से कहे।

आगे अनुभयवचन के आमंत्रणी आदि भेदों के निरूपण के निमित्त दो गाथा कहते हैं –

आमंतणि आणवणी याचणिया पुच्छणी य पणणवणी ।
पच्चक्खाणी संसयवयणी इच्छाणुलोमा य ।।२२५।।

आमंत्रणी आज्ञापनी याचनी आपृच्छनी च प्रज्ञापनी ।
प्रत्याख्यानी संशयवचनी इच्छानुलोम्नी च ।।२२५।।

टीका – 'हे देवदत्त ! तू आ' इत्यादि बुलानेरूप जो भाषा, उसे आमंत्रणी कहते हैं । 'तू इस कार्य को कर' इत्यादि कार्य करने की आज्ञारूप जो भाषा, उसे आज्ञापनी कहते हैं । 'तू मुझे यह वस्तु दे' इत्यादि मांगनेरूप जो भाषा, उसे याचनी कहते हैं । 'यह कहाँ है ?' इत्यादि प्रश्नरूप जो भाषा, उसे आपृच्छनी कहते हैं । 'हे स्वामी, मेरी यह बिनती है' इत्यादि सेवक की स्वामी से बिनतीरूप जो भाषा, उसे प्रज्ञापनी कहते हैं । पुनश्च 'मैंने इस वस्तु का त्याग किया' इत्यादि त्यागरूप जो भाषा, उसे प्रत्याख्यानी कहते हैं । पुनश्च जैसे 'यह बगुलों की पंक्ति है या ध्वजा है ?' इत्यादि संदेहरूप जो भाषा उसे संशयवचनी कहते हैं । जैसे 'यह है वैसे मुझे भी चाहिये' इत्यादि इच्छानुसारी जो भाषा, उसे इच्छावचनी कहते हैं ।

णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवंति भासाओ ।
सोदाराणं जह्मा वत्तावत्तंससंजणया ।।२२६।।

नवमी अनक्षरगता असत्यमृषा भवंति भाषाः ।
श्रोतृणां यस्मात् व्यक्ताव्यक्तांशसंज्ञापिका ।।२२६।।

टीका – आठ भाषा तो ऊपर कही और नौवीं अनक्षररूप द्वीन्द्रियादिक असंज्ञी जीवों की जो भाषा होती है, अपने-अपने समस्यारूप संकेत को प्रकट करनेवाली, वह अनुभयभाषा जानना । इसप्रकार सत्य असत्य लक्षण रहित आमंत्रणी आदि अनुभयभाषा जानना । इनमें सत्य असत्य का निर्णय नहीं, वे कारण कहे हैं । क्योंकि ऐसे वचनों को सुननेवाले के सामान्यपने से तो अर्थ का अवयव प्रकट हुआ इसलिये असत्य नहीं कहा जाता । परंतु विशेषपने से अर्थ का अवयव प्रकट नहीं हुआ, इसलिये सत्य भी नहीं कहा जाता, इसलिये अनुभय कहते हैं । जैसे कहा 'तू आ' सो यहां सभी सुननेवालों

ने सामान्यपने जाना कि बुलाया गया है परंतु वह आयेगा या नहीं आयेगा ऐसा विशेष निर्णय तो उस वचन में नहीं है । इसलिये इसको अनुभय कहते हैं । ऐसे सभी का जानना । अन्य भी अनुभयवचन के भेद हैं, तथापि इन भेदों में गर्भित जानना । अथवा ऐसे ही उपलक्षण से ऐसी ही व्यक्त अव्यक्त वस्तु के अंश को बतानेवाली (जनावनेवाली) और भी अनुभयभाषा जुदी जानना ।

यहां कोई कहेगा कि अनक्षर भाषा का तो सामान्यपना भी व्यक्त नहीं होता है, इसको अनुभयवचन कैसे कहते हैं ?

उसका उत्तर – अनक्षर भाषावाले जीवों का संकेतरूप वचन होता है । इसकारण उनके वचन द्वारा उनके सुख-दुःख आदि के अवलंबन से हर्षादिरूप अभिप्राय जानते हैं । इसलिये अनक्षर शब्द में भी सामान्यपने की व्यक्तता होती है ।

आगे ये मन, वचन योग के भेद कहे, उनका कारण कहते हैं –

मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुण्णदेहउदओ दु ।
मोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं ।।२२७।।

मनोवचनयोर्मूलनिमित्तं खलु पूर्णदेहोदयस्तु ।
मृषोभययोर्मूलनिमित्तं खलु भवत्यावरणम् ।।२२७।।

टीका – सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोग तथा सत्यवचनयोग और अनुभयवचनयोग इनका मुख्य कारण पर्याप्त नामक नामकर्म का उदय और शरीर नामक नामकर्म का उदय जानना । चूंकि सामान्य है वह विशेष बिना नहीं होता । इसलिये मन, वचन का सामान्य ग्रहण हुआ, वहां उसी का विशेष जो है, सत्य और अनुभय, उसका ग्रहण सहज ही सिद्ध हुआ । अथवा असत्य-उभय का आगे निकट ही कथन है इसलिये यहां अवशेष रहे सत्य-अनुभय, उन्हीं का ग्रहण करना । पुनश्च आवरण *(ज्ञानावरण दर्शनावरण)* का मंद उदय होनेपर असत्यपने की उत्पत्ति नहीं होती । इसलिये असत्य और उभय मनोयोग और वचनयोग का मुख्य कारण आवरण के तीव्र अनुभाग का उदय जानना । इसी में इतना विशेष है कि, आवरण के तीव्रतर अनुभाग का उदय असत्य मन-वचन का कारण है और आवरण के तीव्र अनुभाग का उदय उभय मन-वचन का कारण है ।

यहां कोई कहे कि असत्य और उभय मन-वचन का कारण दर्शन और चारित्र मोहनीय का उदय क्यों नहीं कहते ?

उसका समाधान - असत्य और उभय मन-वचन योग मिथ्यादृष्टिवत् असंयत सम्यग्दृष्टि के और संयमी के भी पाया जाता है । इसलिये तुम कहते हो वह बनता नहीं । इसलिये सर्वत्र मिथ्यादृष्टि आदि जीवों के सत्य-असत्य योग का कारण आवरण के मंद या तीव्र अनुभाग का उदय जानना । केवली के सत्य-अनुभय योग का सद्भाव सर्व आवरण के अभाव से जानना । अयोगकेवली के शरीर नामक नामकर्म का उदय नहीं है, इसलिये सत्य और अनुभय योग का भी सद्भाव नहीं है ।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि, केवली के दिव्यध्वनि है, उनके सत्यवचनपना और अनुभयवचनपना कैसे सिद्ध होता है ?

उसका समाधान - केवली के दिव्यध्वनि होती है, जब होती है तब तो अनक्षर होती है, वह सुननेवालों के कर्णप्रदेश को जब तक प्राप्त नहीं होती, तब तक अनक्षर ही है । इसलिये अनुभयवचन कहते हैं । पुनश्च जब सुननेवालों के कर्ण में प्राप्त होती है तब अक्षररूप होकर यथार्थ वचन के अभिप्रायरूप संशयादिक को दूर करती है, इसलिये सत्यवचन कहते हैं । केवली के अतिशय द्वारा पुद्गल वर्गणा वैसे ही परिणमित हो जाती है ।

आगे सयोगकेवली के मनोयोग कैसे संभव है ? वह दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि ।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्मि ।।२२८।।

मन:सहितानां वचनं दृष्टं तत्पूर्वमिति सयोगे ।
उक्तो मन उपचारेणेंद्रियज्ञानेन हीने ।।२२८।।

टीका - इन्द्रियज्ञान जो मतिज्ञान, उससे रहित ऐसे जो सयोगकेवली, उनमें मुख्यपने तो मनोयोग है नहीं, उपचार से है । सो उपचार में निमित्त का प्रयोजन है; सो निमित्त यहां यह जानना - जैसे हम आदि छद्मस्थ जीव मन से संयुक्त, उनके मनोयोगपूर्वक अक्षर, पद, वाक्य स्वरूप वचनव्यापार देखा जाता है । इसलिये केवली

के भी मनयोगपूर्वक वचनयोग कहा ।

यहां प्रश्न - हम आदि छद्मस्थ अतिशय रहित पुरुषों में जो स्वभाव देखा जाता है, उसकी सातिशय भगवान केवली में कैसे कल्पना कर सकते हैं ?

उसका समाधान - सादृश्यपना नहीं है, इसीलिये छद्मस्थ के मनोयोग मुख्य कहा और केवली के कल्पनामात्र उपचाररूप मनोयोग कहा है ।

सो इस कहने का भी प्रयोजन कहते हैं -

अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणंदचंदह्मि ।
मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो ।।२२९।।

अंगोपांगोदयात् द्रव्यमनोऽर्थं जिनेंद्रचंद्रे ।
मनोवर्गणास्कंधानामागमनात् तु मनोयोगः ।।२२९।।

टीका - जिन है इन्द्र अर्थात् स्वामी जिनका ऐसे जो सम्यग्दृष्टि, उनके चन्द्रमा समान संसार-आताप और अज्ञान अंधकार का नाश करनेवाले, ऐसे जो सयोगी जिन, उनमें अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय से फूले हुये आठ पांखडियों के कमल के आकार का द्रव्यमन हृदय स्थान के मध्य में पाया जाता है । उसके परिणमन के कारणभूत मनोवर्गणा के आगमन से द्रव्यमन का परिणमन है । इसलिये प्राप्तिरूप प्रयोजन से पूर्वोक्त निमित्त से मुख्यपने भावमनोयोग का अभाव है । तथापि मनोयोग उपचारमात्र कहा है। अथवा पूर्व गाथा में कहा था कि आत्मप्रदेशों की कर्म-नोकर्म के ग्रहणरूप शक्ति, वह भावमनोयोग और इसी से उत्पन्न हुआ मनोवर्गणारूप पुद्गलों का मनरूप परिणमना, वह द्रव्यमनोयोग, वह इस गाथा सूत्र द्वारा संभवता है । इसलिये केवली के मनोयोग कहा है । **तु** शब्द से केवली के पूर्वोक्त उपचार कहा, उसके प्रयोजनभूत सर्व जीवों की दया, तत्त्वार्थ का उपदेश, शुक्लध्यानादि सर्व जानना ।

आगे काययोग का निरूपण प्रारंभ करते हैं । वहां प्रथम ही काययोग का भेद औदारिक काययोग, उसको निरुक्तिपूर्वक कहते हैं -

पुरुमहदुदारुरालं एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं ।
औरालियं तमु (त्तिउ)च्चइ औरालियकायजोगो सो ।।२३०।।

पुरुमहदुदारमुरालमेकार्थः संविजानीहि तस्मिन्भवम् ।
औरालिकं तदुच्यते औरालिककाययोगः सः ।।२३०।।

टीका – पुरु, महत्, उदार, उराल और स्थूल ये एकार्थ हैं । सो स्वार्थ में ठण् प्रत्यय से जो उदार हो या उराल हो उसे औदारिक कहते हैं या औरालिक भी कहते हैं । अथवा भव अर्थ में ठण् प्रत्यय से जो उदार में या उराल में उत्पन्न हो, उसे औदारिक या औरालिक भी कहते हैं । संचयरूप जो पुद्गलपिण्ड, उसे औदारिक काय कहते हैं । औदारिकशरीर नामक नामकर्म के उदय से उत्पन्न औदारिकशरीर के आकार से स्थूल पुद्गलों का परिणमन, वह औदारिक काय जानना । वैक्रियिक आदि शरीर सूक्ष्मपने परिणमते हैं, उनकी अपेक्षा से यह स्थूल है; इसलिये औदारिक कहते हैं ।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूक्ष्म पृथ्वीकायिकादि जीवों के स्थूलपना नहीं है, उन्हें औदारिकशरीर कैसे कहते हैं ?

उसका समाधान – इनसे भी वैक्रियिकादि शरीर सूक्ष्म परिणमते हैं, इसलिये उनकी अपेक्षा स्थूलपना है । अथवा परमागम में ऐसी रूढ़ि है इसलिये समभिरूढ़ नय से सूक्ष्म जीवों के औदारिकशरीर कहा । औदारिकशरीर के निमित्त आत्मप्रदेशों के कर्म–नोकर्म के ग्रहण की शक्ति, उसे औदारिक काययोग कहते हैं । अथवा औदारिक वर्गणारूप पुद्गल स्कंधों को औदारिकशरीररूप परिणमाने को कारण जो आत्मप्रदेशों का चंचलपना, उसे औदारिक काययोग हे भव्य ! तू जान । अथवा औदारिक काय वही औदारिक काययोग है । यहां कारण में कार्य का उपचार जानना । यहां उपचार है वह निमित्त और प्रयोजन का धारक है । वहां औदारिक काय से जो योग हुआ, उसे औदारिक काययोग कहते हैं, यह तो निमित्त । पुनश्च उस योग द्वारा ग्रहण किये हुये पुद्गलों का कर्म–नोकर्मरूप परिणमन वह प्रयोजन होता है । इसलिये निमित्त और प्रयोजन की अपेक्षा से उपचार कहा है ।

आगे औदारिकमिश्र काययोग को कहते हैं –

ओरालिय उत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सजोगो सो ।।२३१।।

औरालिकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।
यस्तेन संप्रयोगः औरालिकमिश्रयोगः सः ।।२३१।।

टीका – पूर्वोक्त लक्षण युक्त जो औदारिकशरीर, वह जितने काल तक अंतर्मुहूर्त तक पूर्ण न हो, अपर्याप्त हो, उतने काल तक औदारिकमिश्र काययोग पाया जाता है । मिश्र नाम अनेक के मिलने का है; सो यहां अपर्याप्त काल संबंधी तीन समयों में संभवनेवाले कार्माण काययोग के उत्कृष्ट कार्माणवर्गणा से संयुक्त है, इसलिये मिश्र नाम है । अथवा परमागम में ऐसी ही रूढ़ि है । अपर्याप्त शरीर को मिश्र कहते हैं । उस औदारिकमिश्र से युक्त संप्रयोग अर्थात् उसके लिये प्रवर्तित जो आत्मा के कर्म-नोकर्म ग्रहण की शक्ति युक्त प्रदेशों का चंचलपना, वह योग है। वह शरीरपर्याप्ति की पूर्णता के अभाव से औदारिकवर्गणा स्कंधों को सम्पूर्ण शरीररूप परिणमाने के लिये असमर्थ है । ऐसा औदारिकमिश्र काययोग तू जान ।

आगे वैक्रियिक काययोग को कहते हैं –

विविहगुणइड्ढिजुत्तं विक्किरियं वा हु होदि वेगुव्वं ।
तिस्से भवं च णेयं वेगुव्वियकायजोगो सो ।।२३२।।

विविधगुणर्द्धियुक्तं विक्रियं वा हि भवति विगूर्वम् ।
तस्मिन् भवं च ज्ञेयं वैगूर्विककाययोगः सः ।।२३२।।

टीका – विविध नानाप्रकार के शुभ अशुभरूप अणिमा, महिमा आदि गुणों की ऋद्धि अर्थात् महंतता से युक्त देव-नारकियों के शरीर को वैगूर्व, वैगूर्विक अथवा वैक्रियिक कहते हैं । वहां विगूर्व अर्थात् नानाप्रकार के गुण जिसमें हैं, वह वैगूर्व अथवा विगूर्व है प्रयोजन जिसका वह वैगूर्विक है । यहा ठण् प्रत्यय आया है । अथवा विविध नानाप्रकार की जो क्रिया, अनेक अणिमा आदि विकार वह विक्रिया वहां होती है अथवा वह विक्रिया जिसका प्रयोजन हो, वह वैक्रियिक है । ऐसी निरुक्ति जानना। वैगूर्विकशरीर के लिये उस शरीररूप परिणमने योग्य आहारवर्गणारूप स्कंधों को ग्रहण करने की शक्तियुक्त आत्मप्रदेशों का जो चंचलपना, उसे वैगूर्विक काययोग जानना ।

अथवा वैक्रियिक काय, वही वैक्रियिक काययोग है । यहां कारण में कार्य का उपचार जानना । सो यह उपचार पूर्ववत् निमित्त और प्रयोजन के कारण है । वहां

वैक्रियिक काय से जो योग हुआ वह वैक्रियिक काययोग है - यह निमित्त है तथा उस योग से कर्म-नोकर्म का परिणमन होगा, वह प्रयोजन है ।

आगे देव-नारकी के तो कहा, और भी किसी किसी के वैक्रियिक काययोग होता है, उसे कहते हैं -

बादरतेऊवाऊ पंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति ।
औरालियं सरीरं विगुव्वणप्पं हवे जेसिं ।।२३३।।

बादरतेजोवायुपंचेंद्रियपूर्णका विगूर्वंति ।
औरालिकं शरीरं विगूर्वणात्मकं भवेद्येषाम् ।।२३३।।

टीका - बादर अग्निकायिक या वायुकायिक जीव तथा कर्मभूमि में उत्पन्न चक्रवर्ती से लेकर संज्ञी पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्य तथा भोगभूमियां तिर्यंच या मनुष्य वे औदारिकशरीर को विक्रियारूप परिणमाते हैं । जिनका औदारिकशरीर ही विक्रिया युक्त पाया जाता है, वे जीव अपृथक् विक्रियारूप परिणमते हैं तथा भोगभूमियां और चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया भी करते हैं । जो अपने शरीर से भिन्न अनेक शरीरादिक विकाररूप करते हैं, उसे पृथक् विक्रिया कहते हैं । तथा जो अपने शरीर ही को अनेक विकाररूप करते हैं, उसे अपृथक् विक्रिया कहते हैं ।

आगे वैक्रियिकमिश्र काययोग कहते हैं -

वेगुव्वियउत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।
जो तेण संपयोगो वेगुव्वियमिस्सजोगो सो ।।२३४।।

वैगूर्विकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।
यस्तेन संप्रयोगो वैगूर्विकमिश्रयोगः सः ।।२३४।।

टीका - पूर्वोक्त लक्षण से युक्त जो वैगूर्विक या वैक्रियिक शरीर, वह जितने काल अंतर्मुहूर्त तक पूर्ण नहीं होता, शरीरपर्याप्ति की पूर्णता के अभाव के कारण वैक्रियिक काययोग उपजाने को असमर्थ हो, उतने काल उसे वैक्रियिकमिश्र कहते हैं। मिश्रपना यहां भी औदारिकमिश्रवत् जानना । उस वैक्रियिकमिश्र से युक्त संप्रयोग अर्थात् कर्म-नोकर्म ग्रहण की शक्ति को प्राप्त अपर्याप्त कालमात्र आत्मा के प्रदेशों का चंचल होना;

उसे वैक्रियिकमिश्र काययोग कहते हैं । अपर्याप्त योग का नाम मिश्रयोग है।

आगे आहारक काययोग को पांच गाथाओं द्वारा कहते हैं -

आहारस्सुदएण य पमत्तविरदस्स होदि आहारं ।
असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च ।।२३५।।

आहारस्योदयेन च प्रमत्तविरतस्य भवति आहारकम् ।
असंयमपरिहरणार्थं संदेहविनाशनार्थं च ।।२३५।।

टीका - प्रमत्तविरत छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारकशरीर नामक नामकर्म के उदय से आहारवर्गणारूप पुद्गल स्कंधों के आहारकशरीररूप परिणमने से आहारक शरीर होता है । वह किस लिये होता है ? अढ़ाई द्वीप में तीर्थयात्रादि के निमित्त वा असंयम दूर करने के निमित्त वा ऋद्धियुक्त होनेपर भी श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय के क्षयोपशम की मंदता होने से शास्त्र के अर्थ में धर्मध्यान का विरोधी ऐसा संदेह उत्पन्न हो उसको दूर करने के निमित्त आहारकशरीर उत्पन्न होता है ।

णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कम्मणपहुदिकल्लाणे ।
परखेत्ते संवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ।।२३६।।

निजक्षेत्रे केवलिद्विकविरहे निष्क्रमणप्रभृतिकल्याणे ।
परक्षेत्रे संवृत्ते जिनजिनगृहवंदनार्थं च ।।२३६।।

टीका - निजक्षेत्र जहां अपनी गमनशक्ति हो और वहां केवली, श्रुतकेवली नहीं पाये जाय तथा परक्षेत्र जहां अपने औदारिकशरीर की गमनशक्ति न हो वहां केवली श्रुतकेवली हो अथवा वहां तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याणक हो तो वहां असंयम दूर करने के निमित्त वा संदेह दूर करने के निमित्त वा जिन और जिनमंदिर की वंदना करने के निमित्त, गमन करने को उद्यमी हुये जो प्रमत्तसंयमी उनके आहारकशरीर होता है ।

उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं ।
सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ।।२३७।।

उत्तमांगे भवेत् धातुविहीनं शुभमसंहननम् ।
शुभसंस्थानं धवलं हस्तप्रमाणं प्रशस्तोदयं ।।२३७।।

टीका – वह आहारकशरीर कैसा होता है ? रसादिक सप्त धातु रहित होता है । तथा शुभ नामकर्म के उदय से प्रशस्त अवयव धारी शुभ होता है । तथा संहनन अर्थात् हड्डियों के बंधन से रहित होता है । पुनश्च शुभ जो समचतुरस्रसंस्थान या अंगोपांग का आकार, उसका धारक होता है । तथा चन्द्रकांत मणि के समान श्वेत वर्ण का होता है । तथा एक हाथ प्रमाण होता है । यहां चौबीस व्यवहारांगुलप्रमाण एक हस्त जानना । पुनश्च प्रशस्त जो आहारक शरीर, बंधन आदि पुण्यरूप प्रकृतियों का उदय जिसके है, ऐसा होता है । ऐसा आहारकशरीर मुनि के उत्तमांग अर्थात् मस्तक, वहां उत्पन्न होता है ।

अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवई ।।२३८।।

अव्याघाति अंतर्मुहूर्तकालस्थिति जघन्येतरे ।
पर्याप्तिसंपूर्णायां मरणमपि कदाचित् संभवति ।।२३८।।

टीका – वह आहारकशरीर अव्याबाध है; वैक्रियिकशरीर के समान किसी वज्र पर्वतादिक से रुक नहीं सकता, स्वयं किसी को रोकता नहीं । तथा इसकी जघन्य वा उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण है । जब आहारक शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो जाय, तब कदाचित् किसी आहारक काययोग के धारक प्रमत्त मुनि का आहारक काययोग के काल में अपनी आयु के क्षय से मरण भी हो सकता है ।

आहरदि अणेण मुणी सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे ।
गत्ता केवलिपासं तह्मा आहारगो जोगो ।।२३९।।

आहारत्यनेन मुनिः सूक्ष्मानर्थान् स्वस्य संदेहे ।
गत्वा केवलिपार्श्वं तस्मादाहारको योगः ।।२३९।।

टीका – आहारक ऋद्धि से संयुक्त प्रमत्त मुनि, वे पदार्थों में स्वयं को सन्देह होनेपर उसे दूर करने के लिये केवली के चरण के निकट जाकर, अपने से अन्य जो केवली, उनसे सूक्ष्म यथार्थ अर्थ को **आहरति** अर्थात् ग्रहण करते हैं, उन्हें आहारक कहते हैं । आहारस्वरूप हो उसको आहारक कहते हैं । उनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेपर आहारवर्गणा के आहारकशरीर योग्य पुद्गल स्कंधों को ग्रहण करने की शक्ति के धारक

आत्मप्रदेशों का चंचलपना, वह आहारक काययोग जानना ।

आगे आहारकमिश्र काययोग को कहते हैं -

आहारयमुत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।
जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सजोगो सो ।।२४०।।

आहारकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।
यस्तेन संप्रयोगः आहारकमिश्रयोगः सः ।।२४०।।

टीका - पूर्वोक्त लक्षणयुक्त जो आहारकशरीर, वह जितने काल-अंतर्मुहूर्त तक पूर्ण न हो, आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कंधों को आहारकशरीररूप परिणमाने को असमर्थ हो, उतने काल तक आहारकमिश्र कहते हैं । यहां पहले जो औदारिकशरीररूप वर्गणा हैं, उसके मिलाप से मिश्रपना जानना । उस आहारकमिश्र से युक्त जो संप्रयोग अर्थात् अपूर्ण शक्तियुक्त आत्मा के प्रदेशों का चंचलपना, उसे आहारकमिश्र काययोग हे भव्य! तू जान ।

आगे कार्माण काययोग को कहते हैं -

कम्मेव य कम्मभवं कम्मइयं जो दु तेण संजोगो ।
कम्मइयकायजोगो इगिविगतिगसमयकालेसु ।।२४१।।

कर्मैव च कर्मभवं कार्मणं यस्तु तेन संयोगः ।
कार्मणकाययोगः एकद्विकत्रिकसमयकालेषु ।।२४१।।

टीका - कर्म अर्थात् ज्ञानावरणादि पुद्गल स्कंध, वही कार्माणशरीर जानना। अथवा कर्म अर्थात् कार्माणशरीर नामक नामकर्म के उदय से हुआ उसे कार्माणशरीर कहते हैं । उस कार्माण स्कंध सहित जो वर्तमान **संप्रयोगः** अर्थात् आत्मा के कर्मग्रहणशक्ति युक्त प्रदेशों का चंचलपना, वह कार्माण काययोग है । वह विग्रहगति में एक समय या दो समय या तीन समय कालप्रमाण होता है । और केवली समुद्घात में प्रतरद्विक और लोकपूर्ण इन तीन समयों में होता है *(प्रतर, लोकपूरण और समेटते समय पुनश्च प्रतर-प्रत्येक का एक-एक समय इसप्रकार तीन समय होते हैं ।)* अन्य काल में कार्माण काययोग नहीं होता । इसी से यह जाना जाता है कि कार्माण काययोग को छोड़कर

अन्य जो योग कहे, वे यदि रुके नहीं तो एक योग का परिणमन उत्कृष्टपने से अंतर्मुहूर्त तक ही रहता है, पश्चात् अन्य योग होता है । और यदि अन्य से रुकता है तो एक समय से लेकर अंतर्मुहूर्त तक एक योग का परिणमन यथासंभव जानना । एक जीव की अपेक्षा से तो ऐसा है । और नाना जीवों की अपेक्षा से 'उपशम सुहुम' इत्यादि गाथाओं द्वारा आठ सांतर मार्गणा बिना अन्य मार्गणाओं का सर्वकाल सद्भाव कहा ही है । *(गाथा १४३....)*

आगे योगों की प्रवृत्ति का विधान दिखाते हैं –

वेगुव्वियआहारयकिरिया ण समं पमत्तविरदह्मि ।
जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण ।।२४२।।

वैगूर्विकाहारकक्रिया न समं प्रमत्तविरते ।
योगोऽपि एककाले एक एव च भवति नियमेन ।।२४२।।

टीका – प्रमत्तविरत छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के समकाल में युगपत् वैक्रियिक काययोग की क्रिया और आहारक काययोग की क्रिया नहीं होती । ऐसा नहीं है कि एक ही काल में आहारकशरीर को धारण कर गमनागमनादि कार्य को करे और विक्रिया ऋद्धि को धारण कर विक्रिया संबंधी कार्य को भी करें, दोनों में से एक ही होता है । इससे यह जाना जाता है कि गणधरादिकों के और ऋद्धियां युगपत् प्रवर्ते तो विरोध नहीं है । पुनश्च इसीप्रकार अपने योग्य अंतर्मुहूर्तमात्र एक काल में एक जीव के युगपत् एक ही योग होता है, दो या तीन योग नहीं होते, यह नियम है । एक काल के योग में जो अन्य योग संबंधी गमनादि क्रिया की प्रवृत्ति देखी जाती है, वह पहले जो योग हुआ था, उसके संस्कार से होती है । जैसे कुम्हार ने पहले दण्ड से चक्र घुमाया था, पश्चात् कुम्हार उस चक्र को छोड़कर अन्य कार्य करने लगा; वह चक्र संस्कार के बल से कितने ही काल तक स्वयं ही घूमता है, संस्कार मिट जानेपर घूमता नहीं है । वैसे आत्मा पहले जिस योगरूप परिणमा था उसे छोड़कर अन्य योगरूप से परिणमित हुआ, वह योग के संस्कार के बल से स्वयं ही प्रवर्तन करता है । संस्कार मिटनेपर जैसा छोड़ा हुआ बाण गिर जाता है, वैसे उसकी प्रवर्तना मिट जाती है । इसलिये संस्कार के कारण एक काल में अनेक योगों की प्रवृत्ति जानना । तथापि प्रमत्तविरत मुनि के तो संस्कार की अपेक्षा से भी एक काल में वैक्रियिक और आहारक योग

की प्रवृत्ति नहीं होती । इसप्रकार आचार्यों ने वर्णन किया है, वह जानना ।

आगे योग रहित आत्मा के स्वरूप को कहते हैं -

जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया ।
ते होंति अजोगिजिणा अणोवमाणंतबलकलिया ।।२४३।।

येषां न संति योगाः शुभाशुभाः पुण्यपापसंजनकाः ।
ते भवंति अयोगिजिनाः अनुपमानंतबलकलिताः ।।२४३।।

टीका - जिन आत्माओं के पुण्य-पापरूप कर्मप्रकृतियों के बंध को उपजानेवाले शुभरूप या अशुभरूप मन, वचन, काय के योग नहीं होते वे अयोगी जिन अर्थात् चौदहवें अंतिम गुणस्थानवर्ती तथा गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान जानने ।

कोई समझेगा कि योगों के अभाव से उनके बल का अभाव है । जैसे हम सारिखे जीवों के योगों के आश्रयभूत बल देखा जाता है ।

वहां कहते हैं । कैसे हैं सिद्ध ? '**अनुपमानंतबलकलिताः**' अर्थात् जिनके बल को हमारे जैसे जीवों के बल की उपमा नहीं बन सकती । तथा केवलज्ञानवत् अक्षयानंत अविभागप्रतिच्छेद युक्त ऐसा बल-वीर्य, जो सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों के युगपत् ग्रहण करने की समर्थता से व्याप्त है, स्वभाव परिणत है । योगों का बल कर्माधीन है इसलिये प्रमाण *(मर्यादा)* सहित है, अनंत नहीं है । परमात्मा का बल केवलज्ञानादिवत् आत्मस्वभावरूप है । इसलिये प्रमाण *(मर्यादा)* रहित अनंत है ।

आगे शरीर का कर्म और नोकर्म भेद दिखाते हैं -

ओरालियवेगुव्विय आहारयतेजणामकम्मुदये ।
चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं ।।२४४।।

औरालिकवैगूर्विकाहारकतेजोनामकर्मोदये ।
चतुर्नोकर्मशरीराणि कर्मैव च भवति कार्मणम् ।।२४४।।

टीका - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजसरूप जो नामकर्म की प्रकृति, उनके उदय से जो ये औदारिक आदि चार शरीर होते हैं, वे नोकर्मशरीर जानने ।

नो शब्द के दो अर्थ हैं, एक तो निषेधरूप और एक ईषत् अर्थात् स्तोक*(अल्प)*रूप। चूंकि यहां कार्माण की तरह ये चार शरीर आत्मा के गुणों को घातते नहीं अथवा गत्यादिरूप पराधीन नहीं कर सकते । इसलिये कर्म से विपरीत लक्षण धरने से इनको अकर्मशरीर कहते हैं । अथवा कर्मशरीर के ये सहकारी हैं इसलिये ईषत् कर्मशरीर कहते हैं । इसप्रकार इनको नोकर्मशरीर कहा । जैसे मन को नो-इन्द्रिय कहते हैं, वैसे नोकर्म जानना । तथा कार्माणशरीर नामक नामकर्म के उदय से ज्ञानावरणादिक कर्मस्कंधरूप कर्म, वही कर्मशरीर जानना ।

आगे जो ये औदारिकादि शरीर कहे, उनके समयप्रबद्धादिक की संख्या दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु ।
ताहिं अणंतहिं णियमा समयपबद्धो हवे एक्को ।।२४५।।

परमाणुभिरनंतैः वर्गणासंज्ञा हि भवत्येका हि ।
ताभिरनंतैर्नियमात् समयप्रबद्धो भवेदेकः ।।२४५।।

टीका - सिद्धराशि का अनंतवां भाग और अभव्यराशि से अनंतगुणा ऐसा जो मध्यम अनंतानंत का भेद, उसप्रमाण पुद्गल परमाणुओं का जो एक स्कंध होता है, उसका वर्गणा ऐसा नाम जानना । संख्यात या असंख्यात परमाणुओं से वर्गणा नहीं होती। चूंकि यद्यपि आगे पुद्गल वर्गणा के तेइस भेद कहेंगे, वहां अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्यातणुवर्गणा आदि भेद हैं; तथापि यहां औदारिक आदि शरीरों के प्रकरण में आहारवर्गणा वा तेजसवर्गणा वा कार्माणवर्गणा का ही ग्रहण जानना । पुनश्च सिद्धों के अनंतवें भाग और अभव्यों से अनंतगुणी ऐसी मध्यम अनंतानंत प्रमाण वर्गणा, उनसे एक समयप्रबद्ध होता है । समय में या समय द्वारा यह जीव कर्म-नोकर्मरूप पूर्वोक्त प्रमाण वर्गणाओं के समूहरूप स्कंधों से संबंध करता है । इसलिये इसको समयप्रबद्ध कहते हैं । ऐसा वर्गणा का और समयप्रबद्ध का भेद स्याद्वादमत में है; अन्यमत में नहीं । यह विशेष नियम शब्द से जानना ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि एक ही प्रमाण को सिद्धराशि का अनंतवां भाग और अभव्यराशि से अनंतगुणा ऐसे दो प्रकार से कहा, उसका क्या कारण है ?

उसका समाधान – सिद्धराशि के अनंतवें भाग के अनंत भेद हैं । वहां अभव्यराशि से अनंतगुणा ऐसा जो सिद्धराशि का अनंतवां भाग हो, उतना यहां प्रमाण जानना। इसतरह अल्पबहुत्व द्वारा उस प्रमाण का विशेष जानने के लिये दो प्रकार से कहा है । अन्य कुछ प्रयोजन नहीं है ।

ताणं समयपबद्धा सेडिअसंखेज्जभागगुणिदकमा ।
णंतेण य तेजदुगा परं परं होदि सुहमं खु ।।२४६।।

तेषां समयप्रबद्धाः श्रेण्यसंख्येयभागगुणितक्रमाः ।
अनंतेन च तेजोद्विकाः परं परं भवति सूक्ष्मं खलु ।।२४६।।

टीका – उन पांच शरीर के समयप्रबद्ध सभी परस्पर समान नहीं हैं । उत्तरोत्तर अधिक परमाणुओं के समूहवाले हैं, उसे कहते हैं । परमाणुओं के प्रमाण की अपेक्षा औदारिकशरीर का समयप्रबद्ध सबसे अल्प है । इससे श्रेणी के असंख्यातवें भाग गुणा परमाणु प्रमाण वैक्रियिक का समयप्रबद्ध है । पुनश्च इससे भी श्रेणी के असंख्यातवें भाग गुणा परमाणु प्रमाण आहारक का समयप्रबद्ध है । इसतरह आहारक तक जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग के गुणकार की विवक्षा जानना । उसके आगे आहारक के समयप्रबद्ध से अनंतगुणा परमाणु प्रमाण तेजस का समयप्रबद्ध है । पुनश्च इससे भी अनंतगुणा परमाणु प्रमाण कार्माण का समयप्रबद्ध है । यहां **'अनंतेन तेजोद्विकं'** द्वारा तेजस कार्माण में अनंतानंतगुणा प्रमाण जानना ।

पुनश्च यहां कोई आशंका करे कि यदि उत्तरोत्तर अधिक-अधिक परमाणु कहे, तो उत्तरोत्तर स्थूलता भी होगी ?

वहां कहते हैं – **'परं परं सूक्ष्मं भवति'** अर्थात् उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । औदारिक से वैक्रियिक सूक्ष्म है । वैक्रियिक से आहारक सूक्ष्म है । आहारक से तेजस सूक्ष्म है । तेजस से कार्माण सूक्ष्म है । यद्यपि परमाणु तो अधिकाधिक हैं, तथापि स्कंध के बंधन में विशेष है, इसलिये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । जैसे कपास के पिण्ड से लोहे के पिण्ड मे अधिकपना होते हुये भी कपास के पिण्ड से लोहे का पिण्ड थोड़ा सा क्षेत्र रोकता है, वैसे जानना ।

आगे औदारिकादि शरीरों का समयप्रबद्ध और वर्गणा, वे कितने-कितने क्षेत्र में

रहते हैं ? ऐसे अवगाहना के भेदों को कहते हैं -

ओगाहणाणि ताणं समयपबद्धाण वग्गणाणं च ।
अंगुलअसंखभागा उवरुवरिमसंखगुणहीणा ।।२४७।।

अवगाहनानि तेषां समयप्रबद्धानां वर्गणानां च ।
अंगुलासंख्यभागा उपर्युपरि असंख्यगुणहीनानि ।।२४७।।

टीका - उन औदारिकादि शरीर संबंधी समयप्रबद्ध वा वर्गणा, उनका अवगाहनाक्षेत्र घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र है । तथापि ऊपर-ऊपर असंख्यातगुणा हीन क्रम जानना। वही कहते हैं - औदारिकशरीर के समयप्रबद्ध का अवगाहनाक्षेत्र सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग घनांगुल को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना जानना । पुनश्च इसको सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर औदारिकशरीर की वर्गणा के अवगाहनाक्षेत्र का प्रमाण होता है । पुनश्च इससे सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जो असंख्यात, उस असंख्यातगुणा हीन क्रम से वैक्रियिकादि शरीरों के समयप्रबद्ध के वर्गणा की अवगाहना का प्रमाण होता है । वैक्रियिकशरीर के समयप्रबद्ध की अवगाहना को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर औदारिक समयप्रबद्ध की अवगाहना होती है। वैक्रियिकशरीर की वर्गणा की अवगाहना को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर औदारिक की वर्गणा की अवगाहना होती है । इसीप्रकार वैक्रियिक से आहारक की, आहारक से तेजस की, तेजस से कार्माण की समयप्रबद्ध और वर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणा क्रम से हीन जानना ।

इसी अर्थ को श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव कहते हैं -

तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सूइअंगुलासंख-
भागहिदबिंदअंगुलमुवरुवरिं तेन भजिदकमा ।।२४८।।

तत्समयबद्धवर्गणावगाहः सूच्यंगुलासंख्य-
भागहितवृंदांगुलमुपर्युपरि तेन भजितक्रमाः ।।२४८।।

टीका - उन समयप्रबद्ध वा वर्गणा की अवगाहना का प्रमाण सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग घनांगुल को देनेपर जो प्रमाण हो, उतना जानना । पुनश्च

ऊपर-ऊपर पूर्व-पूर्व से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र जानना । गुणहानि का और भाग देने का एक अर्थ है *(जैसे चार गुणा हीन कहो या चौथा भाग कहो एक ही अर्थ है ।)* सो वैक्रियिक के समयप्रबद्ध वर्गणा की अवगाहना को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर औदारिक के समयप्रबद्ध वर्गणा की अवगाहना होती है । अथवा औदारिक के समयप्रबद्ध वर्गणा की अवगाहना को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर वैक्रियिकशरीर के समयप्रबद्ध वर्गणा की अवगाहना का प्रमाण होता है । दोनों एकार्थ है, ऐसे ही सबका जानना ।

आगे विस्रसोपचय का स्वरूप कहते हैं -

जीवादो णंतगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया ।
जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडिसमाणा हु ।।२४९।।

जीवतोऽनंतगुणाः प्रतिपरमाणौ विस्रसोपचयाः ।
जीवेन च समवेता एकैकं प्रति समानाः हि ।।२४९।।

टीका - कर्म और नोकर्म के जितने परमाणु हैं, उन एक-एक परमाणु के प्रति जीवराशि से अनंतानंतगुणा विस्रसोपचयरूप परमाणु जीव के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाही हैं। विस्रसा अर्थात् अपने ही स्वभाव से आत्मा के परिणाम बिना ही **उपचीयंते** अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप परिणमित हुये बिना ही कर्म-नोकर्मरूप स्कंध में स्निग्ध-रूक्ष गुण के विशेष से मिलकर एक स्कंधरूप होते हैं, उन्हें विस्रसोपचय कहते हैं, ऐसा निरुक्ति द्वारा ही इसका लक्षण आया, इसलिये जुदा लक्षण नहीं कहा । विस्रसोपचयरूप परमाणु कर्म-नोकर्मरूप होने को योग्य हैं । उन्हीं कर्म-नोकर्म के स्कंध में एकक्षेत्रावगाही होकर संबंधरूप परिणमित होकर एक स्कंधरूप होते हैं । वर्तमान में कर्म-नोकर्मरूप परिणत हुये नहीं हैं; ऐसे विस्रसोपचयरूप परमाणु जानना । वे कितने हैं ? वह कहते हैं -

यदि एक कर्म या नोकर्म संबंधी परमाणु के जीवराशि से अनंतगुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु होते हैं, तो कुछ कम डेढ़ गुणहानि के प्रमाण से गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सर्वसत्त्वरूप कर्म या नोकर्म के परमाणुओं के कितने विस्रसोपचय परमाणु होंगे, ऐसा त्रैराशिक करना। यहां प्रमाणराशि एक, फलराशि अनंतगुणा जीवराशि, इच्छाराशि किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध । वहां इच्छाराशि को फलराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशिमात्र आत्मा के प्रदेशों में स्थित सर्व विस्रसोपचय

परमाणुओं का प्रमाण जानना । पुनश्च इस विस्रसोपचय परमाणुओं के प्रमाण में किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्धमात्र कर्म-नोकर्मरूप परमाणुओं के प्रमाण को मिलानेपर विस्रसोपचय सहित कर्म-नोकर्म का सत्त्व होता है ।

आगे कर्म-नोकर्मों के उत्कृष्ट संचय का स्वरूप और स्थान और लक्षण कहते हैं -

उक्कस्सट्ठिदिचरिमे सगसगउक्कस्ससंचओ होदि ।
पणदेहाणं वरजोगादिससामग्गिसहियाणं ।।२५०।।

उत्कृष्टस्थितिचरमे स्वकस्वकोत्कृष्टसंचयो भवति ।
पंचदेहानां वरयोगादिस्वसामग्रीसहितानाम् ।।२५०।।

टीका - उत्कृष्ट योग आदि अपने-अपने उत्कृष्ट बंध होने की सामग्री से सहित जो जीव, उनके औदारिकादि पांच शरीरों का उत्कृष्ट संचय जो उत्कृष्टपने परमाणुओं का संबंध, वह अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति के अंतिम समय में होता है । वहां स्थिति के पहले समय से लेकर एक-एक समय में एक-एक समयप्रबद्ध बंधता है। पुनश्च आगे कहते हैं उसप्रकार एक-एक समयप्रबद्ध के एक-एक निषेक की निर्जरा होती है, अवशेष संचयरूप होते हुये अंतिम समय में कुछ कम डेढ़ गुणहानि से समयप्रबद्ध को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतना उत्कृष्टपने सत्त्व होता है ।

आगे श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव उत्कृष्ट संचय होने की सामग्री कहते हैं -

आवासया हु भवअद्धाउस्सं जोगसंकिलेसो य ।
ओकट्टुक्कट्टणया छच्चेदे गुणिदकम्मंसे ।।२५१।।

आवश्यकानि हि भवाद्धा आयुष्यं योगसंक्लेशौ च ।
अपकर्षणोत्कर्षणके षट् चैते गुणितकर्मांशे ।।२५१।।

टीका - गुणितकर्मांश अर्थात् जिसके उत्कृष्ट संचय होता है ऐसे जीव में उत्कृष्ट संचय के कारणभूत ये छह अवश्य होते हैं, इसलिये उत्कृष्ट संचय करनेवाले जीव के ये छह आवश्यक कहलाते हैं १) भवाद्धा २) आयुर्बल ३) योग ४) संक्लेश ५) अपकर्षण ६) उत्कर्षण ये छह जानना । इनका स्वरूप विस्तार सहित आगे कहेंगे ।

अब पांच शरीरों के बंध, उदय, सत्त्वादिक में परमाणुओं के प्रमाण का विशेष जानने के लिये स्थिति आदि कहते हैं । वहां औदारिकादि पांच शरीरों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण कहते हैं -

पल्लतियं उवहीणं तेत्तीसंतोमुहुत्त उवहीणं ।
छावट्ठी कमट्ठिदि बंधुक्कस्सट्ठिदी ताणं ।।२५२।।

पल्यत्रयमुदधीनां त्रयस्त्रिंशदंतर्मुहूर्त उदधीनाम् ।
षट्षष्टिः कर्मस्थितिर्बंधोत्कृष्टस्थितिस्तेषाम् ।।२५२।।

टीका - उन औदारिक आदि पांच शरीरों की बंधरूप उत्कृष्ट स्थिति में औदारिक की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है, वैक्रियिकशरीर की तैंतीस सागर है, आहारक शरीर की अंतर्मुहूर्त है, तेजसशरीर की छासठ सागर है । कार्माणशरीर की स्थितिबंध में जो उत्कृष्ट कर्म की स्थिति वह जाननी । वह सामान्यपने से सत्तर कोडाकोडि सागर है; विशेषपने से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, अंतराय की तीस कोडाकोडि सागर, मोहनीय की सत्तर कोडाकोडि सागर, नाम-गोत्र की बीस कोडाकोडि सागर, आयु की तैंतीस सागर प्रमाण जाननी । ऐसे पांच शरीरों की उत्कृष्ट स्थिति कही।

अब यहां यथार्थ ज्ञान के निमित्त अंकसंदृष्टि द्वारा दृष्टांत कहते हैं -

जैसे समयप्रबद्ध का प्रमाण तिरसठ सौ (६३००) परमाणु, स्थिति अड़तालीस समय होती है, वैसे यहां पांच शरीरों के समयप्रबद्ध के परमाणुओं का प्रमाण और स्थिति के जितने समय हो, उनका प्रमाण पूर्वोक्त जानना ।

आगे इन पांच शरीरों की उत्कृष्ट स्थितियों में गुणहानि के आयाम का प्रमाण कहते हैं -

अंतोमुहुत्तमेत्तं गुणहाणी होदि आदिमतिगाणं ।
पल्लासंखेज्जदिमं गुणहाणी तेजकम्माणं ।।२५३।।

अंतर्मुहूर्तमात्रा गुणहानिर्भवति आदिमत्रिकानां ।
पल्यासंख्यात भागा गुणहानिस्तेजः कर्मणोः ।।२५३।।

टीका - पूर्व-पूर्व गुणहानि से उत्तर-उत्तर गुणहानि में गुणहानि का और निषेकों का द्रव्य दुगुणा-दुगुणा हीन *(आधा-आधा)* होता है । इसलिये गुणहानि नाम जानना।

जैसे अड़तालीस समय की स्थिति में आठ-आठ समय प्रमाण एक-एक गुणहानि का आयाम होता है, वैसे आदि के तीन शरीर औदारिक, वैक्रियिक, आहारक उनकी तो उत्कृष्ट स्थिति संबंधी गुणहानि यथायोग्य अंतर्मुहूर्त प्रमाण है । अपने-अपने योग्य अंतर्मुहूर्त के जितने समय हो, उतना गुणहानि का आयाम जानना । आयाम नाम लम्बाई का है । सो यहां समय-समय संबंधी निषेक क्रम से होते हैं, इसलिये आयाम ऐसी संज्ञा कही । पुनश्च तेजस, कार्माण की उत्कृष्ट स्थिति संबंधी गुणहानि अपने-अपने योग्य पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । वहां पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों *(वछे)* को पल्य के अर्धच्छेदों *(छे)* में से घटानेपर जो अवशेष रहे उसको असंख्यात से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतनी तेजस की सर्व नानागुणहानि है *((छे-वछे)×असंख्यात))*। इस प्रमाण का भाग तेजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति जो संख्यात पल्य प्रमाण है, उसको देनेपर जो प्रमाण आये उस प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भागमात्र तेजस शरीर की गुणहानि का आयाम है । पुनश्च पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों को पल्य के अर्धच्छेदों में से घटानेपर जो अवशेष रहे, उतनी कार्माण की सर्व नानागुणहानि है *(छे-वछे)* । इस प्रमाण का भाग कार्माण की उत्कृष्ट स्थिति जो संख्यात पल्यप्रमाण, उसको देनेपर जो प्रमाण आये, उसप्रमाण पल्य के असंख्यातवें भागमात्र कार्माणशरीर की गुणहानि का आयाम है । इसप्रकार गुणहानि आयाम कहा।

पुनश्च जैसे, आठ समय की एक गुणहानि होती है, तो अड़तालीस समयों की कितनी गुणहानि होगी ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर सर्व स्थिति में नानागुणहानि का प्रमाण छह आता है; वैसे यदि औदारिकशरीर की एक अंतर्मुहूर्तमात्र एक गुणहानिशलाका है, तो तीन पल्य की नानागुणहानि कितनी है ? ऐसा त्रैराशिक करते हैं । वहां प्रमाणराशि अंतर्मुहूर्त के समय, फलराशि एक, इच्छाराशि तीन पल्य के समय; वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का प्रमाण तीन पल्य को अंतर्मुहूर्त का भाग देनेपर जो प्रमाण हो उतना आया, वह औदारिकशरीर की उत्कृष्ट स्थिति में नानागुणहानि का प्रमाण जानना ।

ऐसे ही वैक्रियिकशरीर में प्रमाणराशि अंतर्मुहूर्त, फलराशि एक, इच्छाराशि तैंतीस सागर करनेपर तैंतीस सागर को अंतर्मुहूर्त का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उतना नानागुणहानि का प्रमाण जानना ।

पुनश्च आहारकशरीर में प्रमाणराशि छोटा अंतर्मुहूर्त, फलराशि एक, इच्छाराशि बड़ा

अंतर्मुहूर्त करनेपर अंतर्मुहूर्त को स्वयोग्य छोटे अंतर्मुहूर्त का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उतना नानागुणहानिशलाका का प्रमाण जानना ।

पुनश्च तेजसशरीर में प्रमाणराशि पूर्वोक्त गुणहानि आयाम, फलराशि एक, इच्छाराशि छासठ सागर करनेपर पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेदों से असंख्यातगुणा नानागुणहानि का प्रमाण होता है । *((छे-वछे)×असंख्यात))*।

पुनश्च कार्माणशरीर में प्रमाणराशि पूर्वोक्त गुणहानि आयाम, फलराशि एक, इच्छाराशि मोह की अपेक्षा सत्तर कोडाकोडि सागर करनेपर पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेद से हीन पल्य के अर्धच्छेदमात्र नानागुणहानि का प्रमाण जानना । *(छे-वछे)*

अब औदारिक आदि शरीरों के गुणहानि आयाम को साधते हैं - जैसे, यदि छह नानागुणहानि का अड़तालीस समयप्रमाण स्थितिआयाम होता है, तो एक गुणहानि का कितना आयाम होता है ? ऐसा त्रैराशिक करते हैं । यहां प्रमाणराशि छह, फलराशि अड़तालीस, इच्छाराशि एक हुयी । वहां लब्धराशिमात्र एक गुणहानि आयाम का प्रमाण आठ आया, वैसे अपने-अपने नानागुणहानि प्रमाण का अपनी-अपनी स्थितिप्रमाण आयाम होता है, तो एक गुणहानि का कितना आयाम होता है ? ऐसा त्रैराशिक करते हैं। वहां लब्धराशिमात्र गुणहानि का आयाम होता है ।

वहां औदारिक में प्रमाणराशि अंतर्मुहूर्त से भाजित तीन पल्य, फलराशि तीन पल्य, इच्छाराशि एक करनेपर लब्धराशि अंतर्मुहूर्त होती है ।

पुनश्च वैक्रियिक में प्रमाणराशि अंतर्मुहूर्त से भाजित तैंतीस सागर, फलराशि तैंतीस सागर, इच्छाराशि एक करनेपर लब्धराशि अंतर्मुहूर्त होती है ।

पुनश्च आहारक में प्रमाणराशि संख्यात, फलराशि अंतर्मुहूर्त, इच्छाराशि एक करनेपर लब्धराशि छोटा अंतर्मुहूर्त होती है ।

पुनश्च तेजस में प्रमाणराशि पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेद, उनसे असंख्यातगुणा, फलराशि छासठ सागर, इच्छाराशि एक करनेपर, लब्धराशि संख्यात पल्य को पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेदों से असंख्यातगुणा प्रमाण का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उतना जानना।

पुनश्च कार्माण में प्रमाणराशि पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य

के अर्धच्छेदमात्र, फलराशि सत्तर कोडाकोडि सागर, इच्छाराशि एक करनेपर लब्धराशि संख्यात पल्य को पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेदराशि का भाग देनेपर जितना आये, उतना जानना । ऐसे लब्धराशिमात्र एक गुणहानि का आयाम जानना । इतने-इतने समयों के समूह का नाम एक गुणहानि है । सर्व स्थिति में जितनी गुणहानि पायी जाती हैं, उस प्रमाण का नाम नानागुणहानि है; ऐसा यहां भावार्थ जानना ।

पुनश्च नानागुणहानि का जितना प्रमाण हो उतनी बार दो लिखकर परस्पर गुणा करनेपर जितना प्रमाण होता है, उसे अन्योन्याभ्यस्तराशि जानना । जैसे नानागुणहानि का प्रमाण छह, सो छह का विरलन करके एक-एक जगह दो के अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर चौंसठ होते हैं, वही अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण जानना । उसीप्रकार औदारिक आदि शरीरों की स्थिति में जो-जो नानागुणहानि का प्रमाण कहा, उसका विरलन करके एक-एक बिखेरकर और एक-एक जगह दो-दो देकर परस्पर गुणा करनेपर अपनी-अपनी अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण आता है । वहां लोक के जितने अर्धच्छेद हैं उतने दो अंकों को परस्पर गुणा करनेपर लोक होता है, तो यहां नानागुणहानि प्रमाण दो अंकों को लिखकर परस्पर गुणा करनेपर कितने लोक होते हैं ? ऐसा त्रैराशिक करना। वहां लब्धराशि लाने के लिये सूत्र कहते हैं -

दिण्णच्छेदेणवहिद इट्ठच्छेदेहिं पयदविरलणं भजिदे ।
लद्धमिदइट्ठरासी णण्णोण्णहदीए होदि पयदधणं ।।२१५।।

ऐसा कायमार्गणा में सूत्र कहा था, उससे यहां देयराशि दो, उसका अर्धच्छेद एक, उसका भाग इष्टच्छेद जो लोक के अर्धच्छेद को देनेपर इतने ही रहे, इन लोक के अर्धच्छेदों के प्रमाण का भाग औदारिकशरीर की स्थिति संबंधी नानागुणहानि के प्रमाण को देनेपर जितना प्रमाण आता है, उतने इष्टराशिरूप लोक मांडकर परस्पर गुणा करने से जो लब्ध प्रमाण होता है, उतना औदारिकशरीर की स्थिति में अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण असंख्यातलोकमात्र होता है । पुनश्च उसीप्रकार वैक्रियिकशरीर में नानागुणहानि के प्रमाण को लोक के अर्धच्छेदराशि का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने लोक मांडकर परस्पर गुणा करनेपर वैक्रियिकशरीर के स्थिति में अन्योन्याभ्यस्तराशि होती है। सो यह औदारिकशरीर की स्थिति संबंधी अन्योन्याभ्यस्तराशि से असंख्यातलोकगुणा जानना। किस कारण ? क्योंकि अंतर्मुहूर्त से भाजित तीन पल्य से अंतर्मुहूर्त से भाजित तैंतीस

सागर को एक सौ दस कोडाकोडि का गुणकार होता है । *(३३सागर÷३ पल्य=११सागर÷पल्य =११×१०कोडाकोडि पल्य÷पल्य = ११० कोडाकोडि)* सो यहां एक कम एक सौ दस कोडाकोडि गुणा औदारिकशरीर की नानागुणहानि का प्रमाण, उतना औदारिकशरीर की नानागुणहानि के प्रमाण से वैक्रियिकशरीर के नानागुणहानि का प्रमाण अधिक हुआ; सो -

विरलनरासीदो पुण जेत्तियमेत्ताणि अहियरूवाणि ।
तेसिं अण्णोण्णहदी गुणयारो लद्धरासिस्स ।।

इस सूत्र से इस अधिक प्रमाण मात्र दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करने से जो असंख्यातलोकमात्र प्रमाण हुआ वही औदारिक की अन्योन्याभ्यस्तराशि से वैक्रियिक की अन्योन्याभ्यस्तराशि में गुणकार जानना । अथवा यदि अंतर्मुहूर्त से भाजित तीन पल्य प्रमाण औदारिकशरीर संबंधी नानागुणहानि की अन्योन्याभ्यस्तराशि असंख्यातलोकमात्र होती है, तो एक सौ दस कोडाकोडि गुणा अंतर्मुहूर्त से भाजित तीन पल्य प्रमाण वैक्रियिकशरीर के नानागुणहानिकी अन्योन्याभ्यस्तराशि कितनी होगी ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर **'दिण्णच्छेदेणवहिद'** इत्यादि सूत्र से एक सौ दस कोडाकोडि बार औदारिकशरीर संबंधी नानागुणहानि मांडकर परस्पर गुणा करनेपर वैक्रियिकशरीर संबंधी अन्योन्याभ्यस्तराशि होती है । इसकारण भी औदारिक संबंधी अन्योन्याभ्यस्तराशि से वैक्रियिक संबंधी अन्योन्याभ्यस्तराशि में असंख्यातलोक का गुणकार सिद्ध हुआ ।

पुनश्च आहारकशरीर की नानागुणहानि संख्यात है, सो संख्यात का विरलन करके एक-एक के प्रति दो देकर, परस्पर गुणा करनेपर, यथायोग्य संख्यात होता है, वह आहारकशरीर की अन्योन्याभ्यस्तराशि जानना ।

पुनश्च तेजसशरीर की स्थिति संबंधी नानागुणहानिशलाका कार्माणशरीर की स्थिति संबंधी नानागुणहानिशलाका से असंख्यातगुणी है, सो पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेद पल्य के अर्धच्छेदों में से घटानेपर जो प्रमाण आता है उससे असंख्यातगुणी जानना। सो यहां सुगमता के लिये, इसको पल्य की अर्धच्छेदराशि का भाग देना, वहां पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदराशि को असंख्यात से गुणा करना और पल्य की अर्धच्छेदराशि का भाग देना, इतनी घटाने योग्य जो ऋणराशि उसको जुदा रखना, अवशेष ऋणरहित राशि पल्य की अर्धच्छेदराशि को असंख्यातगुणा करे और पल्य की अर्धच्छेदराशि का

भाग देवे, इतनी रही । सो यहां भाज्यराशि में और भागहारराशि में पल्य की अर्धच्छेदराशि को समान जानकर अपवर्तन करना । अवशेष गुणकाररूप असंख्यात रह गया, सो इस असंख्यात का जितना प्रमाण हो उतने पल्य मांडकर परस्पर गुणा करना, क्योंकि असंख्यातगुणा पल्य के अर्धच्छेदप्रमाण दो अंक मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जितना प्रमाण होता है, उतना ही पल्य की अर्धच्छेदराशि का भाग देनेपर अवशेष रहा गुणकारमात्र असंख्यात उतने पल्य मांडकर परस्पर गुणा करनेपर प्रमाण आता है । जैसे, पल्य का प्रमाण सोलह, उसके अर्धच्छेद चार, असंख्यात का प्रमाण तीन, सो तीन से चार को गुणा करनेपर बारह होते हैं । सो बारह जगह दो मांडकर परस्पर गुणा करने से चार हजार छानबे होते हैं । वही प्रमाण बारह को चार से भाग देनेपर गुणकारमात्र तीन रहा, सो तीन जगह सोलह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर चार हजार छानबे आता है । इसीकारण सुगमता के लिये पूर्वोक्त राशि को पल्य की अर्धच्छेदराशि का भाग देकर, लब्धराशि असंख्यातप्रमाण पल्य मांडकर, परस्पर गुणा किया । सो यहां यह गुणकाररूप असंख्यात है । वह पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागमात्र जानना, पल्य की अर्धच्छेदराशि के समान न जानना । यदि पल्य के अर्धच्छेद के समान यह असंख्यात होता तो इतने पल्य मांडकर परस्पर गुणा करनेपर तेजसशरीर की स्थिति संबंधी अन्योन्याभ्यस्तराशि सूच्यंगुल प्रमाण हो जाती, परंतु ऐसा है नहीं । इसलिये शास्त्र में क्षेत्रप्रमाण द्वारा सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र; कालप्रमाण द्वारा असंख्यात कल्पकालमात्र तेजसशरीर की स्थिति संबंधी अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण कहा है । इसलिये पल्य के अर्धच्छेद के असंख्यातवें भागमात्र असंख्यात का विरलन करके एक-एक के प्रति पल्य को देकर परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल का असंख्यातवां भागमात्र प्रमाण होता है । सो द्विरूपवर्गधारा में पल्यराशिरूप स्थान से ऊपर, यहां विरलनराशिरूप असंख्यात के जितने अर्धच्छेद हो, उतने वर्गस्थान जानेपर यह राशि होती है ।

पुनश्च -

विरलनरासीदो पुण जेत्तियमेत्ताणि हीणरूवाणि ।
तेसिं अण्णोण्णहदी हारो उप्पण्णरासिस्स ।।

इस सूत्र के अभिप्राय से जो ऋणरूपराशि जुदी स्थापी थी, उसका अपवर्तन करनेपर एक का असंख्यातवां भाग आया । इसको पल्य से गुणा करनेपर पल्य का असंख्यातवां भाग हुआ, क्योंकि असंख्यात गुणा पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदप्रमाण

दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर भी इतना ही प्रमाण होता है । इसलिये सुगमता के लिये यहां पल्य की अर्धच्छेदराशि का भाग देकर, एक का असंख्यातवां भाग आया, उससे पल्य को गुणा किया है । सो ऐसे करने से जो पल्य का असंख्यातवां भाग आया, उसका भाग पूर्वोक्त सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग को देना । सो भाग देनेपर भी आलाप से सूच्यंगुल का असंख्यातवां भाग ही रहा । वही तेजसशरीर की स्थिति संबंधी अन्योन्याभ्यस्तराशि जानना ।

पुनश्च कार्माणशरीर की स्थिति संबंधी नानागुणहानिशलाका पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेद से हीन पल्य के अर्धच्छेदप्रमाण है । इसका विरलन करके एक-एक के प्रति दो देकर परस्पर गुणा करनेपर उसकी अन्योन्याभ्यस्तराशि पल्य की वर्गशलाका का भाग पल्य को देनेपर जो प्रमाण हो, उतना जानना । क्योंकि यहां पल्य के अर्धच्छेद प्रमाण दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर पल्य होता है, वह तो भाज्य हुआ । और **'विरलनरासीदो पुण जेत्तियमेत्ताणि हीणरूवाणि'** इत्यादि सूत्र से हीनराशिरूप पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेद प्रमाण दो मांडकर परस्पर गुणा करने से पल्य की वर्गशलाका होती है; वह भागहार जानना ।

पुनश्च जैसे गुणहानि आयाम आठ, उसको दुगुणा करनेपर दो गुणहानि का प्रमाण सोलह होता है । वैसे औदारिक आदि शरीरों का जो-जो गुणहानि आयाम का प्रमाण है, उसको दुगुणा करनेपर, अपनी-अपनी दोगुणहानि होती है । इसीका दूसरा नाम निषेकहार जानना ।

इसप्रकार द्रव्य, स्थिति, गुणहानि, नानागुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि, दोगुणहानि इनका कथन करके अब स्थिति के समय संबंधी, परमाणुओं के प्रमाणरूप, निषेकों का कथन करते हैं ।

वहां प्रथम अंकसंदृष्टि द्वारा दृष्टांत कहते हैं । द्रव्य तिरसठ सौ (६३००), स्थिति अड़तालीस (४८), गुणहानि आयाम आठ (८), नानागुणहानि छह (६), दो गुणहानि सोलह (१६), अन्योन्याभ्यस्तराशि चौंसठ (६४) ।

वहां औदारिक आदि शरीरों के समयप्रबद्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चार प्रकार के बंध के धारक हैं ।

वहां प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध योग से होता है, स्थितिबंध, अनुभागबंध कषाय से

होता है । वहां विवक्षित किसी एक समय में बंधे हुये कार्माण के समयप्रबद्ध की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडि सागर की बंधी । उस स्थिति के पहले समय से लेकर सात हजार वर्ष तक तो आबाधाकाल है । वहां कोई निर्जरा *(कर्म का उदय होकर खिर जाना)* नहीं होती । इसलिये यहां कोई निषेकरचना नहीं है । अवशेष स्थिति के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक अपने-अपने कालप्रमाण स्थिति के धारक जो परमाणुओं का पुंज, उन्हें निषेक कहते हैं । उनकी रचना अंकसंदृष्टि से प्रथम दिखाते हैं ।

विवक्षित एक समय में बंधे हुये कार्माण के समयप्रबद्ध के परमाणुओं के प्रमाणरूप द्रव्य तिरसठ सौ है । वहां -

रूऊणण्णोण्णब्भवहिददव्वं तु चरिम गुणदव्वं ।
होदि तदो दुगुण कमा आदिमगुणहाणि दव्वोत्ति ।।

टीका - इस सूत्र के अनुसार एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि का भाग सर्वद्रव्य को देनेपर अंतिम गुणहानि का द्रव्य आता है । उससे दुगुणा-दुगुणा प्रथम गुणहानि तक द्रव्य जानना । सो यहां अन्योन्याभ्यस्तराशि चौंसठ में से एक घटानेपर अवशेष तिरसठ (६३) का भाग सर्वद्रव्य ६३०० को देनेपर सौ (१००) आये, वही नानागुणहानि छह उनमें से अंतिम छठवीं गुणहानि का द्रव्य जानना । उससे दुगुणा-दुगुणा प्रथम गुणहानि तक का द्रव्य जानना । ऐसे होनेपर एक कम नानागुणहानिशलाका प्रमाण दो मांडकर परस्पर गुणा करने से जो अन्योन्याभ्यस्तराशि का आधा प्रमाण होता है, उससे अंतिम गुणहानि के द्रव्य को गुणा करनेपर, प्रथम गुणहानि का द्रव्य आता है।

सो एक कम नानागुणहानि पांच, उतनी बार दो मांडकर परस्पर गुणा करनेपर बत्तीस आते हैं, वही अन्योन्याभ्यस्तराशि चौंसठ का आधा प्रमाण है, उससे अंतिम गुणहानि का द्रव्य सौ को गुणा करनेपर प्रथम गुणहानि का द्रव्य बत्तीस सौ होता है । सभी गुणहानियों के द्रव्य अंत से लेकर आदि तक एक सौ, दो सौ, चार सौ, आठ सौ, सोलह सौ, बत्तीस सौ प्रमाण जानना ।

पुनश्च वहां प्रथम गुणहानि का द्रव्य बत्तीस सौ । वहां **'अद्धाणेण सव्वधणे खंडिदे मज्झिमधणमागच्छदि'** इस सूत्र से **'अध्वान'** अर्थात् गुणहानि आयाम प्रमाण गच्छ, उसका स्वकीय गुणहानि संबंधी द्रव्य को भाग देनेपर मध्य समय संबंधी मध्यधन

(सरासरी-एव्हरेज) आता है । सो यहां बत्तीस सौ को गच्छ आठ का भाग देनेपर मध्यधन चार सौ होता है । पुनश्च **'रूऊण अद्धाण अद्धेणूणे णिसेयहारेण मज्झिमधणमवहरिदेपचयं'** इस सूत्र के अनुसार एक कम गच्छ के आधे प्रमाण से हीन जो निषेकहार यानि दोगुणहानि, उससे मध्यधन को भाजित करनेपर चय का प्रमाण आता है । स्थान-स्थान प्रति जितना बढ़े या घटे उसका नाम चय जानना । *(समान वृद्धि या समान हानि को चय कहते हैं ।)* सो यहां एक कम गच्छ सात, उसका आधा साढ़े तीन, उसे निषेकहार सोलह में से घटानेपर साढ़े बारह हुये, उसका भाग मध्यधन चार सौ को देनेपर बत्तीस आये । वही प्रथम गुणहानि में चय का प्रमाण जानना । पुनश्च इस चय को निषेकहार अर्थात् दो गुणहानि से गुणा करनेपर प्रथम गुणहानि का प्रथम निषेक होता है, सो यहां बत्तीस को सोलह से गुणा करनेपर प्रथम गुणहानि का प्रथम निषेक पांच सौ बारह प्रमाणरूप होता है ।

भावार्थ – तिरसठ सौ परमाणुओं का समयप्रबद्ध बंधा था, उसकी स्थिति में से आबाधाकाल होने के पश्चात् पहले समय में उन परमाणुओं में से पांच सौ बारह परमाणु निर्जरते हैं । ऐसे अन्य समय संबंधी निषेकों में उक्त प्रमाण परमाणुओं की निर्जरा होने का क्रम जानना । पुनश्च **'तत्तोविसेसहीणकमं'** उसके ऊपर-ऊपर उस गुणहानि के अंतिम निषेक तक एक-एक चय घटता अनुक्रम जानना । वहां प्रथम निषेक से एक कम गच्छप्रमाण चय घटनेपर, एक अधिक गुणहानि आयाम से गुणित चयप्रमाण, अंतिम निषेक होता है । सो यहां द्वितीयादि निषेकों में बत्तीस बत्तीस घटाना। वहां एक कम गच्छ सात, उस प्रमाण चय के होनेपर दो सौ चौबीस, सो इतने प्रथम निषेक में से घटनेपर, अंतिम निषेक में दो सौ अट्ठासी प्रमाण होता है । सो एक अधिक गुणहानि नौ, उससे चय बत्तीस को गुणा करनेपर भी दो सौ अट्ठासी होते हैं । ऐसी प्रथम गुणहानि में निषेकरचना जाननी । ५१२, ४८०, ४४८, ४१६, ३८४, ३५२, ३२०, २८८ ।

पुनश्च ऐसे ही द्वितीय गुणहानि का द्रव्य सोलह सौ, उसको गुणहानि आयामरूप गच्छ का भाग देनेपर, मध्यधन दो सौ होता है । इसको एक कम गुणहानि आयाम के आधे प्रमाण से हीन निषेकहार साढ़े बारह का भाग देनेपर द्वितीय गुणहानि में चय का प्रमाण सोलह होता है । पुनश्च इसको दो गुणहानि सोलह से गुणा करनेपर द्वितीय गुणहानि का प्रथम निषेक दो सौ छप्पन प्रमाण होता है । ऊपर-ऊपर के द्वितीयादि

निषेक, अपने-अपने एक-एक चय से घटते जानने । वहां एक कम गच्छप्रमाण चय घटनेपर, एक अधिक गुणहानि आयाम से गुणित अपने चयप्रमाण, अंतिम निषेक एक सौ चवालीस (१४४) प्रमाण होता है । पुनश्च तृतीय गुणहानि में द्रव्य आठ सौ को गुणहानि का भाग देनेपर मध्यधन सौ (१००), इसको एक कम गुणहानि के आधे से हीन दो गुणहानि का भाग देनेपर चय का प्रमाण आठ, इसको दो गुणहानि से गुणा करनेपर प्रथम निषेक एक सौ अट्ठाइस, इसके ऊपर के निषेक अपने-अपने एक-एक चय से घटते होते हैं । एक कम गच्छ प्रमाण चय घटनेपर, एक अधिक गुणहानि आयाम से गुणित स्वकीय चयमात्र, अंतिम निषेक बहत्तर होता है ।

ऐसे ही इस क्रम से चतुर्थादि गुणहानियों में प्राप्त होकर, अंतिम गुणहानि में द्रव्य सौ (१००), उसको पूर्वोक्त प्रकार से गुणहानि का भाग देनेपर मध्यधन साढ़े बारह, इसको एक कम गुणहानि के आधे प्रमाण से हीन दो गुणहानि का भाग देनेपर, चय का प्रमाण एक, इसको दो गुणहानि से गुणा करनेपर प्रथम निषेक का प्रमाण सोलह, उसके ऊपर के निषेक में एक-एक चय घटता होता है । एक कम गच्छ प्रमाण चय घटनेपर, एक अधिक गुणहानि से गुणित स्वकीय चयमात्र, स्थिति के अंतिम निषेक का प्रमाण नौ होता है । ऐसे द्वितीयादिक अंतिम गुणहानि तक में द्रव्यादिक हैं । वे गुणकाररूप हानि के अनुक्रम सहित हैं । इसलिये गुणहानि ऐसा नाम सार्थक जानना।

यहां तर्क – प्रथम गुणहानि में तो पूर्व गुणहानि के अभाव से गुणहानिपना नहीं है ?

उसका समाधान - मुख्यपने उसका गुणहानि नाम नहीं है । तथापि ऊपर की गुणहानि के गुणहानिपने को कारणभूत जो चय, उसके हीन होने का सद्भाव पाया जाता है । इसलिये उपचार से प्रथम को भी गुणहानि कहते हैं । गुणकाररूप घटता जहां प्रमाण हो, उसका नाम गुणहानि जानना । इसप्रकार एक-एक समयप्रबद्ध की सर्व गुणहानियों में प्राप्त सर्व निषेकों की रचना जाननी । पुनश्च इसप्रकार प्रथमादि गुणहानियों के द्रव्य, चय तथा निषेक ऊपर-ऊपर की गुणहानि में आधे-आधे जानने। इतना विशेष यह जानना - अपनी-अपनी गुणहानि के अंतिम निषेक में से अपना-अपना एक चय घटानेपर ऊपर-ऊपर की गुणहानि का प्रथम निषेक होता है । जैसे, प्रथम गुणहानि के अंतिम निषेक दो सौ अट्ठासी में से अपना चय बत्तीस घटानेपर द्वितीय गुणहानि का प्रथम निषेक दो सौ छप्पन होता है । ऐसे ही अन्यत्र जानना।

अंकसंदृष्टि द्वारा निषेक की रचना

	प्रथम गुणहानि	द्वितीय गुणहानि	तृतीय गुणहानि	चतुर्थ गुणहानि	पंचम गुणहानि	षष्ठम गुणहानि
	२८८	१४४	७२	३६	१८	९
	३२०	१६०	८०	४०	२०	१०
	३५२	१७६	८८	४४	२२	११
	३८४	१९२	९६	४८	२४	१२
	४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३
	४४८	२२४	११२	५६	२८	१४
	४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५
	५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६
जोड़	३२००	१६००	८००	४००	२००	१००

इसप्रकार उत्कृष्ट स्थिति अपेक्षा कार्माण का अंकसंदृष्टि द्वारा वर्णन किया । अब यथार्थ वर्णन करते हैं -

कार्माण के समयप्रबद्ध में जो पूर्वोक्त परमाणुओंका प्रमाण, उसे द्रव्य जानना। उसको पूर्वोक्त प्रमाण अन्योन्याभ्यस्तराशि में से एक घटाकर अवशेष का भाग देनेपर अंतिम गुणहानि का द्रव्य होता है । इससे प्रथम गुणहानि पर्यंत दुगुणा-दुगुणा द्रव्य जानना । वहां अन्योन्याभ्यस्तराशि के आधे प्रमाण से अंतिम गुणहानि के द्रव्य को गुणा करनेपर प्रथम गुणहानि का द्रव्य आता है । इसको पूर्वोक्त गुणहानि आयाम प्रमाण का भाग देनेपर मध्यधन होता है । इसको एक कम गुणहानि आयाम के आधे प्रमाण से हीन दो गुणहानि के प्रमाण का भाग देनेपर प्रथम गुणहानि संबंधी चय होता है । इसको दो गुणहानि से गुणित करनेपर प्रथम गुणहानि का प्रथम निषेक होता है । पुनश्च उससे अपने-अपने अंतिम निषेक तक एक-एक चय घटता होता है । एक कम गुणहानि आयाम मात्र चय घटनेपर, एक अधिक गुणहानि से गुणित अपने चय प्रमाण अंतिम निषेक होता है ।

इसीप्रकार द्वितीयादि गुणहानि में अपने-अपने द्रव्य की निषेकरचना जानना । वहां अंतिम गुणहानि में द्रव्य को गुणहानि आयाम का भाग देनेपर, मध्यधन होता है । इसको एक कम गुणहानि के आधे से हीन दो गुणहानि का भाग देनेपर, चय होता है । इसको दो गुणहानि से गुणा करनेपर प्रथम निषेक होता है । उसके ऊपर

के निषेकों में अपना-अपना एक-एक चय घटता होता है । एक कम गुणहानि आयाममात्र चय घटनेपर, एक अधिक गुणहानि से अपने चय को गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उस प्रमाण अंतिम निषेक होता है । इसप्रकार कार्माणशरीर की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त एक समयप्रबद्ध संबंधी सर्व गुणहानियों की रचना जाननी । इसतरह प्रथमादि गुणहानि से द्वितीयादि गुणहानि के द्रव्य, चय और निषेक क्रम से आधे -आधे जानने। आबाधारहित स्थिति में गुणहानिआयाम का जितना प्रमाण है, उतने समय तक तो प्रथम गुणहानि जानना । वहां विवक्षित समयप्रबद्ध के प्रथम समय में जितने परमाणु निर्जरते हैं, उनके समूह का नाम प्रथम निषेक जानना । दूसरे समय में जितने परमाणु निर्जरते हैं, उनके समूह का नाम द्वितीय निषेक जानना । ऐसे प्रथम गुणहानि के अंत तक जानना । पश्चात् उसके अनंतर समय से लेकर गुणहानि आयाममात्र समय तक द्वितीय गुणहानि जाननी । वहां भी प्रथमादि समयों में जितने परमाणु निर्जरते हैं, उनके समूह का नाम प्रथमादि निषेक जानना । ऐसे क्रम से स्थिति के अंतिम समय में जितने परमाणु निर्जरते हैं, उनके समूह का नाम अंतिम गुणहानि का अंतिम निषेक जानना ।

पुनश्च जैसे कार्माणशरीर का वर्णन किया, वैसे ही औदारिक आदि तेजस पर्यंत नोकर्मशरीर के समयप्रबद्धों की पूर्वोक्त अपनी-अपनी स्थिति, गुणहानि, नानागुणहानि, दो गुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि के प्रमाण आदि द्वारा, यहां आबाधाकाल है नहीं, इसलिये अपनी-अपनी स्थिति के पहले समय ही से लेकर निषेकरचना करनी । क्योंकि औदारिक आदि शरीरों का वैसे ही आगे वर्णन करते हैं ।

आगे औदारिक आदि के समयप्रबद्धों का बंध, उदय, सत्त्व अवस्था में द्रव्य का प्रमाण निरूपण करते हैं -

एक्कं समयपबद्धं बंधदि एक्कं उदेदि चरिमम्हि ।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं ।।२५४।।

एकं समयप्रबद्धं बध्नाति एकमुदेति चरमे ।
गुणहानीनां द्व्यर्धं समयप्रबद्धं भवेत् सत्त्वम् ।।२५४।।

टीका - औदारिक आदि शरीरों में से तेजस और कार्माण इन दो शरीरों का जीव के साथ अनादि से निरंतर संबंध है । इसलिये इनका सदाकाल उदय और सत्त्व

होता है । इसलिये जीव मिथ्यादर्शन आदि परिणामों के निमित्त से समय-समय प्रति तेजस संबंधी और कार्माण संबंधी एक-एक समयप्रबद्ध को बांधता है । पुद्गल वर्गणाओं को तेजसशरीररूप और ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मरूप परिणमाता है। पुनश्च इन दोनों शरीरों का प्रतिसमय एक-एक समयप्रबद्ध उदयरूप होता है अर्थात् अपना फल देनेरूप परिणतिरूप परिणाम से फल देकर तेजसशरीरपना को वा कार्माणशरीरपना को छोड़कर गल जाता है, निर्जरित होता है । पुनश्च विवक्षित समयप्रबद्ध की स्थिति के अंतिम निषेक संबंधी समय में किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सत्त्व होता है । इतने परमाणु सत्तारूप इकट्ठे होते हैं । सर्वदा संबंध के कारण परमार्थ से इन दोनों का सत्त्वद्रव्य प्रतिसमय सदा ही इतना होता है ।

पुनश्च औदारिक, वैक्रियिक शरीरों के समयप्रबद्धों में विशेष है, उसे कहते हैं। उन औदारिक वा वैक्रियिक शरीरों के ग्रहण के प्रथम समय से लगाकर अपनी आयु के अंतिम समय तक शरीर नामक नामकर्म के उदय संयुक्त जीव, वह प्रतिसमय उस शरीर के एक-एक समयप्रबद्ध बांधता है । पुद्गल वर्गणाओं को उस शरीररूप परिणमाता है । उदय कितना है ? उसे कहते हैं -

शरीरग्रहण के प्रथम समय में बंधे हुये समयप्रबद्ध के पहले निषेक का उदय होता है ।

यहां प्रश्न - गाथा में तो प्रतिसमय एक-एक समयप्रबद्ध का उदय कहा है। यहां एक निषेक का उदय कैसे कहते हो ?

उसका समाधान - निषेक है वह समयप्रबद्ध का एकदेश है । उसको उपचार से समयप्रबद्ध कहते हैं । पुनश्च दूसरे समय में पहले समय में बंधे हुये समयप्रबद्ध का तो दूसरा निषेक और दूसरे समय में बंधे हुये समयप्रबद्ध का पहला निषेक, ऐसे दो निषेकों का उदय होता है । इसीतरह तीसरे आदि समयों में एक-एक से बढ़ते हुये निषेकों का उदय होता है । इस क्रम से अंतिम समय में उदय और सत्त्वरूप संचय सो युगपत् किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण होता है ।

पुनश्च आहारकशरीर का उस शरीरग्रहण के प्रथम समय से लेकर अपनी अंतर्मुहूर्तमात्र स्थिति के अंतिम समय में किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्धप्रमाण द्रव्य का उदय और सत्त्वरूप संचय युगपत् होता है इतना विशेष जानना । यहां प्रतिसमय

बंधे उसे समयप्रबद्ध कहते हैं । इसलिये प्रतिसमय समयप्रबद्ध का बंधना तो होता है और उदय भी समयप्रबद्ध का होता है और फिर भी किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानिगुणित समयप्रबद्धमात्र सत्त्व कैसे होता है, इसका वर्णन आगे करेंगे ।

आगे औदारिक, वैक्रियिक शरीरों में विशेष कहते हैं –

णवरि य दुसरीराणं गलिदवसेसाउमेत्तठिदिबंधो ।
गुणहाणीण दिवड्ढं संचयमुदयं च चरिमम्हि ।।२५५।।

नवरि च द्विशरीरयोर्गलितावशेषायुर्मात्रस्थितिबंधः ।
गुणहानीनां द्व्यर्धं संचयमुदयं च चरमे ।।२५५।।

टीका – औदारिक, वैक्रियिक शरीरों के शरीरग्रहण के प्रथम समय से लेकर अपनी स्थिति के अंतिम समय तक जो समयप्रबद्ध बंधते हैं, उनका स्थितिबंध गलितावशेष आयुमात्र जानना । जितना अपनी आयु का प्रमाण हो, उसमें से जो व्यतीत हुआ, उसे गलित कहते हैं । अवशेष रहे उसे गलितावशेष आयु कहते हैं, उसप्रमाण जानना। वही कहते हैं ह्न शरीरग्रहण के प्रथम समय में जो समयप्रबद्ध बंधा, उसका स्थितिबंध अपनी सम्पूर्ण आयुमात्र होता है । दूसरे समय में जो समयप्रबद्ध बंधा, उसका स्थितिबंध एक समय कम अपनी आयुप्रमाण होता है । तीसरे समय में जो समयप्रबद्ध बंधा, उसका स्थितिबंध दो समय कम अपनी आयु प्रमाण होता है । ऐसे ही चौथे आदि उत्तरोत्तर समयों में जो समयप्रबद्ध बंधते हैं, उनका स्थितिबंध एक-एक समय से घटता होता है । अंतिम समय में बंधे हुये समयप्रबद्ध का स्थितिबंध एक समयमात्र होता है । क्योंकि प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक बंधे हुये जो समयप्रबद्ध, उनकी स्थिति अपनी आयु को उल्लंघकर नहीं होती । इसप्रकार जिस-जिस समयप्रबद्ध की जितनी-जितनी स्थिति हो उस-उस समयप्रबद्ध की उतनी-उतनी स्थितिप्रमाण निषेकरचना जाननी । अंत में समयप्रबद्ध की स्थिति एक समय की कही वहां एक निषेक सम्पूर्ण समयप्रबद्धमात्र जानना । पुनश्च अंतिम समय में किंचित् न्यून डेढ़ गुणहानिमात्र गलितावशेष समयप्रबद्ध सत्त्वरूप से इकट्ठे होते हैं । जिन बंधे हुये समयप्रबद्धों के जो निषेक पूर्व में गल गये, निर्जरारूप हुये, उनमें से अवशेष निषेकरूप जो समयप्रबद्ध रहे, उन्हें गलितावशेष कहते हैं । वे सब इकट्ठे होकर कुछ कम डेढ़ गुणहानिमात्र समयप्रबद्ध अंतिम समय में सत्तारूप इकट्ठे होते हैं । तथा उस अंतिम समय में ही उन सब का उदय होता

है । आयुका अंत होने के पश्चात् वे नहीं रहते, इसलिये उसी समय सर्व निर्जरते हैं । इसप्रकार देव-नारकियों के तो वैक्रियिकशरीर का और मनुष्य-तिर्यंचों के औदारिकशरीर का अंतिम समय में कुछ कम डेढ़ गुणहानिमात्र समयप्रबद्धों का सत्त्व और उदय युगपत् जानना ।

आगे किस स्थान में कौनसी सामग्रीरूप आवश्यक संयुक्त जीव में उत्कृष्ट संचय होता है, उसे कहते हैं -

ओरालियवरसंचं देवुत्तरकुरुवजादजीवस्स ।
तिरियमणुस्सस्स हवे चरिमदुचरिमे तिपल्लठिदिगस्स ।।२५६।।

औरालिकवरसंचयं देवोत्तरकुरूपजातजीवस्य ।
तिर्यग्मनुष्यस्य भवेत् चरमद्विचरमे त्रिपल्यस्थितिकस्य ।।२५६।।

टीका - जीव के जहां औदारिक आदि शरीरों के उत्कृष्टपने से बहुत परमाणु इकट्ठे हो, वहां उत्कृष्ट संचय कहते हैं । वहां जो जीव तीन पल्य की आयु का धारक होकर देवकुरु या उत्तरकुरु भोगभूमि का तिर्यंच या मनुष्य होकर उत्पन्न हुआ। वहां उपजने के पहले समय में उस जीव के वहां योग्य जो उत्कृष्ट योग, उसके द्वारा आहार ग्रहण किया । तथा उसके योग्य जो उत्कृष्ट योग की वृद्धि, उससे वर्धमान हुआ । वह जीव बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को ग्रहण करता है और जघन्य योगस्थानों को बहुत बार ग्रहण नहीं करता अर्थात् उस जीव के योग्य उत्कृष्ट योगस्थानों को बहुत बार प्राप्त होता है और उस जीव के योग्य जघन्य योगस्थानों को बहुत बार प्राप्त नहीं होता । पुनश्च अधस्तन स्थितियों के निषेकों का जघन्य पद करता है । इसका अर्थ यह है ह्न ऊपर के निषेकों संबंधी जो परमाणु, उनमें से थोड़े परमाणुओं का अपकर्षण करके, स्थिति घटाकर, नीचे के निषेकों में निक्षेपण करता है, मिलाता है । पुनश्च उपरितन स्थिति के निषेकों का उत्कृष्टपद करता है । इसका अर्थ यह- नीचे के निषेकों में स्थित जो परमाणु, उनमें से बहुत परमाणुओं का उत्कर्षण करके, स्थिति बढ़ाकर, ऊपर के निषेकों में निक्षेपण करता है, मिलाता है । पुनश्च अंतर में गमनविकुव्वणा नहीं करता, अंतर में नखच्छेद नहीं करता । इसका अर्थ मेरे जानने में ठीक से नहीं आया है । इसलिये स्पष्ट नहीं लिखा है, बुद्धिमान जान जाय । *(धवला ग्रंथ में लिखा है कि अंतर में अर्थात् उस भव में विक्रिया नहीं करता तथा*

छविछेद अर्थात् काया का छेद-नखछेद आदि नहीं करता क्योंकि उसमें परमाणु अधिकमात्रा में निकल जाने से उत्कृष्ट संचय घटित नहीं होता ।) पुनश्च उस जीव के आयु में वचनयोग का काल अल्प होता है, मनोयोग का काल अल्प होता है । पुनश्च वचनयोग कम बार होता है, मनोयोग कम बार होता है ।

भावार्थ – काययोग का प्रवर्तन बहुत बार होता है, तथा बहुत काल होता है । इसप्रकार आयु का अंतर्मुहूर्त अवशेष रहने पर योगयवमध्य के ऊपर के योगस्थानों में अंतर्मुहूर्त काल तक रहा; योगयवमध्य रचना आगे कर्मकाण्ड में कहेंगे । पश्चात् जीवयवमध्य की अंतिम गुणहानि संबंधी योगस्थानों में आवली के असंख्यातवें भाग काल तक रहा। जीवयवमध्य रचना भी आगे कहेंगे । पुनश्च आयु के द्विचरम *(अंत से दूसरा-उपांत)* समय में और अंतिम समय में उत्कृष्ट योगस्थान को प्राप्त हुआ। वहां उस जीव के उन अंत के दोनों समयों में औदारिकशरीर का उत्कृष्ट संचय होता है । पुनश्च वैक्रियिकशरीर का भी वैसे ही कहना । विशेष इतना है कि जो 'अंतर में नखच्छेद नहीं करता' यह विशेषण नहीं संभवता । *(क्योंकि वैक्रियिकशरीरमें छविछेद नहीं होता ।)*

वेगुव्वियवरसंचं बावीससमुद्द आरणदुगम्हि ।
जह्मा वरजोगस्स य वारा अण्णत्थ ण हि बहुगा ।।२५७।।

वैगूर्विकवरसंचयं द्वाविंशतिसमुद्र आरणद्विके ।
यस्माद्वरयोगस्य च वारा अन्यत्र नहि बहुकाः ।।२५७।।

टीका – वैक्रियिकशरीर का उत्कृष्ट संचय आरण-अच्युत दो स्वर्गों के ऊपर के पटल संबंधी बाइस सागर आयु संयुक्त देवों में होता है । अन्यत्र नीचे के, ऊपर के पटलों में अथवा सर्व नारकियों में नहीं होता; क्योंकि आरण-अच्युत बिना अन्यत्र वैक्रियिकशरीररूप योग का बहुत बार प्रवर्तन नहीं होता । चकार शब्द से उस योग्य अन्य सामग्री भी अन्यत्र बहुत बार नहीं होती ।

आगे तेजस और कार्माणशरीरों के उत्कृष्ट संचयस्थान का विशेष कहते हैं –

तेजासरीरजेट्ठं सत्तमचरिमम्हि बिदियवारस्स ।
कम्मस्स वि तत्थेव य णिरये बहुबारभमिदस्स ।।२५८।।

तैजसशरीरज्येष्ठं सप्तमचरमे द्वितीयवारस्य ।
कार्मणस्यापि तत्रैव च निरये बहुवारभ्रमितस्य ।।२५८।।

टीका – तेजसशरीर का भी उत्कृष्ट संचय औदारिकशरीरवत् जानना । विशेष इतना है कि जो जीव दूसरी बार सातवीं नरक पृथ्वी में उत्पन्न हुआ है अर्थात् सातवें नरक में उत्पन्न हो, मरकर तिर्यंच होकर, फिर से सातवें नरक में उत्पन्न हुआ हो उसी जीव के होता है ।

पुनश्च आहारकशरीर का भी उत्कृष्ट संचय औदारिकशरीरवत् जानना । विशेष इतना कि आहारकशरीर को उपजानेवाले प्रमत्तसंयमी ही के वह होता है ।

पुनश्च कार्माणशरीर का उत्कृष्ट संचय सातवीं नरक पृथ्वी में नारकियों में जिस जीव ने बहुत बार भ्रमण किया है उसी के होता है । किसप्रकार होता है ? उसे कहते हैं – कोई जीव बादर पृथ्वीकायिक में अंतर्मुहूर्त कम पृथक्त्व पूर्वकोटि से अधिक दो हजार सागर से हीन कर्म की स्थिति को प्राप्त हुआ । वहां उस बादर पृथ्वीकाय संबंधी अपर्याप्त पर्याय थोड़े धारे, पर्याप्त पर्याय बहुत धारे, उनका इकठ्ठा किया हुआ पर्याप्त काल बहुत हुआ, अपर्याप्त काल थोड़ा हुआ । ऐसे इनको धारण करते हुये जब-जब आयु बांधे, तब तब जघन्य योग से बांधे, यथायोग्य उत्कृष्ट योग से आहार ग्रहण करे *(उत्कृष्ट उपपाद योग)*। तथा उत्कृष्ट योगों की वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हो *(उत्कृष्ट एकांतअनुवृद्धि योग)*, तथा यथायोग्य उत्कृष्ट योगों को बहुत बार प्राप्त हो, बहुत बार जघन्य योगों को प्राप्त न हो *(परिणाम योगस्थानों में उत्कृष्ट को अधिक बार प्राप्त हो)* । पुनश्च संक्लेश परिणामरूप से परिणमा यथायोग्य मंदकषायरूप विशुद्धता से विशुद्ध होकर पूर्वोक्त प्रकार से अधस्तन स्थितियों के निषेक का जघन्यपद करता है, उपरितन स्थितियों के निषेकों का उत्कृष्टपद करता है । इसप्रकार से भ्रमण करके बादर त्रसपर्याय में उत्पन्न हुआ । वहां भ्रमण करते हुये उस जीव के पर्याप्त पर्याय थोड़े, अपर्याप्त पर्याय बहुत हुये, उनका इकठ्ठा किया हुआ पर्याप्तकाल बहुत हुआ, अपर्याप्तकाल थोड़ा हुआ । इसप्रकार भ्रमण करके अंत की पर्याय के ग्रहण में सातवीं पृथ्वी के नारक जो बिल, उनमें उत्पन्न हुआ । वहां उस पर्याय के ग्रहण के प्रथम समय में यथायोग्य उत्कृष्ट योग से आहार ग्रहण किया । पुनश्च उत्कृष्ट योगवृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ। पुनश्च छोटे अंतर्मुहूर्तकाल से सर्व पर्याप्तियों से पूर्ण हुआ। उस नरक में तैंतीस सागर काल तक योग आवश्यक और संक्लेश आवश्यक को प्राप्त

हुआ । ऐसे भ्रमण करके आयु का अल्प काल अवशेष रहनेपर योगयवमध्य रचना के ऊपर के भागरूप योगस्थानों में अंतर्मुहूर्त काल तक रहकर और पश्चात् जीवयवमध्य रचना की अंतिम गुणहानिरूप योगस्थान में आवली के असंख्यातवें भागमात्र काल तक रहकर आयु के अंत से तीसरे, दूसरे समयों में उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त होकर, अंत समय में उत्कृष्ट योगस्थान को प्राप्त होकर उस पर्याय के अंतिम समय में स्थित जीव के कार्माणशरीर का उत्कृष्ट संचय होता है । इसप्रकार औदारिक आदि शरीरों का उत्कृष्ट संचय होने की सामग्री का विशेष कहा ।

भावार्थ – पहले उत्कृष्ट संचय होने में छह आवश्यक कहे थे, वे यहां यथासंभव जान लेना । पर्याय संबंधी काल **भवाद्धा** है । आयु का प्रमाण **आयुष्य** है । यथासंभव योग होना **योग** है । तीव्र कषाय होना **संक्लेश** है । ऊपर के निषेक के परमाणु नीचे के निषेकों में मिलना, वह **अपकर्षण** है । नीचे के निषेकों के परमाणु ऊपर के निषेकों में मिलना, वह **उत्कर्षण** है । ऐसे ये छह आवश्यक यथासंभव जानने।

पुनश्च **एक प्रश्न उपजता** है कि एक समय में जीव द्वारा बंधा हुआ जो एक समयप्रबद्ध, उसके आबाधारहित अपनी स्थिति के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय पर्यंत प्रतिसमय एक-एक निषेक उदय में आता है । तो पहले गाथा में प्रतिसमय एक-एक समयप्रबद्ध का उदय होना कैसे कहा है ?

उसका समाधान – प्रतिसमय बंधे हुये समयप्रबद्धों के एक-एक निषेक इकट्ठे होकर, विवक्षित एक समय में समयप्रबद्धमात्र होते हैं ।

कैसे ? उसे कहते हैं – अनादिबंध के निमित्त से बंधा हुआ विवक्षित समयप्रबद्ध उसका जिस काल में अंतिम निषेक उदय में आता है, उस काल में उससे अनंतर बंधे हुये समयप्रबद्ध का अंत से दूसरा निषेक उदय में आता है । उसके अनंतर बंधे हुये समयप्रबद्ध का अंत से तीसरा निषेक उदय में आता है । इसतरह चौथे आदि समयों में बंधे हुये समयप्रबद्धों के अंत से चौथे आदि निषेक उदय में आते हैं । इस क्रम से आबाधाकाल रहित विवक्षित स्थिति के जितने समय हो उतने स्थान जाकर अंत में जो समयप्रबद्ध बंधा, उसका आदि निषेक उदय में आता है । इन सभी को जोड़नेपर विवक्षित एक समय में एक समयप्रबद्ध उदय में आता है ।

अंकसंदृष्टि द्वारा जैसे जिन समयप्रबद्धों के सर्व निषेक गल गये, उनका तो

उदय है नहीं । पुनश्च जिस समयप्रबद्ध के सैंतालीस निषेक पहले गल गये, उसका अंतिम नौ का निषेक वर्तमान समय में उदय में आता है । पुनश्च जिसके छियालीस निषेक पहले गल गये, उसका दस का निषेक उदय में आता है । इसी प्रकार क्रम से जिसका एक भी निषेक पहले गला नहीं हो, उसका प्रथम पांच सौ बारह का निषेक उदय में आता है । इसतरह वर्तमान किसी एक समय में सर्व उदयरूप निषेक- ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६ । १८, २०, २२, २४, २६, २८, ३०, ३२, । ३६, ४०, ४४, ४८, ५२, ५६, ६०, ६४ । ७२, ८०, ८८, ९६, १०४, ११२, १२०, १२८ । १४४, १६०, १७६, १९२, २०८, २२४, २४०, २५६ । २८८, ३२०, ३५२, ३८४, ४१६, ४४८, ४८०, ५१२ । इन सब को जोड़नेपर सम्पूर्ण समयप्रबद्धमात्र होता है ।

आगामी काल में जैसे नवीन समयप्रबद्धों के निषेकों का उदय का सद्भाव होता जायगा, वैसे पुराने समयप्रबद्धों के निषेकों के उदय का अभाव होता जायगा। जैसे, आगामी समय में नवीन समयप्रबद्ध का पांच सौ बारह का निषेक उदय में आयेगा, वहां वर्तमान समय में जिस समयप्रबद्ध का पांच सौ बारह का निषेक उदय में था उसके पांच सौ बारह के निषेक का अभाव होकर, दूसरा चार सौ अस्सी का निषेक उदय में आयेगा । तथा जिस समयप्रबद्ध का वर्तमान समय में चार सौ अस्सी का निषेक उदय में था, उसके उस निषेक का अभाव होकर चार सौ अड़तालीस का निषेक उदय में आयेगा । इस क्रम से जिस समयप्रबद्ध का वर्तमान समय में नौ का निषेक उदय में था उसका आगामी समय में सर्व अभाव होगा । ऐसा ही क्रम प्रतिसमय जानना । इसलिये प्रतिसमय एक-एक समयप्रबद्ध का एक-एक निषेक मिलकर एक-एक समयप्रबद्ध का उदय होता है ।

पुनश्च गलने के पश्चात् अवशेष रहे सर्व निषेक, उनको जोड़नेपर कुछ कम डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सत्त्व होता है । कैसे ? वह कहते हैं - जिस समयप्रबद्ध का एक भी निषेक गला नहीं उसके सर्व निषेक नीचे की पंक्ति में लिखना। उसके ऊपर जिस समयप्रबद्ध का एक निषेक गल गया है, उसके आदि निषेक बिना अवशेष निषेक पंक्ति में लिखना । उसके ऊपर जिस समयप्रबद्ध के दो निषेक गल गये हो, उसके आदि के दो निषेक बिना अवशेष निषेक पंक्ति में लिखना । ऐसे ही ऊपर-ऊपर एक-एक निषेक घटता लिखकर, सब के ऊपर जिस समयप्रबद्ध के

अन्य निषेक गलकर एक अवशेष रहा है, उसका अंतिम निषेक लिखना । ऐसे करनेपर त्रिकोणरचना होती है ।

षष्ठम गुणहानि	पंचम गुणहानि	चतुर्थ गुणहानि	तृतीय गुणहानि	द्वितीय गुणहानि	प्रथम गुणहानि
९	११८	३३६	७७२	१६४४	३३८८
१९	१३८	३७६	८५२	१८०४	३७०८
३०	१६०	४२०	९४०	१९८०	४०६०
४२	१८४	४६८	१०३६	२१७२	४४४४
५५	२१०	५२०	११४०	२३८०	४८६०
६९	२३८	५७६	१२५२	२६०४	५३०८
८४	२६८	६३६	१३७२	२८४४	५७८८
१००	३००	७००	१५००	३१००	६३००
जोड़ ४०८	१६१६	४०३२	८८६४	१८५२८	३७८५६

अंकसंदृष्टि द्वारा जैसे, नीचे ही नीचे अड़तालीस निषेक लिखे, उसके ऊपर पांच सौ बारह बिना सैंतालीस निषेक लिखे । उसके ऊपर पांच सौ बारह और चार सौ अस्सी बिना छियालीस निषेक लिखे । इसी क्रम से सब से ऊपर नौ का निषेक लिखा । ऐसा लिखनेपर त्रिकूटीरचना होती है । इसलिये इस त्रिकोण के जोड़े हुये सर्व द्रव्यप्रमाण सत्त्व द्रव्य जानना । वह कितना होता है ? वह कहते हैं – कुछ कम डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध होता है । पहले जो गुणहानिआयाम का प्रमाण कहा उसमें आधे गुणहानिआयाम का प्रमाण मिलानेपर डेढ़ गुणहानि होती है। उसमें से कुछ कम संख्यात गुणी पल्य की वर्गशलाका से अधिक गुणहानि के अठारहवें भाग का प्रमाण घटाना । घटानेपर जो प्रमाण हो उसका नाम यहां कुछ कम डेढ़ गुणहानि जानना । उससे समयप्रबद्ध में जो परमाणुओं का प्रमाण कहा उसको गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वही प्रमाण त्रिकोण यंत्र में प्राप्त सर्व निषेकों के परमाणुओं को जोड़नेपर होता है । जैसे अंकसंदृष्टि द्वारा किया हुआ त्रिकोणयंत्र, उसके सर्व पंक्तियों के अंकों को जोड़नेपर इकहत्तर हजार तीन सौ चार होते हैं । और गुणहानि आयाम आठ, उसमें आधा गुणहानिआयाम चार मिलानेपर डेढ़ गुणहानि का प्रमाण बारह होता है । उससे समयप्रबद्ध तिरसठ सौ को गुणा करनेपर पचहत्तर हजार छह सौ (७५६००) होते हैं । यहां त्रिकोण यंत्र का जोड़ (७१३०४) कम है । इसलिये

कुछ कम डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सत्त्व कहा । वहां डेढ़ गुणहानि में ऊन *(न्यून)* का प्रमाण दार्ष्टांत में *(यथार्थ में)* महत् प्रमाण है। इसलिये पूर्वोक्त जानना।

यहां अंकसंदृष्टि दृष्टांत में गुणहानि के अठारहवें भाग से गुणित समयप्रबद्ध का प्रमाण अट्ठाइस सौ, इसमें गुणहानि आठ और नानागुणहानि छह से गुणित समयप्रबद्ध का तिरसठवां भाग अड़तालीस सौ, उसमें किंचित् अधिक आधे समयप्रबद्ध का प्रमाण तैंतीस सौ चार घटाकर अवशेष चौदह सौ छानबे जोड़नेपर बयालीस सौ छानबे हुये, उसे डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध में से घटानेपर त्रिकोण यंत्र का जोड़ होता है।

पुनश्च इस त्रिकोणयंत्र का जोड़ इतना कैसे हुआ ? सो जोड़ देने का विधान हीन-हीन संकलन द्वारा वा अधिक-अधिक संकलन द्वारा वा अनुलोम-विलोम संकलन द्वारा तीन प्रकार से कहा है । वहां घटते-घटते प्रमाण सहित निषेकों को क्रम से जोड़ना, उसे हीन-हीन संकलन कहते हैं । बढ़ते-बढ़ते प्रमाण सहित निषेकों को क्रम से जोड़ना, उसे अधिक-अधिक संकलन कहते हैं । हीन प्रमाण सहित वा अधिक प्रमाण सहित निषेकों को जैसे हो वैसे जोड़ना उसे अनुलोम-विलोम संकलन कहते हैं । इसप्रकार से जोड़ देने का विधान आगे संदृष्टि अधिकार में लिखेंगे, वहां जानना। यहां जोड़ में संदृष्टि समझ में नहीं आती, इसलिये नहीं लिखी है । इसतरह आयु बिना शेष कर्मप्रकृतियों का समय-समय प्रति बंध, उदय, सत्त्व का लक्षण कहा ।

पुनश्च आयु का अन्यथा लक्षण है, क्योंकि आयु के अपकर्षण कालों में वा असंक्षेप अंतिम काल में ही बंध होता है । पुनश्च आबाधाकाल पूर्व भव में व्यतीत होता है । इसलिये आयु की जितनी स्थिति, उतनी ही निषेकों की रचना जानना। आबाधाकाल घटाना नहीं । पुनश्च आयुकर्म का उत्कृष्ट संचय कोटिपूर्व वर्ष प्रमाण आयु के धारक जलचर जीव के होता है । वहां कर्मभूमियां मनुष्य कोटिपूर्व वर्ष प्रमाण आयु का धारक यथायोग्य संक्लेश वा उत्कृष्ट योग से परभव संबंधी कोटिपूर्व वर्ष की आयु जलचर में उपजने की बांधी, वह आगे कहेंगे योगयवमध्य रचना उसके ऊपर के स्थान में अंतर्मुहूर्त तक रहा, पुनश्च अंतिम जीवगुणहानि के स्थान में आवली के असंख्यातवें भागमात्र काल रहा, क्रम से काल बिताकर *(मरण कर)*, कोटिपूर्व आयु के धारी जलचर में उत्पन्न हुआ । अंतर्मुहूर्त में सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ। अंतर्मुहूर्त द्वारा पुनश्च परभव संबंधी जलचर में उपजने की कोटिपूर्व आयु को बांधता है । *(पूर्व कोटि की आयु का कदलीघात करके अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति करता है*

और फिर आयु को बांधता है । अन्यथा कोटिपूर्व के दो तिहाइ भाग बिना आयु को बांध नहीं सकता था ।) वहां दीर्घ आयुबंधकाल द्वारा, यथायोग्य संक्लेश द्वारा, उत्कृष्ट योग द्वारा आयु का बंध करता है । सो योगयवरचना के अंतस्थानवर्ती जीव बहुत बार साता के काल से युक्त होता हुआ अपने काल में परभव संबंधी आयु को घटाता है उसके आयुकर्म के द्रव्य का प्रमाण उत्कृष्ट होता है । सो द्रव्य रचना संस्कृत टीका से जाननी । इसप्रकार औदारिक आदि शरीरों का बंध, उदय, सत्त्व विशेष जानने के लिये वर्णन किया ।

आगे श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव बारह गाथाओं द्वारा योगमार्गणा में जीवों की संख्या कहते हैं –

बादरपुण्णा तेऊ सगरासीए असंखभागमिदा ।
विक्किरियसत्तिजुत्ता पल्लासंखेज्जया वाऊ ।।२५९।।

बादरपूर्णाः तैजसाः स्वकराशेरसंख्यभागमिताः ।
विक्रियाशक्तियुक्ताः पल्यासंख्याता वायवः ।।२५९।।

टीका – बादर पर्याप्त अग्निकायिक जीवों में, उन्हीं जीवों का प्रमाण आवली के घन का असंख्यातवां भागमात्र पहले कहा था, उस राशि को असंख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उतने जीव विक्रिया शक्ति से संयुक्त जानने ।

पुनश्च बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव लोक के संख्यातवें भागप्रमाण कहे थे। उनमें से पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण जीव विक्रिया शक्तियुक्त जानने । क्योंकि **'बादरतेऊवाऊपंचेंदियपुण्णगा विगुव्वंति'** इस गाथा *(गाथा २३३)* द्वारा बादर पर्याप्त अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के वैक्रियिक योग का सद्भाव कहा है ।

पल्लासंखेज्जाहयविंदंगुलगुणिदसेढिमेत्ता हु ।
वेगुव्वियपंचक्खा भोगभुमा पुह विगुव्वंति ।।२६०।।

पल्यासंख्याताहतवृंदांगुलगुणित श्रेणिमात्रा हि ।
वैगूर्विकपंचाक्षा भोगभुमाः पृथक् विगूर्वंति ।।२६०।।

टीका – पल्य के असंख्यातवें भाग से घनांगुल को गुणा करनेपर जो प्रमाण

होता है उससे जगत्श्रेणी को गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतने वैक्रियिक योग के धारक पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य जानने । वहां भोगभूमि में उत्पन्न तिर्यंच और मनुष्य और कर्मभूमि में चक्रवर्ती ये पृथक् विक्रिया को भी करते हैं । इनके बिना सर्व कर्मभूमियाओं के अपृथक् विक्रिया ही है ।

मूल शरीर से जुदे शरीरादि करना, वह पृथक् विक्रिया जाननी । अपने शरीर ही को अनेकरूप करना वह अपृथक् विक्रिया जाननी ।

देवेहिं सादिरेया तिजोगिणो तेहिं हीण तसपुण्णा ।
बियजोगिणो तदूणा संसारी एक्कजोगा हु ।।२६१।।

देवैः सातिरेकाः त्रियोगिनस्तैर्हीनाः त्रसपूर्णाः ।
द्वियोगिनस्तदूनाः संसारिणः एकयोगा हि ।।२६१।।

टीका – देवों का जो प्रमाण साधिक ज्योतिष्कराशिमात्र कहा था इनमें घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित जगत्श्रेणी प्रमाण नारकी और संख्यात पणट्ठी प्रतरांगुल से भाजित जगत्प्रतर प्रमाण संज्ञी पर्याप्त तिर्यंच और बादाल का घनप्रमाण पर्याप्त मनुष्य इनको मिलानेपर जो प्रमाण होता है, उतने त्रियोगी जानने । इनके मन, वचन, काय तीनों योग पाये जाते हैं ।

पुनश्च पहले जो पर्याप्त त्रस जीवों का प्रमाण कहा था, उसमें से त्रियोगी जीवों का प्रमाण घटानेपर जो अवशेष रहे, उतने द्वियोगी जीव जानने । इनके वचन और काय दो ही योग पाये जाते हैं ।

पुनश्च संसारी जीवों का जो प्रमाण, उसमें से द्वियोगी और त्रियोगी जीवों का प्रमाण घटानेपर, जो अवशेष प्रमाण रहे, उतने जीव एक योगी जानने । इनके एक काययोग ही पाया जाता है, ऐसा प्रकट जानना ।

अंतोमुहुत्तमेत्ता चउमणजोगा कमेण संखगुणा ।
तज्जोगो सामण्णं चउवचिजोगा तदो दु संखगुणा ।।२६२।।

अंतर्मुहूर्तमात्राः चतुर्मनोयोगाः क्रमेण संख्यगुणाः ।
तद्योगः सामान्यं चतुर्वचोयोगाः ततस्तु संख्यगुणाः ।।२६२।।

टीका – चार प्रकार के मनोयोग प्रत्येक अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति सहित है। तथापि अनुक्रम से संख्यात गुणे जानना । वही कहते हैं – सत्य मनोयोग का काल सब से थोड़ा है, तो भी अंतर्मुहूर्तप्रमाण है; उसकी संदृष्टि एक अंतर्मुहूर्त । इससे संख्यातगुणा असत्यमनोयोग का है उसकी संदृष्टि चार अंतर्मुहूर्त । यहां संख्यात की सहनानी *(चिह्न)* चार जाननी । इससे संख्यातगुणा उभयमनोयोग का काल है; उसकी संदृष्टि – सोलह अंतर्मुहूर्त । पुनश्च इससे संख्यातगुणा अनुभय मनोयोग का काल है; उसकी संदृष्टि – चौंसठ अंतर्मुहूर्त । इसतरह चार मनोयोगों के काल का जोड़ देनेपर जो प्रमाण हुआ, वह सामान्य मनोयोग का काल है; उसकी संदृष्टि–पचासी अंतर्मुहूर्त। पुनश्च सामान्य मनोयोग के काल से संख्यातगुणा चार वचनयोग का काल है, तथापि क्रम से संख्यातगुणा है; तो भी प्रत्येक अंतर्मुहूर्तमात्र ही है । वहां सामान्य मनोयोग के काल से संख्यातगुणा सत्यवचनयोग का काल है; उसकी संदृष्टि – चौगुणी पचासी (४×८५) अंतर्मुहूर्त । पुनश्च उससे संख्यातगुणा असत्य वचनयोग का काल है; उसकी संदृष्टि – सोलहगुणा पचासी (१६×८५) अंतर्मुहूर्त । पुनश्च इससे संख्यातगुणा उभय वचनयोग का काल है; उसकी संदृष्टि – चौंसठ गुणा पचासी (६४×८५) अंतर्मुहूर्त। पुनश्च इससे संख्यातगुणा अनुभय वचनयोग का काल है; उसकी संदृष्टि – दो सौ छप्पन गुणा पचासी (२५६×८५) अंतर्मुहूर्त ।

तज्जोगो सामण्णं काओ संखाहदो तिजोगमिदं ।
सव्वसमासविभजिदं सगसगगुणसंगुणे दु सगरासी ।।२६३।।

तद्योगः सामान्यं कायः संख्याहतः त्रियोगिमितम् ।
सर्वसमासविभक्तं स्वकस्वकगुणसंगुणे तु स्वकराशिः ।।२६३।।

टीका – पुनश्च जो चारों वचनयोगों का काल कहा उसका जोड़ देनेपर जो प्रमाण हो, वह सामान्य वचनयोग का काल है; उसकी संदृष्टि – तीन सौ चालीस गुणा पचासी (३४०×८५) अंतर्मुहूर्त । इससे संख्यातगुणा काल काययोग का जानना। उसकी संदृष्टि – तेरह सौ साठ गुणा पचासी (१३६०×८५) अंतर्मुहूर्त । ऐसे तीनों योगों के काल का जोड़ देनेपर सत्रह सौ एक गुणा पचासी (१७०१×८५) अंतर्मुहूर्तप्रमाण हुआ । उसके जितने समय होते हैं उस प्रमाण से त्रियोगी अर्थात् पहले जो त्रियोगी जीवों का प्रमाण कहा था, उसको भाग देनेपर जो एक भाग का प्रमाण आये, उसको

सत्य मनोयोग के काल के जितने समय उनसे गुणा करनेपर जो प्रमाण आये उतने सत्य मनोयोगी जीव जानने । पुनश्च उसीको असत्य मनोयोग काल के जितने समय, उनसे गुणा करनेपर जो प्रमाण आये, उतने असत्य मनोयोगी जीव जानने । इसीप्रकार काययोग तक सर्व का प्रमाण जानना । यहां सर्वत्र त्रैराशिक करना । वहां यदि सर्व योगों के काल में पूर्वोक्त त्रियोगी सर्व जीव पाये जाते हैं, तो विवक्षित योग के काल में कितने जीव पाये जायेंगे ? ऐसे तीनों योगों का जोड़ देनेपर जो काल हुआ वह प्रमाणराशि, त्रियोगी जीवों का प्रमाण फलराशि और जिस योग की विवक्षा हो उसका काल इच्छाराशि ऐसा करके फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जो-जो प्रमाण आता है, उतने-उतने जीव विवक्षित योग के धारक जानने।

पुनश्च द्वियोगी जीवों में वचनयोग का काल अंतर्मुहूर्तमात्र; उसकी संदृष्टि- एक अंतर्मुहूर्त । इससे संख्यातगुणा काययोग का काल; उसकी संदृष्टि- चार अंतर्मुहूर्त। इन दोनों के काल को जोड़नेपर जो प्रमाण हो, उसका भाग द्वियोगी जीवराशि को देनेपर जो एक भाग का प्रमाण हो, उसको अपने-अपने काल से गुणा करनेपर, अपनी-अपनी राशि होती है । वहां कुछ कम त्रसराशि के प्रमाण को संदृष्टि अपेक्षा पांच का भाग देकर, एक से गुणा करनेपर, द्वियोगियों में वचनयोगियों का प्रमाण होता है। पांच का भाग देकर चार से गुणा करनेपर द्वियोगियों में काययोगियों का प्रमाण होता है ।

कम्मोरालियमिस्सयओरालद्धासु संचिदअणंता ।
कम्मोरालियमिस्सय ओरालियजोगिणो जीवा ।।२६४।।

कार्मणौदारिकमिश्रकौरालाद्धासु संचितानंताः ।
कार्मणौरालिकमिश्रकौरालिकयोगिनो जीवाः ।।२६४।।

टीका - कार्माण काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, औदारिक काययोग, इनके काल में संचित अर्थात् इकट्ठे हुये जो कार्माण काययोगी, औदारिकमिश्र काययोगी, औदारिक काययोगी जीव वे प्रत्येक जुदे-जुदे अनंतानंत जानना; वही कहते हैं ।

समयत्तयसंखावलिसंखगुणावलिसमासहिदरासी ।
सगगुणगुणिदे थोवो असंखसंखाहदो कमसो ।।२६५।।

समयत्रयसंख्यावलिसंख्यगुणावलिसमासहितराशिम् ।
स्वकगुणगुणिते स्तोकः असंख्यसंख्याहतः क्रमशः ।।२६५।।

टीका – कार्माण काययोग का काल तीन समय है क्योंकि विग्रहगति में अनाहारक तीन समयों में कार्माण काययोग ही होता है । औदारिकमिश्र काययोग का काल संख्यात आवली प्रमाण है; क्योंकि अंतर्मुहूर्त प्रमाण अपर्याप्त अवस्था में औदारिकमिश्र का काल है । पुनश्च उससे संख्यातगुणा औदारिक काययोग का काल है, क्योंकि उन दोनों कालों के बिना अवशेष सर्व औदारिक काययोग का ही काल है; सो इन सभी कालों का जोड़ देनेपर जो समयों का प्रमाण आया, उसका द्वियोगी, त्रियोगी राशि से हीन संसारी जीवराशिमात्र एकयोगी जीवराशि के प्रमाण को भाग देनेपर जो एक भाग का प्रमाण आता है, उसको कार्माण काल से गुणा करनेपर, जो प्रमाण आता है, उतने कार्माण काययोगी जीव हैं । और उसी एक भाग को औदारिकमिश्र काल से गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतने औदारिकमिश्रयोगी जानने । पुनश्च उसी एक भाग को औदारिक के काल से गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतने औदारिक काययोगी जानने ।

यहां कार्माण काययोगी तो सब से अल्प हैं । इनसे असंख्यातगुणे औदारिकमिश्र काययोगी हैं । इनसे संख्यातगुणे औदारिक काययोगी हैं । यहां भी यदि तीनों काययोग के काल में सर्व एकयोगी जीव पाये जाते हैं, तो कार्माण काययोग आदि विवक्षित के काल में कितने पाये जाते हैं, ऐसा त्रैराशिक होता है । यहां तीनों काययोगों का काल वह प्रमाणराशि, एकयोगी सर्व जीवों का प्रमाण फलराशि, कार्माण आदि विवक्षित का काल वह इच्छाराशि; फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर, जो-जो प्रमाण प्राप्त हो, उतने-उतने विवक्षित योग के धारक जीव जानने । **क्रमशः** इस शब्द से आचार्य ने कहा है कि धवल नामक प्रथम सिद्धांत के अनुसार यह कथन किया है । इसके द्वारा अपनी उध्दतता का परिहार प्रकट किया है ।

वैक्रियिकमिश्र और वैक्रियिक काययोग के धारक जो जीव, उनकी संख्या चार गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सोवक्कमाणुवक्कमकालो संखेज्जवासठिदिवाणे ।
आवलिअसंखभागो संखेज्जावलिपमा कमसो ।।२६६।।

सोपक्रमानुपक्रमकालः संख्यातवर्षस्थितिवाने ।
आवल्यसंख्यभागः संख्यातावलिप्रमः क्रमशः ।।२६६।।

टीका – संख्यात वर्ष की है स्थिति जिनकी ऐसे जो मुख्यता से दस हजार वर्ष प्रमाण जघन्य स्थिति के धारकवान अर्थात् व्यंतरदेव, उनमें उनकी स्थिति के दो भाग है; एक सोपक्रमकाल, एक अनुपक्रमकाल ।

वहां उपक्रम अर्थात् उत्पत्ति, उस सहित जो काल, उसे सोपक्रमकाल कहते हैं। वह आवली के असंख्यातवें भागमात्र है; यदि व्यंतर देव उपजा ही करे *(अन्य अन्य जीव आकर व्यंतरों में पैदा होते रहे)*, बीच में किसी समय अंतर न पड़े, तो आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण काल तक उत्पन्न होते रहेंगे ।

पुनश्च जो उत्पत्ति रहित काल हो, उसे अनुपक्रमकाल कहते हैं । वह संख्यात आवली प्रमाण है, वह बारह मुहूर्तमात्र जानना । यदि कोई भी व्यंतरदेव उत्पन्न न हो, तो बारह मुहूर्त तक नहीं उपजता, पश्चात् कोई पैदा होगा ही होगा, ऐसे अनुक्रम से काल जानने ।

तहिं सव्वे सुद्धसला सोवक्कमकालदो दु संखगुणा ।
तत्तो संखगुणूणा अपुण्णकालम्हि सुद्धसला ।।२६७।।

तस्मिन् सर्वाः शुद्धशलाकाः सोपक्रमकालतस्तु संख्यगुणाः ।
ततः संख्यगुणोना अपूर्णकाले शुद्धशलाकाः ।।२६७।।

टीका – उस दस हजार वर्ष प्रमाण जघन्य स्थिति में सर्व पर्याप्त वा अपर्याप्त काल संबंधी अनुपक्रमकाल रहित को केवल शुद्ध उपक्रमकाल की शलाका अर्थात् जितनी बार होता हो उसका प्रमाण, वह उपक्रमकाल से संख्यातगुणा है । पुनश्च अपर्याप्त काल संबंधी शुद्ध उपक्रमशलाका उससे संख्यातगुणा हीन है । जघन्य स्थिति में जो शुद्ध उपक्रमशलाका का प्रमाण कहा था, उसके संख्यातवें भाग अपर्याप्त काल संबंधी शुद्ध उपक्रमशलाका जानना । वही दिखाते हैं –

सोपक्रम-अनुपक्रम काल दोनों कालों की मिलायी हुयी एक शलाका हो, तो दस हजार वर्ष प्रमाण स्थिति की कितनी शलाका होगी ? ऐसा त्रैराशिक करते हैं। वहां सोपक्रम और अनुपक्रम काल को मिलानेपर, आवली के असंख्यातवें भाग से

अधिक संख्यात आवलीप्रमाण तो प्रमाणराशि हुयी, फलराशि एक शलाका, इच्छाराशि दस हजार वर्ष, वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर कुछ कम संख्यातगुणा संख्यात प्रमाण मिश्रशलाका होती है । जघन्य स्थिति में इतनी बार उपक्रम और अनुपक्रम का काल वर्तता है । पुनश्च प्रमाणराशि शलाका एक, फलराशि उपक्रमकाल आवली का असंख्यातवां भाग, इच्छाराशि मिश्रशलाका कुछ कम संख्यातगुणा संख्यात करनेपर, उस जघन्य स्थितिप्रमाण काल में शुद्ध उपक्रमशलाका के काल का प्रमाण कुछ कम संख्यातगुणा संख्यात गुणित आवली का असंख्यातवां भागमात्र होता है । पुनश्च प्रमाणराशि जघन्य स्थिति, फलराशि शुद्ध उपक्रमशलाका का काल, इच्छाराशि अपर्याप्त करनेपर, अपर्याप्तकाल संबंधी शुद्ध उपक्रमशलाका का काल संख्यातगुणा आवली का असंख्यातवां भागमात्र होता है ।

अथवा अन्य प्रकार से कहते हैं – प्रमाणराशि एक शुद्ध उपक्रमशलाका का काल, फलराशि एक शलाका, इच्छाराशि सर्व शुद्ध उपक्रमशलाका का काल करनेपर, पर्याप्त-अपर्याप्त सर्व काल संबंधी शुद्ध उपक्रमशलाका कुछ कम संख्यातगुणा संख्यात जाननी । पुनश्च प्रमाणराशि एक शलाका, फलराशि शुद्ध उपक्रमशलाका का काल आवली के असंख्यातवें भागमात्र, इच्छाराशि सर्व शुद्ध शलाका कुछ कम संख्यात गुणित संख्यात करनेपर, लब्धराशि में सर्व जघन्य स्थिति संबंधी शुद्ध उपक्रमकाल आवली के असंख्यातवें भाग को कुछ कम संख्यातगुणा संख्यात से गुणा करनेपर जितना प्रमाण आता है, उतना होता है । पुनश्च प्रमाणराशि एक शलाका, फलराशि एक शलाकाकाल आवली का असंख्यातवां भागमात्र काल, इच्छाराशि अपर्याप्तकाल संबंधी शलाका संख्यात करनेपर, वहां लब्धराशि में अपर्याप्तकाल संबंधी शुद्ध उपक्रमशलाका का काल संख्यात गुणा आवली का असंख्यातवां भागमात्र होता है । यहां दो प्रकार से वर्णन किया; वहां दोनों जगह उपजने का जघन्य अंतर एक समय है; उसको विचार कर शुद्ध उपक्रमशलाका साधी है, ऐसा जानना । अनुपक्रम काल से रहित जो उपक्रमकाल, वह शुद्ध उपक्रमकाल जानना ।

तं सुद्धसलागाहिदणियरासिमपुण्णकाललद्धाहिं ।
सुद्धसलागाहिं गुणे वेंतरवेगुव्वमिस्सा हु ।।२६८।।

तं शुद्धशलाकाहितनिजराशिमपूर्णकाललब्धाभिः ।
शुद्धशलाकाभिर्गुणे व्यंतरवैगूर्वमिश्रा हि ।।२६८।।

टीका – उस जघन्य स्थिति प्रमाण सर्व काल संबंधी शुद्ध उपक्रमशलाका का प्रमाण कुछ कम संख्यातगुणा संख्यात से गुणित आवली का असंख्यातवां भागमात्र कहा, उसका भाग व्यंतर देवों का जो पहले प्रमाण कहा था, उसको देनेपर जो प्रमाण आये, उसको अपर्याप्त काल संबंधी शुद्ध उपक्रमशलाका का प्रमाण संख्यातगुणा आवली का असंख्यातवां भागमात्र उससे गुणा करनेपर जो प्रमाण आये, उतने वैक्रियिकमिश्र योग के धारक व्यंतर देव जानने । सो इन व्यंतर देवों का पहले जो प्रमाण कहा था, उसके संख्यातवें भाग वैक्रियिकमिश्र योग के धारक व्यंतर देव हैं । संख्यात वर्ष स्थिति के धारक व्यंतर बहुत उपजते हैं, इसलिये उन्हीं की मुख्यता से यहां प्रमाण कहा है ।

तहिं सेसदेवणारयमिस्सजुदे सव्वमिस्सवेगुव्वं ।
सुरणिरयकायजोगा वेगुव्वियकायजोगा हु ।।२६९।।

तस्मिन् शेषदेवनारकमिश्रयुते सर्वमिश्रवैगूर्वम् ।
सुरनिरयकाययोगा वैगूर्विककाययोगा हि ।।२६९।।

टीका – उन वैक्रियिकमिश्र काययोग के धारक व्यंतर देवों के प्रमाण में अवशेष भवनवासी, ज्योतिषी, वैमानिक देव और सर्व नारकी जो वैक्रियिकमिश्र योग के धारक हैं, उनका प्रमाण मिलानेपर, सर्व वैक्रियिकमिश्र काययोग के धारक जीवों का प्रमाण होता है । व्यंतर देवों को छोड़कर अन्य जो देव और नारकी, उनका अनुपक्रमकाल, जो न उपजने का काल, वह बहुत है । इसलिये सबसे वैक्रियिकमिश्र योग के धारक व्यंतर देव बहुत हैं । इसकारण अन्य को उनमें मिलाकर प्रमाण कहा। पुनश्च काययोग के धारक देव व नारकी उनका प्रमाण मिलानेपर वैक्रियिक काययोग के धारक जीवों का प्रमाण होता है । पहले जो त्रियोगी जीवों के प्रमाण में काययोगी जीवों का प्रमाण कहा था, उसमें से तिर्यंच मनुष्य संबंधी औदारिक, आहारक काययोग के धारक जीवों का प्रमाण घटानेपर जो प्रमाण रहे, उतने वैक्रियिक काययोग के धारक जीव जानना। मिश्र योग के धारक जीव एक काययोगी ही है, सो उनका प्रमाण एकयोगी जीवों के प्रमाण में गर्भित जानना ।

आहारकायजोगा चउवण्णं होंति एकसमयम्हि ।
आहारमिस्सजोगा सत्तावीसा दु उक्कस्सं ।।२७०।।

आहारकाययोगाः चतुष्पंचाशत् भवंति एकसमये ।
आहारमिश्रयोगाः सप्तविंशतिस्तूत्कृष्टम् ।।२७०।।

टीका – उत्कृष्टपने से एक समय में युगपत् आहारक काययोग के धारक चौवन (५४) होते हैं और आहारकमिश्र काययोग के धारक सत्ताइस (२७) होते हैं। उत्कृष्टपने और एक समय में ये दो विशेषण मध्यदीपक समान हैं । जैसे बीच में धरा हुआ दीपक दोनों तरफ प्रकाश करता है, वैसे इन दोनों विशेषणों से जो पहले गति आदि में जीवों की संख्या कह आये और आगे वेदादिक में जीवों की संख्या कहेंगे, वह सब उत्कृष्टपने और युगपत् की अपेक्षा जानना । यदि उत्कृष्टपने किसी समय में युगपत् हो, तो उक्त संख्याप्रमाण जीव होते हैं । उक्त संख्या से हीन हो तो हो परंतु अधिक कदाचित् नहीं होते । ऐसी विवक्षा से यहां कथन जानना । पुनश्च जघन्यपने से वा नाना काल की अपेक्षा संख्या के विशेष अन्य जैनागम से जानना । इसतरह योगमार्गणा में जीवों की संख्या कही ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा–टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से योगमार्गणा प्ररूपणा नामक नौवां अधिकार पूर्ण हुआ ।।९।।

दसवां अधिकार : वेदमार्गणा प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

दूरि करत भव ताप सब, शीतल जाके बैन ।
तीन भवननायक नमौं, शीतल जिन सुखदैन ।।

आगे शास्त्र के कर्ता आचार्य छह गाथाओं द्वारा वेदमार्गणा का प्ररूपण करते हैं ।

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे ।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ।।२७१।।

पुरुषस्त्री षंढवेदोदयेन पुरुषस्त्रीषंढाः भावे ।
नामोदयेन द्रव्ये प्रायेण समाः क्वचिद् विषमाः ।।२७१।।

टीका – चारित्रमोहनीय का भेद नोकषाय, उसरूप पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामक प्रकृति, उनके उदय से भाव जो चैतन्यउपयोग उसमें जीव पुरुष, स्त्री, नपुंसकरूप होता है । पुनश्च निर्माण नामक नामकर्म के उदय से संयुक्त, अंगोपांग के विशेषरूप नामकर्म की प्रकृति के उदय से, द्रव्य जो पौद्गलिक पर्याय, उसमें पुरुष, स्त्री, नपुंसकरूप शरीर होता है । वही कहते हैं – पुरुषवेद के उदय से स्त्री की अभिलाषारूप मैथुन संज्ञा का धारक जीव, वह भावपुरुष है । तथा स्त्रीवेद के उदय से पुरुष की अभिलाषारूप मैथुन संज्ञा का धारक जीव, वह भावस्त्री है । तथा नपुंसकवेद के उदय से पुरुष और स्त्री दोनों की युगपत् अभिलाषारूप मैथुन संज्ञा का धारक जीव, भावनपुंसक है।

पुनश्च निर्माण नामकर्म के उदय संयुक्त पुरुषवेदरूप आकार के विशेष सहित, अंगोपांग नामकर्म के उदय से मूछ, डाढ़ी, लिंगादिक चिह्न संयुक्त शरीर का धारक जीव, वह पर्याय के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय पर्यंत द्रव्यपुरुष होता है ।

पुनश्च निर्माण नामकर्म के उदय संयुक्त स्त्रीवेदरूप आकार के विशेष सहित अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय से रोम रहित मुख, स्तन, योनि इत्यादि चिह्न संयुक्त शरीर का धारक जीव, वह पर्याय के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय पर्यंत द्रव्यस्त्री होती है ।

पुनश्च निर्माण नामक नामकर्म के उदय से संयुक्त नपुंसकवेदरूप आकार के विशेष सहित अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय से मूछ, डाढ़ी इत्यादि और स्तन, योनि इत्यादि दोनों चिह्न रहित शरीर का धारक जीव, वह पर्याय के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय पर्यंत द्रव्यनपुंसक होता है ।

सो **प्रायेण** अर्थात् बहुलता से तो समान वेद होता है अर्थात् जैसा द्रव्यवेद हो वैसा भाववेद होता है । पुनश्च कहीं समान वेद नहीं होता, द्रव्यवेद अन्य हो और भाववेद अन्य होता है । वहां देव और नारकी और भोगमूमियां तिर्यंच, मनुष्य इनके तो जैसे द्रव्यवेद है वैसा ही भाववेद होता है । पुनश्च कर्मभूमियां तिर्यंच और मनुष्यों में किन्ही जीवों के तो जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद है परंतु कई जीवों के द्रव्यवेद अन्य होता है और भाववेद अन्य होता है । द्रव्य से पुरुष है और भाव से पुरुष की अभिलाषारूप स्त्रीवेदी है अथवा स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषारूप नपुंसकवेदी है । ऐसे ही द्रव्य से स्त्रीवेदी है और भाव से स्त्री की अभिलाषारूप पुरुषवेदी है अथवा दोनों की अभिलाषारूप नपुंसकवेदी है । द्रव्य से नपुंसकवेदी है और भाव से स्त्री की अभिलाषारूप पुरुषवेदी है अथवा पुरुष की अभिलाषारूप स्त्रीवेदी है । ऐसा विशेष जानना, क्योंकि आगम में नौवें गुणस्थान के सवेद भाग तक भाव से तीन वेद हैं और द्रव्य से एक पुरुषवेद ही है, ऐसा कथन किया है।

वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो ।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुणं व दोषं वा ।।२७२।।

वेदस्योदीरणायां परिणामस्य च भवेत्संमोहः ।
संमोहेन न जानाति जीवो हि गुणं वा दोषं वा ।।२७२।।

टीका – मोहनीयकर्म की नोकषायरूप वेद नामक प्रकृति, उसकी उदीरणा वा उदय से आत्मा के परिणामों को रागादिरूप मैथुन है नाम जिसका ऐसा **सम्मोह** अर्थात् चित्तविक्षेप उत्पन्न होता है । वहां काल आये बिना *(स्थिति पूरी हुये बिना)* कर्म का फल निपजता है, उसे उदीरणा कहते हैं । काल आनेपर फल निपजता है, उसे उदय कहते हैं । पुनश्च वेद के उदय से उस सम्मोह के उपजने से जीव गुण या दोष को न जाने ऐसा अविवेकरूप अनर्थ होता है । इसलिये ज्ञानी जीव को परमागम की भावना के बल से यथार्थ स्वरूपानुभव आदि भाव से ब्रह्मचर्य अंगीकार करना योग्य है, ऐसा

आचार्यों का अभिप्राय है ।

पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरु उत्तमे य जह्मा तह्मा सो वण्णिओ पुरिसो ।।२७३।।

पुरुगुणभोगे शेते करोति लोके पुरुगुणं कर्म ।
पुरूत्तमे च यस्मात् तस्मात् स वर्णितः पुरुषः ।।२७३।।

टीका – क्योंकि जो जीव **पुरुगुण** जो उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञानादिक, उनमें **शेते** अर्थात् स्वामी होकर प्रवर्तता है । पुनश्च **पुरुभोग** जो उत्कृष्ट इन्द्रादिक का भोग, उनमें **शेते** अर्थात् भोक्ता होकर प्रवर्तता है । पुनश्च **पुरुगुणकर्म** जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ, उनको **शेते** अर्थात् करता है । पुनश्च **पुरु** जो उत्तम परमेष्ठी का पद उसमें **शेते** अर्थात् स्थित है । इसकारण वह द्रव्यभाव लक्षण संयुक्त द्रव्य-भावसे पुरुष कहा है । इसप्रकार पुरुष शब्द की निरुक्ति द्वारा वर्णन किया है ।

धातु के अनेक अर्थ होते हैं । इसलिये शीङ् स्वप्ने इस धातु के स्वामी होना, भोगवना, करना, तिष्ठना ऐसे अनेक अर्थ करनेपर विरोध उत्पन्न नहीं होता । पुनश्च यहां पृषोदर शब्द की तरह अक्षर विपर्यास जानने । तालवी शकार का मूर्धनी षकार करना । अथवा **'षोंऽतकर्मणि'** इस धातु से उत्पन्न पुरुष शब्द जानना ।

छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परं वि दोसेण ।
छादणसीला जह्मा तह्मा सा वण्णिया इत्थी ।।२७४।।

छादयति स्वकं दोषैः नयतः छादयति परमपि दोषेण ।
छादनशीला यस्मात् तस्मात् सा वर्णिता स्त्री ।।२७४।।

टीका – क्योंकि जो **स्वकं** अर्थात् अपने को **दोषैः** अर्थात् मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, क्रोधादि इनसे **छादयति** (स्तृणाति) अर्थात् आच्छादित करती है । पुनश्च केवल अपने को ही आच्छादित नहीं करती अपितु पर जो पुरुषवेदी जीवों को कोमल वचन, कटाक्ष सहित विलोकन, सानुकूल प्रवर्तन इत्यादि प्रवीणतारूप व्यापारों से अपने वश करके उन्हें हिंसादिक पापरूप दोषों से **छादयति** अर्थात् आच्छादित करती है इसकारण आच्छादनरूप ही है स्वभाव जिसका, उसे द्रव्य-भाव से स्त्री ऐसा नाम कहा है । इसप्रकार स्त्री शब्द का निरुक्ति द्वारा वर्णन किया ।

यद्यपि तीर्थंकर की माता आदि सम्यग्दृष्टि स्त्रियों में दोष नहीं है, तथापि वे स्त्रियां अल्प हैं और पूर्वोक्त दोष से संयुक्त स्त्रियां बहुत हैं । इसलिये प्रचुर व्यवहार अपेक्षा स्त्री का ऐसा लक्षण आचार्यों ने कहा है ।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणग वेदणगरुओ कलुस चित्तो ।।२७५।।

नैव स्त्री नैव पुमान् नपुंसक उभयलिंगव्यतिरिक्तः ।
इष्टापाकाग्निसमानकवेदनागुरुकः कलुषचित्तः ।।२७५।।

टीका – जो जीव पूर्वोक्त पुरुष या स्त्री के लक्षण के अभाव से पुरुष नहीं है तथा स्त्री भी नहीं है, इसलिये दोनों वेदों के चिह्न डाढ़ी, मूंछ या स्तन, योनि इनसे रहित है; पुनश्च इष्ट का पाक अर्थात् ईंट पकाने का पंजावा *(भट्टी)* उसकी अग्नि समान तीव्र काम पीडा से युक्त है; पुनश्च स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषारूप मैथुन संज्ञा से जिसका चित्त मैला है, ऐसा वह जीव नपुंसक है, ऐसा आगम में कहा है । यह नपुंसक शब्द की निरुक्ति द्वारा वर्णन किया । स्त्री पुरुष की अभिलाषारूप तीव्र कामवेदना लक्षण का धारी भावनपुंसक है, ऐसा तात्पर्य जानना ।

तिणकारिसिट्ठपागग्गि सरिस परिणाम वेयणुम्मुक्का ।
अवगय वेदा जीवा सगसंभवणंत वरसोक्खा ।।२७६।।

तृणकारीषेष्टपाकाग्निसदृशपरिणामवेदनोन्मुक्ताः ।
अपगतवेदा जीवाः स्वकसंभवानंतवरसौख्याः ।।२७६।।

टीका – पुरुषवेदी का परिणाम तृण की अग्निसमान है । स्त्रीवेदी का परिणाम कारीष *(कंडे)* की अग्निसमान है । नपुंसकवेदी का परिणाम पंजावा *(भट्टी)* की अग्निसमान है । इसतरह तीनों ही जाति के परिणामों की पीड़ा से जो रहित हुये हैं, ऐसे भाववेद की अपेक्षा अनिवृत्तिकरण के अपगतवेद भाग से लेकर अयोगी तक और द्रव्य भाववेद की अपेक्षा गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान जानने ।

कोई समझेगा जहां कामसेवन नहीं वहां सुख भी नहीं ?

उसको कहते हैं – कैसे हैं वे अवेदी ? अपने ज्ञानदर्शन लक्षण विराजमान आत्मतत्त्व

से उत्पन्न हुआ जो अनाकुल, अतीन्द्रिय, अनंत, सर्वोत्कृष्ट सुख, उसके भोक्ता हैं । यद्यपि नौवें गुणस्थान के अवेद भाग ही से वेद के उदय से उत्पन्न कामवेदनारूप संक्लेश का अभाव है । तथापि मुख्यपने सिद्धों के ही आत्मिक सुख का सद्भाव दिखाकर वर्णन किया । परमार्थ से वेदों का अभाव होने के पश्चात् ज्ञानोपयोग की स्वस्थतारूप आत्मजनित आनंद यथायोग्य सभी के पाया जाता है ।

आगे श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव वेदमार्गणा में जीवों की संख्या पांच गाथाओं द्वारा कहते हैं -

जोइसियवाणजोणिणितिरिक्खपुरुसा य सण्णिणो जीवा ।
तत्तेउपम्मलेस्सा संखगुणूणा कमेणेदे ।।२७७।।

ज्योतिष्कवानयोनितिर्यक्पुरुषाश्च संज्ञिनो जीवाः ।
तत्तेजः पद्मलेश्याः संख्यगुणोनाः क्रमेणैते ।।२७७।।

टीका – पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने ज्योतिषी हैं । उनसे संख्यातगुणे हीन व्यंतर हैं । संख्यातगुणे हीन कहो या संख्यातवें भाग कहो दोनों का एक ही अर्थ है । पुनश्च उनसे संख्यातगुणे हीन योनिमती तिर्यंच हैं अर्थात् तिर्यंचगति में द्रव्यस्त्री इतनी हैं । पुनश्च उनसे संख्यातगुणे हीन द्रव्य से पुरुषवेदी तिर्यंच हैं । पुनश्च उनसे संख्यातगुणे हीन संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं । पुनश्च उनसे संख्यातगुणे हीन पीत लेश्या के धारक संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं । पुनश्च उनसे संख्यातगुणे हीन पद्मलेश्या के धारक संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं । ऐसे ये सब संख्यातगुणा हीन कहे ।

इगिपुरिसे बत्तीसं देवी तज्जोगभजिददेवोघे ।
सगगुणगारेण गुणे पुरुसा महिला य देवेसु ।।२७८।।

एकपुरुषे द्वात्रिंशद्देव्यः तद्योगभक्तदेवौघे ।
स्वकगुणकारेण गुणे पुरुषा महिलाश्च देवेषु ।।२७८।।

टीका – देवगति में एक पुरुष की बत्तीस देवांगनायें होती हैं । किसी भी देव की बत्तीस से कम देवांगनायें नहीं हैं । और इन्द्रादिकों की देवांगनायें उनसे संख्यातगुणी बहुत हैं, तथापि जिनकी बहुत देवांगनायें हैं, ऐसे देव तो थोड़े हैं और बत्तीस देवांगनायें

जिनकी हैं ऐसे प्रकीर्णकादि देव बहुत हैं - इनसे असंख्यातगुणे हैं । इसलिये एक-एक देव की बत्तीस-बत्तीस देवांगनाओं की विवक्षा करके, अधिक की न करके कहा है । सो बत्तीस देवांगनायें और एक देव मिलाकर तैंतीस हुये, सो पहले जो देवों का प्रमाण कहा था, उसको तैंतीस का भाग देनेपर जो एक भाग का प्रमाण आता है उसको एक से गुणा करनेपर उतना ही रहा, इतने तो देवगति में पुरुष जानने और इसको बत्तीसगुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतनी देवांगनायें जाननी ।

भावार्थ – देवराशि के तैंतीस भाग में एक भागप्रमाण देव हैं, बत्तीस भागप्रमाण देवांगनायें हैं ।

देवेहिं सादिरेया पुरिसा देवीहिं साहिया इत्थी ।
तेहिं विहीण सवेदो रासी संढाण परिमाणं ।।२७९।।

देवैः सातिरेकाः पुरुषाः देवीभिः साधिकाः स्त्रियः ।
तैर्विहीनः सवेदो राशिः षंढानां परिमाणम् ।।२७९।।

टीका – पुरुषवेदी देवों का जो प्रमाण कहा, उसमें पुरुषवेदी तिर्यंच, मनुष्यों का प्रमाण मिलानेपर सर्व पुरुषवेदी जीवों का प्रमाण होता है । पुनश्च देवांगनाओं का जो प्रमाण कहा, उसमें तिर्यंचनी और मनुष्यनी इनका प्रमाण मिलानेपर सर्व स्त्रीवेदी जीवों का प्रमाण होता है । पुनश्च नौवें गुणस्थान के वेदरहित भाग से लेकर अयोगकेवली तक के जीवों की संख्या से रहित सर्व संसारी जीवों के प्रमाण में से पुरुषवेदी और स्त्रीवेदी जीवों का प्रमाण घटानेपर जो अवशेष प्रमाण रहे, उतने नपुंसकवेदी जीव जानने।

गब्भणपुइत्थिसण्णी सम्मुच्छणसण्णिपुण्णगा इदरा ।
कुरुजा असण्णिगब्भजणपुइत्थीवाणजोइसिया ।।२८०।।

थोवा तिसु संखगुणा तत्तो आवलिअसंखभागगुणा ।
पल्लासंखेज्जगुणा तत्तो सव्वत्थ संखगुणा ।।२८१।।

गर्भनपुंस्त्रीसंज्ञिनः सम्मूर्च्छनसंज्ञिपूर्णका इतरे ।
कुरुजा असंज्ञिगर्भजनपुंस्त्रीवान ज्योतिष्काः ।।२८०।।

स्तोकाः त्रिषु संख्यगुणाः तत आवल्यसंख्यभागगुणाः ।
पल्यासंख्येयगुणाः ततः सर्वत्र संख्यगुणाः ।।२८१।।

टीका – १) संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज नपुंसकवेदी २) संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज पुरुषवेदी, ३) संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज स्त्रीवेदी ४) सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त नपुंसकवेदी, ५) सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त नपुंसकवेदी ६) भोगभूमियां गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पुरुषवेदी वा स्त्रीवेदी ७) असंज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज नपुंसकवेदी, ८) असंज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज पुरुषवेदी ९) असंज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज स्त्रीवेदी, १०) व्यंतरदेव और ११) ज्योतिषीदेव – ये ग्यारह जीवराशियां अनुक्रम से ऊपर ऊपर लिखनी ।

ऊपर जो ग्यारह राशि कही, उनमें से नीचे की राशि संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज नपुंसकवेदी, वह सबसे अल्प है । आठ बार संख्यात और आवली *(घनावली)* का असंख्यातवां भाग और पल्य का असंख्यातवां भाग और पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस प्रतरांगुल इनका भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने जानना ।

पुनश्च इसके ऊपर संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज पुरुषवेदी से लेकर तीन राशियां अनुक्रम से संख्यातगुणा जानना ।

पुनश्च चौथी राशि से पांचवीं राशि सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त नपुंसकवेदी आवली के असंख्यातवें भाग गुणा जानना ।

पुनश्च इस पांचवीं राशि से छठवीं राशि पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा जानना।

पुनश्च इससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज नपुंसकवेदी से लेकर ज्योतिषी तक अर्थात् सातवीं, आठवीं, नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं राशि अनुक्रम से संख्यातगुणा जानना । इसप्रकार वेदमार्गणा में जीवों की संख्या कही ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से वेदमार्गणा प्ररूपणा नामक दसवां अधिकार पूर्ण हुआ ।।१०।।

ग्यारहवां अधिकार : कषायमार्गणा प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

पावन जाकौ श्रेयमग, मत जाकौ श्रियकार ।
आश्रय श्री श्रेयांस कौ, करहु श्रेय मम सार ।।

आगे शास्त्रकर्ता आचार्य चौदह गाथाओं द्वारा कषायमार्गणा का निरूपण करते हैं –

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्तिणं बेंति ।।२८२।।

सुखदुःखसुबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषति जीवस्य ।
संसारदूरमर्यादं तेन कषाय इतीमं ब्रुवंति ।।२८२।।

टीका – जिस कारण से संसारी जीव के कर्म जो हैं ज्ञानावरणादि मूल, उत्तर तथा उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप शुभ-अशुभ कर्म, वही हुआ क्षेत्र *(खेत)* अर्थात् अन्न उपजने का आधारभूत स्थान, उसे **कृषति** अर्थात् हलादिक से जैसे खेत को संवारते हैं, वैसे जो संवारते हैं अर्थात् फल निपजाने योग्य करते हैं, उस कारण से जीवों के क्रोधादि परिणाम कषाय हैं ऐसा श्री वर्द्धमान भट्टारक के गौतम गणधरादिक कहते हैं । इसलिये जयधवल द्वितीय नाम कषायप्राभृत आदि में गणधर सूत्र के अनुसार जैसे कषायों का स्वरूप, संख्या, शक्ति, अवस्था, फल आदि कहे हैं, वैसे ही मैं कहूंगा । अपनी रुचिपूर्वक रचना नहीं करूंगा, ऐसा आचार्य का अभिप्राय जानना ।

कैसा है कर्मक्षेत्र ? इन्द्रियों के विषय संबंध से उत्पन्न हुये हर्ष परिणामरूप नानाप्रकार के सुख और शारीरिक, मानसिक पीड़ारूप नानाप्रकार के दुःख वे ही **बहुसस्य** अर्थात् बहुत प्रकार के अन्न, वे जिसमें उपजते हैं, ऐसा है ।

पुनश्च कैसा है कर्मक्षेत्र ? अनादिअनंत पंचपरावर्तनरूप संसार है मर्यादा यानि सीमा जिसकी ऐसा है ।

भावार्थ – जैसे किसी के किंकर (नोकर, सेवक) खेत में बोये हुये बीज जिसप्रकार बहुत फल को प्राप्त हो वा बहुत सींव पर्यंत हो, उसप्रकार हलादिक से धरती को

फाड़ना *(हल चलाना)* इत्यादि कृषिकर्म को करते हैं; वैसे संसारी जीव के किंकर अर्थात् क्रोधादि कषाय नामक सेवक, वे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभागरूप कर्म का बंध वही हुआ खेत, उसमें मिथ्यात्वादि परिणामरूप बीज जिसप्रकार कालादिक सामग्री पाकर, अनेक प्रकार के सुखदुःखरूप बहुत फल को प्राप्त हो अथवा अनंत संसार तक फल को प्राप्त हो उसप्रकार के कार्य को करते हैं । इसलिये इन क्रोधादिकों का कषाय ऐसा नाम कहा । **'कृषिविलेखने'** इस धातु के अर्थ से कषाय शब्द का निरुक्तिपूर्वक निरूपण आचार्यों ने किया है ।

सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कषाया चउसोल असंखलोगमिदा ।।२८३।।

सम्यक्त्वदेशसकलचारित्रयथाख्यातचरणपरिणामान् ।
घातयंति वा कषायाः चतुः षोडशासंख्यलोकमिताः ।।२८३।।

टीका – अथवा **'कषंतीति कषायाः'** जो कसे, घात करे उनको कषाय कहते हैं । सो ये क्रोधादिक हैं, वे सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र तथा यथाख्यातचारित्ररूप आत्मा के विशुद्ध परिणामों को घातते हैं । इसलिये इनका कषाय ऐसा नाम है । यह कषाय शब्द का दूसरे अर्थ की अपेक्षा लक्षण कहा ।

वहां अनंतानुबंधी क्रोधादिक हैं, वे तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व का घात करते हैं। क्योंकि अनंत संसार का कारण मिथ्यात्व अथवा अनंत संसार अवस्थारूप काल, उसे **अनुबध्नंति** अर्थात् संबंधरूप करते हैं, उनको अनंतानुबंधी कहते हैं ।

पुनश्च अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक कहे, वे अणुव्रतरूप देशचारित्र का घात करते हैं, क्योंकि अप्रत्याख्यान अर्थात् ईषत् प्रत्याख्यान – किंचित् त्यागरूप अणुव्रत उसको **आवृण्वंति** अर्थात् आवरित करते हैं, नष्ट करते हैं, उनको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । पुनश्च प्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक हैं, वे महाव्रतरूप सकलचारित्र का घात करते हैं; क्योंकि प्रत्याख्यान अर्थात् सकल त्यागरूप महाव्रत, उसको **आवृण्वंति** अर्थात् आवरित करते हैं, नष्ट करते हैं, उनको प्रत्याख्यानावरण कहते हैं ।

पुनश्च संज्वलन क्रोधादिक हैं, वे सकल कषाय के अभावरूप यथाख्यातचारित्र का घात करते हैं क्योंकि **सं** अर्थात् समीचीन, निर्मल यथाख्यातचारित्र, उसको **ज्वलंति**

अर्थात् दहन करते हैं, उनको संज्वलन कहते हैं । इस निरुक्ति से संज्वलन का उदय होनेपर भी सामायिकादि अन्य चारित्र होने का अविरोध सिद्ध होता है ।

ऐसा यह कषाय सामान्यपने से एक प्रकार का है । विशेषपने से अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन के भेद से चार प्रकार का है । पुनश्च इनके एक-एक के क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे चार-चार भेद करते हैं, तब सोलह प्रकार होते हैं । अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे सोलह भेद हुये ।

पुनश्च उदयस्थानों के विशेषों की अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण हैं, क्योंकि कषायों का कारणभूत जो चारित्रमोह, उसकी प्रकृतियों के भेद असंख्यातलोकप्रमाण हैं ।

सिल पुढवी भेद धूली जल राइ समाणओ हवे कोहो ।
णारय तिरिय णरामर गईसु उप्पायओ कमसो ।।२८४।।

शिलापृथ्वीभेदधूलिजलराजिसमानको भवेत् क्रोधः ।
नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः ।।२८४।।

टीका – शिलाभेद, पृथ्वीभेद, धूलिरेखा, जलरेखा समान क्रोध कषाय, वह अनुक्रम से नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव गति में जीव को उपजानेवाला है । वही कहते हैं –

जिसप्रकार शिला जो पाषाण का भेद-खण्ड होना वह बहुत घना *(लम्बा)* काल गये बिना मिलता *(मिटता)* नहीं है, उसप्रकार बहुत घना काल गये बिना क्षमारूप मिलन को प्राप्त न हो, ऐसा जो उत्कृष्ट शक्तिरूप क्रोध, वह जीव को नरकगति में उपजाता है ।

जिसप्रकार पृथ्वी का भेद-खण्ड होना, वह घना काल गये बिना मिलता *(मिटता)* नहीं है, उसप्रकार घना काल गये बिना जो क्षमारूप मिलन को प्राप्त न हो, ऐसा जो अनुत्कृष्ट शक्तियुक्त क्रोध, वह जीव को तिर्यंचगति में उपजाता है ।

पुनश्च जिसप्रकार धूलि में खींची हुयी रेखा, वह थोड़ा काल गये बिना मिलती *(मिटती)* नहीं है, उसप्रकार थोड़ा काल गये बिना जो क्षमारूप मिलन को प्राप्त न

हो, ऐसा जो अजघन्य शक्तियुक्त क्रोध, वह जीव को मनुष्यगति में उपजाता है।

पुनश्च जिसप्रकार जल में खींची हुयी रेखा, बहुत थोड़ा काल गये बिना मिलती *(मिटती)* नहीं है, उसप्रकार बहुत थोड़ा काल गये बिना जो क्षमारूप मिलन को प्राप्त न हो, ऐसा जो जघन्य शक्तियुक्त क्रोध, वह जीव को देवगति में उपजाता है ।

उस-उस उत्कृष्टादि शक्तियुक्त क्रोधरूप परिणत जीव, उस-उस नरक आदि गति में उपजने के कारणभूत आयु, गति, आनुपूर्वी आदि प्रकृतियों को बांधता है, ऐसा अर्थ जानना ।

यहां **राजि** शब्द रेखावाचक जानना, पंक्तिवाचक नहीं जानना । यहां शिलाभेद आदि उपमा और उत्कृष्ट आदि शक्तियुक्त क्रोध उपमेय, उनका समानपना अतिघना कालादि गये बिना मिलना न होने की अपेक्षा जानना ।

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ।।२८५।।

शैलास्थिकाष्ठवेत्रान् निजभेदेनानुहरन् मानः ।
नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः ।।२८५।।

टीका – शैल, अस्थि, काष्ठ, वेंत समान जो अपने भेदों से उपमीयमान चार प्रकार के मानकषाय, वे क्रम से नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगतिमें जीव को उपजाते हैं। उसे कहते हैं –

जिसप्रकार शैल जो पाषाण, वह बहुत घने काल बिना नमाने योग्य नहीं होता, उसप्रकार बहुत घने काल बिना जो विनयरूप नमन को प्राप्त न हो, ऐसा जो उत्कृष्ट शक्तियुक्त मान, वह जीव को नरकगति में उपजाता है ।

जिसप्रकार अस्थि जो हड्डि, वह घने काल बिना नमाने योग्य नहीं होती, उसप्रकार घने काल बिना जो विनयरूप नमन को प्राप्त न हो, ऐसा जो अनुत्कृष्ट शक्तियुक्त मान, वह जीव को तिर्यंचगति में उपजाता है ।

जिसप्रकार काष्ठ *(सूखी लकडी)*, थोड़े काल बिना नमाने योग्य नहीं होती, उसप्रकार थोड़े काल बिना जो विनयरूप नमन को प्राप्त न हो, ऐसा जो अजघन्य शक्तियुक्त मान, वह जीव को मनुष्यगति में उपजाता है ।

पुनश्च जिसप्रकार वेंत की लकडी बहुत थोड़े काल बिना नमाने योग्य नहीं होती, उसप्रकार बहुत थोड़े काल बिना जो विनयरूप नमन को प्राप्त न हो, ऐसा जो जघन्य शक्तियुक्त मान, वह जीव को देवगति में उपजाता है । यहां भी पूर्वोक्त प्रकार से प्रकृतियों का बंध होना और उपमा-उपमेय का समानपना जानना ।

वेणूवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे ।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं ।।२८६।।

वेणूपमूलोरभ्रक श्रृंगेण गोमूत्रेण च क्षुरप्रेण ।
सदृशी माया नारकतिर्यग्नरामरगतिषु क्षिपति जीवम् ।।२८६।।

टीका – वेणूयमूल, उरभ्रकशृंग, गोमूत्र, क्षुर समान माया अर्थात् ठगानेरूप परिणति, वह क्रम से नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगति में जीव को उपजाती है । वही कहते हैं –

जिसप्रकार वेणूयमूल जो बांस की जड़ की गांठ, वह बहुत घने काल बिना सरल नहीं होती, उसप्रकार बहुत घने काल बिना जो सरल न हो, ऐसी जो उत्कृष्ट शक्तियुक्त माया, वह जीव को नरकगति में उपजाती है ।

पुनश्च जिसप्रकार उरभ्रकशृंग जो मेंढ़े का सींग, वह घने काल बिना सरल नहीं होता, उसप्रकार घने काल बिना जो सरल न हो ऐसी अनुत्कृष्ट शक्तियुक्त माया, वह जीव को तिर्यंचगति में उपजाती है ।

पुनश्च जिसप्रकार गोमूत्र जो गायमूत्र की धारा, वह थोड़े काल बिना सरल नहीं होती, उसप्रकार थोड़े काल बिना जो सरल न हो ऐसी अजघन्य शक्तियुक्त माया, वह जीव को मनुष्यगति में उपजाती है ।

पुनश्च जिसप्रकार खुर, जो पृथ्वी ऊपर वृषभादिक का खोज *(जमीन पर हुये पैर के निशान)*, वह बहुत थोड़े काल बिना सरल नहीं होता, उसप्रकार बहुत थोड़े काल बिना जो सरल न हो ऐसी जघन्य शक्तियुक्त माया, वह जीव को देवगति में उपजाती है । यहां भी पूर्वोक्त प्रकार से प्रकृतियों का बंध होना और उपमा-उपमेय का समानपना जानना ।

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो ।
णारय तिरिक्ख माणुस देवेसुप्पायओ कमसो ।।२८७।।

क्रिमिरागचक्रतनुमलहरिद्रारागेण सदृशो लोभः ।
नारकतिर्यग्मानुषदेवेषु उत्पादकः क्रमशः ।।२८७।।

टीका – क्रिमिराग, चक्रमल, तनुमल, हरिद्राराग समान जो लोभ – विषयों की अभिलाषारूप परिणाम, वह क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगति में जीव को उपजाता है । वही कहते हैं –

जिसप्रकार क्रिमिराग अर्थात् किरमिजी रंग, वह बहुत घने काल गये बिना नष्ट नहीं होता, उसप्रकार जो बहुत घने काल बिना नष्ट न हो, ऐसा जो उत्कृष्ट शक्तियुक्त लोभ, वह जीव को नरकगति में उपजाता है ।

जिसप्रकार चक्रमल जो पहिये का मैल, वह घने काल गये बिना नष्ट नहीं होता, उसप्रकार घने काल बिना नष्ट न हो, ऐसा जो अनुत्कृष्ट शक्तियुक्त लोभ, वह जीव को तिर्यंचगति में उपजाता है ।

पुनश्च जिसप्रकार तनुमल जो शरीर का मैल, वह थोड़े काल बिना नष्ट नहीं होता, उसप्रकार थोड़े काल बिना नष्ट न हो, ऐसा जो अजघन्य शक्तियुक्त लोभ, वह जीव को मनुष्यगति में उपजाता है ।

पुनश्च जिसप्रकार हरिद्राराग अर्थात् हलदी का रंग, वह बहुत थोड़े काल बिना नष्ट नहीं होता, उसप्रकार बहुत थोड़े काल बिना नष्ट न हो, ऐसा जो जघन्य शक्तियुक्त लोभ, वह जीव को देवगति में उपजाता है ।

इसतरह जिन-जिन कषायों से जिन-जिन गतियों का उपजना कहा, उन-उन कषायों से उसी ही उसी गति संबंधी आयु और आनुपूर्वी इत्यादिक का बंध जानना ।

णारयतिरिक्खणरसुरगईसुउप्पण्णपढमकालम्हि ।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि ।।२८८।।

नारकतिर्यग्नरसुरगतिषूत्पन्नप्रथमकाले ।
क्रोधो माया मानो लोभोदयः अनियमो वापि ।।२८८।।

टीका – नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव में उत्पन्न हुये जीव के पहले समय में क्रम से क्रोध, माया, मान, लोभ का उदय होता है । नारकी उपजता है, वहां उपजते ही पहले समय क्रोध कषाय का उदय होता है । इसतरह तिर्यंच के माया का, मनुष्य के मान का, देव के लोभ का उदय जानना । ऐसा नियम कषायप्राभृत दूसरे सिद्धांत के कर्ता यतिवृषभ नामक आचार्य के अभिप्राय से जानना ।

पुनश्च महाकर्मप्रकृतिप्राभृत प्रथम सिद्धांत के कर्ता भूतबलि नामक आचार्य, उनके अभिप्राय से पूर्वोक्त नियम नहीं है । जिस उस किसी भी एक कषाय का उदय होता है । ऐसे दोनों आचार्यों के अभिप्राय में हमारे संदेह है, सो इस भरतक्षेत्र में केवली, श्रुतकेवली नहीं हैं, वा समीपवर्ती आचार्यों में उन आचार्यों से अधिक ज्ञान के धारक नहीं हैं, इसलिये यदि विदेह में जानेपर तीर्थंकरादिक के निकट शास्त्रार्थ में संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का दूर होने से निर्णय हो तब एक अर्थ का निश्चय हो सके, इसकारण हमने दोनों का कथन किया है ।

अप्पपरोभयबाधण बंधासंजमणिमित्तकोहादी ।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा ।।२८९।।

आत्मपरोभयबाधनबंधासंयमनिमित्तक्रोधादयः ।
येषां न संति कषाया अमला अकषायिणो जीवाः ।।२८९।।

टीका – अपने को और पर को अथवा दोनों को बंधन, बाधा वा असंयम के कारणभूत ऐसे जो क्रोधादि कषाय वा पुरुषवेदादिरूप नोकषाय, वे जिनके नहीं पाये जाते, वे द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म मल से रहित सिद्ध भगवान अकषायी जानने । उपशांतकषाय से लेकर चार गुणस्थानवर्ती जीव भी अकषाय निर्मल हैं । उनके गुणस्थान प्ररूपणा ही से अकषायपने की सिद्धि जानना ।

वहां किसी जीव के तो क्रोधादि कषाय ऐसे होते हैं कि जिनसे स्वयं से स्वयं को बांधे, स्वयं ही स्वयं के मस्तकादिक का घात करे, स्वयं ही स्वयं के हिंसादिरूप असंयम परिणाम करे । पुनश्च किसी जीव के क्रोधादि कषाय ऐसे होते हैं, जिनसे अन्य जीवों को बांधे, मारे, उनके असंयम परिणाम करावे । पुनश्च किसी जीव के क्रोधादि कषाय ऐसे होते हैं जिनसे स्वयं का तथा अन्य जीवों का बांधना, घात करना, असंयम होना होता है, सो ऐसे ये कषाय अनर्थ के मूल हैं ।

कोहादिकसायाणं चउचउदसवीस होंति पदसंखा ।
सत्तीलेस्सा आउगबंधाबंधगदभेदेहिं ।।२९०।।

क्रोधादिकषायाणां चत्वारः चतुर्दश विंशतिः भवंति पदसंख्याः ।
शक्तिलेश्यायुष्कबंधाबंधगतभेदैः ।।२९०।।

टीका – क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों की शक्तिस्थानों के भेद से चार संख्या है, लेश्यास्थानों के भेद से चौदह संख्या है, आयुर्बल के बंधने, अबंधने के स्थानों के भेद से बीस संख्या है ।

वे स्थान आगे कहते हैं –

सिलसेलवेणुमूलक्किमिरायादी कमेण चत्तारि ।
कोहादिकसायाणं सत्तिं पडि होंति णियमेण ।।२९१।।

शिलाशैलवेणुमूलक्रिमिरागादीनि क्रमेण चत्वारि ।
क्रोधादिकषायाणां शक्तिं प्रति भवंति नियमेन ।।२९१।।

टीका – क्रोधादि कषायों के शक्ति अर्थात् अपना फल देने की सामर्थ्य की अपेक्षा से निश्चय से चार स्थान हैं । वे अनुक्रम से तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर अनुभागरूप अथवा उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य अनुभागरूप जानने । वहां शिलाभेद, शैल, वेणुमूल, क्रिमिराग ये तो उत्कृष्ट शक्ति के उदाहरण जानने । आदि शब्द से पूर्वोक्त अनुत्कृष्टादि शक्ति के उदाहरण दृष्टांतमात्र कहे हैं, वे सर्व जानने । ये दृष्टांत प्रकट व्यवहार के ज्ञान से हैं और परमागम के व्यवहारी आचार्यों द्वारा मंदबुद्धि शिष्यों को समझाने के लिये व्यवहाररूप किये हैं । क्योंकि दृष्टांत के बल से ही मंदबुद्धि समझते हैं । इसलिये दृष्टांत की मुख्यता से जो दृष्टांत के नाम हैं, वे ही शक्तियों के नाम प्रसिद्ध किये हैं ।

किण्हं सिलासमाणे किण्हादी छक्कमेण भूमिम्हि ।
छक्कादी सुक्को त्ति य धूलिम्मि जलम्मि सुक्केक्का ।।२९२।।

कृष्णा शिलासमाने कृष्णादयः षट् क्रमेण भूमौ ।
षट्कादिः शुक्लेति च धूलौ जले शुक्लैका ।।२९२।।

टीका – शिलाभेद समान जो क्रोध का उत्कृष्ट शक्तिस्थान उसमें एक कृष्णलेश्या ही है । यद्यपि इस उत्कृष्ट शक्तिस्थान में षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यात-लोकप्रमाण कषायों के उदयस्थान हैं तथापि वे सर्व स्थान कृष्णलेश्या के ही हैं, कृष्णलेश्या ही के उत्कृष्ट मध्यम भेद जानने ।

षट्स्थानपतित संक्लेशहानि का स्वरूप ऐसा जानना – जितने कषायों के अविभाग-प्रतिच्छेद पहले थे, उनसे हीन होने लगे वे अनंतभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि, अनंतगुणहानिरूप हीन हुये । ऐसे तीव्र कषाय घटने का नाम षट्स्थानपतित संक्लेशहानि है । कषायों के अविभागप्रतिच्छेद अनंत हैं । उनकी अपेक्षा षट्स्थानपतित हानि होती है । और स्थानभेद असंख्यातलोक प्रमाण ही हैं । नियम शब्द से उसके अंतिम स्थान में उत्कृष्ट शक्ति की व्युच्छित्ति होती है।

पुनश्च भूमिभेद समान क्रोध के अनुत्कृष्ट शक्तिस्थान में अनुक्रम से छहों लेश्या पायी जाती हैं । उसे कहते हैं – भूमिभेद समान क्रोध के अनुत्कृष्ट शक्तिस्थान के प्रथम उदयस्थान से लेकर षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण उदयस्थानों में तो केवल कृष्णलेश्या ही है । कृष्णलेश्या ही का मध्यम भेद पाया जाता है, क्योंकि अन्य लेश्या का लक्षण वहां नहीं है ।

पुनश्च यहां से आगे षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण स्थानों में मध्यम कृष्णलेश्या, उत्कृष्ट नीललेश्या पायी जाती हैं । क्योंकि यहां उन दोनों लेश्याओं के लक्षण होते हैं । पुनश्च इनसे आगे षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोक-प्रमाण उदयस्थानों में मध्यम कृष्णलेश्या, मध्यम नीललेश्या, उत्कृष्ट कपोतलेश्या पायी जाती हैं, क्योंकि यहां उन तीनों लेश्याओं के लक्षण होते हैं । पुनश्च इनसे आगे षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण उदयस्थानों में मध्यम कृष्णलेश्या, मध्यम नीललेश्या, मध्यम कपोतलेश्या और जघन्य पीतलेश्या पायी जाती हैं, क्योंकि यहां उन चारों लेश्याओं के लक्षण होते हैं । पुनश्च इनसे आगे षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण उदयस्थानों में मध्यम कृष्ण, नील, कपोत, पीत और जघन्य पद्मलेश्या पायी जाती हैं, क्योंकि यहां उन पांचों लेश्याओं के लक्षण होते हैं । पुनश्च इनसे आगे षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण उदयस्थानों में मध्यम कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्मलेश्या और जघन्य शुक्ललेश्या पायी जाती हैं, क्योंकि यहां उन छहों लेश्याओं के लक्षण होते हैं । इसतरह क्रोध के अनुत्कृष्ट शक्तिस्थान के

जो स्थानभेद उनमें क्रम से छहों लेश्याओं के स्थान जानना । यहां अंतिमस्थान में अनुत्कृष्ट शक्ति की व्युच्छित्ति हुयी ।

पुनश्च धूलीरेखा के समान क्रोध के अजघन्य शक्तिस्थान के स्थानों में छह लेश्या से लेकर एक एक कम शुक्ल लेश्या तक लेश्या पायी जाती हैं । वह कहते हैं- धूलीरेखा समान क्रोध के प्रथम स्थान से लेकर षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यात-लोकप्रमाण स्थानों में जघन्य कृष्णलेश्या, मध्यम नील, कपोत, पीत, पद्म, शुक्ललेश्या पायी जाती हैं; क्योंकि यहां छहों लेश्याओं के लक्षण होते हैं । यहां अंतिम स्थान में कृष्णलेश्या का विच्छेद हुआ । पुनश्च यहां से आगे इसी शक्ति के षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण स्थानों में जघन्य नीललेश्या, मध्यम कपोत, पीत, पद्म, शुक्ललेश्या पायी जाती हैं; क्योंकि यहां उन पांचों लेश्याओं के लक्षण होते हैं । यहां अंतिम स्थान में नीललेश्या का विच्छेद हुआ । पुनश्च यहां से आगे षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण स्थानों में जघन्य कपोतलेश्या, मध्यम पीत, पद्म, शुक्ललेश्या पायी जाती हैं; क्योंकि यहां चार लेश्याओं के लक्षण होते हैं । यहां अंतिम स्थान में कपोतलेश्या का विच्छेद हुआ ।

इसप्रकार संक्लेश परिणामों की हानि होते हुये जो मंदकषायरूप परिणाम हुआ, उसको विशुद्ध परिणाम कहते हैं । उसके अनंत अविभागप्रतिच्छेद हैं । सो उनकी अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि अनंतगुणवृद्धिरूप जो वृद्धि, उसे षट्स्थानपतित विशुद्धिवृद्धि कहते हैं । सो उस चार लेश्या के स्थान से आगे षट्स्थानपतित विशुद्धिवृद्धियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण स्थानों में उत्कृष्ट पीतलेश्या, मध्यम पद्म, शुक्ललेश्या पायी जाती हैं, क्योंकि यहां उन तीन ही लेश्याओं के लक्षण होते हैं । यहां अंतिम स्थान में पीतलेश्या का विच्छेद हुआ।

पुनश्च यहां से आगे षट्स्थानपतित विशुद्धिवृद्धियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण स्थानों में उत्कृष्ट पद्मलेश्या, मध्यम शुक्ललेश्या ही पायी जाती हैं, क्योंकि यहां उन दो ही लेश्याओं के लक्षण होते हैं । यहां अंतिमस्थान में पद्मलेश्या का विच्छेद हुआ । पुनश्च यहां से आगे षट्स्थानपतित विशुद्धिवृद्धियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण स्थानों में मध्यम शुक्ललेश्या ही पायी जाती है, क्योंकि यहां उसी लेश्या के लक्षण पाये जाते हैं। इसप्रकार धूलीरेखा समान क्रोध के अजघन्य शक्तिस्थान के जो उदयरूप स्थान, उनमें लेश्या कही । यहां अंतिम स्थान में अजघन्य शक्ति की व्युच्छित्ति हुयी ।

पुनश्च यहां से आगे जलरेखा समान क्रोध के जघन्य शक्तिस्थानों के षट्स्थानपतित विशुद्धिवृद्धियुक्त असंख्यातलोकप्रमाण स्थानों में मध्यम शुक्ललेश्या पायी जाती है तथा इसीके अंतिम स्थान में उत्कृष्ट शुक्ललेश्या पायी जाती है । इसतरह चार प्रकार की शक्तियुक्त क्रोध में लेश्या अपेक्षा चौदह स्थान कहे । उत्कृष्ट शक्तिस्थान में एक, अनुत्कृष्ट शक्तिस्थानों में छह, अजघन्य स्थानों में छह, जघन्य शक्तिस्थान में एक, ऐसे चौदह कहे ।

यहां किसी को भ्रम होगा कि ये चार शक्तिस्थान कहे, इन्हीं का अनंतानुबंधी आदि नाम है ?

सो ऐसा नहीं है । यदि वैसा कहेंगे तो छठवें गुणस्थान में संज्वलन ही है, वहां एक शुक्ललेश्या ही होगी क्योंकि यहां जघन्य शक्तिस्थान में एक शुक्ललेश्या ही कही है, परंतु छठवें गुणस्थान में तो तीन लेश्या हैं । इसलिये अनंतानुबंधी इत्यादि भेद सम्यक्त्वादि घातने की अपेक्षा से हैं, वे अन्य जानने और ये शक्तिस्थान के भेद तीव्र, मंद की अपेक्षा से हैं, वे अन्य जानने । सो जिसप्रकार ये क्रोध के लेश्या अपेक्षा चौदह स्थान कहे उसीप्रकार उत्कृष्टादिक शक्तिस्थानों में मान, माया और लोभ के भी जानना ।

सेलगकिण्हे सुण्णं णिरयं च य भूगएगबिट्ठाणे ।
णिरयं इगिबितिआऊ तिट्ठाणे चारि सेसपदे ।।२९३।।

शैलगकृष्णे शून्यं निरयं च च भूगैकद्विस्थाने ।
निरयमेकद्वित्र्यायुस्त्रिस्थाने चत्वारि शेषपदे ।।२९३।।

टीका – शिलाभेद समान क्रोध के उत्कृष्ट शक्तिस्थान में असंख्यातलोकप्रमाण उदयस्थान कहे, उनमें कितने ही स्थान ऐसे हैं, जिनमें कोई आयु बंधती नहीं । सो यंत्र में वहां शून्य लिखना । क्योंकि, जहां अति तीव्र कषाय हो, वहां आयु का बंध नहीं होता । पुनश्च वहां ही ऊपर के कई स्थान थोड़े कषाययुक्त हैं, उनमें एक नरकायु ही बंधती है, सो यहां एक का अंक लिखना । पुनश्च उससे अनंतगुणा घटते संक्लेशयुक्त पृथ्वीभेद समान कषाय में जो कृष्णलेश्या के स्थान हैं अथवा कृष्ण, नील, दो लेश्या के स्थान हैं उनमें एक नरकायु ही बंधती है । सो उन दोनों स्थानों में

एक-एक का अंक लिखना । पुनश्च उसी में कितने ही आगे के स्थान कृष्ण, नील, कपोत तीन लेश्या के स्थान हैं, सो उनमें कितने ही स्थानों में तो एक नरकायु ही का बंध होता है तथा कितने ही आगे के स्थानों में नरक वा तिर्यंच दो आयु बंधती हैं तथा कितने ही आगे के स्थानों में नरक, तिर्यंच, मनुष्य तीन आयु बंधती हैं। सो तीन लेश्या के स्थान में एक, दो, तीन के अंक लिखना । पुनश्च उसी पृथ्वीभेद समान शक्तिस्थानों में कितने ही कृष्ण, नील, कापोत, पीत इन चार लेश्या के स्थान हैं, कितने ही कृष्णादि पद्मलेश्या तक पांच के स्थान हैं, कितने ही कृष्णादि शुक्ललेश्या तक छह स्थान हैं । सो इन तीनों ही जगह नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव संबंधी चारों ही आयु बंधती हैं, सो तीनों जगह चार-चार का अंक लिखना ।

धूलिगछक्कट्ठाणे चउराऊतिगदुगं च उवरिल्लं ।
पणचदुठाणे देवं देवं सुण्णं च तिट्ठाणे ।।२९४।।

धूलिगषट्कस्थाने चतुरायूंषि त्रिकद्विकं चोपरितनम् ।
पंचचतुर्थस्थाने देवं देवं शून्यं च तृतीयस्थाने ।।२९४।।

टीका – पुनश्च पूर्वोक्त स्थान से अनंतानंतगुणा हीन संक्लेशयुक्त धूलिरेखा समान शक्तिस्थान में कितने ही कृष्णादि शुक्ललेश्या तक छह लेश्या के स्थान हैं । उनमें से कई स्थानों में तो नरकादि चारों आयु बंधती हैं । आगे के कई स्थानों में नरकायु बिना तीन आयु ही बंधती हैं । आगे के कई स्थानों में मनुष्य, देव दो ही आयु बंधती हैं । सो वहां चार, तीन, दो के अंक लिखने । पुनश्च उसी धूलीरेखा समान शक्तिस्थानों में कई कृष्णलेश्या बिना पांच लेश्या के स्थान हैं । कई कृष्ण, नील बिना चार लेश्या के स्थान हैं । इन दोनों जगह एक देवायु ही बंधती है । सो दोनों जगह एक-एक का अंक लिखना । पुनश्च उसी धूलिरेखा समान शक्तिस्थानों में कई पीतादि तीन शुभलेश्या संबंधी स्थान हैं । उनमें से कई स्थानों में तो एक देवायु ही बंधती है, वहां एक अंक लिखना । पुनश्च कई आगे के स्थान तीव्र विशुद्धतायुक्त हैं, वहां किसी भी आयु का बंध नहीं होता, सो वहां शून्य लिखना ।

सुण्णं दुगइगिठाणे जलम्हि सुण्णं असंखभजिदकमा ।
चउ चोदस वीसपदा असंखलोगा हु पत्तेयं ।।२९५।।

शून्यं द्विकैकस्थाने जले शून्यमसंख्यभजितक्रमाः ।
चतुश्चतुर्दशविंशतिपदा असंख्यलोका हि प्रत्येकम् ।।२९५।।

टीका – पुनश्च उसी धूलिरेखा समान शक्तिस्थानों में कई स्थान पद्म, शुक्ल दो लेश्या संबंधी हैं, कई स्थान एक शुक्ललेश्या संबंधी हैं, सो इन दोनों ही जगह किसी भी आयु का बंध नहीं है, सो दोनों जगह शून्य लिखना । पुनश्च उससे अनंतगुणी बढ़ती विशुद्धतायुक्त जलरेखा समान शक्तिस्थानों के सर्व स्थान केवल शुक्ललेश्या संबंधी हैं । उनमें किसी भी आयु का बंध नहीं होता है, सो वहां शून्य लिखना । क्योंकि अति तीव्र विशुद्धता आयु के बंध का कारण नहीं है । इसप्रकार कषायों के शक्तिस्थान चार कहे । और लेश्यास्थान चौदह कहे । और आयु के बंधने के या न बंधने के स्थान बीस कहे । वे सर्व ही स्थान असंख्यातलोकप्रमाण, असंख्यातलोकप्रमाण, असंख्यातलोकप्रमाण जानने । परंतु उत्कृष्ट स्थान से लेकर जघन्य स्थान तक असंख्यातगुणा हीन जानने । असंख्यात के भेद घने हैं । इसलिये सामान्यपने सर्व ही असंख्यातलोकप्रमाण कहे । वही कहते हैं –

सर्व कषायों के उदयस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं । उनको यथायोग्य असंख्यातलोक का भाग दीजिये, उनमें से एक भाग बिना अवशेष बहुभागप्रमाण शिलाभेद समान उत्कृष्ट शक्ति संबंधी उदयस्थान हैं । वे भी असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च जो वह एक भाग अवशेष रहा, उसको असंख्यातलोक का भाग देनेपर एक भाग बिना अवशेष बहुभाग प्रमाण पृथ्वीभेद समान अनुत्कृष्ट शक्ति संबंधी उदयस्थान हैं । वे भी असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च जो एक भाग अवशेष रहा उसको असंख्यात लोक का भाग देनेपर, एक भाग बिना अवशेष बहुभाग प्रमाण धूलिरेखा समान अजघन्य शक्तिस्थान संबंधी उदयस्थान हैं । वे भी असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च अवशेष एक भाग रहा उसप्रमाण जलरेखा समान जघन्य शक्ति संबंधी उदयस्थान हैं, वे भी असंख्यातलोकप्रमाण हैं । इसप्रकार चार शक्ति स्थानों में उदयस्थानों का प्रमाण कहा ।

अब चौदह लेश्यास्थानों में उदयस्थानों का प्रमाण कहते हैं – पहले कृष्णलेश्या के स्थानों में जितने शिलाभेद समान उत्कृष्ट शक्तिस्थानों में उदय स्थान हैं, वे-वे सर्व उस उत्कृष्ट शक्ति को प्राप्त कृष्णलेश्या के उत्कृष्ट स्थान से लेकर यथायोग्य कृष्णलेश्या के मध्यम स्थान पर्यंत षट्स्थानपतित संक्लेशहानियुक्त असंख्यातलोकमात्र स्थान हैं, वे उत्कृष्ट शक्ति के स्थानों के समान जानना ।

पुनश्च इनसे असंख्यातगुणा हीन वहां पृथ्वीभेद समान शक्तिस्थानों में प्राप्त कृष्णलेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं, क्योंकि वे स्थान पृथ्वीभेद समान शक्तिस्थानों में जितने उदयस्थान हैं, उनको यथायोग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर एक भाग बिना बहुभागमात्र हैं ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्ण, नील दो लेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं; वे उस अवशेष एक भाग को यथायोग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभाग मात्र हैं । एक भाग बिना अवशेष भागमात्र प्रमाण की बहुभाग संज्ञा जाननी ।

पुनश्च उससे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं; वे उस अवशेष एक भाग को यथायोग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र हैं ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्णादि चार लेश्या के स्थान असंख्यात-लोकप्रमाण हैं; वे अवशेष एक भाग को यथायोग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र हैं ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्णादि पांच लेश्या के स्थान असंख्यात-लोकप्रमाण हैं; वे उस अवशेष एक भाग को यथायोग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातलोकगुणा हीन वहां ही कृष्णादि छह लेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं; वे उस अवशेष एक भागमात्र हैं ।

यहां पूर्व स्थान से बहुभागरूप असंख्यातलोकमात्र गुणकार घटा इसलिये असंख्यातगुणा घाटि *(हीन)* कहा है ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन धूलिरेखा समान शक्तिस्थानों में प्राप्त कृष्णादि छह लेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं । वे धूलिरेखा समान शक्तिस्थानों संबंधी सर्व स्थानों के प्रमाण को यथायोग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर एक भाग बिना बहुभागमात्र हैं ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्ण रहित पांच लेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं । वे उस अवशेष एक भाग को योग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्ण, नील

रहित चार लेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं । वे उस अवशेष एक भाग को योग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही तीन शुभ लेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं । वे अवशेष एक भाग को योग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन पीतरहित दो शुभ लेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं । वे उस एक भाग को योग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभाग मात्र हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही केवल शुक्ललेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं । वे उस अवशेष एक भागमात्र जानने । यहां बहुभागरूप असंख्यातलोकमात्र गुणकार घटा, इसलिये असंख्यातगुणा हीन कहा है ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन जलरेखा समान शक्तिस्थानों में प्राप्त सर्व शुक्ललेश्या के स्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं । वे जलरेखा शक्तिस्थानों में प्राप्त स्थानों के प्रमाणमात्र हैं । यहां धूलिरेखा समान शक्ति के सर्व स्थानों में जो केवल शुक्ललेश्या के स्थान कहे वहां भागहार अधिक है । परंतु गुणकारभूत असंख्यातलोक का वहां बहुभाग है, यहां एक भाग है । इसलिये असंख्यातगुणा हीन कहा है ।

अब आयु के बंध-अबंध के बीस स्थान, उनमें उदयस्थानों का प्रमाण कहते हैं -

प्रथम शिलाभेद समान उत्कृष्ट शक्ति में प्राप्त कृष्णलेश्या के स्थान, उनमें कृष्णलेश्या के उत्कृष्ट स्थान से लेकर असंख्यातलोकप्रमाण आयु के अबंध स्थान हैं । वे उत्कृष्ट शक्ति में प्राप्त सर्व स्थानों के प्रमाण को असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभाग मात्र हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही नरकायु के बंधने के कारणभूत असंख्यातलोकप्रमाण स्थान हैं । वे उस अवशेष एकभाग मात्र हैं । पहले बहुभाग, यहां एकभाग इसलिये असंख्यातगुणा हीन कहा है ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन पृथ्वीभेद समान अनुत्कृष्ट शक्ति में प्राप्त कृष्णलेश्या के पूर्वोक्त सर्व स्थान, वे नरकायु बंध के कारणभूत असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्ण, नील लेश्या के पूर्वोक्त सर्व स्थान, वे नरकायु के बंध के कारणभूत, असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्णादि तीन लेश्या के स्थानों में नरकायु बंध के कारणभूत स्थान, वे उन कृष्णादि तीन लेश्या

के स्थानों के प्रमाण को योग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्णादि तीन लेश्या के स्थानों में नरक, तिर्यंच आयु के बंध के कारणभूत स्थान, वे उस अवशेष एक भाग को योग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर, बहुभागमात्र असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही कृष्णादि तीन लेश्या के स्थानो में नरक, तिर्यंच, मनुष्य आयु के बंध के कारणभूत स्थान, वे अवशेष एक भागमात्र असंख्यातलोकप्रमाण हैं।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही पूर्वोक्त कृष्णादि चार लेश्या के स्थान, सर्व ही चारों आयु के बंध के कारणभूत, वे असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही पूर्वोक्त कृष्णादि पांच लेश्या के स्थान, सर्व ही चारों आयु के बंध के कारणभूत, वे असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन, वहां ही पूर्वोक्त कृष्णादि छह लेश्या के स्थान, सर्व ही चारों आयु के बंध के कारणभूत, वे असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पूर्वस्थान में गुणकार बहुभाग था, यहां एक भाग रहा, इसलिये असंख्यातगुणा हीन कहा ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन, धूलिरेखा के समान अजघन्य शक्ति में प्राप्त छह लेश्या के स्थानों में, चारों आयु के बंध के कारणभूत स्थान, वे उन अजघन्य शक्ति में प्राप्त छह लेश्या के स्थानों के प्रमाण को असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही छह लेश्या के स्थानों में नरक बिना तीन आयुबंध के कारणभूत स्थान, वे उस अवशेष एक भाग को असंख्यात का भाग देनेपर बहुभागमात्र असंख्यातलोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही छह लेश्या के स्थानों में मनुष्य, देव दो आयु के बंध के कारणभूत स्थान, वे उस अवशेष एक भागमात्र असंख्यातलोकप्रमाण हैं । यहां पहले बहुभाग थे, यहां एक भाग है । इसलिये असंख्यातगुणा हीन कहा । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही पूर्वोक्त कृष्ण बिना पांच लेश्या के स्थान सभी देवायु के बंध के कारण हैं। वे असंख्यातलोकप्रमाण जानने । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही पूर्वोक्त कृष्ण, नील रहित चार लेश्या के स्थान सभी देवायु बंध के कारण हैं । वे असंख्यात लोकप्रमाण हैं । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही शुभ तीन लेश्या के स्थानों में देवायु बंध के कारणभूत स्थान, वे उस अजघन्य शक्ति में प्राप्त त्रिलेश्या के स्थानों के प्रमाण को योग्य असंख्यातलोक का भाग देनेपर बहुभागमात्र

असंख्यातलोकप्रमाण हैं।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही शुभ तीन लेश्या के स्थानों में किसी भी आयु के बंध के कारणभूत नहीं हैं, ऐसे स्थान उस अवशेष एक भागमात्र असंख्यात लोकप्रमाण जानने । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही पूर्वोक्त पद्म, शुक्ल दो लेश्या के सर्व ही स्थान आयुबंध के कारण नहीं हैं । वे असंख्यातलोक प्रमाण हैं। इससे पूर्व स्थान में भागहार असंख्यातगुणा हीन है, इसलिये असंख्यातगुणा हीन कहा। पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन वहां ही पूर्वोक्त शुक्ललेश्या के सभी स्थान आयुबंध के कारण नहीं हैं । वे असंख्यातलोक प्रमाण हैं । पहले बहुभाग का गुणकार था, यहां एक भाग गुणकार हुआ, इसलिये असंख्यातगुणा हीन कहा ।

पुनश्च उनसे असंख्यातगुणा हीन, पूर्वोक्त जलरेखा समान जघन्य शक्ति में प्राप्त शुक्ललेश्या के सभी स्थान किसी भी आयुबंध के कारण नहीं हैं । वे असंख्यातलोक प्रमाण हैं । पहले स्थान में जो भागहार कहें, उनसे उस ही भागहार का गुणकार असंख्यातगुणा है, इसलिये असंख्यातगुणा हीन कहा है ।

इसप्रकार चार पद, चौदह पद, बीस पद क्रम से असंख्यातगुणा हीन कहे, तथापि असंख्यात के बहुत भेद हैं । इसलिये सामान्यपने सबको असंख्यातलोकप्रमाण कहे । विशेषपने यथासंभव असंख्यात का प्रमाण जानना । ऐसे ही भागहार में भी यथासंभव असंख्यात का प्रमाण जानना ।

आगे श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव तीन गाथाओं द्वारा कषायमार्गणा में जीवों की संख्या कहते हैं –

पुह पुह कसायकालो णिरये अंतोमुहुत्तपरिणामो ।
लोहादी संखगुणो देवेसु य कोहपहुदीदो ।।२९६।।

पृथक् पृथक् कषायकालः निरये अंतर्मुहूर्तपरिमाणः ।
लोभादयः संख्यगुणः देवेषु च क्रोधप्रभृतितः ।।२९६।।

टीका – नरकगति में नारकियों के लोभादि कषायों का उदयकाल प्रत्येक का अंतर्मुहूर्त मात्र है । तथापि पूर्व-पूर्व कषाय से पीछे-पीछे के कषायों का काल संख्यातगुणा है । अंतर्मुहूर्त के भेद बहुत हैं इसलिये हीनाधिक होते हुये भी अंतर्मुहूर्त ही कहते

कषायों के शक्तिस्थान चार, लेश्यास्थान चौदह, आयुबंधस्थान बीस, उनका यंत्र

शक्तिस्थान ४	शिलाभेद समान १		पृथ्वी भेद समान १								धूलिरेखा समान १									जलरेखा समान १
लेश्यास्थान १४	१ कृ.		१ कृ.	२ कृ. आदि	३ कृष्णादि			४ कृ आदि	५ कृ आदि	६ कृ आदि	६ कृष्णादि			५ कृ. बिना	४ कृ. नी बिना	३ पितादि		२ पद्म शुक्ल	१ शु.	१ शुक्ल
आयुबंधाबंध स्थान २०	0 अबंध	१ नरकायु	१ नरकायु	१ नरकायु	१ नरकायु	२ नरकतिर्यंचायु	३ नरकतिर्यंचमनुष्यायु	४ सर्व	४ सर्व	४ सर्व	४ सर्व	३ तिर्यंचमनुष्यदेवायु	२ मनुष्यदेवायु	१ देवायु	१ देवायु	१ देवायु	0 अबंध	0 अबंध	0 अबंध	0 अबंध

हैं । उसे कहते हैं - सब से अल्प अंतर्मुहूर्त प्रमाण लोभकषाय का काल है । इससे संख्यात गुणा मायाकषाय का काल है । इससे संख्यातगुणा मानकषाय का काल है । इससे संख्यातगुणा क्रोधकषाय का काल है ।

पुनश्च देवगति में क्रोधादि कषायों का काल प्रत्येक अंतर्मुहूर्त मात्र है तथापि उत्तरोत्तर संख्यातगुणा है । वही कहते हैं - अल्प अंतर्मुहूर्त प्रमाण तो क्रोधकषाय का काल है । उससे संख्यातगुणा मानकषाय का काल है । उससे संख्यातगुणा मायाकषाय का काल है । उससे संख्यातगुणा लोभकषाय का काल है ।

भावार्थ – नरकगति में क्रोधकषायरूप परिणति अधिकतर होती है, अन्य कषायोंरूप क्रम से अल्प रहती है । देवगति में लोभकषायरूप परिणति अधिकतर होती है, अन्य कषायोंरूप क्रम से अल्प-अल्प रहती है ।

सव्वसमासेणवहिदसगसगरासी पुणो वि संगुणिदे ।
सगसगगुणगारेहिं य सगसगरासीण परिमाणं ।।२९७।।

सर्वसमासेनावहितस्वकस्वकराशौ पुनरपि संगुणिते ।
स्वकस्वकगुणकारैश्च स्वकस्वकराशीनां परिमाणम् ।।२९७।।

टीका – सर्व चारों कषायों का जो काल कहा, उसके जितने समय हो उनका समास अर्थात् जोड़ देनेपर जो प्रमाण आता है, उसका भाग अपनी-अपनी गति संबंधी जीवों के प्रमाण को देनेपर, जो एक भाग में प्रमाण हो, उसे अपने-अपने कषाय के काल के समयों के प्रमाणरूप गुणकार से गुणा करनेपर, जो-जो प्रमाण हो, वही अपना-अपना क्रोधादिक कषाय संयुक्त जीवों का प्रमाण जानना । अपि शब्द समुदायवाचक है, इसलिये नरकगति और देवगति में ऐसे ही करना । वही दिखाते हैं - चारों कषायों के काल के समयों का जोड़ देनेपर जो प्रमाण होता है, उतने काल में यदि नरकगति में जीवों का जो प्रमाण कहा उतने सर्व जीव पाये जाते हैं, तो लोभकषाय के काल के समयों का जो प्रमाण होता है, उतने काल में कितने जीव पाये जायेंगे ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर प्रमाणराशि सर्व कषायों का काल, फलराशि सर्व नारकराशि, इच्छाराशि लोभकषाय का काल । वहां प्रमाणराशि का भाग फलराशि को देकर इच्छाराशि से गुणा करनेपर, लब्धराशि का जो प्रमाण आयेगा, उतने लोभकषायवाले जीव नरकगति

में जानने । पुनश्च इसीप्रकार प्रमाणराशि, फलराशि पूर्वोक्त, इच्छाराशि मायादि कषायों का काल करनेपर लब्धराशिमात्र अनुक्रम से मायावाले, मानवाले, क्रोधवाले जीवों का प्रमाण नरकगति में जानना ।

यहां दृष्टांत - जैसे, लोभ के काल का प्रमाण एक (१), माया का चार (४), मान का सोलह (१६), क्रोध का चौंसठ (६४) । सब का जोड़ देनेपर पचासी हुये । नारकी जीवों का प्रमाण सत्रह सौ (१७००) । उसको पचासी का भाग देनेपर बीस (२०) आये, उसको एक से गुणा करके बीस हुये, उतना लोभकषायवालों का प्रमाण है । चार से गुणा करके अस्सी (८०) हुये, उतना मायावालों का प्रमाण है। सोलह से गुणा करके तीन सौ बीस (३२०) हुये, उतना मानवालों का प्रमाण है। चौंसठ से गुणा करके बारह सौ अस्सी (१२८०) हुये, उतना क्रोधवालों का प्रमाण है । इसतरह दृष्टांत द्वारा यथोक्त नरकगति में जीव कहे । इसीतरह देवगति में जीवों का जितना प्रमाण है, उसे सर्व कषायों के काल के जोड़े हुये समयों के प्रमाण का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसको अनुक्रम से क्रोध, मान, माया, लोभ के काल के प्रमाण से गुणा करनेपर अनुक्रम से क्रोधवाले, मानवाले, मायावाले, लोभवाले जीवों का प्रमाण देवगति में जानना ।

णरतिरिय लोह माया कोहो माणो बिइंदियादिव्व ।
आवलिअसंखभज्जा सगकालं वा समासेज्ज ।।२९८।।

नरतिरश्चोः लोभमायाक्रोधो मानो द्वींद्रियादिवत् ।
आवल्यसंख्यभाज्याः स्वककालं वा समासाद्य ।।२९८।।

टीका - मनुष्य-तिर्यंच गति में लोभ, माया, क्रोध, मान जीवों की संख्या इन्द्रियमार्गणा अधिकार में जिसप्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इनमें जीवों की संख्या **'बहुभागे समभागो'** इत्यादि गाथा द्वारा कही थी, उसप्रकार यहां भी संख्या का साधन करना । वही कहते हैं - मनुष्यगति में जीवों का जो प्रमाण है, उसमें से कषायरहित मनुष्यों का प्रमाण घटानेपर अवशेष रहे उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर, वहां एक भाग जुदा रखकर अवशेष बहुभाग प्रमाण के चार भाग करके चारों कषायों के स्थानों में समान देना । पुनश्च जो एक भाग रहा, उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दीजिये, वहां एक भाग जुदा रखकर, अवशेष

बहुभाग को लोभकषाय के स्थान में समान भाग दिया था उसके प्रमाण में जोड़नेपर जो प्रमाण हो उतने लोभकषायवाले मनुष्य जानने ।

पुनश्च उस अवशेष एक भाग को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दीजिये, वहां एक भाग जुदा रखकर, अवशेष बहुभाग रहे, उनको मायाकषाय के स्थान में समान भाग में जो प्रमाण था उसमें मिलानेपर जो प्रमाण हो, उतने मायाकषायवाले मनुष्य जानने । पुनश्च उस अवशेष एक भाग को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दीजिये, वहां एक भाग को जुदा रखकर, अवशेष बहुभाग रहे उनको क्रोधकषाय के स्थान में समान भाग में जो प्रमाण था उसमें मिलानेपर क्रोधकषायवाले मनुष्यों का प्रमाण होता है । पुनश्च उस अवशेष एक भाग का जितना प्रमाण हो उसको मानकषाय के स्थान में समानभाग में जो प्रमाण था उसमें मिलानेपर मानकषायवाले मनुष्यों का प्रमाण होता है, ऐसे ही तिर्यंचगति में जानना । विशेष इतना – वहां मनुष्यगति के जीवों के प्रमाण में भाग दिया था, यहां तिर्यंचगति के जीवों का प्रमाण, जो देव, नारक, मनुष्य राशि से हीन सर्व संसारी जीवराशि मात्र है, उसको भाग देना; अन्य सर्व विधान वैसे ही जानना । इसतरह कषायों में तिर्यंच जीवों का प्रमाण जानिये ।

अथवा अपने-अपने कषायों के काल की अपेक्षा जीवों की संख्या जानिये; उसे दिखाते हैं । चारों कषायों के काल के समयों का जो अंतर्मुहूर्तमात्र प्रमाण है, उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दीजिये । वहां एक भाग को जुदा रखकर, अवशेष के चार भाग करके, चारों जगह समान दीजिये । पुनश्च अवशेष एक भाग को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर, एक भाग को जुदा रखकर, अवशेष बहुभाग रहे, उनको समान भाग में जो प्रमाण था उसमें मिलानेपर लोभकषाय के काल का प्रमाण आता है । पुनश्च उस अवशेष एक भाग को वैसे ही भाग देकर, एक भाग बिना अवशेष बहुभाग समान भाग के प्रमाण में मिलानेपर माया का काल आता है । पुनश्च उस अवशेष एक भाग को वैसे ही भाग देकर, एक भाग को जुदा रखकर, अवशेष बहुभाग समानभाग संबंधी प्रमाण में मिलानेपर क्रोध का काल आता है । पुनश्च अवशेष जो एक भाग रहा उसको समान भाग संबंधी प्रमाण में मिलानेपर मानकषाय का काल आता है ।

अब यहां त्रैराशिक करना - यदि चारों कषायों के काल के प्रमाण में सर्व मनुष्य पाये जाते हैं, तो लोभकषाय के काल में कितने मनुष्य पाये जायेंगे ? यहां प्रमाणराशि चारों कषायों का समुच्चयरूप काल का प्रमाण और फलराशि मनुष्यगति के जीवों का प्रमाण और इच्छाराशि लोभकषाय के काल का प्रमाण । वहां फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर, लब्धराशि का जो प्रमाण आयेगा, उतने लोभकषायवाले मनुष्य जानने । इसीतरह प्रमाणराशि, फलराशि पूर्वोक्त करके माया, क्रोध, मान काल को इच्छाराशि करनेपर, लब्धराशि मात्र मायावाले, क्रोधवाले, मानवाले मनुष्यों की संख्या जानना । पुनश्च इसीप्रकार तिर्यंचगति में भी लोभवाले, मायावाले, क्रोधवाले, मानवाले जीवों की संख्या का साधन करना । विशेष इतना - वहां फलराशि मनुष्यों का प्रमाण था, यहां फलराशि तिर्यंच जीवों का प्रमाण जानना। अन्य विधान वैसा ही करना । इसप्रकार कषायमार्गणा में जीवों की संख्या है ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक इस भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से कषायमार्गणा प्ररूपणा नामक ग्यारहवां अधिकार पूर्ण हुआ ।।११।।

बारहवां अधिकार : ज्ञानमार्गणा प्ररूपणा

।। मंगलाचरण ।।

वंदौ वासव पूज्यपद, वास पूज्य जिन सोय ।
गर्भादिक में पूज्य जो, रत्न द्रव्यतैं होय ।।

आगे श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ज्ञानमार्गणा का प्रारंभ करते हैं । वहां प्रथम ही निरुक्ति सहित ज्ञान का सामान्य लक्षण कहते हैं –

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणे त्ति णं बेंति ।।२९९।।

जानाति त्रिकालविषयान् द्रव्यगुणान् पर्यायांश्च बहुभेदान् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षमनेन ज्ञानमिति इदं ब्रुवंति ।।२९९।।

टीका – त्रिकाल संबंधी हुये हैं, हो रहे हैं, होंगे ऐसे जीवादि द्रव्य वा ज्ञानादिगुण वा स्थावरादि पर्याय नानाप्रकार हैं । वहां जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये द्रव्य हैं । पुनश्च ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, सुख, वीर्य आदि वा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि वा गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व आदि गुण हैं । पुनश्च स्थावर, त्रस आदि वा अणु, स्कंधपना आदि वा अन्य अर्थ, व्यंजन आदि भेद सहित अनेक पर्याय हैं । उनको जीव नामक पदार्थ प्रत्यक्ष या परोक्ष इससे जानता है, इसलिये इसको ज्ञान कहते हैं । **'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानं'** ऐसी ज्ञान शब्द की निरुक्ति जाननी । यहां जाननरूप क्रिया का आत्मा कर्ता, यहां करणस्वरूप ज्ञान, अपने विषयभूत अर्थों का जाननेवाला जीव का गुण है – ऐसा अरहंतादिक कहते हैं । असाधारण कारण का नाम करण है । पुनश्च यह सम्यग्ज्ञान है वही प्रत्यक्षरूप या परोक्षरूप प्रमाण है । जो ज्ञान अपने विषय को स्पष्ट–विशद जानता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । जो अपने विषय को अस्पष्ट–अविशद जानता है, उसको परोक्ष कहते हैं । सो इस प्रमाण का स्वरूप, संख्या, विषय, फल, लक्षण, पुनश्च उसके अन्यथावाद का निराकरण और स्याद्वाद मत के प्रमाण का स्थापन विशेषपने जैन के तर्कशास्त्र हैं, उनमें से जानना ।

यहां अहेतुवादरूप आगम में हेतुवाद का अधिकार नहीं है इसलिये सविशेष नहीं कहा । हेतु द्वारा जहां अर्थ को दृढ़ करते हैं उसका नाम हेतुवाद है, सो न्यायशास्त्रों में हेतुवाद है । यहां तो जिनागम अनुसार वस्तु का स्वरूप कहने का अधिकार जानना।

आगे ज्ञान के भेद कहते हैं -

पंचेव होंति णाणा मदि सुद ओही मणं च केवलयं ।
खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं ।।३००।।

पंचैव भवंति ज्ञानादि मतिश्रुतावधिमनश्च केवलम् ।
क्षायोपशमिकानि चत्वारि केवलज्ञानं भवेत् क्षायिकम् ।।३००।।

टीका - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये सम्यग्ज्ञान पांच ही हैं; हीन अधिक नहीं हैं । यद्यपि संग्रहनयरूप द्रव्यार्थिकनय से सामान्यपने ज्ञान एक ही है, तथापि पर्यायार्थिक नय से विशेष करनेपर पांच भेद ही हैं । उनमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं ।

क्योंकि मतिज्ञानावरणादिक कर्म और वीर्यान्तराय कर्म, उनके अनुभाग के सर्वघाति स्पर्धकों का जो उदय नहीं है वही क्षय जानना, पुनश्च जो उदय अवस्था को प्राप्त नहीं हुये सत्तारूप ही रहते हैं वही उपशम जानना । उपशम और क्षय से उत्पन्न हो उसे क्षयोपशम कहते हैं अथवा क्षयोपशम है प्रयोजन जिनका, वे क्षायोपशमिक कहलाते हैं । यद्यपि क्षायोपशमिक में उस आवरण के देशघाति स्पर्धकों का उदय पाया जाता है, तथापि वह उस ज्ञान का घात करने को समर्थ नहीं है, इसलिये उसकी मुख्यता नहीं की है ।

इसका उदाहरण कहते हैं - अवधिज्ञानावरण कर्म सामान्यपने देशघाति प्रकृति है । तथापि अनुभाग के विशेष करनेपर, इसके कितने ही स्पर्धक सर्वघाति हैं, कितने ही स्पर्धक देशघाति हैं । वहां जिनके अवधिज्ञान बिलकुल नहीं है उनके सर्वघाति स्पर्धकों का उदय जानना । परंतु जिनके अवधिज्ञान पाया जाता है और आवरण का उदय पाया जाता है वहां देशघाति स्पर्धकों का उदय जानना । पुनश्च केवलज्ञान क्षायिक ही है, क्योंकि केवलज्ञानावरण, वीर्यांतराय के सर्वथा नाश से केवलज्ञान प्रकट होता है । क्षय होनेपर उत्पन्न वा क्षय है प्रयोजन जिसका उसको क्षायिक कहते हैं । यद्यपि सावरण

अवस्थामें आत्मा के शक्तिरूप केवलज्ञान है, तथापि व्यक्तरूप तो आवरण के नाश से है, इसलिये व्यक्तता की अपेक्षा केवलज्ञान क्षायिक कहा, क्योंकि व्यक्त होनेपर ही कार्यसिद्धि होती है ।

आगे मिथ्यात्व उपजने का कारण, स्वरूप, स्वामित्व और भेद कहते हैं –

अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छ अणउदये ।
णवरि विभागं णाणं पंचिंदियसण्णिपुण्णेव ।।३०१।।

अज्ञानत्रिकं भवति खलु सज्ज्ञानत्रिकं खलु मिथ्यात्वानोदये ।
नवरि विभंगं ज्ञानं पंचेंद्रियसंज्ञिपूर्ण एव ।।३०१।।

टीका – सम्यग्दृष्टि के जो मति, श्रुत, अवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान हैं; वे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त वा निर्वृत्तिअपर्याप्त जीव के विशेष ग्रहणरूप ज्ञेयाकार सहित उपयोगरूप है लक्षण जिसका ऐसे हैं; वे ही तीनों मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी किसी कषाय के उदय होनेपर तत्त्वार्थ के अश्रद्धानरूप परिणत जीव के तीनों मिथ्याज्ञान होते हैं । उनके कुमति, कुश्रुत, विभंग ये नाम हैं । **णवरि** ऐसा प्राकृत भाषा में विशेष के अर्थ में अव्यय जानना । सो विशेष यह – अवधिज्ञान का जो विपरीतरूप होना वही विभंग है । वह विभंग अज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के होता है । इसलिये एकेन्द्रियादि पर्याप्त, अपर्याप्त सर्व मिथ्यादृष्टि जीवों के और सासादन गुणस्थानवर्ती सर्व जीवों के कुमति, कुश्रुत ज्ञान होता है ।

आगे सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान में ज्ञान का स्वरूप कहते हैं –

मिस्सुदये सम्मिस्सं अण्णाणतियेण णाणतियमेव ।
संजमविसेससहिए मणपज्जवणाणमुद्दिट्ठं ।।३०२।।

मिश्रोदये संमिश्रं अज्ञानत्रयेण ज्ञानत्रयमेव ।
संयमविशेषसहिते मनःपर्ययज्ञानमुद्दिष्टम् ।।३०२।।

टीका – मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व नामक मोहनीयकर्म की प्रकृति, उसका उदय होनेपर, तीनों अज्ञान से मीलित तीनों सम्यग्ज्ञान यहां होते हैं । चूंकि जुदा किया नहीं जाता, इसलिये सम्यग्मिथ्यामति, सम्यग्मिथ्याश्रुत, सम्यग्मिथ्याअवधि ऐसे यहां नाम होते

h ¡& Og `hm EH$ H$mb _| gå`H$ê$n Ama {_Ï`mê$n {_bm hAm lÕmZ nm`m OmVm h, dg hr km{Zê$n Ama AkmZê$n {_bm hAm kmZ nm`m OmVm h ¡& `hm Z Vm H$db gå`½kmZ hr h, Z H$db {_Ï`mkmZ h, {_Ï`mkmZ g {_b h` gå`½kmZê$n {_l OmZZm ¡&

nZü {def g`_ H$ YmaH$ NR>d JUñWmZ g ~mahd JUñWmZ VH$ gmV JUñWmZdVu Vn{def g d{Õê$n {deÕVm H$ YmaH$ _hm_{Z`m| H$ hr _Z…n``kmZ nm`m OmVm h, Š`m{H$ AÝ` Xeg`Vm{X _| dgm Vn H$m {def Zht hmVm ¡&

AmJ {_Ï`mkmZ H$m {def bjU VrZ JmWmAm| Ûmam H$hV h -

{dgOVH$SnOa~Ym{Xg {dUdEgH$aUU ¡&
Om I b ndÔE _B _BAÊUmU {Îm U ~{V ¡&&303&&

{df`ÌH$QnOa~Ym{Xf {dZmnXeH$aUZ ¡&
`m I b àdVV _{V… _Ë`kmZ{_VrX ~d{V ¡&&303&&

QrH$m - nañna dñV H$ g`mJ g _maZ H$s e{º$ {Og_| hmVr h Egr Vb, H$nam{XH$ dñV, Cg {df H$hV h ¡& nZü qgh, ì`mKm{X H$a Ord| H$m nH$SZ H$ {b` {OgH$ AXa Nbm (~H$ar) Am{X aI V h Ama Cg_| Cg H$a Ord H$m na nSV hr {H$dmS ~X hm OmVm h, Egm Smar H$ H$b g `º$ hm, H$mîRm{XH$ g aMm hAm hm, Cg `ÝÌ H$hV h ¡& nZü _Nbr, H$Ndm, Mhm, H$mb BË`m{X Ord| H$ nH$SZ H$ {b` H$mîRm{XH$_` ~Zm`m hm, Cg H$Q H$hV h ¡& nZü VrVa, bdm, {haU Am{X Ord| H$m nH$SZ H$ {b` \$X g `º$ Sm[a H$m Omb ~Zm`m hm, Cg nOa H$hV h ¡& nZü hmWr, D$Q Am{X H$m nH$SZ H$ {b` JST H$ D$na Jm{R H$ {defg{hV Odam (añg) H$s aMZmê$n {def, Cg ~Y H$hV h ¡& Am{X eãX g n{I`m| H$ nI {MnH$Z H$ {b` D$M XS H$ D$na {MJQmg bJmZm ({MH$Zm ag, JmX Am{X), Cg ~Y H$hV h Ama {haUm{XH$ H$ gtJ H$ AJ^mJ _| gÌ H$s JmR XZm (\$Xm bJmZm) BË`m{X {def OmZZ ¡&

BgàH$ma Ord| H$ _maZ, ~mYZ H$ H$maUê$n H$m`m _| AÝ` H$ CnXe H$ {~Zm hr ñd`_d ~{Õ àdVVr h, Cg H$_{VkmZ H$hV h ¡& CnXe g àdV Vm

कुश्रुतज्ञान हो जाता है । इसलिये बिना ही उपदेश के इसतरह विचाररूप विकल्प सहित हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परीग्रह का कारण, आर्त-रौद्र ध्यान का कारण, शल्य, दंड, गारव आदि अशुभोपयोगों का कारण जो मन, इन्द्रियों से विशेष ग्रहणरूप मिथ्याज्ञान प्रवर्तता है, उसे सर्वज्ञदेव मतिअज्ञान कहते हैं ।

आभीयमासुरक्खं भारहरामायणादि उवएसा ।
तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाणं त्ति णं बेंति ।।३०४।।

आभीतमासुरक्षं भारतरामायणाद्युपदेशाः ।
तुच्छा असाधनीयाः श्रुताज्ञानमिति इदं ब्रुवंति ।।३०४।।

टीका – आभीताः अर्थात् भयवान जो चोरादिक, उनका शास्त्र वह आभीत है । पुनश्च असु जो प्राण, उनकी चोरादिकों से जिनके द्वारा रक्षा होती है, ऐसे कोटपाल, राजादिक, उनका जो शास्त्र, वह **असुरक्ष** है । पुनश्च कौरव पाण्डव के युद्धादिक और एक पत्नी के पांच पति आदि विपरीत कथन जिसमें है ऐसा शास्त्र वह **भारत** *(महाभारत)* है । पुनश्च रामचन्द्र की वानरों की सेना, रावण राक्षस है उनका परस्पर युद्ध होना इत्यादि अपनी इच्छा से रचा हुआ शास्त्र, वह **रामायण** है । **आदि** शब्द से जो एकांतवाद से दूषित अपनी इच्छा के अनुसार रचे हुये शास्त्र, जिनमें हिंसारूप यज्ञादिक गृहस्थ का कर्म है, जटाधारण त्रिदंड धारणादिरूप तपस्वी का कर्म है, सोलह पदार्थ हैं या छह पदार्थ हैं या भावन, विधि, नियोग, भूत ये चार हैं या पच्चीस तत्त्व हैं, या अद्वैत ब्रह्म का स्वरूप है या सर्व शून्य है इत्यादि वर्णन पाया जाता है; वे शास्त्र **तुच्छाः** अर्थात् परमार्थ से रहित हैं । पुनश्च **असाधनीयाः** अर्थात् प्रमाण करनेयोग्य नहीं है । इसीलिये संत *(सज्जन या भले)* पुरुषों को आदरने योग्य नहीं हैं । ऐसे शास्त्रों के अभ्यास से हुआ जो श्रुतज्ञान का सा आभासवाला कुज्ञान, उसे श्रुतअज्ञान कहते हैं । क्योंकि प्रमाणिक इष्ट अर्थ से विपरीत अर्थ इसका विषय है। यहां मति, श्रुत अज्ञान का वर्णन उपदेश की अपेक्षा किया है ।

और सामान्यपने तो स्व-पर भेदविज्ञान से रहित इन्द्रिय, मन जनित जो जानना है, वह सर्व कुमति, कुश्रुत है ।

विवरीयमोहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च ।
वेभंगो त्ति पउच्चइ समत्तणाणीण समयम्हि ।।३०५।।

विपरीतमवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं च कर्मबीजं च ।
विभंग इति प्रोच्यते समाप्तज्ञानिनां समये ।।३०५।।

टीका – मिथ्यादृष्टि जीवों के अवधिज्ञानावरण, वीर्यांतराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ ऐसा; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित रूपी पदार्थ है विषय जिसका ऐसा, आप्त आगम पदार्थों में विपरीत का ग्राहक वह विभंग नाम पाता है। **वि** अर्थात् विशिष्ट जो अवधिज्ञान, उसका भंग अर्थात् विपरीत भाव, उसे विभंग कहते हैं । वह तिर्यंच-मनुष्य गति में तो तीव्र कायक्लेशरूप द्रव्य संयमादिक से उत्पन्न होता है, वह गुणप्रत्यय है । पुनश्च देव, नरक गति में भवप्रत्यय होता है ।

सो सर्व ही विभंगज्ञान मिथ्यात्वादि कर्मबंध का बीज अर्थात् कारण है । **चकार** से कदाचित् नारकादिक गति में पूर्वभव संबंधी दुराचार के दुःखफल को जानकर कहीं सम्यग्दर्शनज्ञानरूप धर्म का भी बीज होता है; ऐसा विभंगज्ञान समाप्तज्ञानी अर्थात् जो सम्पूर्णज्ञानी केवली उनके मत में कहा है ।

आगे स्वरूप, उपजने का कारण, भेद, विषय इनके आश्रय से मतिज्ञान का निरूपण नौ गाथाओं द्वारा कहते हैं –

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदिइंदियजं ।
अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं ।।३०६।।

अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधिकमनिंद्रियेंद्रियजं ।
अवग्रहेहावायधारणका भवंति प्रत्येकं ।।३०६।।

टीका – स्थूल, वर्तमान जिस क्षेत्र में इन्द्रिय-मन की प्रवृत्ति हो वहां स्थित ऐसा जो इन्द्रिय-मन के ग्रहण योग्य पदार्थ, उसे **अभिमुख** कहते हैं । पुनश्च इस इन्द्रिय का यही विषय है ऐसा नियमरूप जो पदार्थ *(जैसे स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है, घ्राणेन्द्रिय का सुगंध, दुर्गंध इत्यादि)* उसे **नियमित** कहते हैं, ऐसे पदार्थ का जो जानना, वह आभिनिबोध है । **अभि** अर्थात् अभिमुख, **नि** अर्थात् नियमित जो अर्थ, उसका **निबोध** अर्थात् जानना, ऐसा अभिनिबोध वही आभिनिबोधिक है । यहां स्वार्थ में ठण् प्रत्यय आया

है । सो यह आभिनिबोधिक मतिज्ञान का नाम जानना । इन्द्रियों के स्थूल रूपस्पर्शादिक अपने विषय का ज्ञान उपजाने की शक्ति है, परंतु सूक्ष्म, अंतरित, दूरवर्ती पदार्थ का ज्ञान उपजाने की शक्ति नहीं है । वहां सूक्ष्म पदार्थ तो परमाणु आदि, अंतरित पदार्थ अतीत, अनागत कालसंबंधी, दूरवर्ती पदार्थ मेरुपर्वत, स्वर्ग, नरक के पटल आदि दूर क्षेत्रवर्ती जानना । इसतरह मतिज्ञान का स्वरूप कहा ।

सो मतिज्ञान कैसा है ?

अनिन्द्रिय जो मन, तथा इन्द्रिय – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इनसे उपजता है । मतिज्ञान उपजने के कारण इन्द्रिय और मन हैं । कारण के भेद से कार्य में भी भेद कहते हैं, इसलिये मतिज्ञान छह प्रकार का है । वहां एक-एक के चार-चार भेद हैं – अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा । सो मन से, स्पर्शन से, रसना से, घ्राण से, चक्षु से और श्रोत्र से ये अवग्रहादि चार-चार उत्पन्न होते हैं, इसलिये चौबीस भेद हुये ।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा का लक्षण शास्त्रकर्ता आगे स्वयमेव कहेंगे ।

वेंजणअत्थअवग्गहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे ।
कमसो ते वावरिदा पढमं ण हि चक्खुमणसाणं ।।३०७।।

व्यंजनार्थावग्रहभेदौ हि भवतः प्राप्ताप्राप्तार्थे ।
क्रमशस्तौ व्यापृतौ प्रथमो नहि चक्षुर्मनसोः ।।३०७।।

टीका – मतिज्ञान का विषय दो प्रकार – एक व्यंजन, एक अर्थ । वहां जो विषय इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो, स्पर्शित हो, वह व्यंजन कहलाता है । जो प्राप्त न हो वह अर्थ कहलाता है । उनका विशेषग्रहणरूप व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह भेद होते हैं ।

यहां प्रश्न – तत्त्वार्थसूत्र की टीका में तो ऐसा अर्थ किया है कि व्यंजन नाम अव्यक्त शब्दादिक का है, यहां प्राप्त अर्थ को व्यंजन कहा वह कैसे है ?

उसका समाधान – व्यंजन शब्द के दोनों अर्थ होते हैं । **विगतं अंजनं व्यंजनं** दूर हुआ है अंजन अर्थात् व्यक्त भाव जिसका, वह व्यंजन है । सो तत्त्वार्थसूत्र की टीका में इस अर्थ का मुख्य ग्रहण किया है । और **'व्यज्यते म्रक्षते प्राप्यते इति व्यंजनं'**

जो प्राप्त हो उसको व्यंजन कहते हैं । सो यहां यह अर्थ मुख्य ग्रहण किया है । क्योंकि अंजु धातु गति, व्यक्ति, म्रक्षण अर्थ में प्रवर्तता है । इसलिये व्यक्ति और म्रक्षण अर्थ का ग्रहण करने से कर्णादिक इन्द्रियों से शब्दादिक अर्थ प्राप्त होते हुये भी जब तक व्यक्त न हो, तब तक व्यंजनावग्रह है, व्यक्त होनेपर अर्थावग्रह होते हैं । जैसे, नया मिट्टि का घड़ा, जल की बूंदों से सींचते हैं, वहां जल की बूंद एक दो आदि बार पड़नेपर व्यक्त नहीं होती, शोषित हो जाती है, बहुत बार जल की बूंद पड़नेपर व्यक्त होती है । वैसे, कर्णादिक से प्राप्त हुआ जो शब्दादिक उसका जब तक व्यक्तरूप ज्ञान न हो अर्थात् मैंने शब्द सुना ऐसा व्यक्त ज्ञान न हो, तब तक व्यंजनावग्रह कहते हैं । तथा बहुत समय तक इन्द्रिय और विषय का संयोग रहनेपर व्यक्तरूप ज्ञान होनेपर अर्थावग्रह कहते हैं । पुनश्च नेत्रइन्द्रिय और मन ये दूर ही से पदार्थ को जानते हैं, इसलिये इन दोनों के व्यंजनावग्रह नहीं है, अर्थावग्रह ही है।

यहां प्रश्न - जैसे कर्णादिक से दूर से शब्दादिक को जानते हैं, वैसे नेत्र से वर्ण जानते हैं, उसको प्राप्त कहा और इसको अप्राप्त कहा, वह कैसे है ?

उसका समाधान – जो शब्द दूर होता है उसको यह नहीं जानता । दूर उत्पन्न हुये शब्द के निमित्त से आकाश में जो अनेक स्कंध स्थित हैं, वे शब्दरूप परिणमते हैं । वहां कर्णइन्द्रिय के समीपवर्ती स्कंध भी शब्दरूप परिणमते हैं, उनका कर्णइन्द्रिय से स्पर्श हुआ है, तब शब्द का ज्ञान होता है । इसीप्रकार दूर स्थित सुगंध दुर्गंध वस्तु के निमित्त से पुद्‌गल स्कंध तत्काल तद्रूप परिणमते हैं । वहां जो नासिकाइन्द्रिय के समीपवर्ती स्कंध परिणमते हैं, उनके स्पर्श से गंध का ज्ञान होता है । ऐसे ही अग्नि आदि के निमित्त से पुद्‌गलस्कंध उष्णादिरूप परिणमते हैं, वहां जो स्पर्शनइन्द्रिय के समीपवर्ती स्कंध परिणमते हैं, उनके स्पर्श से स्पर्श का ज्ञान होता है । ऐसे ही आम्लादि वस्तु के निमित्त से स्कंध तद्रूप परिणमते हैं, वहां रसनाइन्द्रिय के समीपवर्ती जो स्कंध परिणत होते हैं, उनके संयोग से रस का ज्ञान होता है ।

पुनश्च यह श्रुतज्ञान के बल से, जिसके निमित्त से शब्द आदि हुये, उसको जानकर ऐसा मानता है कि मैंने दूरवर्ती वस्तु को जाना, इसतरह दूरवर्ती वस्तु के जानने में भी प्राप्त होना सिद्ध हुआ । और समीपवर्ती को तो प्राप्त होकर जानता ही है । यहां शब्दादिक परमाणु और कर्णादिक इन्द्रिय परस्पर प्राप्त होनेपर जब तक जीव के व्यक्त ज्ञान न हो तब तक व्यंजनावग्रह है, व्यक्त ज्ञान होनेपर अर्थावग्रह

होता है । पुनश्च मन और नेत्र दूर ही से जानते हैं; ऐसा नहीं है कि शब्दादिक की तरह जानते हैं; इसलिये पदार्थ तो दूर ही स्थित हैं, जब इसने ग्रहण किये तब व्यक्त ही ग्रहण किये, इसलिये व्यंजनावग्रह इन दोनों के नहीं है, अर्थावग्रह ही है। कहा ही है (उक्तं च) –

पुट्ठ सुणेदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं ।
गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं वियाणादि ।।१।।

पुनश्च नैयायिकमतवाले ऐसा कहते हैं – मन और नेत्र भी प्राप्त होकर ही वस्तु को जानते हैं । उसका निराकरण जैन न्याय के शास्त्रों में अनेक प्रकार से किया है । पुनश्च व्यंजन जो अव्यक्त शब्दादिक उनमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र इन्द्रियों से केवल अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं होते । क्योंकि ईहादिक तो एकदेश या सर्वदेश व्यक्त होनेपर ही होता हैं । व्यंजन नाम अव्यक्त का है, इसलिये चार इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह के चार भेद हैं ।

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा ।
अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा ।।३०८।।

विषयाणां विषयिणां संयोगानंतरं भवेन्नियमात् ।
अवग्रहज्ञानं गृहीते विशेषाकांक्षा भवेदीहा ।।३०८।।

टीका – विषय जो शब्दादिक पदार्थ और विषयी जो कर्णादिक इन्द्रियां, उनका जो संयोग अर्थात् योग्य क्षेत्र में रहनेरूप संबंध, उसके होनेपर उसके अनंतर ही वस्तु का सत्तामात्र निर्विकल्प ग्रहण जो है, इतना प्रकाशरूप, वह नियम से दर्शन है । उसके अनंतर पश्चात् ही देखे हुये पदार्थ के वर्ण संस्थानादि (आकारादि) विशेष ग्रहणरूप अवग्रह नामक ज्ञान होता है ।

यहां प्रश्न – गाथा में तो पहले दर्शन नहीं कहा, तुम कैसे कहते हो ?

उसका समाधान – अन्य ग्रंथों में कहा है – **'अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्प–धीरवग्रहः'** – इन्द्रिय और विषय का संयोग होनेपर प्रथम सत्तावलोकन मात्र दर्शन होता है, पश्चात् पदार्थ का आकार अर्थात् विशेष जाननेरूप अवग्रह होता है – ऐसा आचार्य अकलंक ने कहा है । पुनश्च **'दंसणपुव्वं णाणं छद्मत्थाणं हवेदि णियमेण'**– छद्मस्थ

जीवों के नियम से दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है ऐसा नेमिचन्द्राचार्य ने द्रव्यसंग्रह नामक ग्रंथ में कहा है । पुनश्च तत्त्वार्थसूत्र की टीकावालों ने ऐसा ही कहा है । इसलिये यहां ज्ञानाधिकार में दर्शन का कथन नहीं किया है, तो भी अन्य ग्रंथों से ऐसा ही जानना ।

सो अवग्रह से तो इतना ग्रहण हुआ कि यह श्वेत वस्तु है परंतु श्वेत तो बगुलों की पंक्ति भी होती है, ध्वजारूप भी होती है; परंतु बगुलों की पंक्तिरूप विषय के अवलंबन से यह बगुलों की पंक्ति ही होगी या ध्वजारूप विषय के अवलंबन से यह ध्वजा होगी ऐसा विशेष वांछारूप जो ज्ञान, उसको ईहा कहते हैं । परंतु यह बगुलों की पंक्ति ही है या ध्वजा है ऐसे संशयरूप ज्ञान का नाम ईहा नहीं है । अथवा बगुलों की पंक्ति में यह ध्वजा होगी ऐसे विपर्यय ज्ञान का नाम ईहा नहीं है । क्योंकि यह सम्यग्ज्ञान का अधिकार है । सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और संशय, विपर्यय है, वह मिथ्याज्ञान है । इसलिये संशय, विपर्यय का नाम ईहा नहीं है । जो वस्तु है, उसका यथार्थरूप ऐसा ज्ञान करना कि यह अमुक ही वस्तु होगी, ऐसी होगीरूप जो प्रतीति उसका नाम ईहा है । अवग्रह से ईहा में विशेष ग्रहण हुआ; इसलिये इसमें और उसमें मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के तारतम्य से भेद जानना ।

ईहणकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु ।
कालांतरे वि णिण्णिद वत्थु समरणस्स कारणं तुरियं ।।३०९।।

ईहनकरणेण यदा सुनिर्णयो भवति स अवायस्तु ।
कालांतरेऽपि निर्णीतवस्तुस्मरणस्य कारणं तुर्यम् ।।३०९।।

टीका – ईहा करने के पश्चात् जिस वस्तु की ईहा हुयी थी, उसका अच्छी तरह से निर्णयरूप जो ज्ञान, उसको अवाय कहते हैं । जैसे, पंखों का हिलाना आदि चिह्न द्वारा यह निश्चय किया कि यह बगुलों की पंक्ति ही है, निश्चय से अन्य कुछ नहीं; ऐसे निर्णय का नाम अवाय है । तु शब्द से पहले जो ईहा में वांछित वस्तु थी, उसीका अच्छी तरह निर्णय, वह अवाय है । परंतु यदि वस्तु कुछ है और अन्य ही वस्तु का निश्चय कर लिया तो उसका नाम अवाय नहीं, वह मिथ्याज्ञान है ।

पुनश्च उसके पश्चात् बारम्बार निश्चयरूप अभ्यास से उत्पन्न जो संस्कार, उसस्वरूप होकर, कितना ही काल व्यतीत होनेपर भी स्मरण होने को कारणभूत जो ज्ञान, वह धारणा नामक चौथा ज्ञान का भेद है । इसीप्रकार सर्व इन्द्रियां और मन संबंधी अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा भेद जानने ।

बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च ।
तत्थेक्केक्के जादे छत्तीसं तिसयभेदं तु ।।३१०।।

बहु बहुविधं च क्षिप्रानिःसृदनुक्तं ध्रुवं च इतरच्च ।
तत्रैकैकस्मिन् जाते षट्त्रिंशत्त्रिंशतभेदं तु ।।३१०।।

टीका – अर्थरूप और व्यंजनरूप जो मतिज्ञान का विषय उसके बारह भेद हैं – बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव ये छह तथा इतर जो इन छहों के प्रतिपक्षी – एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त, अध्रुव ये छह; ऐसे बारह भेद जानने । सो व्यंजनावग्रह के चार इन्द्रियों द्वारा चार भेद हुये और अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा से पांच इन्द्रिय और छठवां मन द्वारा चौबीस भेद हुये । मिलानेपर अट्ठाइस भेद हुये । व्यंजनरूप बहुविषय के चार इन्द्रियों द्वारा अवग्रह होता है इसप्रकार चार भेद तो ये हुये । तथा अर्थरूप बहुविषय के पांच इन्द्रिय, छठवां मन से गुणित करके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा होते हैं, उससे चौबीस भेद हुये । इसतरह एक बहुविषय संबंधी अट्ठाइस भेद हुये । ऐसे ही बहुविध आदि भेदों में अट्ठाइस-अट्ठाइस भेद होते हैं । सबको मिलाकर बारह विषयों में मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस (३३६) भेद होते हैं । यदि एक विषय में मतिज्ञान के अट्ठाइस भेद होते हैं तो बारह विषयों में कितने होते हैं, ऐसा त्रैराशिक करने पर लब्धराशि मात्र तीन सौ छत्तीस मतिज्ञान के भेद होते हैं ।

बहुवत्तिजादिगहणे बहुबहुविहमियरमियरगहणम्हि ।
सगणामादो सिद्धा खिप्पादी सेदरा य तहा ।।३११।।

बहुव्यक्तिजातिग्रहणे बहुबहुविधमितरदितरग्रहणे ।
स्वकनामतः सिद्धाः क्षिप्रादयः सेतराश्च तथा ।।३११।।

टीका – जहां बहुत व्यक्ति के ग्रहणरूप मतिज्ञान हो उसके विषय को बहु कहते

हैं । जहां बहुजाति के ग्रहणरूप मतिज्ञान हो, उसके विषय को बहुविध कहते हैं । ऐसे ही इतर के ग्रहण में जहां एक व्यक्ति के ग्रहणरूप मतिज्ञान हो, उसके विषय को एक कहते हैं । जहां एकजाति के ग्रहणरूप मतिज्ञान हो, उसके विषय को एकविध कहते हैं ।

यहां उदाहरण दिखाते हैं – जैसे खांडी गाय, सांवली गाय, मूंडी गाय इत्यादि अनेक गायों की व्यक्ति को बहु कहते हैं । पुनश्च गाय, भैंस, घोडे इत्यादि अनेक जाति को बहुविध कहते हैं । पुनश्च एक खांडी गाय ऐसे गाय की एक व्यक्ति को एक कहते हैं । तथा खांडी, मूंडी, सांवली गाय है, ऐसी एक जाति को एकविध कहते हैं । एक जाति में अनेक व्यक्ति पायी जाती हैं । इसप्रकार बारह भेदों में चार तो कहे ।

पुनश्च अवशेष क्षिप्रादि चार और इनके प्रतिपक्षी चार, वे अपने नाम ही से प्रसिद्ध हैं । वही कहते हैं – क्षिप्र शीघ्र को कहते हैं । जैसे शीघ्र पड़ती जलधारा वा जलप्रवाह । अनिसृत गूढ़ को कहते हैं जैसे जल में निमग्न हाथी । अनुक्त बिना कहे को कहते हैं । जैसे बिना बताये ही कुछ अभिप्राय ही से जानने में आये। ध्रुव अचल को या बहुत कालस्थायी को कहते हैं, जैसे पर्वतादिक । अक्षिप्र ढीले–मंद को कहते हैं । जैसे मंद चलता हुआ घोटक आदि । निसृत प्रकट को कहते हैं, जैसे जल से निकला हुआ हाथी । उक्त बताये हुये को कहते हैं, जैसे किसी ने बताया यह घट है । अध्रुव चंचल या विनाशीक को कहते हैं । जैसे क्षणस्थायी बिजली आदि । ऐसे बारह प्रकार के मतिज्ञान के विषय हैं ।

भावार्थ – जिसको जानते हैं यह शीघ्र प्रवर्तता है, उसे क्षिप्र कहते हैं । जिसको जानते हैं यह गूढ़ है, उसे अनिसृत कहते हैं । जिसको बिना बताये जाने, उसे अनुक्त कहते हैं । जिसको जानते हैं कि यह ध्रुव है, उसे ध्रुव कहते हैं । इत्यादि मतिज्ञान के विषय हैं, इनको मतिज्ञान से जानते हैं ।

वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा ।
सयलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई ।।३१२।।

वस्तुनः प्रदेशात् वस्तुग्रहणं तु वस्तुदेशं वा ।
सकलं वा अवलंब्य अनिसृतमन्यवस्तुगतिः ।।३१२।।

टीका – किसी वस्तु का प्रदेश अर्थात् एकदेश अंश प्रकट है । इसलिये जो वह एकदेश अंश जिस वस्तु बिना न हो, ऐसी अप्रकट वस्तु का ग्रहण करना, वह अनिसृतज्ञान है । अथवा किसी वस्तु के एकदेश अंश का या सर्वांग वस्तु ही का अवलंबन करके, ग्रहण करके, अन्य किसी अप्रकट वस्तु का ग्रहण करना, वह भी अनिसृतज्ञान है । इनके उदाहरण आगे कहते हैं –

पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदणगवयगहणे वा ।
वत्थुंतरचंदस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे ।।३१३।।

पुष्करग्रहणे काले हस्तिनश्च वदनगवयग्रहणे वा ।
वस्त्वंतरचंद्रस्य च धेनोश्च बोधनं च भवेत् ।।३१३।।

टीका – पुष्कर अर्थात् जल से बाहर प्रकट दिखती ऐसी जल में डूबे हुये हाथी की सूंड, उसको जानने से ऐसी प्रतीति होती है कि इस जल में हाथी निमग्न है, क्योंकि हाथी के बिना सूंड नहीं होती है । जिसके बिना जो न हो उसको उसका साधन कहते हैं । जैसे अग्नि बिना धूम नहीं है इसलिये अग्नि साध्य है, धूम साधन है । सो साधन से साध्य को जानना, वह अनुमान प्रमाण है । यहां सूंड साधन, हाथी साध्य है । सूंड से हाथी का ज्ञान हुआ, इसलिये यहां अनुमान प्रमाण है।

पुनश्च किसी स्त्री का मुख देखा, सो मुख के ग्रहण समय में चन्द्रमा का स्मरण हुआ, पहले चन्द्रमा देखा था, स्त्री के मुख की और चन्द्रमा की सदृशता है, सो स्त्री का मुख देखते ही चन्द्रमा याद आया, वह चन्द्रमा उस काल में प्रकट नहीं था, उसका ज्ञान हुआ, यह स्मृति प्रमाण है। अथवा चन्द्रमा समान स्त्री का मुख है, सो स्त्री का मुख देखते ही चन्द्रमा का ज्ञान हुआ, इसलिये इसको प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी कहते हैं । इसीतरह वन में गवय नामक तिर्यंच को देखा, वहां ऐसा याद आया कि गाय के सदृश गवय होता है, इसलिये यह स्मृति प्रमाण है । अथवा गाय समान गवय होता है । गाय का ज्ञान गवय को देखते ही हुआ, इसलिये इसको प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं । वा अर्थात् ऐसे ये उदाहरण कहे वैसे अन्य भी जानने। जैसे रसोई में अग्नि होते हुये धुआं होता है और द्रह *(तालाब)* में अग्नि नहीं है, इसलिये धुआं भी नहीं है । इसलिये सर्व देश, सर्व काल में अग्नि और धुआं इनका अन्यथा अनुपपत्ति भाव है । अन्यथा अर्थात् अग्नि न हो तो अनुपपत्ति अर्थात् धुआं

भी नहीं होगा, सो ऐसा अन्यथा अनुपपत्ति का ज्ञान, वह तर्क नामक प्रमाण भी मतिज्ञान है ।

इसप्रकार अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ये चारों परोक्ष प्रमाण, अनिसृत है विषय जिसका, ऐसे मतिज्ञान के भेद जानना ।

पांचवां आगम नामक परोक्ष ज्ञान श्रुतज्ञान का भेद जानना । एकदेशपने भी विशदता, स्पष्टता इनके जानने में नहीं है । इसलिये इनको परोक्ष प्रमाण कहा । तथा इनके अलावा पांच इन्द्रियों द्वारा बहु, बहुविध आदि जानते हैं, वे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष जानने, क्योंकि इनके जानने में एकदेश विशदता, निर्मलता, स्पष्टता पायी जाती है । व्यवहार में भी ऐसा कहते हैं कि मैंने नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा ।

पुनश्च इस मतिज्ञान में पारमार्थिक प्रत्यक्षपना है नहीं, क्योंकि अपने विषय को तारतम्यरूप सम्पूर्ण स्पष्ट नहीं जानता । पहले आचार्यों ने प्रत्यक्ष का लक्षण विशद और स्पष्ट ही कहा है । ऐसे ये सर्व मतिज्ञान के भेद जानना। वे भेद प्रमाण हैं, क्योंकि ये सर्व सम्यग्ज्ञान हैं । तथा **'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं'** ऐसा सिद्धांत में कहा है।

एक्कचउक्कं चउवीसट्ठावीसं च तिप्पडिं किच्चा ।
इगिछव्वारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि ।।३१४।।

एकचतुष्कं चतुर्विंशत्यष्टाविंशतिश्च त्रिःप्रतिं कृत्वा ।
एकषट्द्वादशगुणिते मतिज्ञाने भवंति स्थानानि ।।३१४।।

टीका – मतिज्ञान सामान्य अपेक्षा तो एक है और अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा की अपेक्षा चार है । पुनश्च पांच इन्द्रिय छठवां मन द्वारा तथा अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा की अपेक्षा चौबीस है । पुनश्च व्यंजन और अर्थ की भेद से अट्ठाइस है । सो एक, चार, चौबीस, अट्ठाइस (१।४।२४।२८) । इन चारों को जुदे-जुदे तीन जगह मांडिये । वहां एक जगह तो सामान्यपने अपने-अपने विषय को जानता है, ऐसे विषय संबंधी एक से गुणा करते हैं तब तो एक, चार, चौबीस, अट्ठाइस ही भेद हुये । पुनश्च दूसरी जगह बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव इन छह प्रकार के विषय के भेद से गुणा करनेपर छह (६), चौबीस (२४), एक सौ चौवालीस (१४४), एक सौ अड़सठ (१६८) ऐसे मतिज्ञान के आधे विषय भेदों की

अपेक्षा भेद हुये । पुनश्च तीसरी जगह उनके प्रतिपक्षी सहित बारह विषयभेदों से गुणा करनेपर वहां बारह (१२), अड़तालीस (४८), दो सौ अट्ठासी (२८८), तीन सौ छत्तीस (३३६) सर्व विषय भेदों की अपेक्षा मतिज्ञान के भेद हुये । इसप्रकार विवक्षाभेद से मतिज्ञान के स्थान दिखाये ।

आगे श्रुतज्ञान की प्ररूपणा का आरंभ करते हुये प्रथम ही श्रुतज्ञान का सामान्य लक्षण कहते हैं –

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं ।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ।।३१५।।

अर्थादर्थांतरमुपलभमानं भणंति श्रुतज्ञानम् ।
आभिनिबोधिकपूर्वं नियमेनेह शब्दजं प्रमुखम् ।।३१५।।

टीका – मतिज्ञान से निश्चय किया जो पदार्थ, उसके अवलंबन से, उसी पदार्थ के संबंध सहित कोई अन्य पदार्थ, उसको जो जाने वह श्रुतज्ञान है । वह श्रुतज्ञानावरण, वीर्यांतराय के क्षयोपशम से उपजता है, ऐसा मुनीश्वर कहते हैं ।

कैसा है श्रुतज्ञान ? – आभिनिबोधिक अर्थात् मतिज्ञान है पहले जिसके; पहले मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से मतिज्ञान होता है, पश्चात् मतिज्ञान से जो पदार्थ जाना, इसके अवलंबन से अन्य किसी पदार्थ का जानना होता है, वही श्रुतज्ञान है । ऐसा नियम जानना । पहले मतिज्ञान हुये बिना श्रुतज्ञान सर्वथा नहीं होता । उस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं । एक अक्षरात्मक, एक अनक्षरात्मक । इनमें **शब्दजं** अर्थात् अक्षर, पद, छंदादिरूप शब्द से उत्पन्न हुआ जो अक्षरात्मकश्रुतज्ञान है वह प्रमुख अर्थात् मुख्य–प्रधान है । क्योंकि देना, लेना, शास्त्र पढ़ना इत्यादि सर्व व्यवहारों का मूल अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है । पुनश्च लिंग जो चिह्न उससे उत्पन्न हुआ ऐसा जो अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान वह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत सर्व जीवों के है । तथापि इससे कोई व्यवहार प्रवृत्ति नहीं है, इसलिये प्रधान नहीं है ।

पुनश्च **'श्रूयते इति श्रुतः शब्दः तदुत्पन्नमर्थज्ञानं श्रुतं'** सुनते हैं उसे शब्द कहते हैं । शब्द से हुआ जो अर्थज्ञान उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । इसमें भी अर्थ में अक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही प्रधान आया । अथवा श्रुत ऐसा रूढ़ि शब्द है, सो मतिज्ञानपूर्वक अन्य

पदार्थ को जाननेरूप ज्ञान का विशेष, उस अर्थ में प्रवर्तता है । जैसे कुशल शब्द का अर्थ तो यह है जो **कुश** अर्थात् डाभ उसको **लाति** अर्थात् दे, वह कुशल। परंतु रूढ़ि से प्रवीण पुरुष का नाम कुशल है । वैसे श्रुत शब्द का जानना ।

वहां **'जीवः अस्ति'** ऐसा शब्द कहा । वहां कर्णेन्द्रियरूप मतिज्ञान से **जीवः अस्ति** ऐसे शब्द को जाना । पुनश्च उस ज्ञान से 'जीव नामक पदार्थ है' ऐसा जो ज्ञान हुआ, वह श्रुतज्ञान है । शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक संबंध है । अर्थ वाच्य है, शब्द वाचक है । अर्थ है वह उस शब्द द्वारा कहने योग्य है । शब्द उस अर्थ का कहनेवाला है । सो यहां **'जीवः अस्ति'** ऐसे शब्द का जानना तो मतिज्ञान है और उसके निमित्त से जीव नामक पदार्थ का अस्तित्व जानना, वह श्रुतज्ञान है । ऐसे ही सर्व अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप जानना । अक्षरात्मक जो शब्द, उससे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान, उसको भी अक्षरात्मक कहा । यहां कार्य में कारण का उपचार किया है । परमार्थ से ज्ञान कुछ अक्षररूप है नहीं ।

पुनश्च शीतल पवन का स्पर्श हुआ, वहां शीतल पवन को जानना तो मतिज्ञान है । पुनश्च उस ज्ञान से वातप्रकृतिवाले को यह शीतल पवन अनिष्ट है, ऐसा जानना, वह श्रुतज्ञान है । सो यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है । अक्षर के निमित्त से हुआ नहीं है । ऐसे ही सर्व अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप जानना ।

आगे श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक अनक्षरात्मक भेदों को दिखाते हैं -

लोगाणमसंखमिदा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा ।
वेरूवछट्ठवग्गपमाणं रूऊणमक्खरगं ।।३१६।

लोकानामसंख्यमितानि अनक्षरात्मके भवंति षट्स्थानानि ।
द्विरूपषष्ठवर्गप्रमाणं रूपोनमक्षरगं ।।३१६।।

टीका - अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद पर्याय और पर्यायसमास, उसमें जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक असंख्यात लोकप्रमाण ज्ञान के भेद होते हैं । वे भेद असंख्यातलोक बार षट्स्थानपतित वृद्धि सहित हैं । पुनश्च अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है, वह द्विरूपवर्गधारा में जो एकट्ठी नामक छठवां स्थान कहा उसमें से एक कम करनेपर जो प्रमाण रहे, उतने अपुनरुक्त अक्षर हैं । उनकी अपेक्षा संख्यात भेदयुक्त है । विवक्षित अर्थ को

प्रकट करने के लिये बार बार जिन अक्षरों को कहते हैं ऐसे पुनरुक्त अक्षरों का प्रमाण अधिक होता है । उसका कथन आगे होगा ।

आगे श्रुतज्ञान के अन्य प्रकार से भेद कहने के निमित्त दो गाथा कहते हैं-

पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च ।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थुपुव्वं च ।।३१७।।

तेसिं च समासेहि य वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं ।
आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवंति त्ति ।।३१८।।

पर्यायाक्षरपदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च ।
द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ।।३१७।।

तेषां च समासैश्च विंशविधं वा हि भवति श्रुतज्ञानम् ।
आवरणस्यापि भेदाः तावन्मात्रा भवंति इति ।।३१८।।

टीका – १) पर्याय, २) अक्षर, ३) पद, ४) संघात, ५) प्रतिपत्तिक, ६) अनुयोग, ७) प्राभृत-प्राभृत, ८) प्राभृत, ९) वस्तु, १०) पूर्व । दस तो ये कहे ।

वे पर्याय आदि दस भेद कहे उनके समासों द्वारा दस भेद हुये, सब मिलकर श्रुतज्ञान के बीस भेद हुये । उन्हें कहते हैं – १) पर्याय, २) पर्यायसमास, ३) अक्षर, ४) अक्षरसमास, ५) पद, ६) पदसमास, ७) संघात, ८) संघातसमास, ९) प्रतिपत्तिक, १०) प्रतिपत्तिकसमास, ११) अनुयोग, १२) अनुयोगसमास, १३) प्राभृतक-प्राभृतक, १४) प्राभृतक -प्राभृतकसमास, १५) प्राभृत, १६) प्राभृतसमास, १७) वस्तु, १८) वस्तुसमास, १९) पूर्व, २०) पूर्वसमास; ऐसे बीस भेद हैं ।

यहां अक्षरादि गोचर जो अर्थ उसको जाननेरूप जो भावश्रुतज्ञान, उसकी मुख्यता जाननी । चूंकि श्रुतज्ञानावरण के भी उतने ही बीस भेद हैं, इसलिये श्रुतज्ञान के भी बीस भेद ही कहे हैं ।

आगे पर्याय नामक प्रथम श्रुतज्ञान का भेद, उसके निरूपण के लिये चार गाथा कहते हैं –

णवरि विसेसं जाणे सुहमजहण्णं तु पज्जयं णाणं ।
पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाणभेदम्हि ।।३१९।।

नवरि विशेषं जानीहि सूक्ष्मजघन्यं तु पर्यायं ज्ञानम् ।
पर्यायावरणं पुनः तदनंतरज्ञानभेदे ।।३१९।।

टीका – यहां नवीन विशेष जानना, जो पर्याय नामक श्रुतज्ञान का प्रथम भेद, वह सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त संबंधी सब से जघन्य श्रुतज्ञान जानना । पुनश्च पर्याय श्रुतज्ञान का आवरण, वह पर्यायज्ञान को आवरण नहीं करता । उसके अनंतर पर्यायज्ञान से अनंतभागवृद्धि सहित पर्यायसमास ज्ञान का जो प्रथम भेद है, उसमें पर्याय ज्ञान का आवरण है । क्योंकि उदय आया जो पर्यायज्ञानावरण के समयप्रबद्ध का उदयरूप निषेक उसके सर्वघाति स्पर्धकों का उदय नहीं, वह क्षय है और वे ही सर्वघाति स्पर्धक जो अनंतर निषेक संबंधी सत्ता में रहते हैं उनका उपशम है और देशघाति स्पर्धकों का उदय है; सो ऐसा पर्यायज्ञानावरण का क्षयोपशम हमेशा पाया जाता है, इसलिये पर्यायज्ञानावरण द्वारा पर्यायज्ञान आवरित नहीं है । पर्यायसमास का प्रथम भेद ही आवरण सहित है। यदि पर्यायज्ञान को भी आवरण हो जाय, तो ज्ञान का अभाव होगा, ज्ञानगुण का अभाव होनेपर गुणी ऐसे जीवद्रव्य का भी अभाव होगा, सो ऐसे होगा नहीं । इसलिये पर्यायज्ञान निरावरण ही है ।

अनुभागरचना में भी स्थापित किया हुआ सिद्धराशि के अनंतवें भागमात्र श्रुतज्ञानावरण का जो द्रव्य अर्थात् परमाणुओं का समूह, वह द्रव्य के अनुभाग की क्रम से हानि-वृद्धि से संयुक्त है तथा नानागुणहानि, स्पर्धक, वर्गणारूप भेदयुक्त है । उस द्रव्य में सब से थोड़ा उदयरूप अनुभाग जिसका क्षीण हुआ है ऐसा जो सर्वघाति स्पर्धक, उसीको पर्यायज्ञान का आवरण कहा है, उतने आवरण का सदाकाल *(कभी भी)* उदय नहीं होता, इसलिये भी पर्यायज्ञान निरावरण ही है ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ।।३२०।।

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।
भवति हि सर्वजघन्यं नित्योद्घाटं निरावरणम् ।।३२०।।

टीका – सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त जीव के जन्म होने के पहले समय में सब से जघन्य शक्तियुक्त पर्याय नामक श्रुतज्ञान होता है, वह निरावरण है । इतने ज्ञान का कभी भी आच्छादन नहीं होता । इसीलिये **नित्योद्घाटं** अर्थात् सदाकाल प्रकट प्रकाशमान है । सो यह गाथा पूर्वाचार्यों द्वारा प्रसिद्ध है । यहां अपने कहे हुये व्याख्यान की दृढ़ता के लिये उदाहरणरूप लिखी है ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण ।
चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे ।। ३२१ ।।

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकेषु स्वकसंभवेषु भ्रमित्वा ।
चरमापूर्णत्रिवक्राणां आदिमवक्रस्थिते एव भवेत् ।। ३२१ ।।

टीका – सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त जीव, वह अपने में संभवनेवाले जो छह हजार बारह बार क्षुद्रभव, *(कोई एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव लगातार उसी पर्याय में जन्म मरण करता रहे तो उसके एक अंतर्मुहूर्त में प्रत्येक के ६०१२ भव होते हैं । पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु, निगोद के प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर मिलाकर दस और प्रत्येक वनस्पति एक ऐसे इन ग्यारह अपर्याप्तकों के मिलकर एक अंतर्मुहूर्त में ६६१३२ भव होते हैं, एक-एक के ६०१२ होते हैं ।)* उनमें भ्रमण करके अंतिम लब्धिअपर्याप्तरूप क्षुद्रभव में तीन मोड़वाली विग्रहगति से जन्म धारण किया हो, उसके विग्रहगति में पहले मोड़ संबंधी समय में रहनेवाले जीव ही के सर्व से जघन्य पर्याय नामक श्रुतज्ञान होता है, तथा उसीके स्पर्शनइन्द्रिय संबंधी जघन्य मतिज्ञान होता है। पुनश्च उसीके अचक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न जघन्य अचक्षुदर्शन भी होता है। सो यहां बहुत क्षुद्रभवरूप पर्याय धारण करने से उत्पन्न हुये बहुत संक्लेश के बढ़ने से आवरण के अति तीव्र अनुभाग का उदय होता है । इसलिये क्षुद्रभवों के अंतिम क्षुद्रभव में पर्यायज्ञान कहा है । द्वितीयादि समय में ज्ञान बढ़ता है इसलिये तीन मोड़ संबंधी प्रथम मोड़ के समय में ही पर्यायज्ञान कहा है ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ।।३२२।।

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।
स्पर्शनेंद्रियमतिपूर्वं श्रुतज्ञानं लब्ध्यक्षरकं ।।३२२।।

टीका – सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त जीव के उपजने के पहले समय में सब से जघन्य स्पर्शनइन्द्रिय संबंधी मतिज्ञानपूर्वक, जिसका दूसरा नाम लब्धिअक्षर है ऐसा, पर्यायज्ञान होता है । लब्धि अर्थात् श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम वा जानन शक्ति, उससे **अक्षरं** अर्थात् अविनाशी, ऐसा पर्यायज्ञान ही है; क्योंकि इतना क्षयोपशम सदाकाल विद्यमान रहता है ।

आगे दस गाथाओं द्वारा पर्यायसमास ज्ञान को प्ररूपित करते हैं –

अवरुवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीए ।
संखमसंखमणंतं गुणवड्ढी होंति हु कमेण ।।३२३।।

अवरोपरि अनंतमसंख्यं संख्यं च भागवृद्धयः ।
संख्यमसंख्यमनंतं गुणवृद्धयो भवंति हि क्रमेण ।।३२३।।

टीका – सब से जघन्य पर्याय नामक ज्ञान के ऊपर आगे निम्नप्रकार षट्स्थानपतित वृद्धि होती है – १) अनंतभागवृद्धि, २) असंख्यातभागवृद्धि, ३) संख्यातभागवृद्धि, ४) संख्यातगुणवृद्धि, ५) असंख्यातगुणवृद्धि, ६) अनंतगुणवृद्धि ।

यहां कोई कहेगा कि सर्व जघन्य ज्ञान को अनंत का भाग कैसे संभव है?

उसका समाधान – द्विरूपवर्गधारा में अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर क्रम से जीवराशि, पुद्गलराशि, कालसमयराशि, श्रेणीआकाशराशि होती है । उसके ऊपर अनंतानंत वर्गस्थान जानेपर सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त संबंधी जघन्य ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण होता है । जिसका भाग न हो ऐसे ज्ञान शक्ति के अंश, उनका ऐसा प्रमाण है। इसलिये उनकी अपेक्षा अनंत का भागहार होता है ।

जीवाणां च य रासी असंखलोगा वरं खु संखेज्जं ।
भागगुणम्हि य कमसो अवट्ठिदा होंति छट्ठाणे ।।३२४।।

जीवानां च च राशिः असंख्यलोका वरं खलु संख्यातम् ।
भागगुणयोश्च क्रमशः अवस्थिता भवंति षट्स्थाने ।।३२४।।

टीका – यहां अनंतभाग आदि छह स्थानों में ये छह संदृष्टि अवस्थित अर्थात् नियमरूप जानना । अनंत में तो जीवराशि अर्थात् सर्व जीवों का प्रमाण जानना । असंख्यात में असंख्यातलोक अर्थात् असंख्यातगुणा लोकाकाश के प्रदेशों का प्रमाण जानना । संख्यात में उत्कृष्ट संख्यात, जो उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण जानना । ये ही तीन प्रमाण भागवृद्धि में जानना तथा ये ही गुणवृद्धि में जानना । भागवृद्धि में इन प्रमाणों का भाग पूर्वस्थान को देनेपर जो प्रमाण आये उसे पूर्वस्थान में मिलानेपर उत्तरस्थान होता है । गुणवृद्धि में इन प्रमाणों से पूर्वस्थान को गुणा करनेपर उत्तरस्थान होता है ।

उव्वंकं चउरंकं पणछस्सत्तंक अट्ठअंकं च ।
छव्वड्ढीणं सण्णा कमसो संदिट्ठिकरणट्ठं ।।३२५।।

उर्वंकश्चतुरंकः पंचषट्सप्तांकः अष्टांकश्च ।
षड्वृध्दीनां संज्ञा क्रमशः संदृष्टिकरणार्थम् ।।३२५।।

टीका – लघुसंदृष्टि करने के लिये अनंतभागवृद्धि आदि छह वृद्धियों की अन्य संज्ञा संदृष्टि कहते हैं – वहां अनंतभागवृद्धि की उर्वंक अर्थात् उकार **उ**, असंख्यात-भागवृद्धि की चार का अंक (४), संख्यातभागवृद्धि की पांच का अंक (५), संख्यातगुणवृद्धि की छह का अंक (६), असंख्यातगुणवृद्धि की सात का अंक (७), अनंतगुणवृद्धि की आठ का अंक (८) ऐसी सहनानी जानना ।

अंगुलअसंखभागे पुव्वगवड्ढीगदे दु परवड्ढी ।
एक्कं वारं होदि हु पुणो पुणो चरिम उड्ढि त्ती ।।३२६।।

अंगुलासंख्यातभागे पूर्वगवृद्धिगतेतु परवृद्धिः ।
एकं वारं भवति हि पुनः पुनः चरमवृद्धिरिति ।।३२६।।

टीका – पूर्ववृद्धि जो पहली पहली वृद्धि जब सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग बार होगी, तब एक-एक बार परवृद्धि अर्थात् पीछे पीछे की वृद्धि होगी, ऐसे बार बार अंतिम वृद्धि जो अनंतगुणवृद्धि, वहां पर्यंत होता है ऐसा जानना ।

अब इसका अर्थ यंत्रद्वार से दिखाते हैं । वहां यंत्र में अनंतभागादिक की उकार आदि संदृष्टि कही थी, वह लिखते हैं ।

पर्यायसमास ज्ञान में वृद्धि का यंत्र

	कोठा १	*कोठा २*	*कोठा ३*	*कोठा ४*	*कोठा ५*	*कोठा ६*	*कोठा ७*	*कोठा ८*	*कोठा ९*
पंक्ति १	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
पंक्ति २	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
पंक्ति ३	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ७
पंक्ति ४	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
पंक्ति ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
पंक्ति ६	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ७
पंक्ति ७	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
पंक्ति ८	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
पंक्ति ९	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ८

यहां सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार की जगह दो बार लिखते हैं। सो यहां पर्याय नामक श्रुतज्ञान का भेद, उससे अनंतभागवृद्धि युक्त पर्यायसमास नामक श्रुतज्ञान का प्रथम भेद होता है । पुनश्च इस प्रथम भेद से अनंतभागवृद्धियुक्त पर्यायसमास का दूसरा भेद होता है । इसप्रकार सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनंतभागवृद्धि होती है, तब एक बार असंख्यातभागवृद्धि होती है । यहां अनंतभागवृद्धि पहले कही थी इसलिये उसे पूर्व कहते हैं, और असंख्यातभागवृद्धि उसके पश्चात् कही थी, इसलिये इसको पर कहते हैं । सो यहां यंत्र में प्रथम पंक्ति के प्रथम कोठे में दो बार उकार लिखा, उसे तो सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनंतभागवृद्धि की सहनानी जानना । और उसके आगे चार का अंक लिखा है, उसे एक बार असंख्यातभागवृद्धि की सहनानी जानना *(उउ४)* । पुनश्च यहां से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार होने के बाद, दूसरी बार असंख्यातभागवृद्धि होती है । इसी अनुक्रम से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार असंख्यातभागवृद्धि होती है । इसलिये यंत्र में प्रथम पंक्ति के दूसरे कोठे में प्रथम कोठे के समान दो उकार, एक चार का अंक लिखना। *(उउ४।उउ४)* । दूसरी बार लिखने से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग बार जान लेना।

पुनश्च यहां से आगे सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनंतभागवृद्धि होती है, तब एक बार संख्यातभागवृद्धि होती है । इसलिये प्रथम पंक्ति के तीसरे कोठे में दो उकार और एक पांच का अंक लिखा *(उउ५)* । अब यहां से जैसे पहले अनंतभागवृद्धि युक्त सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार असंख्यातभागवृद्धि होने के पश्चात् सूच्यंगुल

के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनंतभागवृद्धि होगी, तब एक बार संख्यातभागवृद्धि हुयी *(उउ४ ।उउ४ ।उउ५)*, वैसे ही इसी अनुक्रम से दूसरी बार संख्यातभागवृद्धि हुयी । पुनश्च इसी अनुक्रम से तीसरी हुयी । इसप्रकार संख्यातभागवृद्धि भी सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार होती है । इसलिये यहां यंत्र में प्रथम पंक्ति में जैसे तीन कोठे किये थे, वैसे अंगुल के असंख्यातवें भाग की सहनानी के लिये दूसरे तीन कोठे उसी पंक्ति में किये हैं । *(उउ४ ।उउ४ ।उउ५ ।उउ४ ।उउ४ ।उउ५)*। यहां असंख्यातभागवृद्धि को पूर्व कहते हैं, संख्यातभागवृद्धि को पर कहते हैं ।

पुनश्च यहां से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनंतभागवृद्धि होकर एक बार असंख्यातभागवृद्धि होगी, ऐसे सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार असंख्यातभागवृद्धि होगी, सो इनकी सहनानी के लिये यंत्र में दो उकार और चार के अंक से युक्त दो कोठे किये *(सातवां, आठवां कोठा)* । पुनश्च उसके आगे सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनंतभागवृद्धि होकर एक बार संख्यातगुणवृद्धि होती है; सो इसकी सहनानी के लिये प्रथम पंक्ति के नौवें कोठे में दो उकार और छह का अंक लिखा है । (प्रथम पंक्ति – *उउ४ ।उउ४ ।उउ५ ।उउ४ ।उउ४ ।उउ५ ।उउ४ ।उउ४ ।उउ६) ।*

पुनश्च जैसे प्रथम पंक्ति में अनुक्रम कहा वैसे ही आदि से लेकर सर्व अनुक्रम दूसरी बार हुआ, तब दूसरी बार संख्यातगुणवृद्धि हुयी । इसी अनुक्रम से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार संख्यातगुणवृद्धि होती है । सो सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार वैसे होने की सहनानी के लिये यंत्र में जैसी प्रथम पंक्ति थी, वैसी ही उसके नीचे दूसरी पंक्ति लिखी ।

पुनश्च यहां से जैसे प्रथम पंक्ति में अनुक्रम कहा था वैसे अनुक्रम से वृद्धि हुयी । विशेष इतना है कि जो वहां पीछे ही पीछे एक बार संख्यातगुणवृद्धि हुयी थी, यहां पीछे ही पीछे एक बार असंख्यातगुणवृद्धि हुयी । इसीलिये यंत्र में तीसरी पंक्ति प्रथम पंक्ति समान लिखी परंतु वहां तो नौवें कोठे में दो उकार और छह का अंक लिखा था, यहां तीसरी पंक्ति के नौवें कोठे में दो उकार और सात का अंक लिखा । यहां अन्य सर्व को पूर्व कहते हैं और असंख्यातगुणवृद्धि को पर कहते हैं । पुनश्च यहां से आगे जैसे तीनों ही पंक्तियों में आदि से लेकर जिस अनुक्रम से वृद्धि हुयी थी, उसी अनुक्रम से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार होता है, तब असंख्यातगुणवृद्धि भी सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार होकर रहती

है, सो यहां यंत्र में सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार वैसे ही होने की सहनानी के लिये जैसे पहले तीन पंक्ति की थी, वैसे ही तीन पंक्ति दूसरी बार लिखी, ऐसे छह पंक्ति हुयी ।

अब यहां से आगे जैसे आदि से लेकर अनुक्रम से तीनों पंक्तियों में वृद्धि कही थी, वैसे ही उसी अनुक्रम से फिर से सर्व वृद्धि हुयी । विशेष इतना कि वहां तीसरी पंक्ति के अंत में असंख्यातगुणवृद्धि कही थी, परंतु यहां तीसरी पंक्ति के अंत में एक बार अनंतगुणवृद्धि होती है । इसलिये यंत्र में भी पहली, दूसरी, तीसरी पंक्ति समान तीन पंक्ति *(सातवीं, आठवीं, नौवीं)* और लिखी । वहां तीसरी पंक्ति के नौवें कोठे में दो उकार, सात का अंक लिखा था, यहां तीसरी पंक्ति *(यंत्र में नौवीं पंक्ति)* के नौवें कोठे में दो उकार और आठ का अंक लिखा, सो यहां अनंतगुणवृद्धि को पर कहते हैं, अन्य सर्व को पूर्व कहते हैं । इसके आगे कोई वृद्धि रही नहीं; इसलिये इसकी पूर्व संज्ञा नहीं होगी । इसीकारण यह अनंतगुणवृद्धि एक बार ही होती है । सो इस अनंतगुणवृद्धि के होते हुये जो प्रमाण हुआ, वही नवीन षट्स्थानपतित वृद्धि का प्रथम स्थान जानना । इसप्रकार पर्यायसमास ज्ञान में असंख्यातलोकमात्र बार षट्स्थानपतित वृद्धि होती है ।

अब इसका कथन प्रकट करके दिखाते हैं - द्विरूपवर्गधारा में जीवराशि से अनंतानंतगुणा जघन्य पर्याय नामक ज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को प्रकाशनेरूप शक्ति के अविभागप्रतिच्छेद कहे हैं, इस प्रमाण को जीवराशि प्रमाण अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उसको उस जघन्य ज्ञान में मिलानेपर पर्यायसमास ज्ञान का प्रथम भेद होता है । यहां एक बार अनंतभागवृद्धि हुयी । पुनश्च इस पर्यायसमास ज्ञान के प्रथम भेद को जीवराशि प्रमाण अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना उस पर्यायसमास ज्ञान के प्रथम भेद में मिलानेपर पर्यायसमास ज्ञान का दूसरा भेद होता है । यहां दूसरी बार अनंतभागवृद्धि हुयी । पुनश्च उस दूसरे भेद को अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना उस दूसरे भेद में मिलानेपर पर्यायसमास ज्ञान का तीसरा भेद होता है । यहां तीसरी बार अनंतभागवृद्धि हुयी । पुनश्च उस तीसरे भेद को अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आया, उतना उस तीसरे भेद में मिलानेपर पर्यायसमास ज्ञान का चौथा भेद होता है । यहां चौथी बार अनंतभागवृद्धि हुयी । इसी अनुक्रम से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनंतभागवृद्धि होनेपर, पर्यायसमास ज्ञान

का जो भेद हुआ उसको एक बार असंख्यातलोकप्रमाण जो असंख्यात, उसका भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उतना उसी भेद में मिलानेपर एक बार असंख्यातभागवृद्धि युक्त पर्यायसमास ज्ञान का भेद होता है । पुनश्च इसको अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आये उतना उसी में मिलानेपर पर्यायसमास ज्ञान का भेद हुआ । यहां से पुनश्च अनंतभागवृद्धि का प्रारंभ हुआ, सो ऐसे ही सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अनंतभागवृद्धि होनेपर जो पर्यायसमास ज्ञान का भेद हुआ उसको फिर से असंख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण आया, उसको उसी भेद में मिलानेपर दूसरी बार असंख्यातभागवृद्धि युक्त पर्यायसमासज्ञान का भेद होता है ।

ऐसे अनुक्रम से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार असंख्यातभागवृद्धि भी पूर्ण होती है, वहां जो पर्यायसमास ज्ञान का भेद हुआ उसको पुनश्च अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आया, उसको उसी में मिलानेपर पर्यायसमास ज्ञान का भेद होता है, तब यहां अनंतभागवृद्धि का प्रारंभ हुआ, सो सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अनंतभागवृद्धि पूर्ण होती है, तब जो पर्यायसमास ज्ञान का भेद हुआ उसको उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उसको उसी में मिलानेपर पहला संख्यातभागवृद्धियुक्त पर्यायसमास का भेद होता है । इसके आगे फिर से अनंतभागवृद्धि का प्रारंभ हुआ। सो ऐसे ही पहले यंत्रद्वार द्वारा जो अनुक्रम कहा था, उस अनुक्रम के अनुसार वृद्धि जान लेनी ।

इतना जान लेना कि जिस भेद से आगे अनंतभागवृद्धि होती है, वहां उसी भेद को जीवराशिप्रमाण अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है उतना उसी भेद में मिलानेपर उससे अनंतरवर्ती भेद होता है । पुनश्च जिस भेद से आगे असंख्यातभागवृद्धि होती है, वहां उसी भेद को असंख्यातलोकप्रमाण असंख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उसको उसी भेद में मिलानेपर, उस भेद से अनंतरवर्ती भेद होता है । पुनश्च जिस भेद से आगे संख्यातभागवृद्धि होती है, वहां उसी भेद को उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण संख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना उसी भेद में मिलानेपर, उस भेद से आगे का भेद होता है । पुनश्च जिस भेद से आगे संख्यातगुणवृद्धि होती है वहां उस भेद को उत्कृष्ट संख्यात से गुणा करते हैं तब उस भेद से अनंतरवर्ती भेद होता है । पुनश्च जिस भेद से आगे असंख्यातगुणवृद्धि होती है, वहां उसी भेद को असंख्यातलोक से गुणा करते हैं, तब उस भेद से आगे का भेद होता है ।

पुनश्च जिस भेद से आगे अनंतगुणवृद्धि होती है, वहां उसी भेद को जीवराशि प्रमाण अनंत से गुणा करते हैं तब उस भेद से आगे का भेद होता है । इसप्रकार षट्स्थानपतित वृद्धि का अनुक्रम जानना ।

यहां जो संख्या कही हैं, वे सब संख्या ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों की जाननी। और जो यहां भेद कहे हैं उनका भावार्थ यह है - यदि किसी जीव के तो पर्यायज्ञान ही है उससे बढ़ता ज्ञान हो तो पर्यायसमास का प्रथम भेद ही होता है, ऐसा नहीं है कि पर्यायज्ञान से एक, दो आदि अविभागप्रतिच्छेद अधिक भी किसी जीव के ज्ञान हो । तथा उस पर्यायसमास के प्रथम भेद से बढ़ता ज्ञान हो तो पर्यायसमास ज्ञान का दूसरा भेद ही होगा । ऐसा अन्यत्र भी जानना ।

अब यहां अनंतभागवृद्धिरूप सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान कहे, उनका जघन्य स्थान से लेकर उत्कृष्ट स्थान तक स्थापन का विधान कहते हैं ।

वहां प्रथम संज्ञा कहते हैं - विवक्षित मूलस्थान को विवक्षित भागहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसको प्रक्षेपक कहते हैं । उस प्रमाण को उसी भागहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसको प्रक्षेपकप्रक्षेपक कहते हैं । उसको भी विवक्षित भागहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसको पिशुलि कहते हैं । उसको भी विवक्षित भागहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसको पिशुलिपिशुलि कहते हैं । उसको भी विवक्षित भागहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसको चूर्णि कहते हैं । उसको भी विवक्षित भागहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसको चूर्णिचूर्णि कहते हैं। ऐसे ही पूर्व प्रमाण को विवक्षित भागहार का भाग देनेपर द्वितीयादि चूर्णिचूर्णि कहते हैं।

अब यहां दृष्टांतरूप अंकसंदृष्टि द्वारा प्रथम कथन दिखाते हैं - विवक्षित जघन्य पर्यायज्ञान का प्रमाण पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस (६५५३६) । विवक्षित भागहार अनंत का प्रमाण चार (४) । वहां पूर्वोक्त क्रम से भागहार का भाग देनेपर प्रक्षेपक का प्रमाण सोलह हजार तीन सौ चौरासी (१६३८४) । प्रक्षेपकप्रक्षेपक का प्रमाण चार हजार छानबे (४०९६) । पिशुलि का प्रमाण एक हजार चौबीस (१०२४) । पिशुलिपिशुलि का प्रमाण दो सौ छप्पन (२५६) । चूर्णि का प्रमाण चौंसठ (६४)। चूर्णिचूर्णि का प्रमाण सोलह (१६)। इस प्रकार द्वितीयादि चूर्णिचूर्णि का प्रमाण चार (४) आदि जानना ।

अब यहां ऊपर जघन्य (६५५३६) स्थापित कर नीचे एक बार प्रक्षेपक (१६३८४) स्थापित कर जोड़नेपर पर्यायसमास के प्रथम भेद का इक्यासी हजार नौ सौ बीस (८१९२०) प्रमाण होता है ।

ऊपर जघन्य स्थापित (६५५३६) करके, नीचे दो प्रक्षेपक (१६३८४।१६३८४), एक प्रक्षेपकप्रक्षेपक स्थापित करके जोड़नेपर पर्यायसमास के द्वितीय भेद का एक लाख दो हजार चार सौ (१०२४००) प्रमाण होता है ।

पुनश्च उमर जघन्य (६५५३६) स्थापित करके नीचे तीन प्रक्षेपक (१६३८४।१६३८४।१६३८४), तीन प्रक्षेपकप्रक्षेपक, एक पिशुलि स्थापित करके जोड़नेपर तीसरे भेद का एक लाख अट्ठाइस हजार (१२८०००) प्रमाण होता है ।

पुनश्च ऊपर जघन्य स्थापित करके नीचे नीचे चार प्रक्षेपक, छह प्रक्षेपकप्रक्षेपक, चार पिशुलि, एक पिशुलिपिशुलि स्थापित करके जोड़नेपर चौथे भेद का एक लाख साठ हजार (१६००००) प्रमाण होता है ।

पुनश्च ऊपर जघन्य स्थापित करके नीचे नीचे पांच प्रक्षेपक, दस प्रक्षेपकप्रक्षेपक, दस पिशुलि, पांच पिशुलिपिशुलि, एक चूर्णि स्थापित करके जोड़नेपर पांचवें भेद का दो लाख (२०००००) प्रमाण होता है ।

पुनश्च ऊपर जघन्य स्थापित करके नीचे नीचे छह प्रक्षेपक, पंद्रह प्रक्षेपकप्रक्षेपक, बीस पिशुलि, पंद्रह पिशुलिपिशुलि, छह चूर्णि, एक चूर्णिचूर्णि स्थापित करके जोड़नेपर छठवें स्थान का दो लाख पचास हजार (२५००००) प्रमाण होता है ।

इसी क्रम से सर्व स्थानों में ऊपर तो जघन्य स्थापित करना । उसके नीचे नीचे जितना गच्छ का प्रमाण है उतने प्रक्षेपक स्थापित करना । यहां जितनेवां स्थान हो, उस स्थान में उतना गच्छ जानना । जैसे, छठवें स्थान में गच्छ का प्रमाण छह है । पुनश्च उसके नीचे एक कम गच्छ का एक बार संकलनधन का जितना प्रमाण, उतने प्रक्षेपकप्रक्षेपक स्थापित करने । पुनश्च उसके नीचे दो कम गच्छ का दो बार संकलनधन का जितना प्रमाण, उतने पिशुलि स्थापित करने । पुनश्च उनके नीचे तीन कम गच्छ का तीन बार संकलनधन का जितना प्रमाण, उतने पिशुलिपिशुलि स्थापित करने । पुनश्च उनके नीचे चार कम गच्छ का चार बार संकलनधन का जितना प्रमाण, उतने चूर्णि स्थापित करने । पुनश्च उनके नीचे पांच कम गच्छ का पांच बार

संकलनधन का जितना प्रमाण, उतने चूर्णिचूर्णि स्थापित करने । इसीप्रकार नीचे नीचे छह आदि कम गच्छ का छह आदि बार संकलनधन का जितना जितना प्रमाण, उतने उतने द्वितीयादि चूर्णिचूर्णि स्थापित करने । ऐसे स्थापित करके जोड़नेपर पर्यायसमास ज्ञान के भेद में प्रमाण आता है ।

अब यहां एक बार, दो बार आदि संकलनधन कहे, उनका स्वरूप यहां ही आगे वर्णन करेंगे । ऐसे अंकसंदृष्टि से वर्णन किया । अब यथार्थ वर्णन करते हैं-

पर्यायसमासज्ञान के प्रथम भेद में से पर्यायज्ञान से जितने अधिक हो उतने कम करनेपर पर्यायज्ञान के जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं, उसप्रमाण मूल विवक्षित जानना । यह जघन्य ज्ञान है । इसलिये इस प्रमाण का नाम जघन्य रखा । पुनश्च इस जघन्य को जीवराशिमात्र अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसका नाम प्रक्षेपक जानना। इस प्रक्षेपक को जीवराशिमात्र अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसका नाम प्रक्षेपकप्रक्षेपक जानना । ऐसे ही क्रम से जीवराशिमात्र अनंत का भाग देनेपर जो जो प्रमाण आये, वे वे क्रम से पिशुलि, पिशुलिपिशुलि, चूर्णि, चूर्णिचूर्णि, द्वितीय चूर्णिचूर्णि आदि जानने ।

सो पर्यायसमासज्ञान के प्रथम भेद में ऊपर जघन्य स्थापित करके नीचे उसकी वृद्धि का एक प्रक्षेपक स्थापना । पुनश्च दूसरे भेद में ऊपर जघन्य स्थापितकर, नीचे नीचे उसकी वृद्धि के दो प्रक्षेपक, एक प्रक्षेपकप्रक्षेपक स्थापने । पुनश्च तीसरे भेद में ऊपर जघन्य स्थापित करके, नीचे नीचे उसकी वृद्धि के तीन प्रक्षेपक, तीन प्रक्षेपक प्रक्षेपक, एक पिशुलि स्थापने । पुनश्च चौथे भेद में जघन्य ऊपर स्थापित करके, उसके नीचे नीचे उसके वृद्धि के चार प्रक्षेपक, छह प्रक्षेपकप्रक्षेपक, चार पिशुलि, एक पिशुलिपिशुलि स्थापने । पुनश्च पांचवें भेद में ऊपर जघन्य स्थापित करके, उसके नीचे नीचे पांच प्रक्षेपक, दस प्रक्षेपकप्रक्षेपक, दस पिशुलि, पांच पिशुलिपिशुलि, एक चूर्णि स्थापने । पुनश्च छठवें भेद में ऊपर जघन्य स्थापित करके, उसके नीचे नीचे उसकी वृद्धि के छह प्रक्षेपक, पंद्रह प्रक्षेपकप्रक्षेपक, बीस पिशुलि, पंद्रह पिशुलिपिशुलि, छह चूर्णि, एक चूर्णिचूर्णि स्थापने ।

इसी तरह सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र जो अनंतभागवृद्धि युक्त पर्यायसमासज्ञान के स्थान, उनमें अपने-अपने जघन्य के नीचे नीचे प्रक्षेपक गच्छमात्र स्थापने । प्रक्षेपक प्रक्षेपक एक कम गच्छ का एक बार संकलनधन मात्र स्थापने । पिशुलि दो कम

गच्छ का दो बार संकलनधनमात्र स्थापने । पिशुलिपिशुलि तीन कम गच्छ का तीन बार संकलनधनमात्र स्थापने । चूर्णि चार कम गच्छ का चार बार संकलनधनमात्र स्थापने। चूर्णिचूर्णि पांच कम गच्छ का पांच बार संकलनधनमात्र स्थापने । इसी क्रम से एक एक कम गच्छ का एक एक अधिक बार संकलनधनमात्र चूर्णिचूर्णि ही अंत तक जानना ।

वहां अनंतभागवृद्धि युक्त स्थानों में अंत का जो स्थान, उनमें जघन्य तो ऊपर स्थापना । उसके नीचे नीचे सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रक्षेपक स्थापने। एक कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का एक बार संकलनधनमात्र प्रक्षेपकप्रक्षेपक स्थापने । दो कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का दो बार संकलनधनमात्र पिशुलि स्थापने । तीन कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का तीन बार संकलनधनमात्र पिशुलिपिशुलि स्थापने । चार कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का चार बार संकलनधनमात्र चूर्णि स्थापने । पांच कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का पांच बार संकलनधनमात्र चूर्णिचूर्णि स्थापने । इसीप्रकार नीच-नीचे द्वितीयादि चूर्णिचूर्णि छह आदि कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का छह आदि बार संकलनधनमात्र स्थापने । वहां द्विचरम चूर्णिचूर्णि दो का दो कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग बार संकलनधनमात्र स्थापने । पुनश्च अंतिम चूर्णिचूर्णि एक का एक कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग बार संकलनधनमात्र स्थापने। परमार्थ से अंतिम चूर्णिचूर्णि का संकलनधन नहीं है क्योंकि द्वितीयादि स्थानों का अभाव है । एक ही बार अंतिम चूर्णिचूर्णि का स्थापन करना । इसप्रकार वृद्धि का अनुक्रम जानना ।

यहां षट्स्थान प्रकरण में अनंतभागवृद्धि युक्त स्थानों के कहे हुये जो भेद, उनमें सर्वत्र प्रक्षेपक तो गच्छमात्र हैं, जितनेवां भेद हो, उतने वहां प्रक्षेपक स्थापने, इसलिये सुगम है । पुनश्च प्रक्षेपकप्रक्षेपक आदिकों का प्रमाण एक बार, दो बार आदि का संकलनधन का विधान जाने बिना जाना नहीं जा सकता इसलिये उस संकलनधन का विधान कहते हैं -

जितने का संकलनधन कहा हो, उतनी जगह ऐसे अंक स्थापन करके जोड़ना। जैसे छठवें स्थान में दो कम गच्छ का संकलनधन कहा वहां चार जगह इसप्रकार अंक स्थापन करके जोड़ना । किसप्रकार अंक स्थापन करके जोड़ना ? उसे कहते हैं - जितने का करना हो उतनी जगह एक आदि एक एक बढ़ता अंक लिखकर जोड़ने से

एक बार संकलनधन होता है । पुनश्च एक बार संकलनधन विधान में जो पहले अंक लिखा था, वही यहां दो बार संकलन में पहले लिखना । और वहां एक बार संकलन में जो दूसरे स्थान में अंक था उसको इसके पहले स्थान में जोड़नेपर जो प्रमाण होगा, उसे यहां दूसरे स्थान में लिखिये । और वहां तीसरे स्थान में जो अंक था उसको इसके दूसरे स्थान में जोड़नेपर जो हो उसे यहां तीसरे स्थान में लिखिये । ऐसे क्रम से लिखकर जोड़नेपर दो बार संकलनधन होता है ।

पुनश्च दो बार संकलनधन में जो पहले अंक लिखा था वही यहां *(तीन बार संकलनधन के लिये)* प्रथम स्थान में लिखिये । इस प्रथम स्थान में दो बार संकलन के दूसरे स्थान का अंक जोड़नेपर यहां का दूसरा स्थान होता है । इसमें उसके तीसरे स्थान का अंक जोड़नेपर इसका तीसरा स्थान होता है । इस क्रम से जितने का करना हो, उतनी जगह लिखकर जोड़नेपर तीन बार संकलनधन होता है । इसी प्रकार चार बार आदि संकलनधन का विधान जानना ।

यहां उदाहरण कहते हैं - जैसे पर्यायसमास के छठवें भेद में पांच का एक बार संकलनधन करना है । वहां पांच जगह क्रम से एक, दो, तीन, चार, पांच के अंक लिखकर जोड़ने से पंद्रह होते हैं । सो इतने प्रक्षेपकप्रक्षेपक जानना । पुनश्च चार का दो बार संकलनधन करना है । वहां चार जगह क्रम से एक, तीन, छह, दस लिखकर जोड़नेपर बीस होते हैं, सो इतने पिशुलि जानने । पुनश्च तीन का तीन बार संकलनधन करना वहां तीन जगह क्रम से एक, चार, दस लिखकर जोड़नेपर पंद्रह होते हैं, सो इतने पिशुलिपिशुलि जानने । पुनश्च दो का चार बार संकलनधन करना । वहां दो जगह एक, पांच लिखकर जोड़नेपर छह होते हैं, सो इतने चूर्णि जानना । पुनश्च एक का पांच बार संकलनधन करना । वहां एक जगह एक ही है, सो चूर्णिचूर्णि एक ही जानना । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

*(**विशेषार्थ** - संकलनधन करने का विधान -*

१+२+३+४ = १० - चार का एक बार संकलनधन ।

१+३+६+१० = २० - चार का दो बार संकलनधन ।

१+४+१०+२० = ३५ - चार का तीन बार संकलनधन ।

१+५+१५+३५ = ५६ - चार का चार बार संकलनधन ।

१+६+२१+५६ = ८४ - चार का पांच बार संकलनधन ।)

अब इसतरह ये अंक लिखकर जोड़ने से एक बार आदि संकलनधन में जो प्रमाण होता है उसे लाने के लिये करणसूत्र कहते हैं -

व्येकपदोत्तरघातः सरूपवारोद्धृतो मुखेन युतः ।
रूपाधिकवारांताप्तपदाद्यंकैर्हतो वित्तं ।। १ ।।

जितने का संकलनधन करना हो उसप्रमाण यहां गच्छ जानना । उसमें से एक घटाकर अवशेष को, उत्तर अर्थात् क्रम से जितनी जितनी बार बढ़ता संकलन कहा हो उससे गुणा करके जो प्रमाण हो, उसको जितनी बार संकलनधन कहा उसमें एक मिलाकर जो प्रमाण हो उसका भाग देनेपर जो लब्ध होगा, उसमें मुख जो पहले स्थान का प्रमाण उसे जोड़ना । जो प्रमाण होगा उसको जितनी बार संकलन कहा हो उतनी जगह गच्छ से लेकर एक एक बढ़ता अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आये वह तो भाज्य और एक से लेकर एक एक बढ़ता अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण हो वह भागहार । वहां भाज्य को भागहार का भाग देनेपर जो लब्धराशि होगी उससे गुणा करना । ऐसा करनेपर समस्त विवक्षित बार संकलनधन आता है ।

यहां उदाहरण कहते हैं - जैसे पर्यायसमास के छठवें भेद में चार कम गच्छ अर्थात् दो का चार बार संकलनधनमात्र चूर्णि कही । यहां गच्छ दो उसमें एक घटानेपर आया एक । इसको एक बार आदि संकलनधन रचना अपेक्षा दो बार आदि संकलन की रचना उपजती है । चूंकि एक एक बार बढ़ता संकलन हुआ, इसलिये उत्तर का प्रमाण एक, उससे गुणा करनेपर भी एक ही हुआ । इसको यहां चार बार संकलन कहा सो चार में एक मिलानेपर पांच हुये उसका भाग देनेपर एक का पांचवां भाग हुआ । इसमें मुख जो आदि का प्रमाण एक उसको समच्छेद करके मिलानेपर छह का पांचवां भाग हुआ । पुनश्च यहां चार बार कहा है । इसलिये उसमें एक आदि बढ़ते हुये चार तक अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर १×२×३×४=२४ चौबीस हौते हैं, यह तो भागहार और गच्छ दो के प्रमाण से लेकर एक एक बढ़ता अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर २×३×४×५=१२० एक सौ बीस भाज्य हुआ । भाज्य को भागहार

का भाग देनेपर लब्धराशि पांच, उससे पूर्वोक्त छह के पांचवें भाग को गुणा करनेपर छह आये । वही दो का चार बार संकलनधन जानना ।

(विशेषार्थ *- गच्छ = जिसका संकलनधन करना है; बार = जितनी बार संकलनधन करना है ।*

यहां $\frac{(\text{गच्छ}-१)\times १}{\text{बार}+१}$ *+१ मान लेते हैं ४ (गच्छ) का तीन बार संकलनधन करना है । ४-१ = ३, ३ ×१ = ३, ३÷(३ बार+१) =* $\frac{३}{४}$ *;* $\frac{३}{४}$*+१ =* $\frac{७}{४}$

भाज्य = गच्छ के अंक से लेकर जितनी बार संकलनधन करना हो उतने अंक लिखकर गुणा करना । ४×५×६=१२० ।

भागहार = एक से लेकर जितनी बार संकलनधन करना हो उतने अंक लिखकर गुणा करना । १×२×३ = ६

भाज्य ÷ भागहार, १२०÷६ = २०

इस राशि को पहले निकाली राशि $\frac{७}{४}$ *से गुणा करना २०* × $\frac{७}{४}$ *= ३५ ।*

चार का तीन बार संकलनधन ३५ आता है । जो हमने पहले देखा था।)

इसीप्रकार से तीन का तीन बार संकलनधन निकालना हो उसमें गच्छ तीन, एक कम करनेपर रहे दो, उत्तर एक से गुणा करनेपर भी हुये दो, यहां तीन बार संकलन है इसलिये एक अधिक बार का प्रमाण होगा चार । दो को चार का भाग देनेपर हुये आधा ($\frac{१}{२}$), इसमें मुख एक जोड़नेपर डेढ़ हुये । पुनश्च एक से लेकर बार प्रमाण (३) पर्यंत एक एक अधिक अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर १×२×३=६ छह भागहार हुआ और गच्छ आदि में रखकर एक-एक अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर ३×४×५=६० साठ हुये । भाज्य को भागहार का भाग देनेपर दस (१०) आये, इससे पूर्वोक्त डेढ़ को गुणा करनेपर पंद्रह आये, सो छठवें भेद में तीन कम गच्छ का तीन बार संकलनधनमात्र पिशुलिपिशुलि पंद्रह होते हैं । ऐसे सर्वत्र विवक्षित संकलनधन लाना ।

पुनश्च संस्कृत टीकाकार केशववर्णी अपने अभिप्राय से उन प्रक्षेपकप्रक्षेपकादि का प्रमाण लाने के लिये दो गाथारूप करणसूत्र कहते हैं -

तिरियपदे रूऊणे तदिट्ठहेट्ठिल्लसंकलणवारा ।
कोट्ठधणस्साणयणे पभवं इट्ठूणउड्ढपदसंखा ।।१।।

अनंतभागवृद्धि युक्त स्थानों में जितनेवां स्थान विवक्षित हो, उस प्रमाण तिर्यक् गच्छ कहते हैं । उसमें से एक घटानेपर, उसके नीचे संकलन बार का प्रमाण होता है ।

यहां उदाहरण - जैसे छठवें स्थान में गच्छ का प्रमाण छह में एक घटानेपर उसके नीचे पांच संकलन बार होता है *(प्रक्षेपक तो गच्छ प्रमाण होंगे)* प्रक्षेपक संबंधी कोठे के नीचे नीचे प्रक्षेपकप्रक्षेपक आदि के कोठों में एक बार, दो बार, तीन बार, चार बार, पांच बार संकलन एक एक कोठे में होता है, ऐसे ही अन्यत्र जानना। पुनश्च विवक्षित कोठे का संकलनधन लाने के लिये जितनेवां भेद हो उसप्रमाण जो ऊर्ध्वगच्छ, उसमें से जितनी बार विवक्षित संकलन हो उतना घटानेपर अवशेष मात्र प्रभव अर्थात् आदि जानना ।

तत्तोरूवहियकमे गुणगारा होंति उड्ढगच्छो त्ति ।
इगिरूवमादिरूवोत्तरहारा होंति पभवो त्ति ।।२।।

अर्थ – उस आदि से लेकर एक एक बढ़ता ऊर्ध्वगच्छ के प्रमाण पर्यंत अनुक्रम से विवक्षित के गुणकार होते हैं । उनके नीचे एक से लेकर एक-एक से बढ़ते हुये उलटे क्रम से प्रभव जो आदि उनके भी नीचे तक उनके भागहार होते हैं । गुणकारों का परस्पर गुणा करके जो प्रमाण हो उसको, भागहारों को परस्पर गुणा करके जो प्रमाण हो उसका भाग देनेपर जितना प्रमाण आता है उतने वहां प्रक्षेपकप्रक्षेपक आदि संबंधी कोठों में वृद्धि का प्रमाण आता है ।

यहां उदाहरण कहते हैं - अनंतभागवृद्धि युक्त स्थानों में विवक्षित छठवें स्थान में एक कम तिर्यक्गच्छ प्रमाण एक बार आदि पांच संकलन स्थान हैं । उनमें चार बार संकलन संबंधी कोठे में प्रमाण लाते हैं । विवक्षित संकलन बार चार, उनका यहां छठवां भेद विवक्षित है, इसलिये ऊर्ध्वगच्छ छह, उसमें से घटानेपर अवशेष दो रहे, उसे आदि(प्रभव) जानना । इस आदि दो से लेकर एक एक अधिक ऊर्ध्वगच्छ छह तक तो क्रम से गुणकार होगा और उनके नीचे उलटे क्रम से आदि पर्यंत एक आदि एक एक अधिक भागहार होगा । सो यहां चार बार संकलन के कोठे में चूर्णि है । चूर्णि का प्रमाण जघन्य को पांच बार अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण हो उतना है । उस प्रमाण के दो, तीन, चार, पांच, छह तो क्रम से गुणकार होते

हैं और पांच, चार, तीन, दो, एक भागहार होता है । वहां गुणकार से चूर्णि को गुणा करके भागहार से भाग देकर, यथायोग्य अपवर्तन करनेपर छह गुणा चूर्णिमात्र उस कोठे में प्रमाण आता है ।

भावार्थ – दो, तीन, चार, पांच का गुणकार और भागहार का अपवर्तन हुआ। छह को एक का भागहार रहा इसलिये छह गुणा चूर्णिमात्र वहां प्रमाण है ।

पुनश्च ऐसे ही अनंतभागवृद्धि युक्त अंतिम भेद में यह स्थान सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का जो प्रमाण, उतनेवां है । इसलिये तिर्यक्गच्छ सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है । उसमें से एक घटानेपर, अवशेष एक बार आदि संकलन के बार हैं । उनमें विवक्षित चार बार संकलन के कोठे में प्रमाण लाते हैं । विवक्षित संकलनबार चार, ऊर्ध्वगच्छ सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग में से घटानेपर अवशेषमात्र आदि है। इससे एक एक बढ़ते क्रम से ऊर्ध्वगच्छ सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग तक तो गुणकार होगा। और उलटे क्रम से एक आदि एक एक बढ़ते हुये पांच पर्यंत भागहार होगा। सो चार बार संकलन के कोठे में चूर्णि है । इसलिये चूर्णि को उस गुणकार से गुणा करके, भागहार से भाग देकर लब्धमात्र उस कोठे में वृद्धि का प्रमाण आता है । यहां गुणकार भागहार समान नहीं है, इसलिये अपवर्तन नहीं हो सकता । यहां लब्धराशि का प्रमाण अवधिज्ञानगोचर जानना ।

पुनश्च उसी अनंतभागवृद्धि युक्त अंतिम भेद में विवक्षित द्विचरम चूर्णिचूर्णि का दो कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र बार संकलनधन का प्रमाण लाते हैं । यहां भी तिर्यक् गच्छ सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है, उसमें से एक घटानेपर एक बार आदि संकलन के बार होते हैं । वहां विवक्षित संकलन बार दो कम सूच्यंगुल का असंख्यातवां भाग मात्र, उसे ऊर्ध्वगच्छ सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग में से घटानेपर अवशेष दो रहे, वह आदि जानना । इससे लेकर एक एक बढ़ते ऊर्ध्वगच्छ पर्यंत अनुक्रम से गुणकार होता है । और एक आदि एक एक से बढ़ता अपने इष्ट बार के प्रमाण से एक अधिक पर्यंत उलटे क्रम से भागहार होता है । वहां दो से लेकर एक कम सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग तक के अंक गुणकार और भागहार में समान है । इसलिये उनका अपवर्तन किया । अवशेष सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का गुणकार रहा, एक का भागहार रहा । यहां इस कोठे में द्विचरम चूर्णिचूर्णि है, उसका प्रमाण जघन्य को *(एक कम)* सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र बार *(अनंत का)* भाग देनेपर जो प्रमाण

आये, उतना जानना । इसको पूर्वोक्त गुणकार से गुणा करके एक का भाग देनेपर उस कोठे संबंधी प्रमाण आता है । पुनश्च ऐसे ही अंतिम चूर्णिचूर्णि में संकलन है ही नहीं, क्योंकि अंतिम चूर्णिचूर्णि एक ही है । सो जघन्य को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र बार अनंत का भाग देनेपर अंतिम चूर्णिचूर्णि का प्रमाण आता है । उसको एक से गुणा करनेपर भी उतना ही उस कोठे में वृद्धि का प्रमाण जानना।

इसप्रकार सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र अनंतभागवृद्धि युक्त स्थान होते हैं तब एक असंख्यातभागवृद्धि युक्त स्थान होता है । यहां उर्वंक जो अनंतभागवृद्धि युक्त अंतिम स्थान, उसको चतुरंक अर्थात् असंख्यात का भाग देनेपर जो एक भाग का प्रमाण आये, उतना उसी पूर्व स्थान में जोड़ा, सो यहां जघन्यज्ञान साधिक अर्थात् कुछ अधिक हुआ । अंकसंदृष्टि के दृष्टांत में अल्प प्रमाण होने के कारण जघन्य से गुणकाररूप प्रमाण हुआ । परंतु यथार्थ में महत् प्रमाण है इसलिये ऐसी वृद्धि होनेपर भी साधिकपना ही हुआ ।

अब जिसप्रकार जघन्यज्ञान को मूल में स्थापित करके अनंतभागवृद्धि के स्थान प्रक्षेपकादि विशेष सहित कहे थे, उसप्रकार यहां से आगे इस साधिकजघन्य का मूल में स्थापित करके अनंतभागवृद्धि युक्त स्थान सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र जानने। ऐसे ही पूर्वोक्त यंत्रद्वार से जैसे अनुक्रम दिखाया वैसे अनंतगुणवृद्धि तक क्रम जानना। वहां भागवृद्धि में प्रक्षेपकादिक वृद्धि का विशेष जानना; सो जिस स्थान से आगे भागवृद्धि होगी, उसको मूल स्थापन करना । उसको जिस प्रमाण की भागवृद्धि हो, उसका एक बार भाग देनेपर प्रक्षेपक होता है, दो बार भाग देनेपर प्रक्षेपकप्रक्षेपक होता है । तीन बार भाग देनेपर पिशुलि आदि होते हैं, ऐसा विधान जानना । ऐसे सर्वत्र षट्स्थानपतित वृद्धि का अनुक्रम जानना ।

आदिमछट्ठाणह्मि य पंच य वड्ढी हवंति सेसेसु ।
छव्वड्ढीओ होंति हु सरिसा सव्वत्थ पदसंखा ।।३२७।।

आदिमषट्स्थाने च पंच च वृद्धयो भवंति शेषेषु ।
षड्वृद्धयो भवंति हि सदृशा सर्वत्र पदसंख्या ।।३२७।।

टीका – इस पर्यायसमासज्ञान में असंख्यातलोकमात्र बार षट्स्थान होते हैं ।

उनमें तो पहली बार पांच स्थानपतित वृद्धि होती है, क्योंकि सबसे अंत में अनंतगुणवृद्धिरूप जो भेद हुआ उसको दूसरी बार के षट्स्थानपतितवृद्धि का आदि स्थान कहा है । जैसे पहले षट्स्थानवृद्धि का क्रम कहा उसको पूर्ण करके, वैसे ही फिरसे दूसरी षट्स्थानपतित वृद्धि होती है, वैसे ही तीसरी होती है, इत्यादि असंख्यातलोक बार षट्स्थान होते हैं। उनमें छहों वृद्धि पायी जाती हैं । अनंतगुणवृद्धिरूप तो पहला ही स्थान होता है पश्चात् क्रम से पांच वृद्धि अंतिम अनंतभागवृद्धिपर्यंत होती है । पुनश्च जो अनंतभाग आदि सभी वृद्धि कही उन सब के स्थानों का प्रमाण सदृश सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र जानना । इसलिये जो वृद्धि होती है वह अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार होती है ।

छट्ठाणाणं आदी अट्ठंकं होदि चरिममुव्वंकं ।
जम्हा जहण्णणाणं अट्ठंकं होदि जिणदिट्ठं ।।३२८।।

षट्स्थानानामादिरष्टांकं भवति चरममुर्वंकम् ।
यस्माज्जघन्यज्ञानमष्टांकं भवति जिनदृ(दि)ष्टं ।।३२८।।

टीका – षट्स्थानपतितवृद्धिरूप स्थानों में **अष्टांक** अर्थात् अनंतगुणवृद्धि वह आदि स्थान है और **उर्वंक** अर्थात् अनंतभागवृद्धि, वह अंतिम स्थान है ।

भावार्थ – पहले जो यंत्रद्वार से वृद्धि का विधान कहा, सो सर्व विधान हो चुके, तब एक बार षट्स्थानपतित वृद्धि हुयी कहेंगे । विशेष इतना है कि नौवीं पंक्ति के नौवें कोठे में दो उकार और एक आठ का अंक लिखा है, सो उसका अर्थ यह है कि सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनंतभागवृद्धि होने के बाद एक बार अनंतगुणवृद्धि होती है । सो यह अनंतगुणवृद्धिरूप भेद है वह नवीन षट्स्थानवृद्धि का आरंभ किया उसका आदिस्थान जानना । इससे लेकर प्रथम कोठा आदि संबंधी जो रचना कही थी, उसी अनुक्रम से षट्स्थानपतित वृद्धि होती है । वहां उसी नौवीं पंक्ति के नौवें कोठे में आठ के अंक के पहले जो उकार लिखा था उसका अर्थ यह है कि सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र बार अनंतभागवृद्धि हुयी उनमें से अंतिम अनंतभागवृद्धि युक्त जो स्थान है वही इस षट्स्थानपतित वृद्धि का अंतिम स्थान जानना। इसीलिये षट्स्थानपतित वृद्धि का आदि स्थान अष्टांक कहा और अंतिम स्थान उर्वंक कहा । पहली बार अनंतगुणवृद्धि बिना पांच वृद्धि कही और पश्चात् छहों वृद्धि कही हैं ।

यहां प्रश्न – पहली बार आदि स्थान जघन्य ज्ञान है । उसको अष्टांकरूप अनंतगुणवृद्धि संभवती भी है या नहीं ?

उसका समाधान – द्विरूपवर्गधारा में इस जघन्य ज्ञान से पहला स्थान एक जीव के अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण है, उससे जघन्य ज्ञान अनंतगुणा है, इसलिये पहली बार भी आदिस्थान जो जघन्यज्ञान, उसमें अन्य की अपेक्षा अनंतगुणवृद्धि संभवती है । परंतु ज्ञान ही की अपेक्षा संभव नहीं है, इसलिये पहली बार पांच वृद्धि कहना ही संभव है, ऐसा जिनदेव ने कहा है वा देखा है । पुनश्च अंतिम षट्स्थान में भी आदि में अष्टांक और अंत में उर्वांक है । उसके आगे अष्टांक जो अनंतगुणवृद्धिरूप स्थान, वह अर्थाक्षरज्ञान है, उसे आगे कहेंगे वह जानना ।

एक्कं खलु अट्ठंकं सत्तंकं कंडयं तदो हेट्ठा ।
रूवहियकंडएण य गुणिदकमा जाव उव्वंकं ।।३२९।।

एकं खलु अष्टांकं सप्तांकं कांडकं ततोऽधः ।
रूपाधिककांडकेन च गुणितक्रमा यावदुर्वंकम् ।।३२९।।

टीका – एक बार यदि षट्स्थान होता है तो उसमें **अष्टांक** अर्थात् अनंतगुणवृद्धि वह तो एक बार ही होती है । क्योंकि 'अंगुल असंखभागं' इत्यादि सूत्र के अनुसार अष्टांक के बाद कोई वृद्धि नहीं है । इसलिये इसके पूर्वपने के अभाव से बार बार पलटने का अभाव है । पुनश्च **सप्तांकं** अर्थात् असंख्यातगुणवृद्धि, वह **कांडकं** अर्थात् सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र बार होती है । पुनश्च उसके नीचे **षडंकं** अर्थात् संख्यातगुणवृद्धि, **पंचंकं** अर्थात् संख्यातभागवृद्धि, **चतुरंकं** अर्थात् असंख्यातभागवृद्धि, **उर्वंकं** अर्थात् अनंतभागवृद्धि ये चारों एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणित अनुक्रम से जानना । यहां **यावत् उर्वंकं** इस वचन से उर्वंक पर्यंत अनुक्रम की मर्यादा कही है । वही कहते हैं –

असंख्यातगुणवृद्धि का प्रमाण सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा है । उसको एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतनी बार संख्यातगुणवृद्धि होती है । पुनश्च इसको भी एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है उतनी बार संख्यातभागवृद्धि होती है । पुनश्च इसको भी एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर जो प्रमाण

होता है उतनी बार असंख्यातभागवृद्धि होती है । पुनश्च इसको भी एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतनी बार अनंतभागवृद्धि होती है । ऐसे एक बार षट्स्थानपतित वृद्धि होने में पूर्वोक्त प्रमाण युक्त एक एक वृद्धि होती है । दूसरी बार आदि में पहले अष्टांक होता है उसके आगे उर्वंक होता है, इसलिये एक ही अष्टांक है ऐसा कहा है ।

सव्वसमासो णियमा रूवाहियकंडयस्स वग्गस्स ।
विंदस्स य संवग्गो होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।३३०।।

सर्वसमासो नियमात् रूपाधिककांडकस्य वर्गस्य ।
वृंदस्य च संवर्गो भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ।।३३०।।

टीका – पहले जो छहों वृद्धियों का प्रमाण कहा उन सबका जोड़ देनेपर रूपाधिक कांडक का अर्थात् एक अधिक सूच्यंगुल का असंख्यातवां भाग, उसका वर्ग और घन इनका संवर्ग करनेपर जो प्रमाण होता है उतना होता है, ऐसा जिनदेवों ने कहा है ।

भावार्थ – एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग को दो जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उसे तो रूपाधिक कांडक का वर्ग कहते हैं। पुनश्च एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग को तीन जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उसे रूपाधिक कांडक का घन कहते हैं । इस वर्ग को और घन को परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण हो; अथवा एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग को पांच जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण हो; उतनी बार एक षट्स्थानपतितवृद्धि में अनंतभागादिक वृद्धि होती हैं ।

जैसे अंकसंदृष्टि द्वारा पहले यंत्र में आठ का अंक एक बार लिखा और सात का अंक दो बार लिखा मिलकर तीन हुये । छह का अंक छह बार लिखा मिलकर तीन का वर्ग नौ हुआ । पांच का अंक अठारह बार लिखा मिलकर तीन का घन सत्ताइस हुआ । चार का अंक चौवन बार लिखा मिलकर तीन से गुणित तीन का घन इक्यासी हुआ । उर्वंक एक सौ बासठ बार लिखा मिलकर तीन के वर्ग से गुणित तीन का घन दौ सौ तैंतालीस हुआ । वैसे ही अनंतगुणवृद्धि एक बार, इसमें कांडकमात्र असंख्यातगुणवृद्धि जोड़नेपर एक अधिक ही कांडक हुआ । उस अपने प्रमाण

एक रूप के और संख्यातगुणवृद्धि के कांडकप्रमाण के समान गुण्यपना देखकर जोड़नेपर रूपाधिक कांडक का वर्ग होता है ।

पुनश्च उस अपने प्रमाण एक के और संख्यातभागवृद्धि के कांडकप्रमाण के समान गुण्यपना देखकर जोड़नेपर रूपाधिक कांडक का घन होता है । पुनश्च उस अपने प्रमाण एक के और असंख्यातभागवृद्धि के कांडकप्रमाण के समान गुण्यपना देखकर जोड़नेपर रूपाधिक कांडक से गुणित रूपाधिक कांडक का घन होता है । पुनश्च उस अपने प्रमाण एक के और अनंतभागवृद्धि के प्रमाण के समान गुण्यपना देखकर जोड़नेपर रूपाधिक कांडक के वर्ग से गुणित रूपाधिक कांडक का घनप्रमाण होता है । यहां अंकसंदृष्टि में कांडक का प्रमाण दो जानना, यथार्थ में सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र जानना।

पुनश्च अंकसंदृष्टि में अष्टांक, सप्तांक मिलकर तीन हुये । पुनश्च इस प्रमाण के साथ एक तो यह और कांडकमात्र दो षडंक मिलकर तीन हुये । ये तीन तो गुणकार और पूर्वोक्त तीन गुण्य, सो गुणकार से गुण्य को गुणा करनेपर तीन का वर्ग हुआ । वैसे ही अनंतगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि का मिला हुआ अपना प्रमाण रूपाधिक कांडक, उतने मात्र एक तो यह और कांडकमात्र संख्यातगुणवृद्धि, सो मिलाकर रूपाधिक कांडक मात्र गुणकार हुआ । इससे पूर्वोक्त रूपाधिक कांडकमात्र गुण्य को गुणा करनेपर रूपाधिक कांडक का वर्ग होता है, ऐसे ही अन्य में भी जान लेना । इसप्रकार जो यह सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग के वर्ग से उसी के घन को गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह असंख्यात घनांगुलमात्र होता है वा संख्यात घनांगुलमात्र होता है वा घनांगुलमात्र होता है वा घनांगुल के संख्यातवें भागमात्र होता है वा घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र होता है, इसे हम जानते नहीं है, सर्वज्ञदेव यथार्थ जानते हैं, वह प्रमाण है ।

उक्कस्ससंखमेत्तं तत्ति चउत्थेक्कदालछप्पण्णं ।
सत्तदसमं च भागं गंतूण य लद्धिअक्खरं दुगुणं ।।३३१।।

उत्कृष्टसंख्यातमात्रं तत्त्रिचतुर्थैकेचत्वारिंशत्षट्पंचाशम् ।
सप्तदशमं च भागं गत्वा च लब्ध्यक्षरं द्विगुणम् ।।३३१।।

टीका – एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणित अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण तो अनंतभागवृद्धि स्थान होते हैं । और अंगुल के असंख्यातवें

भाग प्रमाण असंख्यातभागवृद्धि स्थान होते हैं तब एक बार संख्यातभागवृद्धि होती है। वहां पूर्ववृद्धि होनेपर जो साधिक जघन्य ज्ञान हुआ उसे एक अधिक उत्कृष्ट संख्यात से गुणिये और उत्कृष्ट संख्यात का भाग दीजिये, उतने मात्र हुआ । पुनश्च आगे पूर्वोक्त अनुक्रम से अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि सहित संख्यातभागवृद्धि के स्थान उत्कृष्ट संख्यातमात्र होते हैं, वहां प्रक्षेपक संबंधी वृद्धि का प्रमाण जोड़नेपर लब्ध्यक्षर अर्थात् सर्व से जघन्य पर्याय नामक ज्ञान, वह साधिक दुगुणा होता है । वह कैसे? वह कहते हैं -

पूर्ववृद्धि होनेपर जो साधिक जघन्य ज्ञान हुआ था उसको मूल स्थापित किया। यहां संख्यातभागवृद्धि की विवक्षा है, इसलिये यहां इसको उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर प्रक्षेपक होता है । गच्छमात्र प्रक्षेपकों की वृद्धि होती है, सो यहां उत्कृष्ट संख्यात मात्र संख्यातवृद्धि के स्थान हुये हैं । इसलिये उत्कृष्ट संख्यातमात्र प्रक्षेपक बढ़ाना । वहां मूल साधिक जघन्य ज्ञान तो जुदा रखना और उस साधिक जघन्य ज्ञान को उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर प्रक्षेपक होता है तथा यहां उत्कृष्ट संख्यातमात्र प्रक्षेपक हैं इसलिये उत्कृष्ट संख्यात ही का गुणकार हुआ । सो गुणकार भागहार का अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य रहा । इसको जुदा रखे हुये साधिक जघन्य में जोड़नेपर जघन्य ज्ञान साधिक दुगुणा होता है ।

*(**विशेषार्थ** - मूल संख्या १६ मानते हैं । उसे उत्कृष्ट संख्यात ८ का भाग देते हैं तो उत्कृष्ट संख्यातभागवृद्धि के प्रक्षेपक का प्रमाण २ आयेगा । इस प्रक्षेपक दो (२) को उत्कृष्ट संख्यात (८) बार रखकर मिलानेपर १६ होंगे । गच्छ प्रमाण प्रक्षेपक मूल संख्या में मिलानेपर विशिष्ट भेद का प्रमाण आयेगा - यह स्थूल कथन है, क्योंकि इसमें प्रक्षेपकप्रक्षेपक, पिशुलि आदि को गौण करके एकमात्र प्रक्षेपकों की अपेक्षा वृद्धि बतायी है । इसलिये उत्कृष्ट संख्यात स्थान जानेपर मूल दुगुणा हो जाता है ऐसा कहा है । अब इसके आगे मध्यम कथन द्वारा प्रक्षेपक और प्रक्षेपक प्रक्षेपक इन दोनों को मिलानेपर मूल कहां दुगुणा होता है उसे कहेंगे । यह भी सूक्ष्म कथन नहीं है क्योंकि इसमें पिशुलि आदि को मिलाये बिना कथन होगा ।)*

पुनश्च **'तत्तिचउत्थं'** अर्थात् पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धि संयुक्त उत्कृष्ट संख्यात मात्र स्थान, उनको चार का भाग देकर, उनमें तीन भाग प्रमाण स्थान होनेपर वहां प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक इन दोनों वृद्धियों को साधिक जघन्य में जोडनेपर लब्ध्यक्षर ज्ञान

साधिक दुगुणा होता है । कैसे ? वह कहते हैं – यहां पूर्ववृद्धि होनेपर जो साधिक जघन्य ज्ञान हुआ उसको दो बार उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर प्रक्षेपकप्रक्षेपक होते हैं । सो एक कम गच्छ का एक बार संकलनधनमात्र प्रक्षेपकप्रक्षेपकों की वृद्धि यहां करनी । वहां पूर्वोक्त केशववर्णी द्वारा कहे हुये करणसूत्र के अनुसार उस प्रक्षेपकप्रक्षेपक को एक घाटि उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थांश भाग से और उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थांश भाग से गुणा करना तथा दो का और एक का भाग देना ।

*(**विशेषार्थ** – यहां केशववर्णीजी ने संकलनधन निकालने का सूत्र बताया है। हमारे ऊपर के उदाहरण में हमने उत्कृष्ट संख्यात ८ माना था उसका तीन चौथा भाग ६ होता है । एक कम छह, पांच होते हैं । पांच का एक बार संकलनधन निकालने के लिये ५×६=३० को १×२=२ से भाग देनेपर पांच का एक बार संकलनधन पन्द्रह आया । अब प्रक्षेपकप्रक्षेपक का प्रमाण मूल संख्या १६ को दो बार ८ से भाग देनेपर एक चतुर्थांश १/४ आया इसको पंद्रह से गुणा करेंगे तो १५/४ आते है, इसको उत्कृष्ट संख्यात के ३/४ प्रमाण प्रक्षेपक २×६=१२ में मिलानेपर १२+३ ३/४=१५ ३/४ होते हैं । यहां संदृष्टि में काल्पनिक संख्यायें हैं तथा मूल है वह जघन्य साधिक है, इसलिये जघन्य ज्ञान यहां दुगुणा होता है ।)*

साधिक जघन्य ज्ञान की सहनानी ऐसी है **ज** । साधिक जघन्य को एक कम तीन गुणा उत्कृष्ट संख्यात का तथा तीन गुणा उत्कृष्ट संख्यात का गुणकार हुआ और दो बार उत्कृष्ट संख्यात का और चार, दो, चार, एक का *(४×२×४×१=३२)* भागहार हुआ । *(यहां उत्कृष्ट संख्यात का लेना है तथा उसमें एक कम करके उसका संकलनधन निकालना हैं उसे एक साथ गुणकार भागहार के रूप में यहां प्रस्तुत किया है) ।*

वहां एक कम संबंधी ऋणराशि साधिक जघन्य को तीन का गुणकार और उत्कृष्ट संख्यात का और बत्तीस का भागहार करनेपर होती है । उसको जुदा रखकर अवशेष का अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य को नौ का गुणकार और बत्तीस का भागहार हुआ । यहां दो बार उत्कृष्ट संख्यात का गुणकार और भागहार का अपवर्तन किया और गुणकार तीन तीन परस्पर गुणा करनेपर नौ का गुणकार हुआ और चार, दो, चार, एक भागहारों को परस्पर गुणा करनेपर बत्तीस भागहार आया । क्योंकि जहां गुणकार और भागहार में दो तीन आदि राशि होती हैं उन्हें परस्पर में गुणा

करनेपर जो प्रमाण हो उतना वहां गुणकार और भागहार जानना । ऐसे ही अन्यत्र भी समझना । *($\frac{ज \times ९}{३२}$)*

इसमें एक गुणकार साधिक जघन्य का बत्तीसवां भागमात्र है उसको जुदा स्थापित करके अवशेष साधिक जघन्य को आठ का गुणकार बत्तीस का भागहार रहा उसका अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य का चौथा भाग हुआ । *(यहां $\frac{ज९}{३२}$ को दो राशियों में विभक्त किया $\frac{ज८}{३२} + \frac{ज}{३२}$ अपवर्तन करनेपर $\frac{ज}{४} + \frac{ज}{३२}$ रहे इसीको साधिक जघन्य का चौथा भाग कहा - ध्यान रहे यह प्रमाण प्रक्षेपकप्रक्षेपकों के वृद्धि से प्राप्त हुआ है । अब प्रक्षेपकों की बात करेंगे ।)*

पुनश्च प्रक्षेपक गच्छ प्रमाण हैं । सो साधिक जघन्य को एक बार उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर प्रक्षेपक होता है । उसको उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थांश $\frac{३}{४}$ से गुणा करना । वहां गुणकार भागहार में से उत्कृष्ट संख्यात का अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य का तीन चतुर्थांश भागमात्र हुआ *($\frac{ज३}{४}$)* । इसमें पूर्वोक्त एक चतुर्थांश *($\frac{ज}{४}$)* भाग जोड़नेपर साधिक जघन्य (ज) मात्र वृद्धि का प्रमाण हुआ । इसमें मूल जो साधिक जघन्य उसे जोड़नेपर लब्ध्यक्षर दुगुणा होता है । यहां प्रक्षेपकप्रक्षेपक संबंधी ऋणराशि धनराशि से संख्यातगुणा कम है । इसलिये साधिक जघन्य के बत्तीसवें भागमात्र धनराशि *($\frac{ज}{३२}$ जो हमने अलग किया था)* में से ऋणराशि घटाने को किंचित् कम करके अवशेष पूर्वोक्त में जोड़नेपर साधिक दुगुणा होता है ।

पुनश्च **'एक्कदालछप्पण्णं'** अर्थात् पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धि संयुक्त उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानों को छप्पन का भाग देकर उनमें इकतालीस भागमात्र स्थान होनेपर वहां प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक संबंधी वृद्धि जोड़नेपर लब्ध्यक्षर दुगुणा होता है । *(उत्कृष्ट संख्यात को ५६ में विभाजित करनेपर उसके तीन चतुर्थांश ४२ आते हैं परंतु इस कथन में ४१वें स्थान में ही दुगुणा होने की बात को समझायेंगे ।)*

कैसे वह कहते हैं - साधिक जघन्य को उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर *(ज÷उत्कृष्ट संख्यात)* प्रक्षेपक होता है । सो प्रक्षेपक तो गच्छमात्र *(उत्कृष्ट संख्यात $\times \frac{४१}{५६}$)* हैं। इसलिये प्रक्षेपक को उत्कृष्ट संख्यात के इकतालीस छप्पन्नांश से गुणा करनेपर उत्कृष्ट संख्यात का अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य को इकतालीस का गुणकार छप्पन का भागहार *(ज $\times \frac{४१}{५६}$)* होता है । पुनश्च प्रक्षेपकप्रक्षेपक एक घाटि गच्छ का एकबार

संकलन–धनमात्र हैं। सो पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार साधिक जघन्य को दो बार उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर प्रक्षेपकप्रक्षेपक होता है *(ज÷(उत्कृष्ट संख्यात × उत्कृष्ट संख्यात)* उसको एक कम इकतालीस गुणा उत्कृष्ट संख्यात और इकतालीस गुणा उत्कृष्ट संख्यात का गुणकार और छप्पन, दो, छप्पन, एक का भागहार हुआ । यहां एक कम संबंधी ऋण साधिक जघन्य को इकतालीस का गुणकार और उत्कृष्ट संख्यात, एक सौ बारह, छप्पन का भागहारमात्र जुदा स्थापित करके अवशेष में दो बार उत्कृष्ट संख्यात का अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य को सोलह सौ इक्यासी का गुणकार और एक सौ बारह गुणा छप्पन का भागहार होता है । यहां गुणकार में इकतालीस इकतालीस को परस्पर गुणा करनेसे सोलह सौ इक्यासी हुये तथा भागहार में छप्पन को दो से गुणा करनेपर एक सौ बारह हुये और दूसरे छप्पन को एक से गुणा करनेपर छप्पन हुये ऐसा जानना।

*(**विशेषार्थ** – उत्कृष्ट संख्यात को 'क्ष' मान लेते हैं । प्रक्षेपकप्रक्षेपक ज÷क्षक्ष। उसका क्ष के* $\frac{\text{४१}}{\text{५६}}$ *वें स्थान में प्रक्षेपकप्रक्षेपक एक कम गच्छ का संकलनधन होता है उससे प्रक्षेपकप्रक्षेपक को गुणा करनेपर* $\frac{\text{ज}}{\text{क्ष}\times\text{क्ष}}\times\frac{(\text{क्ष}\times\text{४१}-\text{१})\times(\text{क्ष}\times\text{४१})}{\text{५६}\times\text{२}\times\text{५६}\times\text{१}}$ *। इसमें से एक कम वाली ऋणराशि का प्रमाण जुदा रखना –* $\frac{\text{ज}\times\text{क्ष}\times\text{४१}}{\text{क्ष}\times\text{क्ष}\times\text{५६}\times\text{२}\times\text{५६}}=\frac{\text{ज ४१}}{\text{क्ष}\times\text{११२}\times\text{५६}}$ *।)*

अवशेष राशि $\frac{\text{ज}\times\text{क्ष}\times\text{४१}\times\text{क्ष}\times\text{४१}}{\text{क्ष}\times\text{क्ष}\times\text{५६}\times\text{२}\times\text{५६}\times\text{१}}=\frac{\text{ज}\times\text{४१}\times\text{४१}}{\text{११२}\times\text{५६}}=\frac{\text{ज}\times\text{१६८१}}{\text{११२}\times\text{५६}}$ *)*

पुनश्च गुणकार में से एक जुदा स्थापना, उसका साधिक जघन्य को एक सौ बारह गुणा छप्पन का भागहारमात्र धन जानना । अवशेष साधिक जघन्य को सोलह सौ अस्सी का गुणकार, एक सौ बारह गुणा छप्पन का भागहार रहा । वहां एक सौ बारह से अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य को पंद्रह का गुणकार छप्पन का भागहार हुआ ।

(ऊपर की अवशेष राशि $\frac{\text{ज}\times\text{१६८१}}{\text{११२}\times\text{५६}}$ *में से दो राशि बनायी ।* $\frac{\text{ज१६८०}}{\text{११२}\times\text{५६}}+\frac{\text{ज}}{\text{११२}\times\text{५६}}$*। धनराशि* $\frac{\text{ज}}{\text{११२}\times\text{५६}}$ *को जुदा रखकर अन्य राशि का ११२ से अपवर्तन करनेपर आये* $\text{ज}\times\frac{\text{१५}}{\text{५६}}$ *।)*

इसमें प्रक्षेपक संबंधी प्रमाण – जघन्य को इकतालीस से गुणकार, छप्पन का भागहार मात्र मिलाकर अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्यमात्र वृद्धि का प्रमाण हुआ । इसमें मूल साधिक जोड़नेपर लब्ध्यक्षर ज्ञान दुगुणा होता है ।

(प्रक्षेपक = $\frac{ज}{क्ष}$, वे गच्छप्रमाण होते हैं = क्ष×$\frac{४१}{५६}$; इसलिये वृद्धि का प्रमाण $\frac{ज}{क्ष}\times\frac{क्ष\times४१}{५६} = \frac{ज४१}{५६}$ । प्रक्षेपक तथा प्रक्षेपकप्रक्षेपक दोनों की वृद्धि मिलानेपर $\frac{ज४१}{५६}+\frac{ज१५}{५६}$ = ज इसको मूल में मिलानेपर दुगुणा प्रमाण आता है)

यहां प्रक्षेपकप्रक्षेपक संबंधी पूर्वोक्त धन से ऋण संख्यातगुणा हीन है । उसे हीन करनेपर अवशेष धनराशि को अधिक करनेपर साधिक दुगुणा होता है ।

(एक भागप्रमाण धनराशि जो जुदी रखी थी $\frac{ज}{११२\times५६}$ तथा ऋणराशि $\frac{ज\ ४१}{क्ष\times११२\times५६}$ धन में से उसके संख्यातवें भाग प्रमाण ऋण को घटाकर अवशेष राशि ज में मिलानेपर जघन्य ज्ञान साधिक दुगुणा होता है)

पुनश्च **'सत्त दशमं च भागं वा'** अर्थात् अथवा संख्यातभागवृद्धि संयुक्त उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानों को दस का भाग देकर उनमें से सात भाग मात्र स्थान होनेपर वहां प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक और पिशुलि नामक तीन वृद्धि जोड़नेपर साधिक जघन्य ज्ञान दुगुणा होता है । कैसे ? वह कहते हैं - साधिक जघन्य को एक बार उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर प्रक्षेपक होता है *(प्रक्षेपक = ज÷क्ष)* । वे गच्छमात्र हैं । *(गच्छ = क्ष×$\frac{७}{१०}$)* । इसलिये इसको उत्कृष्ट संख्यात के सात दसवें भाग से गुणा करके उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर साधिक जघन्य को सात का गुणकार दस भागहार होता है । *($\frac{ज}{क्ष}\times\frac{क्ष\times७}{१०}=\frac{ज\times७}{१०}$ ।)*

पुनश्च प्रक्षेपकप्रक्षेपक एक कम गच्छ का एक बार संकलनधनमात्र होते हैं। साधिक जघन्य को दो बार उत्कृष्ट संख्यात का भाग देनेपर एक प्रक्षेपकप्रक्षेपक होता है *($\frac{ज}{क्ष\times क्ष}$)* । उसको पूर्वसूत्र के अनुसार एक कम सात गुणा उत्कृष्ट संख्यात का और सात गुणा उत्कृष्ट संख्यात का तो गुणकार और दस, दो, दस, एक का भागहार हुआ ।

($\frac{ज}{क्ष\times क्ष}\times\frac{(क्ष\times७)-१)\times क्ष\times७}{१०\times२\times१०\times१}$ । इसमें से ऋणराशि है $\frac{ज\times क्ष\times७}{क्ष\times क्ष\times२००}=\frac{ज\times७}{क्ष\times२००}$ तथा धनराशि है $\frac{ज}{क्ष\times क्ष}\times\frac{क्ष\times७\times क्ष\times७}{२००}=\frac{ज४९}{२००}$ इस संख्या को पिशुलि के प्रमाण के बाद दुबारा बतायेंगे ।)

पुनश्च पिशुलि दो कम गच्छ का दो बार संकलनधनमात्र होते हैं । साधिक

जघन्य को तीन बार उत्कृष्ट संख्यात से भाग देनेपर एक पिशुलि होता है $\frac{ज}{क्ष \times क्ष \times क्ष}$ उसको पूर्वसूत्र के अनुसार दो कम सात गुणा उत्कृष्ट संख्यात और एक कम सात गुणा उत्कृष्ट संख्यात और सात गुणा उत्कृष्ट संख्यात का तो गुणकार और दस, तीन, दस, दो, दस, एक का भागहार हुआ । *($\frac{ज}{क्ष \times क्ष \times क्ष} \times \frac{(७क्ष-२) \times (७क्ष-१) \times ७क्ष}{१० \times ३ \times १० \times २ \times १० \times १}$ इसमें से दो ऋणराशियां अलग निकालेंगे उसे कहते हैं ।)*

इनमें पिशुलि के गुणकार में दो घटाये थे उससंबंधी प्रथम ऋण का प्रमाण साधिक जघन्य को दो का और एक कम सात गुणा उत्कृष्ट संख्यात का और सात गुणा उत्कृष्ट संख्यात का गुणकार तथा तीन बार *(किसी प्रति में दो बार लिखा है परंतु पिशुलि में तीन बार ही घटित होता है । दो प्रतियों में तीन बार लिखा है।)* उत्कृष्ट संख्यात का तथा छह का और तीन बार दस का भागहार करनेपर आता है।

(प्रथम ऋणराशि का प्रमाण – $\frac{ज}{क्ष \times क्ष \times क्ष} \times \frac{२ \times (७क्ष-१) \times ७क्ष}{१० \times ३ \times १० \times २ \times १० \times १} = \frac{ज}{क्ष \times क्ष \times क्ष} \times \frac{२ \times (७क्ष-१) \times ७क्ष}{६ \times १० \times १० \times १०}$)

इस प्रथम ऋणराशि को जुदा स्थापित कर अवशेष का अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य को एक कम सात गुणा उत्कृष्ट संख्यात का और उनचास का तो गुणकार हुआ तथा उत्कृष्ट संख्यात, छह हजार का भागहार हुआ ।

(अवशेष राशि $\frac{ज}{क्ष \times क्ष \times क्ष} \times \frac{७क्ष \times (७क्ष-१) \times ७क्ष}{६ \times १०००}$, क्ष×क्ष का अपवर्तन करनेपर $\frac{ज \times (७क्ष-१) \times ४९}{क्ष \times ६०००}$)

यहां गुणकार में एक कम है उस संबंधी द्वितीय ऋण का प्रमाण साधिक जघन्य को उनचास का गुणकार तथा उत्कृष्ट संख्यात और छह हजार का भागहार करनेपर होता है *(द्वितीय ऋणराशि $\frac{ज \times ४९}{क्ष \times ६०००}$)* इसको जुदा रखकर अवशेष का अपवर्तन करनेपर

साधिक जघन्य को तीन सौ तैंतालीस का गुणकार और छह हजार का भागहार होता है । *(द्वितीय ऋणराशि घटानेपर अवशेष राशि = $\frac{ज \times ७क्ष \times ४९}{क्ष \times ६०००}$ यहां क्ष से अपवर्तन करनेपर $\frac{ज \times ३४३}{६०००}$ आये ।)*

यहां गुणकार में से तेरह घटाकर जुदा रखना वहां साधिक जघन्य को तेरह से गुणकार और छह हजार का भागहार जानना । अवशेष साधिक जघन्य को तीन सौ तीस का गुणकार, छह हजार का भागहार रहा । वहां तीस से अपवर्तन करनेपर

साधिक जघन्य को ग्यारह का गुणकार दस गुणा बीस का भागहार हुआ, उसे एक जगह रखना ।

(ऊपर जो अवशेष राशि थी उसमें से दो राशि बनाना $\frac{ज३३०}{६०००}$ और $\frac{ज१३}{६०००}$ । पहली को ३० से अपवर्तित करनेपर $\frac{ज११}{२००}$ आते हैं, उसको एक जगह रखना ।)

पुनश्च यहां गुणकार में से तेरह निकालकर जुदे स्थापन किये थे उस संबंधी प्रमाण से प्रथम और द्वितीय ऋण संबंधी प्रमाण संख्यातगुणा कम है । इसलिये किंचित् कम करके साधिक जघन्य को कुछ कम तेरह से गुणा और छह हजार से भाग देनेपर इतना धन अवशेष रहा उसको जुदा स्थापित किया $\frac{ज \times कुछ\ कम\ १३}{६०००}$ ।

पुनश्च प्रक्षेपकप्रक्षेपक संबंधी गुणकार में से एक घटाया था उस संबंधी ऋण का प्रमाण साधिक जघन्य को सात का गुणकार तथा उत्कृष्ट संख्यात और दो सौ का भागहार करनेपर होता है । उसको जुदा स्थापित करके अवशेष पूर्वोक्त प्रमाण साधिक जघन्य को उत्कृष्ट संख्यात का गुणकार और दो बार सात का गुणकार तथा उत्कृष्ट संख्यात, दस, दो, दस, एक का भागहार उसका अपवर्तन तथा परस्पर गुणा करनेपर साधिक जघन्य को उनचास का गुणकार, दो सौ का भागहार हुआ । *(इसे हमने पहले निकाला था $\frac{ज४९}{२००}$)* इसमें पूर्वोक्त पिशुलि संबंधी ग्यारह गुणकार मिलानेपर साधिक जघन्य को साठ का गुणकार दो सौ का भागहार हुआ । यहां बीस से अपवर्तन करनेपर साधिक जघन्य को तीन का गुणकार दस का भागहार हुआ । *(प्रक्षेपकप्रक्षेपक संबंधी $\frac{ज४९}{२००}$ में पिशुलि संबंधी $\frac{ज११}{२००}$ मिलानेपर $\frac{ज६०}{२००} = \frac{ज३}{१०}$ हुये)* इसमें प्रक्षेपक संबंधी प्रमाण साधिक जघन्य को सात का गुणकार और दस का भागहार जोड़नेपर, दस से अपवर्तन करने से वृद्धि का प्रमाण साधिक जघन्य आता है ।

($\frac{ज३}{१०} + \frac{ज७}{१०} = \frac{ज१०}{१०} =$ ज) इसमें मूल साधिक जघन्य जोड़नेपर लब्ध्यक्षर दुगुणा होता है ।

पुनश्च पहले पिशुलि संबंधी ऋणरहित धन में कुछ कम तेरह का गुणकार था उसमें से प्रक्षेपकप्रक्षेपक संबंधी ऋण संख्यातगुणा कम है उसको घटाने के लिये पुनश्च कुछ कम करनेपर, साधिक जघन्य को दो बार किंचित् कम तेरह का गुणकार और

छह हजार का भागहार हुआ ।($\frac{ज \times कुछ\ कम\ १३}{६०००} - \frac{ज \times ७}{क्ष \times २००} = \frac{ज \times दो\ बार\ कुछ\ कम\ १३}{६०००}$)
सो इतना प्रमाण पूर्वोक्त दुगुणे लब्ध्यक्षर में जोड़नेपर जघन्य ज्ञान साधिक दुगुणा होता है ।

इसप्रकार प्रथम तो संख्यातभागवृद्धि युक्त जो स्थान, उनमें उत्कृष्ट संख्यात मात्र स्थानों के सात दसवां प्रमाण स्थान पिशुलिवृद्धि तक होनेपर लब्ध्यक्षर ज्ञान दुगुणा होता है। पुनश्च उसी के (उत्कृष्ट संख्यात के) इकतालीस छप्पनवें भागप्रमाण स्थान प्रक्षेपकप्रक्षेपक वृद्धि तक होनेपर लब्ध्यक्षर ज्ञान दुगुणा होता है । पुनश्च आगे भी संख्यातभागवृद्धि के पहले स्थान से लेकर उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानों के तीन चौथा भागमात्र स्थान प्रक्षेपकप्रक्षेपक वृद्धि तक होनेपर लब्ध्यक्षरज्ञान दुगुणा होता है । पुनश्च वैसे ही संख्यातभाग वृद्धि के पहले स्थान से लेकर उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थान प्रक्षेपक वृद्धि तक होनेपर लब्ध्यक्षरज्ञान दुगुणा होता है ।

यहां प्रश्न - यदि साधिक जघन्य ज्ञान दुगुणा हुआ, सो साधिक जघन्य ज्ञान तो पर्यायसमास ज्ञान का मध्य भेद है, यहां लब्ध्यक्षर ज्ञान दुगुणा कैसे कहा है ?

उसका समाधान - उपचार से पर्यायसमास ज्ञान के भेद को भी लब्ध्यक्षर कहते हैं, क्योंकि मुख्यपने लब्ध्यक्षर है नाम जिसका ऐसा जो पर्यायज्ञान उसके समीपवर्ती है।

भावार्थ - यहां इस लब्ध्यक्षर नाम से यहां पर पर्यायसमास का यथासंभव मध्य भेद ग्रहण करना ।

गाथा में **गत्वा च** कहा है, चकार से गत्वा अर्थात् ऐसे स्थान प्रति प्राप्त होकर लब्ध्यक्षर ज्ञान दुगुणा होता है ऐसा जानना ।

एवं असंखलोगा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा ।
ते पज्जायसमासा अक्खरगं उवरि वोच्छामि ।।३३२।।

एवमसंख्यालोकाः अनक्षरात्मके भवंति षट्स्थानानि ।
ते पर्यायसमासा अक्षरगमुपरि वक्ष्यामि ।।३३२।।

टीका - इसप्रकार अनक्षरात्मक जो पर्यायसमास ज्ञान के भेद, उनमें षट्स्थानपतित वृद्धि असंख्यातलोकमात्र बार होती है । वही कहते हैं - यदि एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग के वर्ग से उसी के घन को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतने

भेदों में एक बार षट्स्थान होता है तो असंख्यातलोकप्रमाण पर्यायसमास ज्ञानों के भेदों में कितनी बार षट्स्थान होगा, ऐसा त्रैराशिक करना । वहां प्रमाणराशि एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग के वर्ग से गुणित उसीका घनप्रमाण और फलराशि एक तथा इच्छाराशि असंख्यातलोकमात्र पर्यायसमास के स्थान । वहां फल से इच्छा को गुणित कर प्रमाण का भाग देनेपर जितना लब्धराशि का प्रमाण आये, उतनी बार सर्व भेदों में षट्स्थानपतितवृद्धि होती है । वह भी असंख्यातलोकमात्र बार होती है। क्योंकि असंख्यात के भेद बहुत हैं इसलिये हीनाधिक होनेपर भी असंख्यातलोक ही कहते हैं। इसप्रकार असंख्यातलोकमात्र षट्स्थानवृद्धि से वर्धमान जघन्य ज्ञान से अनंतभागवृद्धिवाले प्रथम स्थान से लेकर अंतिम षट्स्थान के अंतिम अनंतभागवृद्धि युक्त स्थान तक जितने ज्ञान के भेद, वे सर्व पर्यायसमास ज्ञान के भेद जानने ।

अब यहां से आगे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान को कहते हैं -

चरिमुव्वंकेणवहिदअत्थक्खरगुणिदचरिममुव्वंकं ।
अत्थक्खरं तु णाणं होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ।।३३३।।

चरमोर्वंकेणावहितार्थाक्षरगुणितचरमोर्वंकम् ।
अर्थाक्षरं तु ज्ञानं भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ।।३३३।।

टीका - पर्यायसमास ज्ञान में असंख्यातलोकमात्र षट्स्थान कहे । उनमें वृद्धि के कारण ऐसे संख्यात, असंख्यात, अनंत तो अवस्थित हैं, नियमरूप प्रमाण धरते हैं। संख्यात का प्रमाण उत्कृष्ट संख्यातमात्र, असंख्यात का असंख्यातलोकमात्र, अनंत का प्रमाण जीवराशिमात्र जानना । पुनश्च अंतिम षट्स्थान में अंतिम उर्वंक अर्थात् अनंतभागवृद्धि युक्त पर्यायसमास ज्ञान का जो सर्वोत्कृष्ट भेद है, उससे आगे अष्टांक अर्थात् अनंतगुणवृद्धि युक्त ज्ञान का जो स्थान, वह अर्थाक्षर श्रुतज्ञान है । पहले अष्टांक का प्रमाण नियम से जीवराशिमात्र गुणाकार था, यहां अष्टांक का प्रमाण वह नहीं जानना, अन्य जानना। वही कहते हैं - असंख्यातलोकमात्र षट्स्थानों में जो अंतिम षट्स्थान उसके अंतिम उर्वंकवृद्धि युक्त जो सर्वोत्कृष्ट पर्यायसमास ज्ञान, उसको एक बार अष्टांक से गुणा करनेपर अर्थाक्षर ज्ञान होता है, इसलिये इसको अष्टांकवृद्धि युक्त स्थान कहते हैं ।

वह अष्टांक कितने प्रमाणवाला होता है, उसे कहते हैं - श्रुत केवलज्ञान एक

कम एकट्ठी प्रमाण अपुनरुक्त अक्षरों के समूहरूप है । उसको एक कम एकट्ठी का भाग देनेपर एक अक्षर का प्रमाण आता है । वहां जितना ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण है, उसको सर्वोत्कृष्ट पर्यायसमासज्ञान के भेदरूप उर्वंक के अविभागप्रतिच्छेदों के प्रमाण का भाग देनेपर जितना प्रमाण आता है, वही यहां अष्टांक का प्रमाण जानना। इसलिये अब उस अर्थाक्षरज्ञान की उत्पत्ति को कारण, अंतिम उर्वंक से भाजित अर्थाक्षर प्रमाण अष्टांक से गुण्य जो अंतिम उर्वंक उसको गुणा करनेपर अर्थाक्षर ज्ञान होता है । यह कथन युक्त है । ऐसा जिनदेव ने कहा है । पुनश्च यह कथन अंत में रखे हुये दीपकसमान जानना । इसकारण इसप्रकार से पहले भी चतुरंक आदि अष्टांक तक षट्स्थानों के भागवृद्धि युक्त या गुणवृद्धि युक्त जो स्थान हैं, वे सर्व अपने-अपने पूर्व उर्वंक युक्त स्थान का भाग देनेपर जितना प्रमाण आता है, उतने प्रमाण से उस पूर्व स्थान से गुणित जानने । इसतरह श्रुतकेवलज्ञान के संख्यातवें भागमात्र अर्थाक्षर श्रुतज्ञान जानना । अर्थ के ग्राहक अक्षर से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान, वह अर्थाक्षर ज्ञान है । अथवा **अर्यते** अर्थात् जानते हैं वह अर्थ और द्रव्य से न विनष्ट हो वह अक्षर। जो अर्थ वही अक्षर, उसका जो ज्ञान उसे अर्थाक्षरज्ञान कहते हैं । अथवा अर्यते अर्थात् श्रुतकेवलज्ञान के संख्यातवें भाग से जिसका निश्चय करते हैं ऐसा एक अक्षर, उसका ज्ञान, उसे अर्थाक्षरज्ञान कहते हैं ।

अथवा अक्षर तीन प्रकार के हैं - लब्धि अक्षर, निर्वृत्ति अक्षर, स्थापना अक्षर। वहां पर्यायज्ञानावरण आदि श्रुतकेवलज्ञानावरण तक के क्षयोपशम से उत्पन्न हुयी जो पदार्थ जानने की शक्ति, वह लब्धिरूप भावेन्द्रिय, उसस्वरूप जो अक्षर अर्थात् अविनाश, उसे लब्धि-अक्षर कहते हैं । क्योंकि वह अक्षरज्ञान उपजने को कारण है । पुनश्च कंठ, होठ, तालवा आदि अक्षर बुलाने के स्थान और होठों का परस्पर मिलना वह स्पृष्टता आदि जो प्रयत्न उससे उत्पन्न हुआ शब्दरूप अकारादि स्वर और ककारादि व्यंजन और संयोगी अक्षर, उन्हें निर्वृत्ति अक्षर कहते हैं । पुनश्च पुस्तकादि में निज देश की प्रवृत्ति के अनुसार अकारादि का आकार द्वारा लिखना *(प्रत्येक भाषा की अपनी लिपि)*, उसे स्थापना अक्षर कहते हैं । इसप्रकार जो एक अक्षर, उसके सुनने से हुआ जो अर्थ का ज्ञान, वह अक्षर श्रुतज्ञान है, ऐसा जिनदेव ने कहा है । उन्हीं के अनुसार मैंने भी कुछ कहा है ।

आगे श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव शास्त्र के विषय का प्रमाण कहते हैं -

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ।।३३४।।

प्रज्ञापनीया भावा अनंतभागस्तु अनभिलाप्यानाम् ।
प्रज्ञापनीयानां पुनः अनंतभागः श्रुतनिबद्धः ।।३३४।।

टीका – अनभिलाप्यानां अर्थात् वचनगोचर नहीं है, केवलज्ञान ही के गोचर ऐसे जो भाव अर्थात् जीवादिक पदार्थ, उनके अनंतवें भागमात्र जीवादिक अर्थ, वे **प्रज्ञापनीयाः** अर्थात् तीर्थंकर की सातिशय दिव्यध्वनि से कहने में आते हैं, ऐसे हैं। पुनश्च तीर्थंकर की दिव्यध्वनि द्वारा पदार्थ कहने में आते हैं उनके अनंतवें भागमात्र द्वादशांग श्रुत में वर्णन करते हैं । श्रुतकेवली के भी जो गोचर नहीं है ऐसी पदार्थ कहने की शक्ति दिव्यध्वनि में पायी जाती है । तथा जो दिव्यध्वनि द्वारा कहा न जाय, उस अर्थ को जानने की शक्ति केवलज्ञान में पायी जाती है, ऐसा जानना ।

आगे दो गाथाओं द्वारा अक्षरसमास को प्ररूपित करते हैं –

एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो ।
संखेज्जे खलु उड्ढे पदणामं होदि सुदणाणं ।।३३५।।

एकाक्षरात्तूपरि एकैकेनाक्षरेण वर्धमानाः ।
संख्येये खलु वृद्धे पदनाम भवति श्रुतज्ञानम् ।।३३५।।

टीका – एक अक्षर से उत्पन्न जो ज्ञान, उसके ऊपर पूर्वोक्त षट्स्थानवृद्धि के अनुक्रम बिना एक एक अक्षर से बढ़ते हुये, सो दो अक्षर, तीन अक्षर, चार अक्षर इत्यादि एक कम पद के अक्षरों तक अक्षरों के समुदाय के सुनने से उत्पन्न ऐसे अक्षरसमास ज्ञान के भेद संख्यात जानने । वे दो कम पद के अक्षर तक जितने होते हैं, उतने हैं । पुनश्च इसके अनंतर उत्कृष्ट अक्षरसमास में एक अक्षर बढ़नेपर पद नामक श्रुतज्ञान होता है ।

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव ।
सत्तसहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा ।।३३६।।

षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोट्यः त्र्यशीतिलक्षकं चेव ।
सप्तसहस्राण्यष्टशतानि अष्टाशीतिश्च पदवर्णाः ।।३३६।।

टीका – पद तीन प्रकार के हैं – अर्थपद, प्रमाणपद, मध्यमपद ।

वहां जिन अक्षर समूह द्वारा विवक्षित अर्थ जानते हैं, उसे तो अर्थपद कहते हैं । जैसे कहा कि **'गामभ्याज शुक्लां दंडेन'** यहां इस शब्द के चार पद हैं – १) गां, २) अभ्याज, ३) शुक्लां, ४) दंडेन । इन चार पदों का अर्थ यह है – गाय को, घेरकर, सफेद को, दंड से । जैसे कहा कि **'अग्निमानय'** यहां दो पद हुये– अग्निं, आनय । अर्थ यह है कि अग्नि को ले आओ । ऐसे विवक्षित अर्थ के लिये एक दो आदि अक्षरों के समूह को अर्थपद कहते हैं ।

पुनश्च प्रमाण जो संख्या उससे युक्त जो पद अर्थात् अक्षरसमूह, उसको प्रमाणपद कहते हैं । जैसे अनुष्टुप छंद के चार पद, वहां एक पद के आठ अक्षर होते हैं। **'नमः श्री वर्धमानाय'** यह एक पद हुआ । इसका अर्थ यह की श्री वर्धमानस्वामी के लिये नमस्कार हो; ऐसे प्रमाणपद जानना ।

पुनश्च गाथा में कहे हुये सोलह सौ चौंतीस कोडि तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अट्ठासी (१६३४८३०७८८८) अपुनरुक्त अक्षर, उनके समूह को मध्यमपद कहते हैं । इनमें अर्थपद और प्रमाणपद तो हीनाधिक अक्षरों के प्रमाण से युक्त, लोकव्यवहार से ग्रहण किये हैं । इसलिये लोकोत्तर परमागम में गाथा में कही हुयी संख्या में वर्तमान जो मध्यमपद, उसीका ग्रहण जानना ।

आगे संघात नामक श्रुतज्ञान की प्ररूपणा करते हैं –

एयपदादो उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो ।
संखेज्जसहस्सपदे उड्ढे संघादणाम सुदं ।।३३७।।

एकपदादुपरि एकैकेनाक्षरेण वर्धमानाः ।
संख्यातसहस्रपदे वृद्धे संघातनाम श्रुतम् ।।३३७।।

टीका – एक पद के ऊपर एक एक अक्षर से बढ़ते हुये एक पद के अक्षरप्रमाण पदसमास के भेद होनेपर पदज्ञान दुगुणा हुआ । पुनश्च इससे एक एक अक्षर बढ़ते बढ़ते पद के अक्षरप्रमाण पदसमास के भेद होनेपर, पदज्ञान तीनगुणा हुआ । इसीतरह एक

एक अक्षर की वृद्धि युक्त पद के अक्षरप्रमाण पदसमासज्ञान के भेद होनेपर चारगुणा, पांचगुणा आदि संख्यात हजार से गुणित पदप्रमाण में एक अक्षर कम करें, वहां तक पदसमास के भेद जानने । पदसमासज्ञान के उत्कृष्ट भेद में वही एक अक्षर मिलानेपर संघात नामक श्रुतज्ञान होता है । सो चार गति में एक गति के स्वरूप का निरूपण करनेवाले जो मध्यमपद, उनके समूहरूप संघात नामक श्रुतज्ञान के सुनने से जो अर्थज्ञान हुआ, उसको संघात श्रुतज्ञान कहते हैं ।

आगे प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान के स्वरूप को कहते हैं -

एक्कदरगदिणिरूवयसंघादसुदादु उवरि पुव्वं वा ।
वण्णे संखेज्जे संघादे उड्ढम्हि पडिवत्ती ।।३३८।।

एकतरगतिनिरूपकसंघातश्रुतादुपरि पूर्वं वा ।
वर्णे संख्येये संघाते वृद्धे प्रतिपत्तिः ।।३३८।।

टीका - एक गति का निरूपण करनेवाला जो संघात नामक श्रुतज्ञान, उसके ऊपर पूर्वोक्त प्रकार से एक एक अक्षर की वृद्धि युक्त एक एक पद की वृद्धि द्वारा संख्यात हजार पद के समूहरूप संघातश्रुत होता है । इसी अनुक्रम से संख्यात हजार संघातश्रुत होते हैं । उनमें से एक अक्षर घटाते हैं, वहां तक संघातसमास के भेद जानना। अंतिम संघातसमास श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट भेद में वह अक्षर मिलानेपर प्रतिपत्तिक नामक श्रुतज्ञान होता है । सो नरकादि चार गतियों का स्वरूप विस्तारपने से निरूपण करनेवाला जो प्रतिपत्तिक ग्रंथ, उसको सुनने से जो अर्थज्ञान हुआ, उसको प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान कहते हैं ।

आगे अनुयोग श्रुतज्ञान को प्ररूपित करते हैं -

चउगइसरूवपरूवयपडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा ।
वण्णे संखेज्जे पडिवत्तीउड्ढम्हि अणियोगं ।।३३९।।

चतुर्गतिस्वरूपप्ररूपकप्रतिपत्तितस्तु उपरि पूर्वं वा ।
वर्णेसंख्याते प्रतिपत्तिवृद्धे अनुयोगं ।।३३९।।

टीका - चार गति के स्वरूप का निरूपण करनेवाले प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान के

ऊपर प्रत्येक एक एक अक्षर की वृद्धि युक्त संख्यात हजार पदों के समुदायरूप संख्यात हजार संघात, और संख्यात हजार संघातों के समूहरूप प्रतिपत्तिक, सो ऐसे प्रतिपत्तिक संख्यात हजार होते हैं, उनमें से एक अक्षर घटाते हैं वहां तक प्रतिपत्तिकसमास श्रुतज्ञान के भेद होते हैं । पुनश्च उसके अंतिम भेद में वह एक अक्षर मिलानेपर अनुयोग नामक श्रुतज्ञान हुआ, सो चौदह मार्गणा के स्वरूप का प्रतिपादक अनुयोग नामक श्रुत, उसके सुनने से जो अर्थज्ञान हुआ, उसको अनुयोग नामक श्रुतज्ञान कहते हैं ।

आगे प्राभृतकप्राभृतक श्रुतज्ञान को दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

चोद्दसमग्गणसंजुदअणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे ।
चउरादी अणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि ।।३४०।।

चतुर्दशमार्गणासंयुतानुयोगादुपरि वर्धिते वर्णे ।
चतुराद्यनुयोगे द्विकवारं प्राभृतं भवति ।।३४०।।

टीका – चौदह मार्गणा से संयुक्त जो अनुयोग उसके ऊपर प्रत्येक एक एक अक्षर की वृद्धि से युक्त पद, संघात, प्रतिपत्तिक इनकी पूर्वोक्त अनुक्रम से वृद्धि होनेपर चार अनुयोगों की वृद्धि में एक अक्षर घटाइए । वहां तक अनुयोगसमास के भेद हैं। पुनश्च उसके अंतिम भेद में वह एक अक्षर मिलानेपर प्राभृतकप्राभृतक नामक श्रुतज्ञान होता है ।

अहियारो पाहुडयं एयट्ठो पाहुडस्स अहियारो ।
पाहुडपाहुडणामं होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।३४१।।

अधिकारः प्राभृतमेकार्थः प्राभृतस्याधिकारः ।
प्राभृतप्राभृतनामा भवति इति जिनैर्निर्दिष्टम् ।।३४१।।

टीका – आगे कहेंगे जो वस्तु नामक श्रुतज्ञान उसका जो एक अधिकार उसीका नाम प्राभृतक है । तथा उस प्राभृतक का एक अधिकार उसका नाम प्राभृतक-प्राभृतक है, ऐसा जिनदेव ने कहा है ।

आगे प्राभृतक का स्वरूप कहते हैं –

दुगवारपाहुडादो उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे ।
दुगवारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं ।।३४२।।

द्विगवारप्राभृतादुपरि वर्णे क्रमेण चतुर्विंशतौ ।
द्विकवारप्राभृते संवृद्धे खलु भवति प्राभृतकम् ।।३४२।।

टीका – द्विकवार प्राभृतक अर्थात् प्राभृतकप्राभृतक, उसके ऊपर पूर्वोक्त अनुक्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि युक्त चौबीस प्राभृतकप्राभृतक की वृद्धि में एक अक्षर घटाइये, वहां तक प्राभृतकप्राभृतकसमास के भेद जानने । पुनश्च उसके अंतिम भेद में एक अक्षर मिलानेपर प्राभृतक नामक श्रुतज्ञान होता है ।

भावार्थ – एक एक प्राभृतक नामक अधिकार में चौबीस प्राभृतकप्राभृतक नामक अधिकार होते हैं ।

आगे वस्तु नामक श्रुतज्ञान को प्ररूपित करते हैं –

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एक्कवत्थुअहियारो ।
एक्केक्कवण्णउड्ढी कमेण सव्वत्थ णायव्वा ।।३४३।।

विंशतौ विंशतौ प्राभृताधिकारे एको वस्त्वधिकारः ।
एकैकवर्णवृद्धिः क्रमेण सर्वत्र ज्ञातव्या ।।३४३।।

टीका – उस प्राभृतक के ऊपर पूर्वोक्त अनुक्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि युक्त पदादिकों की वृद्धि संयुक्त बीस प्राभृतों की वृद्धि होनेपर उसमें से एक अक्षर घटाइये, वहां तक प्राभृतकसमास के भेद जानने । पुनश्च उसके अंतिम भेद में वह एक अक्षर मिलानेपर वस्तु नामक अधिकार होता है ।

भावार्थ – पूर्व संबंधी एक एक वस्तु नामक अधिकार में बीस बीस प्राभृतक होते हैं । पुनश्च सर्वत्र अक्षरसमास के प्रथम भेद से लेकर पूर्वसमास के उत्कृष्ट भेद तक अनुक्रम से एक एक अक्षर बढ़ाना, पद का बढ़ाना, समास का बढ़ाना इत्यादि परिपाटी से यथासंभव वृद्धि सब में जानना । सो सूत्र के अनुसार व्याख्यान टीका में करते ही आये हैं ।

आगे तीन गाथाओं द्वारा पूर्व नामक श्रुतज्ञान को कहते हैं –

दसचोदसट्ठ अट्ठारसयं बारं च बार सोलं च ।
वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं ।।३४४।।

दश चतुर्दशाष्ट अष्टादशकं द्वादश च द्वादश षोडश च ।
विंशतिः त्रिंशत् पंचदश च दश चतुर्षु वस्तूनाम ।।३४४।।

टीका – उस वस्तुश्रुत के ऊपर एक एक अक्षर की वृद्धि युक्त अनुक्रम से पदादिक की वृद्धि से संयुक्त क्रम से दस आदि वस्तु की वृद्धि होनेपर, उनमें से एक एक अक्षर घटाने तक वस्तुसमास के भेद जानने । पुनश्च उनके अंतिम भेदों में अनुक्रम से एक एक अक्षर मिलानेपर चौदह पूर्व नामक श्रुतज्ञान होता है । वहां आगे कहते हैं ।

उत्पाद नामक पूर्व आदि चौदह पूर्व, उनमें अनुक्रम से दस (१०), चौदह(१४), आठ(८), अठारह(१८), बारह(१२), बारह(१२), सोलह(१६), बीस(२०), तीस(३०), पंद्रह(१५), दस(१०), दस(१०), दस(१०), दस(१०) वस्तु नामक अधिकार होते हैं।

उप्पाय पुव्वगाणिय विरियपवादत्थिणत्थियपवादे ।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य ।।३४५।।

पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य ।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयबिंदुसारे य ।।३४६।।

उत्पादपूर्वाग्रायणीयवीर्यप्रवादास्तिनास्तिकप्रवादानि ।
ज्ञानसत्यप्रवादे आत्मकर्मप्रवादे च ।।३४५।।

प्रत्याख्यानं वीर्यानुवादकल्याणप्राणवादानि च ।
क्रियाविशालपूर्वं क्रमशः अथ त्रिलोकबिंदुसारं च ।।३४६।।

टीका – चौदह पूर्व के नाम अनुक्रम से ऐसे जानने – १) उत्पाद, २) अग्रायणीय, ३) वीर्यप्रवाद, ४) अस्तिनास्तिप्रवाद, ५) ज्ञानप्रवाद, ६) सत्यप्रवाद, ७) आत्मप्रवाद, ८) कर्मप्रवाद, ९) प्रत्याख्यानप्रवाद, १०) विद्यानुवाद, ११) कल्याणवाद, १२) प्राणवाद, १३) क्रियाविशाल, १४) त्रिलोकबिंदुसार ये चौदह पूर्वों के नाम जानने।

इनके लक्षण आगे कहेंगे । यहां ऐसा जानना कि पूर्वोक्त वस्तुश्रुतज्ञान के ऊपर क्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि युक्त पदादिकों की वृद्धि होनेपर दस वस्तु प्रमाण में से एक अक्षर घटाइये, वहां तक वस्तुसमास ज्ञान के भेद हैं । उसके अंतिम भेद में वह एक अक्षर मिलानेपर उत्पादपूर्व नामक श्रुतज्ञान होता है ।

पुनश्च उत्पादपूर्व श्रुतज्ञान के ऊपर एक एक अक्षर की वृद्धि युक्त पदादि की वृद्धि संयुक्त चौदह वस्तु होती हैं । उसमें से एक अक्षर घटाइये, वहां तक उत्पादपूर्वसमास के भेद जानने । उसके अंतिम भेद में वह एक अक्षर बढ़नेपर अग्रायणीयपूर्व नामक श्रुतज्ञान होता है । ऐसे ही क्रम से आगे आगे आठ आदि वस्तु की वृद्धि होनेपर, वहां एक अक्षर घटाने तक उस उस पूर्वसमास के भेद जानना । उस उस अंतिम भेद में वह वह एक अक्षर मिलानेपर वीर्यप्रवाद आदि पूर्व नामक श्रुतज्ञान होते हैं। अंतिम त्रिलोकबिंदुसार नामक पूर्व है उसके आगे उसके समास के भेद नहीं हैं, क्योंकि इसके आगे श्रुतज्ञान के भेद का अभाव है ।

आगे चौदह पूर्वों में वस्तु नामक अधिकारों की और प्राभृतक नामक अधिकारों की संख्या कहते हैं -

पणणउदिसया वत्थू पाहुडया तियसहस्सणवयसया ।
एदेसु चोद्दसेसु वि पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि ।।३४७।।

पंचनवतिशतानि वस्तूनि प्राभृतकानि त्रिसहस्रनवशतानि ।
एतेषु चतुर्दशस्वपि पूर्वेषु भवंति मिलितानि ।।३४७।।

टीका - उत्पाद आदि त्रिलोकबिंदुसार पर्यंत चौदह पूर्व, उसमें मिलाये हुये दस आदि वस्तु नामक अधिकार सर्व एक सौ पंचानबे (१९५) होते हैं । पुनश्च एक एक वस्तु में बीस बीस प्राभृतक कहे, वे सर्व प्राभृतक नामक अधिकार तीन हजार नौ सौ (३९००) जानने ।

आगे पहले कहे हुये जो श्रुतज्ञान के बीस भेद उनका उपसंहार दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च ।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ।।३४८।।

कम्मवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि ।
णाणवियप्पे वीसं गंथे बारस य चोद्दसयं ।।३४९।।

अर्थाक्षरं च पदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च ।
द्विकवारप्राभृतकं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ।।३४८।।

क्रमवर्णोत्तरवर्धिते तेषां समासाश्च अक्षरगताः ।
ज्ञानविकल्पे विंशतिः ग्रंथे द्वादश च चतुर्दशकम् ।।३४९।।

टीका – अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतकप्राभृतक, प्राभृतक, वस्तु, पूर्व ये नौ भेद, पुनश्च एक एक अक्षर की वृद्धि आदि यथासंभव वृद्धि युक्त इन ही अक्षरादिक के *(अर्थाक्षर, पद आदि के)* समासों के नौ भेद, ऐसे सर्व मिलकर अठारह भेद अक्षरात्मक द्रव्यश्रुत के होते हैं । तथा ज्ञान की अपेक्षा इन्हीं द्रव्यश्रुतों को सुनने से जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान के भी अठारह भेद कहते हैं । पुनश्च अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के पर्याय और पर्यायसमास ये दो भेद मिलानेपर सर्व श्रुतज्ञान के बीस भेद हुये । पुनश्च ग्रंथ जो शास्त्र उसकी विवक्षा करेंगे तो आचारांग आदि द्वादश अंग और उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व और चकार से सामायिकादि चौदह प्रकीर्णक उनस्वरूप द्रव्यश्रुत जानना। उसके सुनने से जो ज्ञान हुआ, वह भावश्रुतज्ञान जानना । पुद्गल द्रव्यस्वरूप अक्षर पदादिकमय तो द्रव्यश्रुत है । उसके सुनने से जो श्रुतज्ञान के पर्यायरूप ज्ञान हुआ, वह भावश्रुत है ।

अब पर्याय आदि जो भेद कहे उनकी व्याकरण के अनुसार शब्दों की निरुक्ति कहते हैं । **परीयंते** अर्थात् सर्व जीव जिससे व्याप्त हैं, उसे पर्याय कहते हैं । पर्यायज्ञान बिना कोई जीव नहीं है । केवलज्ञानियों के भी पर्यायज्ञान होता है । जैसे किसी के पास करोड़ो रुपये हैं, तो उसके एक रुपया उसी में आया वैसे महाज्ञान में अल्पज्ञान गर्भित हुआ जानना ।

पुनश्च **अक्ष** अर्थात् कर्णेन्द्रिय, उसको अपने स्वरूप को **राति** अर्थात् ज्ञानद्वार से देता है, इसलिये अक्षर कहते हैं ।

पुनश्च **पद्यते** अर्थात् जिससे आत्मा अर्थ को प्राप्त होता है, उसको पद कहते हैं ।

पुनश्च सं अर्थात् संक्षेप से, हन्यते, गम्यते अर्थात् जानते हैं एक गति का स्वरूप जिनसे, उसे संघात कहते हैं ।

पुनश्च **प्रतिपद्यंते** अर्थात् विस्तार से जानते हैं, चार गति जिससे, उसे प्रतिपत्तिक कहते हैं । नाम संज्ञा में **क** प्रत्यय से प्रतिपत्तिक कहते हैं ।

पुनश्च **अनु** अर्थात् गुणस्थान के अनुसार, **युज्यंते** अर्थात् संबंधरूप जीव जिसमें कहते हैं, उसे अनुयोग कहते हैं ।

पुनश्च **प्रकर्षेण** अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव । अथवा निर्देश, स्वामीत्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान; अथवा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव, अल्पबहुत्व इत्यादि विशेषों से **आभृतं** अर्थात् परिपूर्ण हो, ऐसा जो वस्तु का अधिकार, उसे प्राभृत कहते हैं । जिसकी प्राभृत संज्ञा है उसे प्राभृतक कहते हैं ।

पुनश्च प्राभृतक का जो अधिकार, उसे प्राभृतकप्राभृतक कहते हैं ।

पुनश्च **वसंति** अर्थात् पूर्वरूपी समुद्र का अर्थ जिसमें एकोदेशपने पाया जाता है, उस पूर्व के अधिकार को वस्तु कहते हैं ।

पुनश्च **पूरयंति** अर्थात् शास्त्र के अर्थ को पोषे, उसे पूर्व कहते हैं । ऐसे दस भेदों की निरुक्ति कही ।

पुनश्च **सं** अर्थात् संग्रह द्वारा पर्याय से लेकर पूर्व तक भेदों को अंगीकार करके **अस्यंते** अर्थात् प्राप्त करते हैं, भेद करते हैं, उन्हें समास कहते हैं ।

पर्यायज्ञान के पश्चात् जो भेद हैं, उनको पर्यायसमास कहते हैं ।

अक्षरज्ञान के पश्चात् जो भेद हैं, उनको अक्षरसमास कहते हैं । ऐसे ही दस भेद जानने ।

इसप्रकार पूर्व चौदह, वस्तु एक सौ पंचानबे, प्राभृतक तीन हजार नौ सौ, प्राभृतक-प्राभृतक तिरानबे हजार छह सौ, अनुयोग तीन लाख चौहत्तर हजार चार सौ, प्रतिपत्तिक, संघात और पद क्रम से संख्यात हजार गुणे और एक पद के अक्षर सोलह सौ चौंतीस कोडि तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अट्ठासी तथा समस्त श्रुत के अक्षर एक कम एकट्ठी प्रमाण, इनको पद के अक्षरों का भाग देनेपर जो लब्धराशि हो, उतना द्वादशांग के पदों का प्रमाण जानना ।

अब शेष जो अक्षर हैं, वे अंगबाह्य श्रुत के जानने ।

वहां प्रथम द्वादशांग के पदों की संख्या कहते हैं –

बारुत्तरसयकोडी तेसीदी तहय होंति लक्खाणं ।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं ।।३५०।।

द्वादशोत्तरशतकोट्यः त्र्यशीतिस्तथा च भवति लक्षाणाम् ।
अष्टापंचाशत्सहस्राणि पंचैव पदानि अंगानाम् ।।३५०।।

टीका – एक सौ बारह कोडि तिरासी लाख अट्ठावन हजार पांच पद (११२,८३,५८००५) सर्व द्वादशांग के जानने । **अंग्यते** अर्थात् मध्यम पदों से जो रचे जाते हैं, उन्हें अंग कहते हैं । अथवा सर्व श्रुत का जो एक एक आचारांगादिकरूप अवयव, उसे अंग कहते हैं । ऐसी अंग शब्द की निरुक्ति है ।

आगे जो अंगबाह्य प्रकीर्णक, उनके अक्षरों की संख्या कहते हैं –

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च ।
पण्णत्तरि वण्णाओ पइण्णयाणं पमाणं तु ।।३५१।।

अष्टकोट्येकलक्षाणि अष्टसहस्राणि च एकशतकं च ।
पंचसप्ततिः वर्णाः प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ।।३५१।।

टीका – सामायिकादि प्रकीर्णकों के अक्षर आठ कोडि एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८,०१,०८१७५) जानने ।

आगे इस अर्थ का निर्णय करने के लिये चार गाथाओं द्वारा अक्षरों की प्रक्रिया कहते हैं –

तेत्तीस वेंजिणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।
चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ ।।३५२।।

त्रयस्त्रिंशत् व्यंजनानि सप्तविंशतिः स्वरास्तथा भणिताः ।
चत्वारश्च योगवहाः चतुषष्टिः मूलवर्णाः ।।३५२।।

टीका – ओ अर्थात् हे भव्य ! तैंतीस (३३) तो व्यंजन अक्षर हैं । जिसके

बोलने के काल में आधी मात्रा होती है, उसको व्यंजन कहते हैं । क्, ख्, ग्, घ्, ङ् । च्, छ्, ज्, झ्, ञ् । ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् । त्, थ्, द्, ध्, न् । प्, फ्, ब्, भ्, म् । य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह्, ये तैंतीस व्यंजन अक्षर हैं।

पुनश्च सत्ताइस स्वर अक्षर हैं । अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ ये नौ अक्षर इन्हीं के एक एक के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तीन भेदों से गुणा करनेपर सत्ताइस भेद होते हैं । जैसे - अ, आ, आ३ । इ, ई, ई३ । उ, ऊ, ऊ३ । ऋ, ॠ, ॠ३। लृ, लॄ, लॄ३। ए, ए, ए३ । ऐ, ऐ, ऐ३ । ओ, ओ, ओ३ । औ, औ, औ३। ये सत्ताइस स्वर हैं । जिसकी एक मात्रा हो उसको ह्रस्व कहते हैं, जिसकी दो मात्रा हो उसको दीर्घ कहते हैं, जिसकी तीन मात्रा हो उसको प्लुत कहते हैं ।

पुनश्च चार योगवाह अक्षर हैं । अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय । वहां **अं** ऐसा अक्षर अनुस्वार है । **अः** ऐसा अक्षर विसर्ग है । **कः** ⩙ ऐसा अक्षर जिह्वामूलीय है । **पः** ऐसा अक्षर उपध्मानीय है ।

ये चौंसठ मूल अक्षर अनादिनिधन परमागम में प्रसिद्ध हैं । **'सिद्धो वर्णः समाम्नायः'** इति वचनात् । **व्यज्यते** अर्थात् अर्थ जिनसे प्रकट करते है उन्हें व्यंजन कहते हैं। **स्वरंति** अर्थात् अर्थ को कहते हैं उन्हें स्वर कहते हैं । **योगं** अर्थात् अक्षर के संयोग को **वहंति** अर्थात् प्राप्त होते हैं, उन्हें योगवाह कहते हैं । **मूल** अर्थात् अक्षर के संयोग रहित और संयोगी अक्षरों के उपजने के कारणभूत ये चौंसठ मूलवर्ण हैं । इस अर्थ से द्वितीयादि अक्षर के संयोगरहित चौंसठ अक्षर हैं । इनमें से दो आदि अक्षरों के मिलने से संयोगी होते हैं । जैसे **क्**कार व्यंजन और **अ**कार स्वर मिलकर **क** ऐसा अक्षर होता है । **आ**कार मिलने से **का** ऐसा अक्षर होता है । इत्यादि संयोगी अक्षर उपजने को कारण चौंसठ मूल अक्षर जानने ।

यहां प्रश्न – व्याकरण में **ए, ऐ, ओ, औ** को ह्रस्व नहीं कहा है । यहां ये सब ह्रस्व कैसे कहे ?

उसका समाधान – संस्कृत भाषा में ह्रस्वरूप **ए, ऐ, ओ, औ** नहीं होते इसलिये नहीं कहे । प्राकृत भाषा में वा देशांतर की भाषा में **ए, ऐ, ओ, औ** ये अक्षर भी ह्रस्व होते हैं इसलिये यहां कहे हैं ।

पुनश्च एक दीर्घ ॡ कार संस्कृत भाषा में नहीं है तथापि अनुकरण में देशांतर की भाषा में होता है, इसलिये यहां कहा है ।

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा ।
रूऊणं च कुए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ।।३५३।।

चतुःषष्टिपदं विरलयित्वा द्विकं च दत्त्वा संगुणं कृत्वा ।
रूपोने च कृते पुनः श्रुतज्ञानस्याक्षराणि भवंति ।।३५३।।

टीका – मूल अक्षर प्रमाण चौंसठ स्थान, उनका विरलन करना अर्थात् बराबर पंक्तिरूप एक-एक जुदा चौंसठ जगह लिखना । वहां एक एक के स्थान में दो दो का अंक(२) मांडकर पश्चात् उनका परस्पर गुणन करना । दो दूने चार(४), चार दूने आठ(८), आठ दूने सोलह(१६), ऐसे चौंसठ तक गुणा करनेपर एकट्ठी प्रमाण आता है, उसमें से एक घटाना, इतने अक्षर सर्व द्रव्यश्रुत के जानने । ये सब अक्षर अपुनरुक्त जानने क्योंकि वाक्य के अर्थ की प्रतीति के लिये उन्हीं कहे हुये अक्षरों को बारम्बार कहे, तो उनकी संख्या का कुछ नियम नहीं है ।

उन अपुनरुक्त अक्षरों का प्रमाण कितना है ? वह कहते हैं –

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता ।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च ।।३५४।।

एकाष्ट च च च षट्सप्तकं च च च शून्यसप्तत्रिकसप्त ।
शून्यं नव पंच पंच च एकं षट्कैककश्च पंचकं च ।।३५४।।

टीका – एक, आठ, चार, चार, छह, सात, चार, चार, शून्य, सात, तीन, सात, शून्य, नौ, पांच, पांच, एक, छह, एक, पांच इतने अंक क्रम से लिखनेपर जो प्रमाण होता है, उतने अक्षर सर्व श्रुत के जानने । १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अक्षर हैं । द्विरूपवर्गधारा का छठवां वर्गस्थान एकट्ठी प्रमाण है, उसमें से एक घटानेपर ऐसे एक आदि पांच तक बीस अंकरूप प्रमाण होता है । पुनश्च यहां विशेष कहते हैं । एक अक्षर एक संयोगी, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि चौंसठ संयोगी तक जानना। उनकी उत्पत्ति का अनुक्रम दिखाते हैं । यहां कहे मूलवर्ण चौंसठ उनको बराबर पंक्ति करके लिखना ।

वहां केवल **क** वर्ण में तो एक प्रत्येक भंग ही है । द्विसंयोगी आदि नहीं है ।

ख वर्णसहित में प्रत्येक भंग एक, द्विसंयोगी एक ऐसे दो भंग हैं ।

ग वर्णसहित में प्रत्येक भंग एक, द्विसंयोगी दो, त्रिसंयोगी एक ऐसे चार भंग हैं ।

घ वर्णसहित में प्रत्येक भंग एक, द्विसंयोगी तीन, त्रिसंयोगी तीन, चतुःसंयोगी एक ऐसे आठ भंग जानना ।

ङ वर्णसहित में प्रत्येक भंग एक, द्विसंयोगी चार, त्रिसंयोगी छह, चतुःसंयोगी चार, पंचसंयोगी एक ऐसे सोलह भंग हैं ।

च वर्णसहित में प्रत्येक भंग एक, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी, पंचसंयोगी, षट्संयोगी क्रम से पांच, दस, दस, पांच, एक ऐसे बत्तीस भंग हैं ।

छ वर्णसहित में प्रत्येक, द्वि, त्रि, चतुः, पंच, षट्, सप्त संयोगी भंग क्रम से एक, छह, पंद्रह, बीस, पंद्रह, छह, एक ऐसे चौंसठ भंग हैं ।

ज वर्णसहित में प्रत्येक, द्वि, त्रि, चतुः, पंच, षट्, सप्त, अष्ट संयोगी भंग क्रम से एक, सात, इक्कीस, पैंतीस, पैंतीस, इक्कीस, सात, एक ऐसे एक सौ अट्ठाइस भंग हैं।

झ वर्णसहित में प्रत्येक, द्वि, त्रि, चतुः, पंच, षट्, सप्त, अष्ट, नव संयोगी भंग क्रम से एक, आठ, अट्ठाइस, छप्पन, सत्तर, छप्पन, अट्ठाइस, आठ, एक ऐसे दो सौ छप्पन भंग हैं ।

ञ वर्णसहित में प्रत्येक, द्वि, त्रि, चतुः, पंच, षट्, सप्त, अष्ट, नव, दश संयोगी भंग क्रम से एक, नौ, छत्तीस, चौरासी, एक सौ छब्बीस, एक सौ छब्बीस, चौरासी, छत्तीस, नौ, एक ऐसे पांच सौ बारह भंग हैं ।

इसी अनुक्रम से चौंसठ स्थानों में प्रत्येक आदि भंग पूर्व पूर्व स्थान से उत्तर उत्तर स्थान में दुगुणे दुगुणे होते हैं ।

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	००० चौंसठ ६४ पर्यंत
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	प्रत्येक
१	१	२	३	४	५	६	७	८	९	द्विसंयोगी
जोड़	२	१	३	६	१०	१५	२१	२८	३६	त्रिसंयोगी
	जोड़	४	१	४	१०	२०	३५	५६	८४	चतु:संयोगी
		जोड़	८	१	५	१५	३५	७०	१२६	पंचसंयोगी
			जोड़	१६	१	६	२१	५६	१२६	षट्संयोगी
				जोड़	३२	१	७	२८	८४	सप्तसंयोगी
					जोड़	६४	१	८	३६	अष्टसंयोगी
						जोड़	१२८	१	९	नवसंयोगी
							जोड़	२५६	१	दशसंयोगी
								जोड़	५१२	००

यहां प्रत्येक भंगों का स्वरूप क्या है ? वह कहते हैं - जुदे जुदे ग्रहणरूप जो प्रत्येक भंग हैं, वे एक ही प्रकार हैं । जैसे दसवें ञ वर्ण की विवक्षा में ञ वर्ण को जुदा ग्रहण करते हैं यह एक ही प्रत्येक भंग का विधान जानना । पुनश्च दो, तीन आदि अक्षरों के संयोग से जो भंग होते हैं उनको द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि कहते हैं । वे अनेक प्रकार के होते हैं । जैसे दसवें ञ वर्ण की विवक्षा में दो अक्षरों का संयोग क्ञ्, ख्ञ्, ग्ञ्, घ्ञ्, ङ्ञ्, च्ञ्, छ्ञ्, ज्ञ्, झ्ञ् ऐसे नौ प्रकार से होते हैं । उसी के तीन अक्षरों का संयोग क्ख्ञ्, क्ग्ञ्, क्घ्ञ्, क्ङ्ञ्, क्च्ञ्, क्छ्ञ्, क्ज्ञ्, क्झ्ञ्, ख्ग्ञ्, ख्घ्ञ्, ख्ङ्ञ्, ख्च्ञ्, ख्छ्ञ्, ख्ज्ञ्, ख्झ्ञ्, ग्घ्ञ्, ग्ङ्ञ्, ग्च्ञ्, ग्छ्ञ्, ग्ज्ञ्, ग्झ्ञ्, घ्ङ्ञ्, घ्च्ञ्, घ्छ्ञ्, घ्ज्ञ्, घ्झ्ञ्, ङ्च्ञ्, ङ्छ्ञ्, ङ्ज्ञ्, ङ्झ्ञ्, च्छ्ञ्, च्ज्ञ्, च्झ्ञ्, छ्ज्ञ्, छ्झ्ञ्, ज्झ्ञ्, ऐसे छत्तीस प्रकार के भंग होते हैं । ऐसे ही अन्य जानने ।

पुनश्च जितने की विवक्षा हो उतना संयोगी भंग एक ही प्रकार का होता है। जैसे दस अक्षरों की विवक्षा में दस अक्षरों के संयोगरूप दशसंयोगी भंग एक ही होता है । ऐसा भंगों का स्वरूप जानना ।

यहां श्री अभयचन्द्रसूरि सिद्धांतचक्रवर्ती के चरणों के प्रसाद से केशववर्णी संस्कृत टीकाकार उन एक, दो संयोगी आदि भंगों की संख्या के साधन में करणसूत्र कहते हैं ।

पत्तेयभंगमेगं बे संजोगं विरूवपदमेत्तं ।
तियसंजोगादिपमा रूवाहियवारहीणपदसंकलिदं ।।

विवक्षित स्थान में सर्वत्र प्रत्येक भंग एक एक ही है । द्विसंयोगी भंग एक कम गच्छप्रमाण हैं । यहां जितनेवां स्थान विवक्षित हो उसप्रमाण गच्छ जानना । पुनश्च त्रिसंयोगी आदि भंगों का क्रम से एक अधिक बार हीन गच्छ का संकलन धनमात्र प्रमाण है ।

भावार्थ – त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी आदि में एक बार, दो बार आदि संकलन करना । जितनी बार संकलन हो उससे एक अधिक प्रमाण को विवक्षित गच्छ में से घटानेपर अवशेष जितना प्रमाण रहे, उतने का वहां संकलन करना । जैसे दसवें स्थान की विवक्षा में त्रिसंयोगी भंग लाने को एक बार संकलन करना, एक बार का प्रमाण एक, उसमें एक अधिक करनेपर दो हुये, सो गच्छ दस में से दो घटानेपर आठ होते है । ऐसे आठ के एक बार संकलनधनमात्र वहां त्रिसंयोगी भंग जानना। ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

संकलनधन लाने के लिये पहले केशववर्णी द्वारा उक्त करणसूत्र कहे थे –

तत्तो रूवहियकमे गुणगारा होंति उड्ढगच्छो त्ति ।
इगिरूवमादिरूउत्तरहारा होंति पभवो त्ति ।।

इन सूत्रों के अनुसार विवक्षित संकलनधन लाना । अब इस करणसूत्र के अनुसार उदाहरण दिखाते हैं । विवक्षित दसवां ञ वर्ण, वहां प्रत्येक भंग एक, द्विसंयोगी एक कम गच्छमात्र नौ, त्रिसंयोगी भंग दो कम गच्छमात्र आठ का एक बार संकलनधन मात्र, सो संकलनधन के साधन करणसूत्र के अनुसार आठ, नौ को दो, एक का भाग देनेपर छत्तीस होते हैं $(\frac{८\times९}{२\times१})$ । क्योंकि आठ और नौ को परस्पर गुणा करके भाज्य बहत्तर तथा दो और एक को परस्पर गुणा करके भागहार दो होता है । भाज्य को भागहार का भाग देनेपर छत्तीस हुये ।

ऐसे ही चतुःसंयोगी भंग तीन कम गच्छ का दो बार संकलनधनमात्र है । वहां सात, आठ, नौ को तीन, दो, एक का भाग देनेपर चौरासी होते हैं $(\frac{७\times८\times९}{३\times२\times१})$। पुनश्च पंचसंयोगी भंग चार कम गच्छ का तीन बार संकलनधनमात्र है । वहां छह, सात,

आठ, नौ को चार, तीन, दो, एक का भाग देकर एक सौ छब्बीस होते हैं।

पुनश्च षट्संयोगी भंग पांच कम गच्छ का चार बार संकलनधनमात्र है । वहां पांच, छह, सात, आठ, नौ को पांच, चार, तीन, दो, एक का भाग देकर एक सौ छब्बीस होते हैं । पुनश्च सप्तसंयोगी भंग छह कम गच्छ का पांच बार संकलनधनमात्र है । वहां चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ को छह, पांच, चार, तीन, दो, एक का भाग देकर चौरासी होते हैं । पुनश्च अष्ट संयोगी भंग सात कम गच्छ का छह बार संकलनधनमात्र है । वहां तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ को सात, छह, पांच, चार, तीन, दो, एक का भाग देकर छत्तीस होते हैं ।

पुनश्च नवसंयोगी भंग आठ कम गच्छ का सात बार संकलनधनमात्र है । वहां दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ को आठ, सात, छह, पांच, चार, तीन, दो, एक का भाग देकर नौ होते हैं । पुनश्च दशसंयोगी भंग नौ कम गच्छ का आठ बार संकलनधनमात्र है । यहां परमार्थ से संकलन नहीं है क्योंकि एक का सर्व बार संकलन एक ही होता है । इसलिये दशसंयोगी भंग एक है । ऐसे सब का जोड़ देनेपर दसवें स्थान में पांच सौ बारह भंग हुये । ऐसे ही सर्व स्थानों में लाना ।

यहां अंतिम चौंसठवें स्थान में प्रत्येक भंग एक, द्विसंयोगी भंग एक कम गच्छमात्र तिरसठ, त्रिसंयोगी भंग दो घाटि गच्छ का एकबार संकलनधनमात्र, वहां बासठ, तिरसठ को दो, एक का भाग देनेपर उन्नीस सौ तिरपन होते है । पुनश्च चतुःसंयोगी तीन कम गच्छ का दो बार संकलनधनमात्र वहां इकसठ, बासठ, तिरसठ को तीन, दो, एक का भाग देकर उनतालीस हजार सात सौ ग्यारह भंग होते हैं । पुनश्च पंचसंयोगी चार कम गच्छ का तीन बार संकलनधनमात्र वहां साठ, इकसठ, बासठ, तिरसठ को चार, तीन, दो, एक का भाग देनेपर पांच लाख पंचानबे हजार छह सौ पैंसठ होते हैं । ऐसे ही षट्संयोगी आदि भंग पांच आदि एक एक बढ़ती संख्या से कम गच्छ का चार आदि एक एक बढ़ते बार संकलनधनमात्र जानना । वहां पूर्वोक्त से उनसठ, अट्ठावन आदि भाज्य में तथा पांच, छह आदि भागहार में अधिक अधिक मांडकर भाज्य को भागहार का भाग देनेपर जितना जितना प्रमाण आये उतना उतना वहां षट्संयोगी, सप्तसंयोगी आदि भंग जानना ।

वहां तिरसठ संयोगी भंग बासठ कम गच्छ दो, उसका इकसठ बार संकलनधनमात्र,

वहां दो, तीन आदि एक से बढ़ते हुये तिरसठ तक को बासठ, इकसठ आदि एक एक घटता एक तक का भाग देनेपर, यथासंभव अपवर्तन करने से तिरसठ भंग होते हैं । पुनश्च चौंसठ संयोगी भंग एक ही है । ऐसे चौंसठवें स्थान में प्रत्येक आदि चौंसठ संयोगी तक भंगों को जोड़नेपर एकट्ठी के आधे प्रमाणमात्र भंग होते हैं । ऐसे एक आदि एक एक अधिक चौंसठ तक के अक्षरों के स्थानों में **'पत्तेयभंगमेगं'** इत्यादि करणसूत्र से भंग होते हैं ।

अथवा गुणस्थानाधिकार में प्रमादों का व्याख्यान करते हुये अक्षसंचार विधान कहा था, उस विधान से भी ऐसे ही भंग होते हैं । वे भंग क्रम से एक, दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौंसठ, एक सौ अट्ठाइस, दो सौ छप्पन, पांच सौ बारह, एक हजार चौबीस, दो हजार अड़तालीस, चार हजार छानबे, आठ हजार एक सौ बानबे, सोलह हजार तीन सौ चौरासी, बत्तीस हजार सात सौ अड़सठ, पैसठ हजार पांच सौ छत्तीस, एक लाख इकतीस हजार बहत्तर, दो लाख बासठ हजार एक सौ चौवालीस, पांच लाख चौबीस हजार दो सौ अट्ठासी, दस लाख अड़तालीस हजार पांच सौ छिहत्तर, बीस लाख सत्तानबे हजार एक सौ बावन, इकतालीस लाख चौरानबे हजार तीन सौ दो, तिरासी लाख अट्ठासी हजार छह सौ चार, एक कोडि सड़सठ लाख तिहत्तर हजार दो सौ आठ इत्यादि दुगुणे दुगुणे जानना । अंतिम स्थान से चौथे, तीसरे, दूसरे तथा अंतिम स्थान में क्रमशः एकट्ठी का सोलहवां, आठवां, चौथा, दूसरा भागमात्र है । इन सब को जोड़नेपर **'चउसठिपदं विरलिय'** इत्यादि सूत्रोक्त एक कम एकट्ठी मात्र भंग होते हैं । अथवा **'अंतधनं गुणगुणियं आदि विहीणं रूउणुत्तरभजियं'** इस करणसूत्र से अन्तधन एकट्ठी का आधा, उसको गुणकार दो से गुणा करके एकट्ठी हुये, उसमें से एक घटानेपर एक कम एकट्ठी हुये, उसे एक कम गुणकार एक का भाग देनेपर भी इतने ही सर्व भंग होते हैं । इसतरह सर्वश्रुत संबंधी समस्त अक्षरों की संख्या एक कम एकट्ठी प्रमाण जानना ।

यहां जैसे अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, इन छह अक्षरों में प्रत्येक भंग छह, द्विसंयोगी पंद्रह, त्रिसंयोगी बीस, चतुःसंयोगी पंद्रह, पंचसंयोगी छह, षट्संयोगी एक मिलकर तिरसठ भंग होते हैं । छह बार दो लिखकर परस्पर गुणा करके एक घटानेपर तिरसठ होते हैं । वैसे चौंसठ मूल अक्षरों में पहले एक एक स्थान में एक एक प्रत्येक भंग मिलकर चौंसठ हुये । ऐसे ही सर्व स्थानों के द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि भंग

लिखकर जितने जितने हो उतने उतने द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि भंग जानने । सब को जोड़नेपर एक कम एकट्ठी प्रमाण होते हैं । वही चौंसठ बार दो का अंक लिखकर परस्पर गुणा करके उसमें से एक घटानेपर एक कम एकट्ठी प्रमाण श्रुतज्ञान के अक्षर जानना ।

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि ।
सेसक्खरसंखा ओ पइण्णयाणं पमाणं तु ।।३५५।।

मध्यमपदाक्षरावहितवर्णास्ते अंगपूर्वगपदानि ।
शेषाक्षरसंख्या अहो प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ।।३५५।।

टीका – एक कम एकट्ठी प्रमाण समस्त श्रुत के अक्षर कहे, उनको परमागम में प्रसिद्ध जो मध्यमपद, उसके अक्षरों का प्रमाण सोलह सौ चौंतीस कोडि तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अट्ठासी, उसका भाग देनेपर जो पदों का प्रमाण आता है उतने तो अंगपूर्व संबंधी मध्यमपद जानने । पुनश्च अवशेष जो अक्षर रहे, वे प्रकीर्णकों के जानने । सो एक सौ बारह कोडि तिरासी लाख अट्ठावन हजार पांच इतने तो अंगप्रविष्ट श्रुत के पदों का प्रमाण आया । अवशेष आठ कोडि एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर अक्षर रहे, वे अंगबाह्य प्रकीर्णक के जानने । ऐसे अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य दो प्रकार के श्रुत के पदों का और अक्षरों का प्रमाण हे भव्य ! तू जान।

आगे श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव तेरह गाथाओं द्वारा अंगपूर्वों के पदों की संख्या प्ररूपित करते हैं –

आयारे सुद्दयडे ठाणे समवायणामगे अंगे ।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ।।३५६।।

आचारे सूत्रकृते स्थाने समवायनामके अंगे ।
ततो व्याख्याप्रज्ञप्तौ नाथस्य धर्मकथायाम् ।।३५६।।

टीका – द्रव्यश्रुत की अपेक्षा सार्थक निरुक्तिवाले अंगपूर्वों के पदों की संख्या कहते हैं । क्योंकि भावश्रुत में निरुक्त्यादि होती नहीं ।

१) आचारांग – वहां द्वादश (बारह) अंगों में प्रथम ही आचारांग है । क्योंकि

परमागम जो है, वह मोक्ष के निमित्त है, इसीकारण मोक्षाभिलाषी इसका आदर करते हैं । वहां मोक्ष का कारण संवर, निर्जरा तथा उनका कारण पंचाचारादि सकलचारित्र है, इसलिये उस चारित्र का प्रतिपादक शास्त्र पहले कहना सिद्ध हुआ । उसी कारण चार ज्ञान, सप्तऋद्धि के धारक गणधर देवों ने तीर्थंकर के मुखकमल से उत्पन्न जो सर्वभाषामय दिव्यध्वनि उसको सुनने से जो अर्थ अवधारण किया उससे शिष्य प्रतिशिष्यों के अनुग्रह के लिये द्वादशांगरूप श्रुतरचना की, उनमें पहले आचारांग कहा ।

आचरन्ति अर्थात् समस्तपने मोक्षमार्ग को आराधते हैं जिसके द्वारा वह आचार है । उस आचारांग में ऐसा कथन है - कैसे चलना, कैसा खड़े रहना, कैसे बैठना, कैसा सोना, कैसे बोलना, कैसे खाना, कैसे पापकर्म नहीं बंधेगा ? इत्यादि गणधर प्रश्नों के अनुसार यत्न से चलना, यत्न से खड़े रहना, यत्न से बैठना, यत्न से सोना, यत्न से बोलना, यत्न से खाना, इसतरह पापकर्म नहीं बंधेगा इत्यादि उत्तरवचन सहित मुनिश्वरों के समस्त आचरण का इस आचारांग में वर्णन किया है ।

***२) सूत्रकृतांग* - सूत्रयति** अर्थात् संक्षेप से अर्थ को सूचित करे, कहे ऐसा जो परमागम वह सूत्र है, उसके **अर्थकृतं** अर्थात् कारणभूत ज्ञान का विनय आदि निर्विघ्न अध्ययन आदि क्रियाविशेष, वे जिसमें वर्णन किये हैं । अथवा सूत्र द्वारा किया हुआ धर्मक्रियारूप वा स्वमत-परमत का स्वरूप क्रियारूप विशेष, वह जिसमें वर्णन किया है, वह सूत्रकृत नामक दूसरा अंग है ।

***३) स्थानांग* - तिष्ठन्ति** अर्थात् एक आदि एक एक बढ़ते स्थान जिसमें पाये जाते हैं, वह स्थान नामक तीसरा अंग है । वहां ऐसा वर्णन है - संग्रहनय से आत्मा एक है, व्यवहारनय से संसारी और मुक्त दो भेद संयुक्त है । तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीन लक्षणों से संयुक्त है । पुनश्च कर्म के वश से चार गतियों में भ्रमण करता है, इसलिये चतुःसंक्रमणयुक्त है । पुनश्च औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक भेद से पंचस्वभाव से प्रधान है । पुनश्च पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः भेद से छह गमन से युक्त है । संसारी जीव विग्रहगति में विदिशा में गमन नहीं करता, श्रेणीबद्ध छहों दिशाओं में गमन करता है । पुनश्च स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्तिअवक्तव्य, स्यात् नास्तिअवक्तव्य, स्यात् अस्तिनास्तिअवक्तव्य इन संप्तभंगी में उपयुक्त है । पुनश्च आठ प्रकार के कर्मों के आश्रय से संयुक्त है । पुनश्च जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष,

पुण्य, पाप ये नौ पदार्थ हैं विषय जिसके ऐसा **नवार्थ** है । पुनश्च पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय भेद से दस स्थान हैं । इत्यादि जीव को प्ररूपित किया है । पुनश्च पुद्गल सामान्य अपेक्षा एक है, विशेष से अणु और स्कंध के भेद से दो प्रकार के हैं, इत्यादि पुद्गल को प्ररूपित किया है । ऐसे एक से लेकर एक एक बढ़ते स्थान इस अंग में वर्णन किये हैं ।

***४) समवायांग* – सं** अर्थात् समानता से **अवेयंते** अर्थात् जीवादि पदार्थ जिसमें जाने जाते हैं, वह समवायांग चौथा जानना । इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपेक्षा समानता प्ररूपित की है ।

वहां द्रव्य की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय समान हैं, संसारी जीव से संसारी जीव समान हैं, मुक्त जीव से मुक्त जीव समान हैं, इत्यादि द्रव्य समवाय है ।

क्षेत्र की अपेक्षा से प्रथम नरक के प्रथम पाथडे का सीमंतक नामक इन्द्रकबिल, अढ़ाई द्वीपरूप मनुष्यक्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नामक इन्द्रकविमान, सिद्धशिला और सिद्धक्षेत्र ये समान हैं । पुनश्च सातवें नरक का अवधिस्थान नामक इन्द्रकबिल, जम्बूद्वीप और सर्वार्थसिद्धि विमान ये समान हैं, इत्यादि क्षेत्रसमवाय हैं।

काल की अपेक्षा एक समय, एक समय समान है । आवली, आवली समान है । प्रथम पृथ्वी के नारकी, भवनवासी, व्यंतर इनकी जघन्य आयु समान है । तथा सातवीं पृथ्वी के नारकी, सर्वार्थसिद्धि के देव इनकी उत्कृष्ट आयु समान है, इत्यादि कालसमवाय है ।

भाव की अपेक्षा केवलज्ञान, केवलदर्शन समान है । इत्यादि भावसमवाय है। इत्यादि ऐसी समानता इस अंग में वर्णन की है ।

***५) व्याख्याप्रज्ञप्तिअंग* – वि** अर्थात् विशेष से बहुत प्रकार, **आख्या** अर्थात् गणधर के किये हुये प्रश्न, **प्रज्ञाप्यंते** अर्थात् जानते हैं जिसमें ऐसा व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पांचवां अंग जानना । इसमें ऐसा कथन है कि – जीव अस्ति है या जीव नास्ति है ? जीव एक है या जीव अनेक है ? जीव नित्य है या जीव अनित्य है ? जीव वक्तव्य है या जीव अवक्तव्य है ? इत्यादि साठ हजार प्रश्न गणधरदेव ने तीर्थंकर के

निकट किये, उसका वर्णन इस अंग में है ।

६) ***नाथधर्मकथा या ज्ञातृधर्मकथा अंग* - नाथ** अर्थात् तीन लोक के स्वामी, तीर्थंकर, परम भट्टारक, उनके धर्म की कथा जिसमें हो ऐसा नाथधर्मकथा नामक छठवां अंग है । इसमें जीवादि पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया है । घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न हुआ केवलज्ञान, उसी के साथ तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृति के उदय से जिसकी महिमा प्रकट हुयी ऐसे तीर्थंकर के पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, अर्धरात्रि इन चार कालों में छह छह घडी पर्यंत बारह सभा के मध्य सहज ही दिव्यध्वनि होती है । पुनश्च गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती इनके प्रश्न करने से और काल में भी दिव्यध्वनि होती है। ऐसी दिव्यध्वनि निकटवर्ती श्रोतृजनों को उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार वा रत्नत्रय स्वरूप धर्म कहती है । इत्यादि इस अंग में कथन है । अथवा उसी छठवें अंग का दूसरा नाम ज्ञातृधर्मकथा है । सो इसका अर्थ यह है - ज्ञाता जो गणधरदेव, जानने की है इच्छा जिनके, उनके प्रश्न के अनुसार उत्तररूप धर्मकथा, उसको ज्ञातृधर्मकथा कहते हैं । जो अस्ति-नास्ति इत्यादिरूप प्रश्न गणधरदेव ने किये, उनका उत्तर इस अंग में वर्णन करते हैं । अथवा ज्ञाता जो तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदिक उनकी धर्मसंबंधी कथा इसमें पायी जाती हैं । इसलिये भी ज्ञातृधर्मकथा ऐसे नाम का धारी छठवां अंग जानना ।

तो वासयअज्झयणे अंतयडे णुत्तरोववाददसे ।
पण्हाणं वायरणे विवायसुत्ते य पदसंखा ।।३५७।।

तत उपासकाध्ययने अंतकृते अनुत्तरौपपाददशे ।
प्रश्नानां व्याकरणे विपाकसूत्रे च पदसंख्या ।।३५७।।

टीका - ७) *उपासकाध्ययन अंग* - उपासंते अर्थात् आहारादि दान से वा पूजनादि से संघ की सेवा करे, ऐसा जो श्रावक, उनको उपासक कहते हैं । वे **अधीयंते** अर्थात् पढ़े, सो उपासकाध्ययन नामक सातवां अंग है । इसमें दर्शनिक, व्रतिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तविरत, रात्रिभक्तविरति, ब्रह्मचर्य, आरंभनिवृत्त, परिग्रहनिवृत्त, अनुमतिविरत, उद्दिष्टविरत ये गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमा और व्रत, शील, आचारक्रिया, मंत्रादिक इनका विस्तार से प्ररूपण है ।

८) अंतकृत् दशांग – एक एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में दस दस मुनीश्वर तीव्र चार प्रकार का उपसर्ग सहन कर, इन्द्रादिकों द्वारा की हुयी पूजा आदि प्रातिहार्यरूप प्रभावना पाकर, पापकर्म का नाश करके संसार का अंत करते हैं उनको अंतकृत् कहते हैं, उनका कथन जिस अंग में हो उसको अंतकृत् दशांग नामक आठवां अंग कहते हैं । वहां श्री वर्धमान स्वामी के काल में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलिक, विकृविल, किष्कंविल, पालंवष्टपुत्र ये दस हुये । ऐसे ही वृषभादिक एक एक तीर्थंकर के काल में दस दस अंतकृत् केवली होते हैं । उनका कथन इस अंग में है ।

९) अनुत्तरौपपादिक दशांग – उपपाद हे प्रयोजन जिनका उसे औपपादिक कहते हैं । तथा अनुत्तर अर्थात् विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि इन विमानों में जो औपपादिक होकर उपजते हैं, उनको अनुत्तरौपपादिक कहते हैं । सो एक एक तीर्थंकर के काल में दस दस महामुनि दारुण उपसर्ग सहकर, बड़ी पूजा पाकर, समाधि करके, प्राण छोड़कर, विजयादिक अनुत्तर विमानों में उपजे । उनकी कथा जिस अंग में है, वह अनुत्तरौपपादिक दशांग नामक नौवां अंग जानना । वहां श्री वर्धमान स्वामी के काल में ऋजुदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, नंद, नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण, चिलातीपुत्र ये दस हुये । ऐसे ही दस दस अन्य तीर्थंकरों के काल में भी हुये । उन सब का कथन इस अंग में है ।

१०) प्रश्नव्याकरण अंग – प्रश्न अर्थात् पूछनेवाला पुरुष जो पूछे वह **व्याक्रियंते** अर्थात् जिसमें वर्णन किया है, वह प्रश्नव्याकरण नामक दसवां अंग जानना । इसमें जो कोई पूछनेवाला खोयी हुयी वस्तु को या मूठी की वस्तु को या चिंता या धनधान्य, लाभ, अलाभ, सुखदुःख, जीना, मरना, हार, जीत इत्यादि अतीत, अनागत, वर्तमानकालसंबंधी प्रश्न पूछे, उसको यथार्थ कहने के उपायरूप व्याख्यान इस अंग में है । अथवा शिष्य को प्रश्न के अनुसार आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजिनी, निर्वेजिनी ये चार कथा भी प्रश्नव्याकरण अंग में प्रकट की हैं ।

वहां तीर्थंकरादि के चरित्ररूप प्रथमानुयोग, लोक के वर्णनरूप करणानुयोग, श्रावक मुनिधर्म के कथनरूप चरणानुयोग, पंचास्तिकायादि के कथनरूप द्रव्यानुयोग इनका कथन करते हैं और परमत की शंका दूर करते हैं, वह आक्षेपिणी कथा है ।

पुनश्च प्रमाण-नयरूप युक्ति, उसके द्वारा न्याय के बल से सर्वथा एकांतवादी आदि परमतों द्वारा कथित अर्थों का खंडन करना, वह विक्षेपिणी कथा है ।

पुनश्च रत्नत्रयरूप धर्म और तीर्थंकरादि पद की ईश्वरता और ज्ञान, सुख, वीर्यादिरूप धर्म का फल, उसके अनुराग को कारण, वह संवेजिनी कथा है ।

पुनश्च संसार, देह, भोग के राग से जीव नारकादि में दरिद्र, अपमान, पीड़ा, दुःख भोगता है । इत्यादि विराग होने के कारणरूप जो कथा, वह निर्वेजिनी कथा है। सो ऐसी भी कथा प्रश्नव्याकरण अंग में पायी जाती हैं ।

११) विपाकसूत्रांग **–** विपाक अर्थात् कर्म का उदय, उसको **सूत्रयति** अर्थात् कहता है वह विपाकसूत्र नामक ग्यारहवां अंग जानना । इसमें कर्मों का फल देनेरूप जो परिणमन, उसे ही उदय कहते हैं । उसके तीव्र, मंद, मध्यम अनुभाग का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से वर्णन पाया जाता है ।

ऐसे आचारांग से लेकर विपाकसूत्र तक ग्यारह अंग, उनके पदों की संख्या कहते हैं -

अट्ठारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडबिछप्पण्णं ।
सत्तरि अट्ठावीसं चोद्दालं सोलससहस्सा ।।३५८।।
इगिदुगपंचेयारं तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी ।
चुलसीदिलक्खमेया कोडी य विवागसूत्तम्हि ।।३५९।।

अष्टादश षट्त्रिंशत् द्वाचत्वारिंशत् अष्टकृतिः अष्टद्विषट्पंचाशत् ।
सप्ततिः अष्टाविंशतिः चतुश्चत्वारिंशत् षोडश सहस्राणि ।।३५८।।

एकद्विपंचैकादशत्रयोविंशतिद्वित्रिनवतिलक्षं चतुर्थादिषु ।
चतुरशीतिलक्षमेका कोटिश्च विपाकसूत्रे ।।३५९।।

टीका – प्रथम गाथा में अठारह आदि हजार कहे । दूसरी गाथा में चौथा अंग आदि अंगों में एकादिक लाख सहित हजार कहे और विपाकसूत्र का जुदा वर्णन किया । अब इन गाथाओं के अनुसार ग्यारह अंगों के पदों की संख्या कहते हैं। आचारांग में पद अठारह हजार(१८०००), सूत्रकृतांग में पद छत्तीस हजार(३६०००), स्थानांग में

बयालीस हजार(४२०००), समवायांग में एक लाख और आठ की कृति चौंसठ हजार(१६४०००), व्याख्याप्रज्ञप्ति में दो लाख अट्ठाइस हजार(२२८०००), ज्ञातृकथांग में पांच लाख छप्पन हजार(५५६०००), उपासकाध्ययन अंग में ग्यारह लाख सत्तर हजार (११७००००), अंतकृत् दशांग में तेइस लाख अट्ठाइस हजार(२३२८०००), अनुत्तरौपपादक दशांग में बानबे लाख चौवालीस हजार(९२४४०००), प्रश्नव्याकरण में तिरानबे लाख सोलह हजार(९३१६०००), विपाकसूत्र अंग में एक कोडि चौरासी लाख(१८४०००००) ऐसी ग्यारह अंगों में पदों की संख्या जाननी ।

वापणनरनोनानं एयारंगे जुदी हु वादम्हि ।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम वाहिरे वण्णा ।।३६०।।

वापणनरनोनानं एकदशांगे युतिर्हि वादे ।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाह्ये वर्णाः ।।३६०।।

टीका – यहां और आगे अक्षरसंज्ञा द्वारा अंकों को कहते हैं । सो इसका सूत्र पहले गतिमार्गणा के वर्णन में पर्याप्त मनुष्यों की संख्या कही है, वहां कहा है । **'कटपयपुरस्थवर्णैः'** इत्यादि सूत्र वहां कहा है । उसीसे अक्षर संज्ञा द्वारा अंक जानना । **क**कारादि नौ अक्षरों द्वारा एक, दो आदि क्रम से नौ अंक जानना । **ट**कारादि नौ अक्षरों द्वारा नौ अंक जानना । **प**कारादि पांच अक्षरों द्वारा पांच अंक जानना। **य**कारादि आठ अक्षरों द्वारा आठ अंक जानना । **ञ**कार, **न**कार तथा **अ**कारादि स्वर इनके द्वारा शून्य जानना, ऐसा कह आये हैं । सो यहां **'वापणनरनोनानं'** इन अक्षरों द्वारा चार, एक, पांच, शून्य, दो, शून्य, शून्य, शून्य ये अंक जानना । उसके चार कोडि पंद्रह लाख दो हजार पद (४१५०२०००) सर्व ग्यारह अंगों का जोड़ देनेपर होता है ।

पुनश्च दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग, उसमें **'कनजतजमताननमं'** अर्थात् एक, शून्य, आठ, छह, आठ, पांच, छह, शून्य, शून्य, पांच इन अंकों द्वारा एक सौ आठ कोडि अड़सठ लाख छप्पन हजार पांच (१०८६८५६००५) पद हैं, वह कहते हैं । मिथ्यादर्शन का है निराकरण जिसमें ऐसा दृष्टिवाद नामक अंग बारहवां जानना ।

वहां मिथ्यादर्शन संबंधी कुवादी तीन सौ तिरसठ हैं । उनमें कौत्कल, कांठेबिद्धि,

कौशिक, हरि, श्मश्रु, मांधपिक, रोमश, हारीत, मुंड, आश्वलायन इत्यादि क्रियावादी हैं। इनके एक सौ अस्सी (१८०) कुवाद हैं ।

पुनश्च मारीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाड्वलि, माठर, मौद्गलायन इत्यादि अक्रियावादी हैं, उनके चौरासी (८४) कुवाद हैं ।

पुनश्च साकल्य, वाल्कलि, कुसुत्ति, सात्यमुग्रीनारायण, कठ, माध्यंदिन, मौद, पैप्पलाद, वादरायण, स्विष्ठिक्य, दैत्यकायन, वसु, जैमिन्य इत्यादि अज्ञानवादी हैं । इनके सड़सठ(६७) कुवाद हैं ।

पुनश्च वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मिकी, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, उपमन्यु, ऐन्द्रदत्त, अगस्ति इत्यादि विनयवादी हैं । इनके बत्तीस (३२) कुवाद हैं ।

सब मिलकर तीन सौ तिरसठ कुवाद हुये इनका वर्णन *(कर्मकाण्ड के)* भावाधिकार में कहेंगे । यहां प्रवृत्ति में उन कुवादियों के जो जो अधिकारी हैं, उनके नाम कहे हैं ।

पुनश्च अंगबाह्य जो सामायिकादिक उनमें **'जनकनजयसीम'** अर्थात् आठ, शून्य, एक, शून्य, आठ, एक, सात, पांच अंक, उनके (८०१०८१७५) आठ कोडि एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर अक्षर जानने ।

चंदरविजंबुदीवयदीवसमुद्दयवियाहपण्णत्ती ।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणि जोगमदो ।।३६१।।

पुव्वं जलथलमायाआगासयरूवगयामिमा पंच ।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ।।३६२।।

चंद्ररविजंबूद्वीपकद्वीपसमुद्रकव्याख्याप्रज्ञप्तयः ।
परिकर्म पंचविधं सूत्रं प्रथमानुयोगमतः ।।३६१।।

पूर्वं जलस्थलमायाकाशकरूपगता इमे पंच ।
भेदा हि चूलिकायाः तेषु प्रमाणमिदं क्रमशः ।।३६२।।

टीका – *१२) दृष्टिवाद अंग* – दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के पांच अधिकार हैं । **परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका** ये पांच अधिकार हैं।

परिकर्म – उनमें 'परितः' अर्थात् सर्वांग से **कर्माणि** अर्थात् जिनसे गुणकार भागहारादिरूप गणित होते हैं ऐसे करणसूत्र, वे जिसमें पाये जाते हैं उसे **परिकर्म** कहते हैं । वह परिकर्म पांच प्रकार का है – चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागर–प्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति ।

वहां **चन्द्रप्रज्ञप्ति** में चन्द्रमा का विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमनविशेष, वृद्धि, हानि, पूर्णग्रहण, आधा ग्रहण, चौथाई ग्रहण इत्यादि प्ररूपण है । **सूर्यप्रज्ञप्ति** में सूर्य की आयु, मंडल, परिवार, ऋद्धि, गमन का प्रमाण, ग्रहण इत्यादि प्ररूपण है । **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** में जम्बूद्वीप संबंधी मेरुपर्वत, कुलाचल, द्रह, क्षेत्र, वेदी, वनखण्ड, व्यंतरों के मंदिर, नदियां इत्यादि प्ररूपण है । **द्वीपसागरप्रज्ञप्ति** में असंख्यात द्वीपसमुद्र संबंधी स्वरूप तथा वहां रहनेवाले ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासियों के आवास, उनमें अकृत्रिम जिनमंदिर इत्यादि प्ररूपण है । **व्याख्याप्रज्ञप्ति** में रूपी, अरूपी, जीव, अजीव आदि पदार्थों का और भव्य अभव्य आदि का प्रमाण द्वारा निरूपण किया है । ऐसे परिकर्म के पांच भेद हैं ।

***सूत्र* – सूत्रयति** अर्थात् मिथ्यादर्शन के भेदों को कहे, बतावे, उसे सूत्र कहते हैं । उसमें जीव अबंधक ही है, अकर्ता है, निर्गुण है, अभोक्ता है, स्वप्रकाशक ही है, परप्रकाशक ही है, अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है इत्यादि क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद, उनके तीन सौ तिरसठ भेद उनका पूर्वपक्ष द्वारा वर्णन किया है।

***प्रथमानुयोग* –** प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि अव्रती, विशेष ज्ञानरहित उसको उपदेश देने के निमित्त प्रवृत्त हुआ जो अधिकार अर्थात् अनुयोग उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। उसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण इन तिरसठ शलाका पुरुषों का पुराण वर्णन किया है ।

***पूर्वगत* –** चौदह प्रकार के हैं, उन्हें आगे विस्तार से कहेंगे ।

***चूलिका* –** चूलिका के पांच भेद हैं । जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता, आकाशगता ये पांच भेद हैं । उनमें से **जलगताचूलिका** तो जल का स्तंभन करना, जल में गमन करना, अग्नि का स्तंभन करना, अग्नि का भक्षण करना, अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि क्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र तपश्चरणादि प्ररूपित करती है । **स्थलगता–चूलिका** मेरुपर्वत, भूमि इत्यादि में प्रवेश करना, शीघ्र गमन करना इत्यादि क्रिया के

कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादिक प्ररूपित करती है । **मायागताचूलिका** - मायामयी इन्द्रजाल विक्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादि प्ररूपित करती है । **रूपगताचूलिका** सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल, हिरण इत्यादि नानाप्रकार के रूप पलटकर धरना उसके कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादिक प्ररूपित करती है । और चित्राम, काष्ठ, लेपादिक का लक्षण प्ररूपित करती है । तथा धातु रसायन को प्ररूपित करती है । तथा **आकाशगता-चूलिका** आकाश में गमन आदि को कारणभूत मंत्र, तंत्र आदि प्ररूपित करती है। इसप्रकार चूलिका के पांच भेद जानने ।

ये चन्द्रप्रज्ञप्ति से लेकर भेद कहे, उनके पदों का प्रमाण आगे कहते हैं, उन्हें हे भव्य ! तू जान ।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगात नोननं जजलक्खा ।
मननन धममननोननानामं रनधजधरानन जलादी ।।३६३।।

याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे ।
कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो ।।३६४।।

गतनममनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्षाणि ।
मननन धममननोननानामं रनधजधरानन जलादिषु ।।३६३।।

याजकनामेनाननमेतानि पदानि भवंति परिकर्मणि ।
कानवधिवाचनाननमेषः पुनः चूलिकायोगः ।।३६४।।

टीका - यहां **'कटपयपुरस्थवर्णैः'** इत्यादि सूत्रोक्त विधान से अक्षर संज्ञा द्वारा अंक कहते हैं । सो अंकों का जो प्रमाण आया वही यहां कहते हैं ।

एक एक अक्षर से एक एक अंक जान लेना । सो **'गतनमनोननं'** अर्थात् छत्तीस लाख पांच हजार (३६०५०००) पद चन्द्रप्रज्ञप्ति में हैं ।

'मनगनोननं' अर्थात् पांच लाख तीन हजार(५०३०००) पद सूर्यप्रज्ञप्ति में हैं।

'गोरमनोननं' अर्थात् तीन लाख पच्चीस हजार(३२५०००) पद जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं ।

'मरगतनोननं' अर्थात् बावन लाख छत्तीस हजार (५२३६०००) पद द्वीपसागरप्रज्ञप्ति

में हैं ।

'जवगातनोननं' अर्थात् चौरासी लाख छत्तीस हजार (८४३६०००) पद व्याख्याप्रज्ञप्ति में हैं ।

'जजलक्खा' अर्थात् अट्ठासी लाख (८८०००००) पद सूत्र नामक भेद में हैं।

'मननन' अर्थात् पांच हजार (५०००) पद प्रथमानुयोग में हैं ।

'धममननोननननामं' अर्थात् पंचानबे कोडि पचास लाख पांच (९५५००००००५) पद पूर्वगत में हैं । चौदह पूर्वों के इतने पद हैं ।

'रनधजधरानन' अर्थात् दो कोडि नौ लाख नवासी हजार दो सौ (२०९८९२००) पद जलगता आदि चूलिकाओं के एक एक के इतने पद जानने । जलगता में (२०९८९२००), स्थलगता में (२०९८९२००), मायागता में (२०९८९२००), रूपगता में (२०९८९२००) तथा आकाशगता में (२०९८९२००) पद जानने ।

पुनश्च **'याजकनामेनाननं'** अर्थात् एक कोडि इक्यासी लाख पांच हजार (१८१०५०००) पद चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पांच प्रकार के परिकर्म का जोड़ देनेपर होते हैं ।

'कानवधिवाचनाननं' अर्थात् दस कोडि उनचास लाख छियालीस हजार (१०४९४६०००) पद पांच प्रकार की चूलिका का जोड़ देनेपर होते हैं ।

यहां **ग**कार से तीन का अंक, **त**कार से छह का अंक, **म**कार से पांच का अंक, **र**कार से दो का अंक, **न**कार से शून्य इत्यादि अक्षरसंज्ञा द्वारा अंक संज्ञा कही है । **क**कार से लेकर **ग**कार तक तीसरा अक्षर है इसलिये तीन का अंक कहा । पुनश्च **ट**कार से **त**कार छठवां अक्षर है इसलिये छह का अंक कहा । **प**कार से **म**कार पांचवां अक्षर है इसलिये पांच का अंक कहा । **य**कार से **र**कार दूसरा अक्षर है इसलिये दो का अंक कहा । **न**कार से शून्य कहा है । इत्यादि यहां अक्षरसंज्ञा से अंक जानने ।

पण्णट्ठदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं ।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयाइं ।।३६५।।

छस्सय पण्णासाइं चउसयपण्णास छसयपणुबीसा ।
बिहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ।।३६६।।

पंचाशदष्टचत्वारिंशत् पंचत्रिंशत् त्रिंशत् पंचाशत् पंचाशत्त्रयोदशशतं ।
नवतिः द्वाचत्वारिंशत् पूर्वे पंचपंचाशत् त्रयोदशशतानि ।।३६५।।

षट्छतपंचाशानि चतुः शतपंचाशत् षट्छतपंचविंशतिः ।
द्वाभ्यां लक्षाभ्यां तु गुणितानि पंचमं रूपोनं षट्युतानि षष्ठे ।।३६६।।

टीका – उत्पाद आदि चौदह पूर्वों में पदों की संख्या कहते हैं ।

१) उत्पादपूर्व – वहां वस्तु के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि अनेक धर्मों का पूरक वह उत्पाद नामक प्रथम पूर्व है । इसमें जीवादि वस्तुओं का नाना प्रकार के नय विवक्षा से, क्रमवर्ती, युगपत् अनेक धर्मों द्वारा हुये जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, वे तीनों काल की अपेक्षा से नौ धर्म हुये । सो उन धर्मरूप परिणमित वस्तु भी नौ प्रकार की होती है । उत्पन्न हो गया, उत्पन्न हो रहा है, उत्पन्न होगा । नष्ट हुआ, नष्ट हो रहा है, नष्ट होगा । स्थिर हो गया, स्थिर हो रहा, स्थिर होगा। ऐसे नौ प्रकार का द्रव्य हुआ । इन एक एक के नौ नौ उत्पन्नपना आदि धर्म जानने। ऐसे इक्यासी भेद युक्त द्रव्य का वर्णन है । इसके दो लाख से पचास को गुणा करनेपर एक कोडि (१००००००) पद जानने ।

२) अग्रायणीय पूर्व – **अग्र** अर्थात् द्वादशांग में प्रधानभूत जो वस्तु, उसका **अयन** अर्थात् ज्ञान वही है प्रयोजन जिसका ऐसा अग्रायणीय नामक दूसरा पूर्व है। इनमें सात सौ सुनय और दुर्नय का और सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ, षट्द्रव्य इत्यादि का वर्णन है । इसके दो लाख से अड़तालीस को गुणा करनेपर छानबे लाख (९६०००००) पद हैं ।

३) वीर्यानुवाद पूर्व – **वीर्य** अर्थात् जीवादिक वस्तुओं की शक्ति-समर्थता, उसका है अनुप्रवाद अर्थात् वर्णन जिसमें, ऐसा वीर्यानुवाद नामक तीसरा पूर्व है । इसमें आत्मा का वीर्य, पर का वीर्य, दोनों का वीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भाववीर्य, तपोवीर्य इत्यादि द्रव्य, गुण, पर्यायों का शक्तिरूप वीर्य उसका व्याख्यान है । इसके दो लाख से पैंतीस को गुणा करनेपर सत्तर लाख (७०००००) पद हैं ।

४) ***अस्ति-नास्तिप्रवाद पूर्व* - अस्ति नास्ति** आदि जो धर्म, उनका है प्रवाद अर्थात् निरूपण जिसमें ऐसा अस्तिनास्तिप्रवाद नामक चौथा पूर्व है । इसमें जीवादि वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से संयुक्त है इसलिये स्यात् अस्ति है। पुनश्च पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में यह नहीं है, इसलिये स्यात् नास्ति है । पुनश्च अनुक्रम से स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा स्यात् अस्ति-नास्ति है । पुनश्च युगपत् स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य कहने में नहीं आ सकता, इसलिये स्यात् अवक्तव्य है । पुनश्च स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से द्रव्य अस्तिरूप है, परंतु युगपत् स्व-पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव से कहने में नहीं आ सकता इसलिये स्यात् अस्तिअवक्तव्य है । पुनश्च पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से द्रव्य नास्तिरूप है परंतु युगपत् स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से द्रव्य कहने में नहीं आ सकता इसलिये स्यात् नास्तिअवक्तव्य है । पुनश्च अनुक्रम से स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिनास्तिरूप है परंतु युगपत् स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अवक्तव्य है, इसलिये स्यात् अस्तिनास्तिअवक्तव्य है ।

ऐसे जिसप्रकार अस्ति नास्ति अपेक्षा सात भंग कहे हैं, उसप्रकार एक अनेक धर्म अपेक्षा सात भंग होते हैं । अभेद अपेक्षा स्यात् एक है । भेद अपेक्षा स्यात् अनेक है । क्रम से अभेद भेद अपेक्षा स्यात् एकअनेक है । युगपत् अभेद भेद अपेक्षा स्यात् अवक्तव्य है । अभेद अपेक्षा और युगपत् अभेद भेद अपेक्षा स्यात् एकअवक्तव्य है । भेद अपेक्षा और युगपत् अभेद भेद अपेक्षा स्यात् अनेकअवक्तव्य है । क्रम से अभेद भेद अपेक्षा और युगपत् अभेद भेद अपेक्षा स्यात् एकअनेकअवक्तव्य है ।

ऐसे ही नित्य अनित्य से लेकर अनंत धर्मों के सात भंग हैं । वहां प्रत्येक भंग तीन - अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य और द्विसंयोगी भंग तीन - अस्तिनास्ति, अस्ति अवक्तव्य, नास्तिअवक्तव्य तथा त्रिसंयोगी भंग एक अस्तिनास्तिअवक्तव्य । इन सात भंगों का समुदाय वह सप्तभंगी है । सो प्रश्न के वश से एक ही वस्तु में अविरोधपने संभवनेवाले नाना प्रकार के नयों की मुख्यता, गौणता से प्ररूपण किया है । यहां सर्वथा नियमरूप एकांत के अभाव युक्त कथंचित् है अर्थ जिसका, ऐसा स्यात् शब्द जानना । इस अंग के दो लाख से तीस को गुणा करनेपर साठ लाख (६००००००) पद हैं ।

५) ज्ञानप्रवाद पूर्व - ज्ञानों का है प्रवाद अर्थात् प्ररूपण जिसमें ऐसा ज्ञानप्रवाद नामक पांचवां पूर्व है । इसमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये पांच सम्यग्ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, विभंग ये तीन कुज्ञान इनका स्वरूप, संख्या, विषय और फल इत्यादि की अपेक्षा से प्रमाण अप्रमाणता रूप भेदों का वर्णन किया है । इसके दो लाख से पचास को गुणा करनेपर एक कोटि होते हैं, उनमें से एक घटाना, ऐसे एक कम कोटि (९९९९९९९) पद हैं । गाथा में **पंचम रूऊण** ऐसा कहा है । इसलिये पांचवें अंग में एक घटाया, अन्य संख्या गाथा के अनुसार कही ही है ।

६) सत्यप्रवाद पूर्व - सत्य का है प्रवाद अर्थात् प्ररूपण जिसमें ऐसा सत्यप्रवाद नामक छठवां पूर्व है । इसमें वचनगुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन के प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, बोलनेवाले जीवों के भेद, बहुत प्रकार के मृषा वचन, दस प्रकार के सत्य वचन इत्यादि वर्णन है । वहां असत्य न बोलना वा मौन धरना उसे सत्यवचनगुप्ति कहते हैं । पुनश्च वचनसंस्कार के कारण दो हैं - एक तो स्थान, एक प्रयत्न । वहां जिन स्थानों से अक्षर बोले जाते हैं वे स्थान आठ हैं - हृदय, कंठ, मस्तक, जिह्वा का मूल, दंत, नासिका, होठ, तालवा । जैसे **अ**कार, **क**वर्ग, **ह**कार, विसर्ग इनका कंठ स्थान है, ऐसे अक्षरों के स्थान जानने । *(क वर्ग कहने से क, ख, ग, घ, ङ जानने ।)*

पुनश्च जिसप्रकार अक्षर कहे जाते हैं, वे प्रयत्न पांच हैं - स्पृष्टता, ईषत् स्पृष्टता, विवृतता, ईषत् विवृतता, संवृतता । वहां अंग का अंग से स्पर्श होनेपर अक्षर बोले जाय वह स्पृष्टता है । कुछ थोड़ा स्पर्श होनेपर बोले जाय वह ईषत् स्पृष्टता । अंग को उघाडकर बोले जाय वह विवृतता । कुछ थोड़ा उघाडकर बोले जाय वह ईषत् विवृतता । अंग से अंग ढांककर बोले जाय वह संवृतता । जैसे **प**कारादिक होठ से होठ का स्पर्श होनेपर ही उच्चारण होता है । ऐसे प्रयत्न जानने ।

पुनश्च वचनप्रयोग दो प्रकार का है - शिष्टरूप भला वचन, दुष्टरूप बुरा वचन।

पुनश्च भाषा बारह प्रकार की है । वहां इसने ऐसा किया है, ऐसा अनिष्टवचन कहना, वह अभ्याख्यान है । जिससे परस्पर विरोध हो जाय, वह कलह वचन है। पर का दोष प्रकट करना, वह पैशून्यवचन है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से संबंध रहित वचन, वह असंबद्धप्रलापवचन है । इन्द्रियविषयों में रति उपजानेवाला वचन,

वह रतिवचन है । विषयों में अरति उपजानेवाला वचन, वह अरतिवचन है । परिग्रह को उपजाने, रखने की आसक्ति का कारण वचन, वह उपधिवचन है । व्यवहार में ठगनेरूप वचन, वह निकृतिवचन है । तप, ज्ञानादिक में अविनय का कारण वचन, वह अप्रणतिवचन है । चोरी का कारणभूत वचन, वह मोषवचन है । भले मार्ग का उपदेशरूप वचन, वह सम्यग्दर्शनवचन है । मिथ्यामार्ग का उपदेशरूप वचन, वह मिथ्यादर्शनवचन है । ऐसी बारह भाषा है ।

पुनश्च द्वीन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के बोलनेवाले वक्ताओं के भेद हैं । पुनश्च द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिक से मृषा जो असत्यवचन, वह बहुत प्रकार का है । पुनश्च जनपद आदि दस प्रकार के सत्यवचन पहले योगमार्गणा में कह आये हैं । ऐसा ऐसा कथन इस पूर्व में है । इसके दो लाख से पचास को गुणा करके **छज्जुदा छट्टे** इस वचन से छह मिलनेपर एक कोटि छह (१००००००६) पद हैं ।

७) आत्मप्रवाद पूर्व – आत्मा का है प्रवाद अर्थात् प्ररूपण इसमें ऐसा आत्मप्रवाद नामक सातवां पूर्व है । इसमें गाथा –

जीवो कत्ता य वेत्ता य पाणी भोत्ता य पुग्गलो ।
वेदी विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो ।।
सत्ता जंतू य माणी य मायी जोगी य संकुडो ।
असंकुडो य खेत्तण्हू, अंतरप्पा तहेव य ।।

इत्यादि आत्मस्वरूप का कथन है । इनका अर्थ लिखते हैं ।

जीवति अर्थात् जीता है, व्यवहार से दस प्राणों को और निश्चय से ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्वरूप चैतन्य प्राणों को धारण करता है और पहले जीया और आगे जीयेगा । इसलिये आत्मा को जीव कहते हैं ।

व्यवहार से शुभाशुभ कर्म को और निश्चय से चैतन्य प्राणों को करता है, इसलिये कर्ता कहते हैं ।

व्यवहार से सत्य असत्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता कहते हैं । निश्चय से वक्ता नहीं है ।

दोनों नयों से जो प्राण कहे, वे इसके पाये जाते हैं, इसलिये प्राणी कहते हैं।

ì`dhma g e^ Ae^ H$_ H$ \$b H$m Ama {Zü` g {ZOñdê$n H$m ^mJVm h, Bg{b` ^mº$m H$hV h Ÿ&

ì`dhma g H$_-ZmH$_ê$n nXJbm| H$m naVm h, JbmVm h, Bg{b` nXJb H$hV h, {Zü` g AmË_m nXJb h Zht Ÿ&

XmZm Z`m| g bmH$mbmH$ g~Yr {ÌH$mbdVu gd k`m| H$m d{Îm AWmV OmZVm h, Bg{b` dXH$ H$hV h Ÿ&

ì`dhma g AnZ Xh H$m dm H$dbrg_XKmV g gd bmH$ H$m VWm {Zü` g kmZ Ûmam gd bmH$mbmH$ H$m dd{îQ AWmV ì`mnVm h, Bg{b` {dîU H$hV h Ÿ&

`Ú{n ì`dhma g H$_ H$ de g ggma _| n[aU_Vm h, VWm{n {Zü` g ñd`| Amn hr AnZ _| kmZ XeZ ñdê$n hr g ^d{V AWmV n[aU_Vm h, Bg{b` ñd`^| H$hV h Ÿ&

ì`dhma g AmXm[aH$ Am{X eara BgH$ h, Bg{b` earar H$hV h, {Zü` g earar Zht h Ÿ&

ì`dhma g _Zî`m{X n`m`ê$n g n[aU_Vm h, Bg{b` _mZd H$hV h, Cnbj U g ZmaH$s, {V`M, Xd H$hV h Ÿ& {Zü` g _Z AWmV kmZ, Cg_| ^d… AWmV gÎmmê$n h, Bg{b` _mZd H$hV h Ÿ&

ì`dhma g H$Q~, {_Ìm{X n[aJh _| gO{V AWmV Amgº$ hmH$a àdVVm h, Bg{b` gº$m H$hV h, {Zü` g gº$m Zht h Ÿ&

ì`dhma g ggma _| ZmZm `m{Z`m| _| Om`V AWmV CnOVm h, Bg{b` OV H$hV h, {Zü` g OV Zht h Ÿ&

ì`dhma g _mZ AWmV AhH$ma BgH$ h, Bg{b` _mZr H$hV h Ÿ& {Zü` g _mZr Zht h Ÿ&

ì`dhma g _m`m Om H$nQ, dh BgH$ h, Bg{b` _m`mdr H$hV h Ÿ& {Zü` g _m`mdr Zht h Ÿ&

व्यवहार से मन, वचन, काय क्रियारूप योग इसके है, इसलिये योगी कहते हैं । निश्चय से योगी नहीं है ।

व्यवहार से सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त की जघन्य अवगाहना द्वारा प्रदेशों को संकोचता है, इसलिये संकुट कहते हैं । पुनश्च केवलीसमुद्घात द्वारा सर्व लोक में व्यापता है, इसलिये असंकुट है । निश्चय से प्रदेशों के संकोच विस्तार रहित किंचित् कम चरमशरीर प्रमाण है, इसलिये संकुट, असंकुट नहीं है ।

दोनों नयों से क्षेत्र जो लोकालोक, उसको **जानाति (ज्ञ)** अर्थात् जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।

व्यवहार से आठ कर्मों के अभ्यंतर प्रवर्तता है, निश्चय से चैतन्यस्वभाव के अभ्यंतर प्रवर्तता है, इसलिये अंतरात्मा कहते हैं ।

चकार से - व्यवहार से कर्म-नोकर्मरूप मूर्तिक द्रव्य के संबंध से मूर्तिक है, निश्चय से अमूर्तिक है । इत्यादि आत्मा के स्वभाव जानना । इनका व्याख्यान इस पूर्व में है । इसके दो लाख से तेरह सौ को गुणा करनेपर छब्बीस कोडि (२६००००००००) पद हैं ।

८) कर्मप्रवाद पूर्व - कर्म का है प्रवाद अर्थात् प्ररूपण इसमें ऐसा कर्मप्रवाद नामक आठवां पूर्व है । इसमें मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति, उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप भेद युक्त बंध, उदय, उदीरणा, सत्तारूप अवस्था के धारक ज्ञानावरणादि कर्म, उनके स्वरूप का और समवधान, ईर्यापथ, तपस्या, अधःकर्म इत्यादि क्रियारूप कर्मों का प्ररूपण करते हैं । इसके दो लाख से नब्बे को गुणा करनेपर एक कोडि अस्सी लाख (१८००००००) पद हैं ।

***९) प्रत्याख्यान पूर्व* - प्रत्याख्यायते** अर्थात् निषेधते हैं पाप जिससे ऐसा प्रत्याख्यान नामक नौवां पूर्व है । इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जीवों के संहनन और बल के अनुसार काल की मर्यादा सहित अथवा यावज्जीव प्रत्याख्यान अर्थात् सकल पापसहित वस्तुओं का त्याग, उपवास की विधि, उसकी भावना, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि वर्णन किया है । इसके दो लाख से बयालीस को गुणा करनेपर चौरासी लाख (८४०००००) पद हैं ।

१०) विद्यानुवाद पूर्व - विद्याओं का है अनुवाद अर्थात् अनुक्रम से वर्णन इसमें ऐसा विद्यानुवाद नामक दसवां पूर्व है । इसमें सात सौ अंगुष्ठ, प्रेत्ससेन आदि अल्पविद्या तथा पांच सौ रोहिणी आदि महाविद्या उनका स्वरूप, समर्थता, साधनभूत मंत्र, यंत्र, पूजा, विधान, सिद्ध होनेपर उन विद्याओं का फल, पुनश्च अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, छिन्न ये आठ महानिमित्त इत्यादि की प्ररूपणा की है । इसके दो लाख से पचपन को गुणा करनेपर एक कोडि दस लाख (११000000) पद हैं ।

११) कल्याणवाद पूर्व - कल्याणों का है वाद अर्थात् प्ररूपण जिसमें ऐसा कल्याणवाद नामक ग्यारहवां पूर्व है । इसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण इनके गर्भ आदि कल्याण अर्थात् महा उत्सव, पुनश्च उनके कारणभूत षोडशभावना, तपश्चरण इत्यादि क्रिया, पुनश्च चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र इनका गमनविशेष, ग्रहण, शकुन, फल इत्यादि विशेष वर्णन किया है । इसके दो लाख से तेरह सौ को गुणा करनेपर छब्बीस कोडि (२६00000000) पद हैं ।

१२) प्राणावाद पूर्व - प्राणों का है आवाद अर्थात् प्ररूपण जिसमें ऐसा प्राणावाद नामक बारहवां पूर्व है । इसमें चिकित्सा आदि आठ प्रकार का वैद्यक और भूतादि व्याधि दूर करने को कारण मंत्रादिक और विष दूर करनेवाले जांगुलिक उसका कर्म; तथा इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना इत्यादि स्वरोदयरूप बहुत प्रकार के कारणरूप श्वासोच्छ्वास के भेद; पुनश्च दस प्राणों को उपकारी और अनुपकारी वस्तु गत्यादि के अनुसार वर्णन किया है । इसके दो लाख से छह सौ पचास को गुणा करनेपर तेरह कोडि (१३0000000) पद हैं ।

१३) क्रियाविशाल पूर्व - क्रिया से विशाल अर्थात् विस्तीर्ण, शोभायमान ऐसा क्रियाविशाल नामक तेरहवां पूर्व है । इसमें संगीत, शास्त्र, छंद, अलंकारादि शास्त्र, बहत्तर कला, स्त्री के चौंसठ गुण, शिल्प आदि चातुर्यता, गर्भाधान आदि चौरासी क्रिया, सम्यग्दर्शनादि एक सौ आठ क्रिया, देववंदना आदि पच्चीस क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रिया इत्यादि की प्ररूपणा की है । इसके दो लाख से चार सौ पचास को गुणा करनेपर नौ कोडि (९0000000) पद हैं ।

१४) त्रिलोकबिंदुसार पूर्व - त्रिलोक का बिंदु अर्थात् अवयव और सार इनका

प्ररूपण है जिसमें ऐसा त्रिलोकबिंदुसार नामक चौदहवां पूर्व है । इसमें तीन लोक का स्वरूप और छब्बीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज इत्यादि गणित और मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष की कारणभूत क्रिया, मोक्ष का सुख इत्यादि वर्णन किया है । इसके दो लाख से छह सौ पच्चीस को गुणा करनेपर बारह कोडि पचास लाख (१२५००००००) पद हैं ।

ऐसी चौदह पूर्वों के पदों की संख्या होती है । यहां दो लाख के गुणकार विधान से गाथा में संख्या कही थी; इसलिये टीका में भी वैसी ही कही है ।

सामाइय चउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं ।
वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं ।।३६७।।

कप्पववहार कप्पाकप्पिय महकप्पियं च पुंडरियं ।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं ।।३६८।।

सामायिकं चतुर्विंशस्तवं ततो वंदना प्रतिक्रमणं ।
वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं च उत्तराध्ययनं ।।३६७।।

कल्प्यव्यवहार कल्प्याकल्प्य महाकल्प्यं च पुंडरीकं ।
महापुंडरीकं निषिद्धिका इति चतुर्दशांगबाह्यं ।।३६८।।

टीका – प्रकीर्णक नामक अंगबाह्य द्रव्यश्रुत चौदह प्रकार का है । सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ।

१) सामायिक – वहां **सं** अर्थात् एकत्वपने से **आयः** अर्थात् आगमन, परद्रव्यों से निवृत्ति होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति 'यह मैं ज्ञाता दृष्टा हूं' ऐसा आत्मा में उपयोग वह सामायिक है । क्योंकि एक आत्मा ही जाननेयोग्य है, इसलिये ज्ञेय है और जाननेवाला है इसलिये ज्ञायक है । इसलिये अपने को ज्ञातादृष्टा अनुभवता है । अथवा **सम** अर्थात् राग द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा, उसमें **आयः** अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति, उसे सामायिक कहते हैं, समाय है प्रयोजन जिसका उसे सामायिक कहते हैं । नित्य नैमित्तिकरूप क्रियाविशेष ऐसे उस सामायिक के प्रतिपादक शास्त्र को भी सामायिक कहते हैं ।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से सामायिक छह प्रकार का है । वहां इष्ट-अनिष्ट नाम में राग-द्वेष नहीं करना अथवा किसी वस्तु का सामायिक ऐसा नाम रखना, वह नामसामायिक है ।

पुनश्च मनोहर या अमनोहर जो स्त्री-पुरुषादिक के आकारवाले काष्ठ, लेप, चित्राम आदिरूप स्थापना, उसमें राग-द्वेष नहीं करना अथवा किसी वस्तु में यह सामायिक है ऐसी स्थापना की हुयी वस्तु वह स्थापनासामायिक है ।

पुनश्च इष्ट-अनिष्ट, चेतन-अचेतन द्रव्य में राग-द्वेष नहीं करना अथवा जो सामायिक शास्त्र को जानता है और उसका उसमें उपयोग नहीं है ऐसा जीव या उस सामायिक शास्त्र को जाननेवाले के शरीरादिक, वह द्रव्यसामायिक है ।

पुनश्च ग्राम, नगर, वनादिक इष्ट-अनिष्ट क्षेत्र में राग-द्वेष नहीं करना वह क्षेत्र-सामायिक है ।

पुनश्च वसंत आदि ऋतु और शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, दिन, वार, नक्षत्र इत्यादि इष्ट-अनिष्ट काल के विशेष, उनमें राग-द्वेष नहीं करना, वह कालसामायिक है ।

पुनश्च भाव, जो जीवादिक तत्त्व में उपयोगरूप पर्याय उसकी मिथ्यात्व कषायरूप संक्लेशपना की निवृत्ति अथवा सामायिक शास्त्र को जाननेवाला और उसी में जिसका उपयोग है ऐसा जीव अथवा सामायिक पर्यायरूप परिणमन वह भावसामायिक है । ऐसा **सामायिक नामक प्रकीर्णक** कहा है ।

२) चतुर्विंशतिस्तव - जिस काल में जिनका प्रवर्तन हो उस काल में उन्हीं चौबीस तीर्थंकरों के नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के आश्रय से पंच कल्याणक, चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, परमऔदारिक दिव्य शरीर, समवशरणसभा, धर्मोपदेश देना इत्यादि तीर्थंकरपने की महिमा का स्तवन, उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं । उसका प्रतिपादक शास्त्र, वह **चतुर्विंशतिस्तव नामक प्रकीर्णक** है ।

३) वंदना - एक तीर्थंकर के अवलंबन से प्रतिमा, चैत्यालय इत्यादि की स्तुति, उसे वंदना कहते हैं । इसके प्रतिपादक शास्त्र को **वंदना प्रकीर्णक** कहते हैं।

४) प्रतिक्रमण - **प्रतिक्रम्यते** अर्थात् प्रमाद से किये हुये दैवसिक आदि दोषों का निराकरण जिसके द्वारा करते हैं वह प्रतिक्रमण है । वह प्रतिक्रमण सात प्रकार

का है - दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक, उत्तमार्थ ।

वहां संध्या समय में दिन में किया हुआ दोष जिससे निवारण करते हैं, वह दैवसिक है । प्रभात समय में रात्रि में किया हुआ दोष जिससे निवारण करते हैं, वह रात्रिक है । पंद्रहवें दिन पक्ष (१५ दिन) में किया हुआ दोष जिससे निवारण करते हैं, वह पाक्षिक है । चौथे महिने में चार महिनों में किये हुये दोष जिससे निवारण करते हैं, वह चातुर्मासिक है । वर्षवें दिन *(एक वर्ष के पश्चात् वें दिन)* एक वर्ष में किये हुये दोष जिससे निवारण करते हैं, वह सांवत्सरिक है । गमन करने से उत्पन्न हुये दोष जिससे निवारण करते हैं, वह ऐर्यापथिक है । पुनश्च सम्पूर्ण पर्याय संबंधी दोष जिससे निवारण करते हैं, वह उत्तमार्थ है । ऐसे सात प्रकार के प्रतिक्रमण जानना ।

भरतादि क्षेत्र और दुषमादि काल, छह संहनन से युक्त स्थिर या अस्थिर पुरुषों के भेद, उनकी अपेक्षा से प्रतिक्रमण के प्रतिपादक शास्त्र, वह **प्रतिक्रमण नामक प्रकीर्णक** है ।

५) वैनयिक - विनय है प्रयोजन जिसका, वह **वैनयिक नामक प्रकीर्णक** है। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, उपचार संबंधी पांच प्रकार के विनय के विधान का प्ररूपण है ।

६) कृतिकर्म - कृति अर्थात् क्रिया, उसका कर्म अर्थात् विधान इसमें प्ररूपित है, इसलिये इसे **कृतिकर्म नामक प्रकीर्णक** कहते हैं । इसमें अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि नौ देवताओं की वंदना के निमित्त स्वयं आधीन होना वह आत्माधीनता और गिरद भ्रमणरूप तीन प्रदक्षिणा, भूमि पर अंग टेककर दो नमस्कार और सिर नवाकर चार नमस्कार और हाथ जोड़कर घुमानेरूप बारह आवर्त इत्यादि नित्य नैमित्तिक क्रिया का विधान निरूपण करते हैं ।

७) दशवैकालिक - विशेषरूप जो काल, उन्हें विकाल कहते हैं । उनके होनेपर जो हो, वह वैकालिक । सो दस वैकालिक इसमें प्ररूपित किये हैं, ऐसा **दशवैकालिक नामक प्रकीर्णक** है । इसमें मुनि का आचार, आहार की शुद्धता और लक्षण प्ररूपित किये हैं ।

८) उत्तराध्ययन - उत्तर जिसमें **अधीयंते** अर्थात् पढ़ते हैं, वह **उत्तराध्ययन**

Zm_H$ àHsUH h¡& Bg_| Mma àH$ma H$ CngJ, ~mBg n[afh BZH$ ghZ H$m {dYmZ dm CZH$m \$b VWm Bg àíZ H$m `h CÎma Eg CÎma {dYmZ H$s àê$nUm h¡&

9) H$ëß`ì`dhma - H$ëß` AWmV `mo½` AmMaU, dh ì`d{õ`V Apñ_Z AWmV àd{Îmê$n {H$` h {Og_| Egm H$ëß`ì`dhma Zm_H$ àHsUH h¡& Bg_| _Zrídam| H$ `mo½` AmMaUm| H$m {dYmZ Ama A`mo½` H$m gdZ hmZna àm`{üÎm BZH$s àê$nUm H$s h¡&

*10) H$ëß`mH$ëß`* - H$ëß` AWmV `mo½` Ama AH$ëß` AWmV A`mo½` H$s àê$nUm h {Og_| dh H$ëß`mH$ëß` Zm_H$ àHsUH h¡& Bg_| Ðì`, jÌ, H$mb, ^md H$s Anjm gmYAm| H$m `h `mo½` h, `h A`mo½` h, Eg ^X àê${nV {H$` h¡&

*11) _hmH$ëß`* - _hVm AWmV _hmZ néfm| H$ H$ëß` AWmV `mo½` Egm AmMaU {Og_| àê${nV h, dh _hmH$ëß` Zm_H$ àH$sUH$ h¡& Bg_| CËH$îQ> ghZZ `mo½` Ðì`, jÌ, H$mb, ^md _| àdVZdmb {OZH$ënr _hm_{Z`m| H$ à{V_m`mJ AWdm AmVmnZ`mJ, A^mdH$me, djVbê$n {ÌH$mb`mJ Am{X AmMaU H$s àê$nUm H$s h¡& VWm ñW{daH$pën`m| H$ Xrjm, {ejm, gK H$m nmfU, `Wm`mo½` eara H$m g_mYmZ AWmV AmË_gñH$ma, g„ IZm, CÎm_ AW ñWmZ H$m àmßV CÎm_ AmamYZm BZH$m {def àê$nU {H$`m h¡&

*12) nSarH$* - nSarH$ Zm_H$ àHsUH ^dZdmgr, ì`Va, Á`m{Vfr, H$ëndmgr BZ_| CnOZ H$ H$maU Eg XmZ, nOm, VnüaU, AH$m_{ZOam, gå`ŠËd, g`_ BË`m{X {dYmZ àê${nV H$aVm h¡& VWm dhm CnOZna Om {d^dm{X *(d^d)* nm` OmV h, CgH$m àê${nV {H$`m h¡&

*13) _hmnSarH$* - _hmZ Om nSarH$ dh _hmnSarH$ Zm_H$ àHsUH h¡& gm _h{YH$ *(_hm F{ÕH$ YmaH$ Eg)* Om BÝÐ, àVrÝÐ, Ah{_ÝÐ Am{X CZ_| CnOZ H$ H$maU Eg {def VnüaUm{X CÝh| àê${nV {H$`m h¡&

*14) {Z{f{ÕH$m* - {ZfYZ AWmV à_mX g {H$` h` Xmf H$m {ZamH$aU; {Z{f{Õ gkm _| H$ àË`` g {Z{f{ÕH$m Zm_ hAm, Egm {Z{f{ÕH$m Zm_H$ àHsUH

प्रायश्चित्त शास्त्र है । इसमें प्रमाद से किये हुये दोषों के विशुद्धता के लिये अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त प्ररूपित किये हैं । इसका निसतिका ऐसा भी नाम है ।

ऐसे अंगबाह्य श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का कहा । इसके अक्षरों का प्रमाण पहले कहा ही है ।

आगे श्रुतज्ञान की महिमा कहते हैं –

सुदकेवलं च णाणं दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो ।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ।। ३६९ ।।

श्रुतकेवलं च ज्ञानं द्वे अपि सदृशे भवतो बोधात् ।
श्रुतज्ञानं तु परोक्षं प्रत्यक्षं केवलं ज्ञानं ।। ३६९ ।।

टीका – श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों समस्त वस्तुओं के द्रव्य, गुण, पर्यायों को जानने की अपेक्षा समान हैं । इतना विशेष है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है; केवलज्ञान प्रत्यक्ष है ।

भावार्थ – जैसे केवलज्ञान का विषय अपरिमित है, वैसे श्रुतज्ञान का विषय अपरिमित है । शास्त्र से सब को जानने की शक्ति है, परंतु श्रुतज्ञान सर्वोत्कृष्ट हो तो भी सर्व पदार्थों में परोक्ष अर्थात् अविशद, अस्पष्ट ही है । क्योंकि अमूर्तिक पदार्थों में वा सूक्ष्म अर्थपर्यायों में *(एक समयवाली गुणों की पर्यायों में)* वा अन्य सूक्ष्म अंशों में श्रुतज्ञान की विशदता से प्रवृत्ति नहीं होती । परंतु जो मूर्तिक व्यंजनपर्याय *(अनेक समयोंवाली स्थूल पर्याय)* वा अन्य स्थूल अंश इस ज्ञान के विषय हैं । उसमें भी अवधिज्ञानादि की तरह प्रत्यक्षरूप नहीं प्रवर्तता, इसलिये श्रुतज्ञान परोक्ष है।

पुनश्च केवलज्ञान प्रत्यक्ष अर्थात् विशद और स्पष्टरूप से मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थ, स्थूल-सूक्ष्म पर्याय उनमें प्रवर्तता है, क्योंकि समस्त आवरण और वीर्यान्तराय के क्षय से प्रकट होता है, इसलिये प्रत्यक्ष है । **अक्ष** अर्थात् आत्मा इसके प्रति निश्चित होता है, किसी परद्रव्य की अपेक्षा नहीं लगती, इसलिये प्रत्यक्ष कहते हैं । प्रत्यक्ष का लक्षण विशद वा स्पष्ट है । जहां अपने विषय के जानने में कसर न हो, उसको विशद वा स्पष्ट कहते हैं ।

पुनश्च उपात्त वा अनुपात्तरूप परद्रव्य की सापेक्षता सहित जो होता है, वह परोक्ष है । इसका लक्षण अविशद अस्पष्ट जानना । मन, नेत्र अनुपात्त हैं, अन्य चार इन्द्रिय उपात्त हैं ।

इसतरह श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में प्रत्यक्ष, परोक्ष लक्षण भेद से भेद है । परंतु विषय अपेक्षा समानता है । वही समंतभद्राचार्य ने देवागमस्तोत्र में कहा है -

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ।।

इसका अर्थ - स्याद्वाद जो श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ये दोनों सर्व तत्त्वों के प्रकाशी हैं, परंतु प्रत्यक्ष परोक्ष भेद से भेद पाया जाता है । इन दोनों प्रमाणों में अन्यतम जो एक, वह अवस्तु है । एक का अभाव माननेपर दोनों का अभाव-विनाश जानना ।

आगे शास्त्रकर्ता पैंसठ गाथाओं द्वारा अवधिज्ञान को प्ररूपित करते हैं -

अवहीयदि त्ति ओही सीमामाणे त्ति वण्णियं समये ।
भवगुणपच्चयविहियं जमोहिणाणो त्ति णं बेंति ।।३७०।।

अवधीयत इत्यवधिः सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये ।
भवगुणप्रत्ययविधिकं यदवधिज्ञानमिति ब्रुवंति ।।३७०।।

टीका - अवधीयते अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से प्रमाण *(मर्यादा)* जिसका होता है वह अवधिज्ञान जानना । जैसे मति, श्रुत, केवलज्ञान का विषय द्रव्य, क्षेत्रादि से अपरिमित है, वैसे अवधिज्ञान का विषय अपरिमित नहीं है । श्रुतज्ञान से भी शास्त्र के बल से अलोक और अनन्तकाल आदि जाना जाता है । अवधिज्ञान से जितना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का प्रमाण आगे कहेंगे उतना ही प्रत्यक्ष जाना जाता है । इसलिये सीमा अर्थात् द्रव्य, क्षेत्रादि की जो मर्यादा, उससे सहित है विषय जिसका, ऐसा जो ज्ञान, वह अवधिज्ञान है; ऐसे सर्वज्ञदेव सिद्धांत में कहते हैं ।

वह अवधिज्ञान दो प्रकार का कहा है - एक भवप्रत्यय, एक गुणप्रत्यय । वहां भव जो नारकादि पर्याय, उसके निमित्त से होता है, उसे भवप्रत्यय कहते हैं। जो नारकादि पर्याय धारण करता है उसे अवधिज्ञान होता ही है, इसलिये इस अवधिज्ञान

को भवप्रत्यय कहते हैं । पुनश्च गुणप्रत्यय अर्थात् सम्यग्दर्शनादिरूप, वह है निमित्त जिसका, उसे गुणप्रत्यय कहते हैं । मनुष्य, तिर्यंच सभी को अवधिज्ञान नहीं है, जिसके सम्यग्दर्शनादि की विशुद्धता होती है, उसके अवधिज्ञान होता है; इसलिये इस अवधिज्ञान को गुणप्रत्यय कहते हैं ।

भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थे वि सव्वअंगुत्थो ।
गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिह्णभवो ।।३७१।।

भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेऽपि सर्वांगोत्थम् ।
गुणप्रत्ययकं नरतिरश्चां शंखादिचिह्न भवम् ।।३७१।।

टीका – वहां भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों के, नारकियों के और चरमशरीरी तीर्थंकर देवों के पाया जाता है । सो यह भवप्रत्यय अवधिज्ञान **'सर्वांगोत्थं'** अर्थात् आत्मा के सर्व प्रदेशों में स्थित अवधिज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्म इनके क्षयोपशम से उत्पन्न होता है ।

पुनश्च गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है, वह पर्याप्त मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच इनमें ही संभवता है । यह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान **'शंखादिचिन्हभवम्'** अर्थात् नाभि के ऊपर शंख, कमल, वज्र, सांथिया, मत्स्य, कलश इत्यादि के आकाररूप जहां शरीर में भले लक्षण होते हैं, वहां संबंधी जो आत्मा के प्रदेश, उनमें स्थित जो अवधिज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म, उनके क्षयोपशम से उत्पन्न होता है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी सम्यग्दर्शनादि गुणों का सद्भाव है तथापि उन गुणों की अपेक्षा नहीं करने से भवप्रत्यय कहा और गुणप्रत्यय में मनुष्य तिर्यंच भव का सद्भाव है तथापि उन पर्यायों की अपेक्षा नहीं करने से गुणप्रत्यय कहा है ।

गुणपच्चइगो छद्धा अणुगावट्ठिदपवड्ढमाणिदरा ।
देसोही परमोही सव्वोहि त्ति य तिधा ओही ।।३७२।।

गुणप्रत्ययकः षोढा अनुगावस्थितप्रवर्धमानेतरे ।
देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च त्रिधा अवधिः ।।३७२।।

टीका – गुणप्रत्यय अवधिज्ञान छह प्रकार का है – अनुगामी, अवस्थित, वर्धमान

और इतर अर्थात् अननुगामी, अनवस्थित, हीयमान ऐसे छह प्रकार हैं ।

जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ ही गमन करता है, उसे अनुगामी कहते हैं । उसके तीन भेद हैं - क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी, उभयानुगामी । वहां जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न हुआ था उस क्षेत्र को छोड़कर जीव अन्य क्षेत्र में विहार करता है वहां भी वह अवधिज्ञान साथ ही रहता है, विनष्ट नहीं होता परंतु अन्य पर्याय धारण करनेपर विनष्ट होता है, उसे क्षेत्रानुगामी कहते हैं । पुनश्च जो अवधिज्ञान जिस पर्याय में उत्पन्न हुआ था, उस पर्याय को छोड़कर जीव अन्य पर्याय को धारण करता है, वहां भी वह अवधिज्ञान साथ ही रहता है उसे भवानुगामी कहते हैं । पुनश्च जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र और पर्याय में उत्पन्न हुआ था उससे जीव अन्य भरतादि क्षेत्र में गमन करे या अन्य देवादि पर्याय धारण करे तो भी साथ ही रहता है, उसे उभयानुगामी कहते हैं ।

जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ गमन नहीं करता, उसे अननुगामी कहते हैं । इसके तीन भेद हैं - क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी, उभयाननुगामी । वहां जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हो उस क्षेत्र में तो जीव अन्य पर्याय धारण करे या न करे जीव के साथ ही रहता है परंतु यदि जीव उस क्षेत्र से किसी भरत, ऐरावत, विदेहादि अन्य क्षेत्रों में गमन करता है तो वह ज्ञान अपने उपजने के क्षेत्र में ही विनष्ट होता है, उसे क्षेत्राननुगामी कहते हैं । पुनश्च जो अवधिज्ञान जिस पर्याय में उत्पन्न हुआ हो, उस पर्याय में तो जीव अन्य क्षेत्र में गमन करे या न करे वह अवधिज्ञान साथ ही रहता है परंतु उस पर्याय से अन्य कोई देव, मनुष्य आदि पर्याय धारण करे तो अपने उपजने के पर्याय में ही नष्ट हो जाता है, उसे भवाननुगामी कहते हैं । पुनश्च जो अवधिज्ञान अन्य क्षेत्र में या अन्य पर्याय में जीव के प्राप्त होनेपर उसके साथ नहीं रहता, अपने उपजने के क्षेत्र और पर्याय में ही विनष्ट हो जाता है, उसे उभयाननुगामी कहते हैं ।

पुनश्च जो अवधिज्ञान सूर्यमंडल की तरह घटे बढ़े नहीं, एक प्रकार का ही रहे, उसे अवस्थित कहते हैं । तथा जो अवधिज्ञान कदाचित् घटे, कदाचित् बढ़े, कदाचित् अवस्थित रहे, उसे अनवस्थित कहते हैं ।

पुनश्च जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्ष के चन्द्रमण्डल की तरह बढ़ते बढ़ते अपने उत्कृष्ट

तक बढ़ता है, उसे वर्धमान कहते हैं । तथा जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्ष के चन्द्रमण्डल की तरह घटते घटते अपने नाश तक घटता है, उसे हीयमान कहते हैं । इसप्रकार गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद कहे ।

पुनश्च वैसे ही सामान्यपने अवधिज्ञान तीन प्रकार का है । देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद हैं । उसमें से गुणप्रत्यय देशावधि ही छह प्रकार का जानना ।

भवपच्चइगो ओही देसोही होदि परमसव्वोही ।
गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि य गुणे होदि ।।३७३।।

भवप्रत्ययकोवधिः देशावधिः भवति परमसर्वावधिः ।
गुणप्रत्ययको नियमात् देशावधिरपि च गुणे भवति ।।३७३।।

टीका – भवप्रत्ययअवधि तो देशावधि ही है, क्योंकि नारकी, देव, गृहस्थ तीर्थंकर इनके परमावधि, सर्वावधि नहीं होते ।

परमावधि और सर्वावधि निश्चय से *(नियम से)* गुणप्रत्यय ही हैं, क्योंकि संयमरूप विशेष गुण बिना वे नहीं होते ।

पुनश्च देशावधि भी सम्यग्दर्शनादि गुण होनेपर होता है, इसलिये गुणप्रत्ययअवधि तो तीनों ही प्रकार का है और भवप्रत्ययअवधि एक देशावधि ही है ।

देसावहिस्स य अवरं णरतिरिये होदि संजदह्मि वरं ।
परमोही सव्वोही चरमसरीरस्स विरदस्स ।।३७४।।

देशावधेश्च अवरं नरतिरश्चोः भवति संयते वरम् ।
परमावधिः सर्वावधिः चरमशरीरस्य विरतस्य ।।३७४।।

टीका – देशावधि का जघन्य भेद संयमी वा असंयमी मनुष्य, तिर्यंच में ही होता है, देव, नारकी में नहीं होता । तथा देशावधि का उत्कृष्ट भेद संयमी, महाव्रती मनुष्य में ही होता है, क्योंकि अन्य तीन गतियों में महाव्रत होता नहीं है।

पुनश्च परमावधि और सर्वावधि जघन्य या उत्कृष्ट चरमशरीरी महाव्रती मनुष्य में होता है । चरम अर्थात् संसार के अंत में हुआ, उसी भव से मोक्ष होने का कारण

ऐसा वज्रवृषभनाराच शरीर जिसका हो, उसे चरमशरीरी कहते हैं ।

पडिवादी देसोही अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ ।
मिच्छत्तं अविरमणं ण य पडिवज्जंति चरिमदुगे ।।३७५।।

प्रतिपाती देशावधिः अप्रतिपातिनौ भवतः शेषौ अहो ।
मिथ्यात्वमविरमणं न च प्रतिपद्यन्ते चरमद्विके ।।३७५।।

टीका – देशावधि ही प्रतिपाती है, शेष परमावधि और सर्वावधि प्रतिपाती नहीं है । प्रतिपात अर्थात् सम्यक् चारित्र से भ्रष्ट होकर, मिथ्यात्व, असंयम को प्राप्त होना, उससे जो युक्त हो, उसे प्रतिपाती कहते हैं । जो प्रतिपाती नहीं है, उसे अप्रतिपाती कहते हैं । देशावधिवाला तो कदाचित् सम्यक्त्व, चारित्र से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व, असंयम को प्राप्त होता है, परंतु चरमद्विक अर्थात् अंतिम दो अर्थात् परमावधि और सर्वावधि ज्ञान में वर्तमान जीव नियम से मिथ्यात्व और अविरत को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि देशावधि तो प्रतिपाती भी है, अप्रतिपाती भी है । परमावधि, सर्वावधि अप्रतिपाती ही है ।

दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि रूवि जाणदे ओही ।
अवरादुक्कस्सो त्ति य वियप्परहिदो दु सव्वोही ।।३७६।।

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति रूपि जानीते अवधिः ।
अवरादुत्कृष्ट इति च विकल्परहितस्तु सर्वावधिः ।।३७६।।

टीका – अवधिज्ञान जघन्य भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद तक असंख्यात लोकप्रमाण भेदों का धारक है; वह सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित रूपी जो पुद्गल और पुद्गल संबंध का धारी जीव, उनको प्रत्यक्ष जानता है । पुनश्च सर्वावधि ज्ञान है, वह जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदों से रहित, हानि-वृद्धि रहित, अवस्थित और सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है क्योंकि अवधिज्ञानावरण का उत्कृष्ट क्षयोपशम वहां ही होता है । इसलिये देशावधि, परमावधि के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते हैं ।

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगोज्जियं सविस्सचयं ।
लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा ।।३७७।।

नोकर्मौदारिकसंचयं मध्यमयोगार्जितं सविस्रसोपचयम् ।
लोकविभक्तं जानाति अवरावधिः द्रव्यतो नियमात् ।।३७७।।

टीका – मध्यम योग के परिणमन से निष्पन्न ऐसा नोकर्मरूप औदारिकशरीर का संचय अर्थात् डेढ़ गुणहानि से औदारिक के समयप्रबद्ध को गुणा करनेपर उसप्रमाण औदारिक का सत्तारूप द्रव्य, जो अपने योग्य विस्रसोपचय के परमाणुओं से संयुक्त है, उसको लोकप्रमाण असंख्यात का भाग देनेपर जो एकभागमात्र द्रव्य हो, उतने मात्र ही द्रव्य को जघन्य अवधिज्ञान जानता है, इससे अल्प स्कंध को नहीं जानता । जघन्य योग से जो संचय निपजता है वह इससे सूक्ष्म होता है इसलिये उसको जानने की शक्ति नहीं है । तथा उत्कृष्ट योग से संचय निपजता है, वह इससे स्थूल है, उसको तो जानता ही है क्योंकि जो सूक्ष्म को जानता है, उसके उससे स्थूल को जानने में कोई विरोध नहीं है । इसलिये यहां मध्यम योग से निपजा हुआ औदारिक शरीर का संचय कहा । पुनश्च विस्रसोपचय रहित सूक्ष्म होता है, इसलिये उसको जानने की शक्ति नहीं है, इसलिये विस्रसोपचय सहित कहा । ऐसे स्कंध के लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने खण्ड कीजिये । वहां एक खण्डप्रमाण पुद्गल परमाणुओं का स्कंध नेत्रादिक इन्द्रियों के गोचर नहीं है । उसको जघन्य देशावधिज्ञान प्रत्यक्ष जानता है। इसतरह जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य का नियम कहा ।

*(**विशेषार्थ** – जघन्य देशावधिज्ञान सूक्ष्म से सूक्ष्म कौनसा स्कंध जानता है, उसका यहां वर्णन करते हैं । इससे सूक्ष्म स्कंध को वह नहीं जानता । इससे स्थूल जानने में तो कोई विरोध नहीं । इसे दृष्टांत द्वारा समझेंगे । जैसे जब हम आँखों की जांच करवाने के लिये डॉक्टर के पास जाते हैं, तब वहां बड़े अक्षरों की पंक्ति से लेकर छोटे अक्षरों की पंक्ति तक अनेक पंक्तियां चार्ट द्वारा दिखाते हैं । हम किस पंक्ति तक देख सकते हैं, पूछा जाता है । जो छोटे अक्षरों को स्पष्ट देख सकता है, उसे बड़े अक्षर तो साफ दिखायी देते ही हैं । जो व्यक्ति दूसरी पंक्ति तक ही पढ़ पाता है, देख सकता है, उससे तीसरी, चौथी, पांचवीं पंक्ति तक पढ़नेवाले की आंखें क्रमशः तेज हैं–अच्छी हैं कहते हैं । उसीप्रकार जो अधिकाधिक सूक्ष्म द्रव्यों को जाने वह अवधिज्ञान अधिक शक्तियुक्त है । अवधिज्ञान के जघन्य से उत्कृष्ट भेदों में स्कंध का प्रमाण सूक्ष्म–सूक्ष्म होता जायेगा ।)*

सुहुमणिगोदअप्पज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि ।
अवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु ।।३७८।।

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।
अवरावगाहनमानं जघन्यकमवधिक्षेत्रं तु ।।३७८।।

टीका – सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त जीव के जन्म से तीसरे समय में होनेवाली जघन्य अवगाहना का प्रमाण पहले जीवसमास अधिकार में कहा था, उसप्रमाण जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र जानना । इतने क्षेत्र में पूर्वोक्त प्रमाण युक्त या उससे स्थूल जितने पुद्गल स्कंध हो, उनको जघन्य देशावधिज्ञान जानता है । इस क्षेत्र के बाहर जो स्थित है, उनको नहीं जानता, ऐसी क्षेत्र की मर्यादा कही ।

*(**विशेषार्थ** – द्रव्य की मर्यादा में तो छोटे में छोटे कौनसे स्कंध तक जानता है उसे कहा । क्षेत्र की मर्यादा में अधिक से अधिक कितने क्षेत्र तक जानता है उसे कहते हैं । उतने क्षेत्र के भीतर रहनेवाले यथायोग्य स्कंधों को जानता है, उसके बाहर के क्षेत्र में रहनेवालों को नहीं जानता ।)*

अवरोहिखेत्तदीहं वित्थारुस्सेहयं ण जाणामो ।
अण्णं पुण समकरणे अवरोगाहणपमाणं तु ।।३७९।।

अवरावधिक्षेत्रदीर्घं विस्तारोत्सेधकं न जानीमः ।
अन्यत् पुनः समीकरणे अवरावगाहनप्रमाणं तु ।।३७९।।

टीका – जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई का प्रमाण हम नहीं जानते कि कितना कितना है, क्योंकि यहां ऐसा उपदेश उपलब्ध नहीं है । परंतु परमगुरुओं के उपदेश की परम्परा से इतना जानते हैं कि भुज, कोटि और वेध के समीकरण से जो क्षेत्रफल होता है वह जघन्य अवगाहना के समान घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र होता है ।

आमने सामने वाली दो दिशाओं में से किसी एक दिशा संबंधी प्रमाण को भुज कहते हैं । अवशेष दो दिशाओं में से किसी एक दिशा संबंधी प्रमाण को कोटि कहते हैं । ऊंचाई के प्रमाण को वेध कहते हैं ।

प्रवृत्ति *(लौकिक)* में लम्बाई, ऊंचाई, चौड़ाई तीन नाम हैं । इनके क्षेत्रखण्ड विधान से समान प्रमाण करके क्षेत्रफल निकालनेपर जो प्रमाण आता है, उतना क्षेत्रफल जानना । जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र का और जघन्य अवगाहनारूप क्षेत्र का क्षेत्रफल समान है, इतना तो हम जानते हैं । परंतु भुज, कोटि, वेध का प्रमाण कैसा है? उसे हम नहीं जानते, अधिक ज्ञानी जानते ही हैं ।

अवरोगाहणमाणं उस्सेहंगुलअसंखभागस्स ।
सूइस्स य घणपदरं होदि हु तक्खेत्तसमकरणे ।।३८०।।

अवरावगाहनमानमुत्सेधांगुलासंख्यभागस्य ।
सूचेश्च घनप्रतरं भवति हि तत्क्षेत्रसमीकरणे ।।३८०।।

टीका – यहां कोई प्रश्न करे कि जघन्य अवगाहनारूप क्षेत्र का प्रमाण कहा, वह कैसा है ?

उसका समाधान – जघन्य अवगाहनारूप क्षेत्र का आकार कोई एक नियमरूप नहीं है । तथापि क्षेत्रखण्डविधान से सदृश करनेपर भुज का, कोटि का वा वेध का प्रमाण उत्सेधांगुल को यथायोग्य असंख्यात का भाग देनेपर जो एक भाग का प्रमाण आता है, उतना जानना । भुज, कोटि और वेध को परस्पर गुणा करनेपर घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र प्रकट क्षेत्रफल हुआ, वह जघन्य अवगाहना का प्रमाण है। इसी के समान जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र है । यहां क्षेत्रखण्डविधान से समीकरण का अन्य भी उदाहरण दिखाते हैं ।

जैसे लोकाकाश ऊंचाई, चौड़ाई, लम्बाई में हीनाधिक प्रमाणयुक्त है । उसका क्षेत्रफल फैलानेपर तीन सौ तैंतालीस राजूप्रमाण घनफल होता है और यदि हीनाधिक को बढ़ा-घटाकर समान प्रमाण करके सात-सात राजू की ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई मानकर परस्पर गुणा करके क्षेत्रफल निकालेंगे, तब भी तीन सौ तैंतालीस राजू ही होगा । ऐसे ही यहां जघन्य क्षेत्र की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई हीनाधिक प्रमाण युक्त है । परंतु क्षेत्रखण्डविधान से समीकरण करनेपर ऊंचाई, चौड़ाई और लम्बाई का प्रमाण उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भागमात्र होता है । इनको परस्पर गुणा करनेपर घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण घनक्षेत्रफल होता है, सो इतना ही प्रमाण जघन्य अवगाहना का है और इतना ही प्रमाण जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र का है, इसलिये समान कहे हैं ।

अवरं तु ओहिखेत्तं उस्सेहं अंगुलं हवे जम्हा ।
सुहुमोगाहणमाणं उवरि पमाणं तु अंगुलयं ।।३८१।।

अवरं तु अवधिक्षेत्रं उत्सेधमंगुलं भवेद्यस्मात् ।
सूक्ष्मावगाहनमानमुपरि प्रमाणं तु अंगुलकम् ।।३८१।।

टीका – यह जो जघन्य अवगाहना समान जघन्य देशावधि का क्षेत्र घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र कहा, वह उत्सेधांगुल के घनप्रमाण जो घनांगुल, उसके असंख्यातवें भागमात्र जानना । क्योंकि यहां सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त की जघन्य अवगाहना के समान जघन्य देशावधि का क्षेत्र कहा, सो शरीरों का प्रमाण तो उत्सेधांगुल से ही है, क्योंकि परमागम में ऐसा कहा है कि देह, गेह (गृह), ग्राम, नगर इत्यादि का प्रमाण उत्सेधांगुल से है । इसलिये यहां जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण भी उत्सेधांगुल की अपेक्षा से ही जानना । इस उत्सेधांगुल का नाम ही व्यवहारांगुल है।

पुनश्च आगे जो **'अंगुलमावलियाए भागमसंखेज्ज'** इत्यादि *(गाथा ४००)* सूत्रोक्त कांडकों में अंगुल कहा है, वह प्रमाणांगुल जानना । क्योंकि उसके आगे हस्त, कोस, योजन, भरतक्षेत्र आदि उत्तरोत्तर कहे हैं । पुनश्च आगम में द्वीप, क्षेत्रादि का प्रमाण प्रमाणांगुल से कहा है । इसलिये वहां प्रमाणांगुल का ही ग्रहण करना ।

अवरोहिखेत्तमज्झे अवरोही अवरदव्वमवगमदि ।
तद्दव्वस्सवगाहो　　　　उस्सेहासंखघणपदरो ।।३८२।।

अवरावधिक्षेत्रमध्ये अवरावधिः अवरद्रव्यमवगच्छति ।
तद्द्रव्यस्यावगाहः　　उत्सेधासंख्यघनप्रतरः ।।३८२।।

टीका – उस जघन्य अवधिज्ञान संबंधी क्षेत्र में जो पूर्वोक्त जघन्य अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य स्थित हैं, उनको जघन्य देशावधिज्ञानी जीव जानते हैं । उतने क्षेत्र में उसप्रकार औदारिकशरीर के संचय को लोक का भाग देनेपर एक भागमात्र खण्ड असंख्यात पाये जाते हैं, उन सब को जानता है । इस प्रमाण से जिन स्कंधों के प्रदेश एक, दो आदि से अधिक हो उनको तो जाने ही जाने, क्योंकि सूक्ष्म को जाननेवाले के स्थूल का जानना सुगम है । पुनश्च पहले जो जघन्य अवधिज्ञान संबंधी द्रव्य कहा था उसकी अवगाहना का प्रमाण, उस जघन्य अवधि के क्षेत्र के प्रमाण

के असंख्यातवें भागमात्र है तथापि घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र ही है । तथा उसके भुज, कोटि, वेध का प्रमाण सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र है । असंख्यात के भेद बहुत हैं, इसलिये यथासंभव जान लेना ।

आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं ।
ओही जाणदि भावे काल असंखेज्जभागं तु ।।३८३।।

आवल्यसंख्यभागमतीतभविष्यच्च कालतः अवरम् ।
अवधिः जानाति भावे कालासंख्यातभागं तु ।।३८३।।

टीका – जघन्य अवधिज्ञान काल से आवली के असंख्यातवें भागमात्र अतीत, अनागत काल को जानता है । पुनश्च भाव से आवली के असंख्यातवें भागमात्र काल प्रमाण के असंख्यातवें भाग प्रमाण भाव, उनको जानता है ।

भावार्थ – जघन्य अवधिज्ञान पूर्वोक्त क्षेत्र में, पूर्वोक्त एक द्रव्य के, आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण अतीत काल में तथा तितने ही अनागत काल में जो आकाररूप व्यंजनपर्याय हुये थे तथा होंगे उनको जानता है, क्योंकि व्यवहार काल के और द्रव्य के पर्याय ही का पलटना होता है । पुनश्च पूर्वोक्त क्षेत्र में पूर्वोक्त द्रव्य के वर्तमान परिणमनरूप अर्थपर्याय हैं । उनमें से आवली के असंख्यातवें भाग के असंख्यातवें भागप्रमाण जो पर्याय, उनको जानता है । इसतरह जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की सीमा-मर्यादा के भेद कहे ।

आगे उस अवधिज्ञान के जो द्वितीयादि भेद उनके चार प्रकार के विषयभेद कहते हैं –

अवरद्दव्वादुपरिमदव्ववियप्पाय होदि धुवहारो ।
सिद्धाणंतिमभागो अभव्वसिद्धादणंतगुणो ।।३८४।।

अवरद्रव्यादुपरिमद्रव्यविकल्पाय भवति ध्रुवहारः ।
सिद्धानंतिमभागः अभव्यसिद्धादनंतगुणः ।।३८४।।

टीका – जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य से ऊपर अवधिज्ञान के द्वितीयादि भेदों के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण लाने के लिये ध्रुवहार जानना । सर्व भेदों में

जिस भागहार का भाग देनेपर प्रमाण आता है, उसे ध्रुवभागहार कहते हैं । जैसे, इस जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य को ध्रुवभागहार के प्रमाण का भाग देनेपर जो एक भाग का प्रमाण आता है, वह देशावधि के द्रव्य संबंधी दूसरे भेद के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण जानना । इसको ध्रुवहार का भाग देनेपर, जो एक भाग का प्रमाण आता है, वह देशावधि के तीसरे भेद का विषयभूत द्रव्य जानना । ऐसे सर्वावधि तक जानना । पहले पहले बहुत अधिक परमाणुओं के स्कंधरूप द्रव्य को ध्रुवभागहार का भाग देनेपर, उत्तरोत्तर एक भागमात्र थोड़े परमाणुओं का स्कंध आता है वह पूर्वस्कंध से सूक्ष्मस्कंध होता है । सो जैसे जैसे सूक्ष्म को जानता है, वैसे वैसे ज्ञान की अधिकता होती है, क्योंकि सूक्ष्म को जाननेपर स्थूल का जानना तो सहज ही होता है । पुनश्च जो वह ध्रुवभागहार कहा था, उसका प्रमाण सिद्धराशि को अनंत का भाग देनेपर, उसके एक भाग प्रमाण है । अथवा अभव्यसिद्ध राशि को अनंत से गुणा करनेपर, उस प्रमाण है ।

धुवहारकम्मवग्गणगुणगारं कम्मवग्गणं गुणिदे ।
समयपबद्धपमाणं जाणिज्जो ओहिविसयह्मि ।।३८५।।

ध्रुवहारकार्मणवर्गणागुणकारं कार्मणवर्गणां गुणिते ।
समयप्रबद्धप्रमाणं ज्ञातव्यमवधिविषये ।।३८५।।

टीका – विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा देशावधिज्ञान के जितने भेद होते हैं, उनमें से दो घटाकर जो प्रमाण होता है, उतने ध्रुवहार मांडकर परस्पर गुणा करने से जो प्रमाण आता है, वह कार्माणवर्गणा का गुणकार जानना । उस कार्माणवर्गणा के गुणकार से कार्माणवर्गणा को गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह अवधिज्ञान के विषय में समयप्रबद्ध का प्रमाण जानना । जघन्य देशावधिज्ञान का विषयभूत जो द्रव्य कहा था, उसीका नाम यहां समयप्रबद्ध जानना । इसका विशेष आगे कहेंगे ।

ध्रुवहार का प्रमाण सामान्यपने सिद्धराशि के अनंतवें भागमात्र कहा, अब विशेषपने ध्रुवहार का प्रमाण कहते हैं –

मणदव्ववग्गणाण वियप्पाणंतिमसमं खु धुवहारो ।
अवरुक्कस्सविसेसा रूवहिया तव्वियप्पा हु ।।३८६।।

मनोद्रव्यवर्गणानां विकल्पानंतिमसम खलु ध्रुवहारः ।
अवरोत्कृष्टविशेषाः रूपाधिकास्तद्विकल्पा हि ।।३८६।।

टीका – मनोवर्गणा के जितने भेद हैं, उनको अनंत का भाग देनेपर, एक भाग का जितना प्रमाण हो, वह ध्रुवहार का प्रमाण जानना । वे मनोवर्गणा के भेद कितने हैं ? वह कहते हैं – मनोवर्गणा के जघन्य प्रमाण को मनोवर्गणा के उत्कृष्ट प्रमाण में से घटानेपर जो प्रमाण अवशेष रहे, उसमें एक मिलानेपर मनोवर्गणा के भेदों का प्रमाण आता है । आगे सम्यक्त्वमार्गणा के कथन में तेइस जाति की पुद्गल वर्गणा कहेंगे, वहां तेजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा इत्यादि का वर्णन करेंगे, वह जानना ।

इस मनोवर्गणा के जघन्य भेद और उत्कृष्ट भेद का प्रमाण दिखाते हैं –

अवरं होदि अणंतं अणंतभागेण अहियमुक्कस्सं ।
इदिमणभेदाणंतिमभागो दव्वम्मि धुवहारो ।।३८७।।

अवरं भवति अनंतमनंतभागेनाधिकमुत्कृष्टं ।
इति मनोभेदानंतिमभागो द्रव्ये ध्रुवहारः ।।३८७ ।

टीका – मनोवर्गणा का जघन्य भेद अनंतप्रमाण है । अनंत परमाणुओं के स्कंधरूप जघन्य मनोवर्गणा है । उस प्रमाण को अनंत का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना उस जघन्य भेद के प्रमाण में जोड़नेपर जो प्रमाण हो, वही मनोवर्गणा के उत्कृष्ट भेद का प्रमाण जानना । इतने परमाणुओं के स्कंधरूप उत्कृष्ट मनोवर्गणा है । सो जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक पूर्वोक्त प्रकार से मनोवर्गणा के जितने भेद हुये, उनके अनंतवें भागमात्र यहां ध्रुवहार का प्रमाण है ।

अथवा अन्य प्रकार से कहते हैं –

धुवहारस्स पमाणं सिध्दाणंतिमपमाणमेत्तं पि ।
समयपबद्धणिमित्तं कम्मणवग्गणगुणा दो दु ।।३८८।।

होदि अणंतिमभागो तग्गुणगारो वि देसओहिस्स ।
दोऊण दव्वभेदपमाणद्धुवहारसंवग्गो ।।३८९।।

ध्रुवहारस्य प्रमाणं सिद्धानंतिमप्रमाणमात्रमपि ।
समयप्रबद्धनिमित्तं　　कार्मणवर्गणागुणतस्तु ।।३८८।।

भवत्यनंतिमभागस्तद्गुणकारोऽपि देशावधेः ।
द्व्यूनद्रव्यभेदप्रमाणध्रुवहारसंवर्गः　।। ३८९।।

टीका - ध्रुवहार का प्रमाण सिद्धराशि के अनंतवें भागमात्र है । तथापि अवधि के विषयभूत समयप्रबद्ध का प्रमाण लाने के लिये जो कार्माणवर्गणा का गुणकार कहा, उसके अनंतवें भागमात्र जानना ।

उस कार्माणवर्गणा के गुणकार का प्रमाण कितना हैं ? वह कहते हैं -

देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा से जितने भेद हैं, उसमें से दो घटानेपर जो प्रमाण रहे, उतने (उतनी बार) ध्रुवहार मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतना कार्माणवर्गणा का गुणकार जानना । यह प्रमाण कैसा कहा? उसे कहते हैं - देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य की रचना में उत्कृष्ट अंतिम जो भेद, उसका विषय कार्माणवर्गणा को एकबार ध्रुवहार का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उतना जानना । उसके नीचे का द्विचरम भेद, उसका विषय कार्माणवर्गणा प्रमाण जानना। उसके नीचे का त्रिचरम भेद, उसका विषय कार्माणवर्गणा को एक बार ध्रुवभागहार से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतना जानना । पुनश्च उसके नीचे दो बार ध्रुवभागहार से कार्माणवर्गणा को गुणा करनेपर चतुर्थ चरम भेद होता है । इसीतरह एक एक बार अधिक ध्रुवहार से कार्माणवर्गणा को गुणा करने से, दो कम देशावधि के द्रव्यभेदप्रमाण ध्रुवहारों का परस्पर गुणा करनेपर जो गुणकार का प्रमाण हुआ, उससे कार्माणवर्गणा को गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वही जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत, लोक से भाजित नोकर्म औदारिक का संचयमात्र, द्रव्य का प्रमाण जानना । यहां उत्कृष्ट भेद से लेकर जघन्य भेद तक रचना कही इसलिये ऐसा गुणकार का प्रमाण कहा; परंतु यदि जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक रचना करते हैं, तो क्रम से ध्रुवहार का भाग देते जाने से, अंतिम भेद में कार्माणवर्गणा को एक बार ध्रुवहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने द्रव्यप्रमाण है इस कथन में और उस कथन में कुछ अन्यथापना नहीं है । ऊपर से कथन किया तब ध्रुवहार का गुणकार कहते आये, नीचे से कथन किया तब ध्रुवहार का भागहार कहते आये, प्रमाण दोनों कथनों में एकसा है ।

देशावधि के द्रव्य की अपेक्षा से कितने भेद हैं । वह कहते हैं -

अंगुलअसंखगुणिदा खेत्तवियप्पा य दव्वभेदा हु ।
खेत्तवियप्पा अवरुक्कस्सविसेसं हवे एत्थ ।।३९०।।

अंगुलासंख्यगुणिताः क्षेत्रविकल्पाश्च द्रव्यभेदा हि ।
क्षेत्रविकल्पा अवरोत्कृष्टविशेषो भवेदत्र ।।३९०।।

टीका - देशावधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र की अपेक्षा जितने भेद हैं, उनको अंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतने देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा से भेद हैं ।

वे क्षेत्र की अपेक्षा से कितने भेद हैं ? वह कहते हैं -

देशावधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र का जो प्रदेशों का प्रमाण है, उतना देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र के प्रदेशों के प्रमाण में से घटानेपर जो अवशेष रहे, उतने क्षेत्र की अपेक्षा से देशावधि के भेद हैं । इनको सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करके उसमें एक मिलानेपर जो प्रमाण हो, उतने देशावधि के द्रव्य की अपेक्षा से भेद हैं। ऐसा क्यों ? वह कहते हैं - देशावधि के जघन्य भेद में पहले जो द्रव्य का प्रमाण कहा था, उसको ध्रुवहार का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, वह देशावधि का द्रव्य की अपेक्षा से दूसरा भेद है । परंतु इस दूसरे भेद में क्षेत्र का प्रमाण उतना ही है ।

भावार्थ - देशावधि के जघन्य से बढ़कर देशावधिज्ञान हो, वह देशावधि का दूसरा भेद होगा; सो जघन्य से जो द्रव्य जाना था, उसको ध्रुवहार का भाग देनेपर जो सूक्ष्म स्कंधरूप द्रव्य होता है उसको जानेगा परंतु क्षेत्र की अपेक्षा से जितने क्षेत्र को जघन्यवाला जानता था, उतने ही क्षेत्र को दूसरे भेदवाला जानता है । इसलिये द्रव्य की अपेक्षा से दूसरा भेद हुआ तो भी क्षेत्र की अपेक्षा से प्रथम भेद ही है। पुनश्च द्रव्य की अपेक्षा से जो दूसरा भेदवाला जानता था, उसको ध्रुवहार का भाग देनेपर जो सूक्ष्म स्कंध हुआ, उसको द्रव्य की अपेक्षा से तीसरा भेदवाला जानता है, परंतु यह क्षेत्र की अपेक्षा से उतने ही क्षेत्र को जानता है । इसलिये द्रव्य की अपेक्षा से तीसरा भेद हुआ, परंतु क्षेत्र की अपेक्षा से प्रथम भेद ही है । इसीप्रकार द्रव्य की अपेक्षा से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण भेद होते हैं, वहां तक जघन्य

क्षेत्रमात्र क्षेत्र को जानते हैं । इसलिये द्रव्य की अपेक्षा से तो सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण भेद हुये और क्षेत्र की अपेक्षा से एक ही भेद हुआ । पुनश्च इसके आगे इसीप्रकार ध्रुवहार का भाग देते देते सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण द्रव्य की अपेक्षा से भेद होते हैं, वहां तक जघन्य क्षेत्र से एक प्रदेश अधिक क्षेत्र को जानते हैं, वहां क्षेत्र की अपेक्षा से दूसरा ही भेद रहता है ।

पुनश्च उसके पश्चात् सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र द्रव्य अपेक्षा भेदों में एक प्रदेश अधिक क्षेत्र को जानते हैं, वहां क्षेत्र की अपेक्षा से तीसरा भेद होता है । ऐसे ही सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण द्रव्य की अपेक्षा से भेद होते होते, क्षेत्र की अपेक्षा एक एक से बढ़ते हुये भेद होते हैं, सो ऐसे लोकप्रमाण उत्कृष्ट देशावधि के क्षेत्र तक जानना । इसलिये क्षेत्र की अपेक्षा भेदों से द्रव्य की अपेक्षा भेद सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणा कहा । अवशेष पहला द्रव्य का भेद था, उसे बाद में मिलाया, इसलिये एक को मिलाना कहा है ।

उन देशावधि के जघन्य क्षेत्र और उत्कृष्ट क्षेत्रों का प्रमाण कहते हैं -

अंगुलअसंखभागं अवरं उक्कस्सयं हवे लोगो ।
इदि वग्गणगुणगारो असंखधुवहारसंवग्गो ।।३९१।।

अंगुलासंख्यभागमवरमुत्कृष्टकं भवेल्लोकः ।
इति वर्गणागुणकारोऽ संख्यध्रुवहारसंवर्गः ।।३९१।।

टीका - जघन्य देशावधि का विषयभूत क्षेत्र सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त की जघन्य अवगाहना के समान घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र जानना । तथा देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र लोकप्रमाण जानना । उत्कृष्ट देशावधिवाला सर्वलोक में रहनेवाले अपने विषय को जानता है। ऐसे दो कम, देशावधि के द्रव्य की अपेक्षा जितने भेद हो, उतने ध्रुवहार मांडकर परस्पर गुणा करना, वही संवर्ग हुआ । ऐसा करनेपर जो प्रमाण होता है वही कार्माणवर्गणा का गुणकार जानना। वह कहा ही था।

आगे वर्गणा का प्रमाण कहते हैं -

वग्गणरासिपमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि ।
दुगसहियपरमभेदपमाणवहाराण संवग्गो ।।३९२।।

वर्गणाराशिप्रमाणं सिद्धानंतिमप्रमाणमात्रमपि ।
द्विकसहितपरमभेदप्रमाणावहाराणां संवर्गः ।।३९२।।

टीका – कार्माणवर्गणा राशि का प्रमाण सिद्धराशि के अनंतवें भागमात्र है। तथापि परमावधि के जितने भेद हैं उनमें दो मिलानेपर जो प्रमाण हो, उतने ध्रुवहार मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतने परमाणुओं के स्कंधरूप कार्माणवर्गणा जानना । क्योंकि कार्माणवर्गणा को एक बार ध्रुवहार का भाग देनेपर उत्कृष्ट देशावधि का विषयभूत द्रव्य होता है, पश्चात् परमावधि के जितने भेद हैं, उतनी बार क्रम से ध्रुवहार का भाग देनेपर उत्कृष्ट परमावधि का विषयभूत द्रव्य होता है, उसको एक बार ध्रुवहार का भाग देनेपर एक परमाणु मात्र सर्वावधि का विषय होता है ।

वे परमावधि के भेद कितने हैं ? वह कहते हैं –

परमावहिस्स भेदा सगओगाहणवियप्पहदतेऊ ।
इदि धुवहारं वग्गणगुणगारं वग्गणं जाणे ।।३९३।।

परमावधेर्भेदाः स्वकावगाहनविकल्पहततेजसः ।
इति ध्रुवहारं वर्गणागुणकारं वर्गणां जानीहि ।।३९३।।

टीका – अग्निकाय के अवगाहना के जितने भेद हैं, उनसे अग्निकाय के जीवों के प्रमाण को गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतने परमावधि ज्ञान के, विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा से भेद होते हैं । सो अग्निकाय की जघन्य अवगाहना के प्रदेशों के प्रमाण को अग्निकाय की उत्कृष्ट अवगाहना के प्रमाण में से घटानेपर जो प्रमाण हो, उसमें एक मिलानेपर, अग्निकाय की अवगाहना के भेदों का प्रमाण होता है । वह जीवसमास के अधिकार में मत्स्यरचना की है, वहां कहा ही है । तथा अग्निकाय के जीवों का प्रमाण कायमार्गणा के अधिकार में कहा है, वह जानना । इन दोनों को परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतने परमावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा से भेद हैं । ऐसे ध्रुवहार का प्रमाण, वर्गणागुणकार का प्रमाण, वर्गणा का प्रमाण हे शिष्य ! तू जान ।

देसोहि अवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे बिदियं ।
तदियादिबियप्पेसु वि असंखबारो त्ति एस कमो ।।३९४।।

देशावध्यवरद्रव्यं ध्रुवहारेणावहिते भवेद्द्वितीयं ।
तृतीयादिविकल्पेष्वपि असंख्यवार इत्येष क्रमः ।।३९४।।

टीका – देशावधिज्ञान का विषयभूत जघन्य द्रव्य पहले कहा था, उसको ध्रुवहार का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, वह दूसरे देशावधि के भेद का विषयभूत द्रव्य है । ऐसे ही ध्रुवहार का भाग देते देते तीसरे, चौथे आदि भेदों का विषयभूत द्रव्य होता है । ऐसे असंख्यात बार अनुक्रम करना ।

ऐसा अनुक्रम होनेपर क्या होता है ? वह कहते हैं –

देसोहिमज्झभेदे सविस्ससोवचयतेजकम्मंगं ।
तेजोभासमणाणं वग्गणयं केवलं जत्थ ।।३९५।।

पस्सदि ओही तत्थ असंखेज्जाओ हवंति दीउवही ।
वासाणि असंखेज्जा होंति असंखेज्जगुणिदकमा ।।३९६।।जुम्मं।।

देशावधिमध्यभेदे सविस्रसोपचयतेजः कर्मांगम् ।
तेजोभाषामनसां वर्गणां केवलां यत्र ।।३९५।।

पश्यत्यवधिस्तत्र संख्येया भवंति द्वीपोदधयः ।
वर्षाणि असंख्यातानि भवंति असंख्यातगुणितक्रमाणि ।।३९६।।

टीका – देशावधि के मध्यम भेदों में से जिस भेद में देशावधिज्ञान विस्रसोपचय सहित तेजसशरीररूप स्कंध को जानता है । पुनश्च उसी क्रम से जिस भेद में विस्रसोपचय सहित कार्माणशरीर स्कंध को जानता है । पुनश्च यहां से आगे जिस भेद में विस्रसोपचय रहित केवल तेजसवर्गणा को जानता है । पुनश्च यहां से आगे जिस भेद में विस्रसोपचय रहित केवल भाषावर्गणा को जानता है । पुनश्च यहां से आगे जिस भेद में विस्रसोपचय रहित केवल मनोवर्गणा को जानता है । वहां इन पांच स्थानों में क्षेत्र का प्रमाण असंख्यात द्वीप समुद्र जानना और काल असंख्यात वर्ष मात्र जानना । पूर्वोक्त पांच भेदवाले अवधिज्ञान असंख्यात द्वीप समुद्रों में पूर्वोक्त स्कंध असंख्यात वर्षों तक अतीत, अनागत, यथायोग्य पर्याय के धारक उन्हें जानते हैं । परंतु इतना विशेष है कि इन पांच भेदों में से जो पहले भेद संबंधी क्षेत्र-काल का प्रमाण है, उससे दूसरे भेद

संबंधी क्षेत्र काल का प्रमाण असंख्यातगुणा है । दूसरे से तीसरे का असंख्यातगुणा है । ऐसे ही पांचवें भेद तक जानना । सामान्यपने सब का क्षेत्र असंख्यात द्वीप-समुद्र और काल असंख्यात वर्ष कहे हैं, क्योंकि असंख्यात के भेद बहुत हैं ।

तत्तो कम्मइयस्सिगिसमयपबद्धं विविस्ससोवचयं ।
धुवहारस्स विभज्जं सव्वोही जाव ताव हवे ।।३९७।।

ततः कार्मणस्य एकसमयप्रबद्धं विविस्रसोपचयम् ।
ध्रुवहारस्य विभाज्यं सर्वावधिः यावत्तावद्भवेत् ।।३९७।।

टीका – उसके पश्चात् उस मनोवर्गणा को ध्रुवहार का भाग दीजिये, ऐसे ही भाग देते देते विस्रसोपचय रहित कार्माण का समयप्रबद्धरूप द्रव्य होता है । इसको भी ध्रुवहार का भाग दीजिये । ऐसे ही ध्रुवहार का भाग जब तक सर्वावधिज्ञान हो, वहां तक जानना । विस्रसोपचय का स्वरूप योगमार्गणा में कहा है, वह जानना ।

एदम्हि विभज्जंते दुचरिमदेसावहिम्मि वग्गणयं ।
चरिमे कम्मइयस्सिगिवग्गणमिगिवारभजिदं तु ।।३९८।।

एतस्मिन् विभज्यमाने द्विचरमदेशावधौ वर्गणा ।
चरमे कार्मणस्यैकवर्गणा एकवारभक्ता तु ।।३९८।।

टीका – इस कार्माण समयप्रबद्ध को ध्रुवहार का भाग देनेपर देशावधि के द्विचरम भेद में कार्माणवर्गणारूप विषयभूत द्रव्य होता है । क्योंकि ध्रुवहारमात्र वर्गणाओं के समूहरूप समयप्रबद्ध है । पुनश्च इसको एक बार ध्रुवहार का भाग देनेपर, चरम जो देशावधि का अंतिम भेद उसमें विषयभूत द्रव्य होता है ।

अंगुलअसंखभागे दव्ववियप्पे गदे दु खेत्तम्हि ।
एगागासपदेसो वड्ढदि संपुण्णलोगो त्ति ।।३९९।।

अंगुलासंख्यभागे द्रव्यविकल्पे गते तु क्षेत्रे ।
एकाकाशप्रदेशो वर्धते संपूर्णलोक इति ।।३९९।।

टीका – द्रव्य की अपेक्षा से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण भेद होनेपर, क्षेत्र में एक आकाश का प्रदेश बढ़ता है ऐसा अनुक्रम जघन्य देशावधि के क्षेत्र से

उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान के विषयभूत सम्पूर्ण लोक, वहां तक जानना । सो यह कथन टीका में पहले स्पष्टरूप से कहा ही था ।

आवलिअसंखभागो जहण्णकालो कमेण समयेण ।
वड्ढदि देसोहिवरं पल्लं समऊणयं जाव ।।४००।।

आवल्यसंख्यभागो जघन्यकालः क्रमेण समयेन ।
वर्धते देशावधिवरं पल्यं समयोनकं यावत् ।।४००।।

टीका – देशावधि का विषयभूत जघन्य काल आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण है । यह अनुक्रम से ध्रुववृद्धि से अथवा अध्रुववृद्धि से एक एक समय से वहां तक बढ़ता है, जहां एक समय कम पल्यप्रमाण उत्कृष्ट देशावधि का विषयभूत काल होता है, उत्कृष्ट देशावधिज्ञान एक समय कम पल्यप्रमाण अतीत, अनागत काल में हुये या होंगे जो स्वयोग्य विषय उन्हें जानता है ।

आगे क्षेत्र काल का प्रमाण उन्नीस कांडकों में कहना चाहते हैं । कांडक नाम पर्व का है । जैसे, सांठे *(गन्ने)* की पैली होती है, वह एक गांठ से आगे की गांठ तक जो हो, उसे एक पर्व कहते हैं । वैसे, किसी विवक्षित भेद से लेकर किसी विवक्षित भेद तक जितने भेद होते हैं, उनका समूह, उसे एक कांडक कहते हैं । ऐसे देशावधिज्ञान में उन्नीस कांडक हैं ।

वहां प्रथम कांडक में क्षेत्र काल का प्रमाण अढ़ाई गाथाओं द्वारा कहते हैं–

अंगुलअसंखभागं धुवरूवेण य असंखवारं तु ।
असंखसंखं भागं असंखवारं तु अद्धुवगे ।।४०१।।

अंगुलासंख्यभागं ध्रुवरूपेण च असंख्यवारं तु ।
असंख्यसंख्यं भागं असंख्यवारं तु अध्रुवगे ।।४०१।।

टीका – घनांगुल को आवली का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है ऐसे अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र ध्रुवरूप से वृद्धि का प्रमाण होता है । वह ध्रुववृद्धि प्रथम कांडक में अंतिम भेद तक असंख्यात बार होती है । तथा उसी प्रथम कांडक में अंतिम भेद तक अध्रुववृद्धि भी असंख्यात बार होती है । उस अध्रुववृद्धि का प्रमाण

घनांगुल का असंख्यातवां भाग प्रमाण वा घनांगुल का संख्यातवां भाग प्रमाण है ।

धुवअद्धुवरूवेण य अवरे खेत्तम्मि वड्ढिदे खेत्ते ।
अवरे कालम्हि पुणो एक्केक्कं वड्ढदे समयं ।।४०२।।

ध्रुवाध्रुवरूपेण च अवरे क्षेत्रे वर्द्धिते क्षेत्रे ।
अवरे काले पुनः एकैको वर्धते समयः ।।४०२।।

टीका – उस पूर्वोक्त ध्रुववृद्धि प्रमाण से और अध्रुववृद्धि प्रमाण से जघन्य देशावधि के विषयभूत क्षेत्र के बढ़ते जानेपर, जघन्य काल के ऊपर एक एक समय बढ़ता है ।

भावार्थ – पहले यह क्रम कहा था कि, द्रव्य की अपेक्षा से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण भेद व्यतीत होते हैं, तब क्षेत्र में एक प्रदेश बढ़ता है । अब यहां कहते हैं कि, जघन्य ज्ञान के विषयभूत जितना क्षेत्र का प्रमाण कहा है, उसके ऊपर पूर्वोक्त प्रकार से एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते, आवली का भाग घनांगुल को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने प्रदेश बढ़ते हैं, तब जघन्य देशावधि के विषयभूत काल का प्रमाण कहा था, उससे एक समय अधिक काल का प्रमाण होता है । पुनश्च क्षेत्र में पूर्वोक्त प्रकारसे उतने ही प्रदेश बढ़ते हैं तब उस काल से एक समय और बढ़ता हुआ काल का प्रमाण होता है । ऐसे उतने उतने प्रदेश बढ़नेपर यदि काल के प्रमाण में एक एक समय बढ़ता है तो उसे ध्रुववृद्धि कहेंगे । परंतु यदि पूर्वोक्त प्रकार से ही विवक्षित क्षेत्र से कहीं घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण प्रदेशों की वृद्धि होनेपर पूर्व काल से एक समय अधिक काल होता है, तो कहीं घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण प्रदेशों की वृद्धि होनेपर पूर्व काल से एक समय बढ़ता काल होता है, तो वहां अध्रुववृद्धि कहते हैं । ऐसे प्रथम कांडक में अंतिम भेद तक ध्रुववृद्धि होती है तो असंख्यात बार होती है । पुनश्च अध्रुववृद्धि होती है तो असंख्यात बार होती है ।

संखातीदा समया पढमे पव्वम्मि उभयदो वड्ढी ।
खेत्तं कालं अस्सिय पढमादी कंडये वोच्छं ।।४०३।।

संख्यातीताः समयाः प्रथमे पर्वे उभयतो वृद्धिः ।
क्षेत्रं कालमाश्रित्य प्रथमादीनि कांडकानि वक्ष्ये ।।४०३।।

टीका - ऐसा होनेपर प्रथम पर्व अर्थात् पहला कांडक, उसमें **उभयतः** अर्थात् ध्रुवरूप-अध्रुवरूप दोनों वृद्धियों से युक्त असंख्यात समय होते हैं ।

भावार्थ - प्रथम कांडक में जघन्य काल के प्रमाण से पूर्वोक्त प्रकार ध्रुववृद्धि द्वारा और अध्रुववृद्धि द्वारा एक एक समयप्रबद्ध से असंख्यात समय बढ़ते हैं । वे कितने हैं ? प्रथम कांडक के उत्कृष्ट काल के समयों के प्रमाण में से जघन्य काल के समयों का प्रमाण घटानेपर जो प्रमाण अवशेष रहता है, उतने असंख्यात समय प्रथम कांडक में बढ़ते हैं । ऐसे ही प्रथम कांडक के उत्कृष्ट क्षेत्र के प्रदेशों के प्रमाण में से जघन्य क्षेत्र के प्रदेशों का प्रमाण घटानेपर जो प्रमाण अवशेष रहे, उतने प्रदेश प्रथम कांडक में पूर्वोक्त प्रकार से बढ़ते हैं । अब जो वृद्धिरूप समयों का प्रमाण कहा उसे आवली के असंख्यातवें भागमात्र जघन्य काल में जोड़नेपर, प्रथम कांडक के अंतिम भेद में आवली के संख्यातवें भागप्रमाण काल होता है । तथा वृद्धिरूप प्रदेशों के प्रमाण को घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र जघन्य क्षेत्र में मिलानेपर प्रथम कांडक के अंतिम भेद में घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र होता है । *(छपी पुस्तक में यहां असंख्यातवां भाग कहा है परंतु गाथा ४०४, ४०८, ४०९ की टीका में संख्यात भाग कहा है, वही ठीक लगता है ।)*

यहां से आगे विषयभूत क्षेत्र-काल अपेक्षा देशावधि के उन्नीस कांडक कहूंगा, ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं -

अंगुलमावलियाए भागमसंखेज्जदो वि संखेज्जो ।
अंगुलमावलियंतो आवलियं चांगुलपुधत्तं ।।४०४।।

अंगुलावल्योः भागोऽसंख्येयोऽपि संख्येयः ।
अंगुलमावल्यंत आवलिकाश्चांगुलपृथक्त्वम् ।।४०४।।

टीका - प्रथम कांडक में जघन्य क्षेत्र घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण है और जघन्य काल आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । उसी प्रथम कांडक में उत्कृष्ट क्षेत्र घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण है और काल आवली के संख्यातवें

भागप्रमाण है । पुनश्च आगे दूसरे कांडक में उत्कृष्ट भेद की अपेक्षा क्षेत्र घनांगुलप्रमाण है और काल **'आवलियंत'** अर्थात् कुछ कम आवलीप्रमाण है । पुनश्च तीसरे कांडक में क्षेत्र पृथक्त्व घनांगुल प्रमाण है और काल पूर्ण आवलीप्रमाण है । *(छपी पुस्तक में पृथक्त्व आवली कहा है परंतु गाथा में आवली कहा है, आगे भी आवली कहा है, अर्थसंदृष्टि में भी आवली है ।)*

तीन के ऊपर और नौ के नीचे पृथक्त्व संज्ञा जाननी ।

आवलियपुधत्तं पुण हत्थं तह गाउयं मुहुत्तं तु ।
जोयण भिण्णमुहुत्तं दिवसंतो पण्णुवीसं तु ।।४०५।।

आवलिपृथक्त्वं पुनः हस्तस्तथा गव्यूतिः मुहूर्तस्तु ।
योजनं भिन्नमुहूर्तः दिवसांतः पंचविंशतिस्तु ।।४०५।।

टीका – चौथे कांडक में क्षेत्र एक हाथ प्रमाण और काल पृथक्त्व आवली प्रमाण है । पांचवें कांडक में क्षेत्र एक कोस और काल अंतर्मुहूर्त है । छठवें कांडक में क्षेत्र एक योजन और काल भिन्न मुहूर्त अर्थात् कुछ कम मुहूर्त है । सातवें कांडक में काल कुछ कम एक दिन और क्षेत्र पच्चीस योजन है ।

भरहम्मि अद्धमासं साहियमासं च जंबुदीवम्मि ।
वासं च मणुवलोए वासपुधत्तं च रुचगम्मि ।।४०६।।

भरते अर्धमासः साधिकमासश्च जंबूद्वीपे ।
वर्षश्च मनुजलोके वर्षपृथक्त्वं च रुचके ।।४०६।।

टीका – आठवें कांडक में क्षेत्र भरतक्षेत्र प्रमाण और काल आधा महिना है । नौवें कांडक में क्षेत्र जम्बूद्वीपप्रमाण और काल कुछ अधिक एक महिना है। दसवें कांडक में क्षेत्र मनुष्यलोक–अढ़ाईद्वीप प्रमाण और काल एक वर्ष है । ग्यारहवें कांडक में क्षेत्र रुचकद्वीप और काल पृथक्त्व वर्ष प्रमाण है ।

संखेज्जपमे वासे दीवसमुद्दा हवंति संखेज्जा ।
वासम्मि असंखेज्जे दीवसमुद्दा असंखेज्जा ।।४०७।।

संख्यातप्रमे वर्षे द्वीपसमुद्रा भवंति संख्याताः ।
वर्षे असंख्येये द्वीपसमुद्रा असंख्येयाः ।।४०७।।

टीका – बारहवें कांडक में क्षेत्र संख्यात द्वीप-समुद्र प्रमाण और काल संख्यात वर्ष प्रमाण है । तेरहवें कांडक, जो तेजस शरीरादिक द्रव्य की अपेक्षा पहले स्थान कहे थे, उनमें क्षेत्र असंख्यात द्वीपसमुद्र प्रमाण है और काल असंख्यात वर्ष प्रमाण है। परंतु इनमें इतना विशेष है कि तेरहवें से चौदहवें में असंख्यातगुणा क्षेत्र-काल है । ऐसे ही उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा क्षेत्र-काल जानना । पुनश्च उन्नीसवें अंतिम कांडक में द्रव्य तो कार्माणवर्गणा को ध्रुवहार का भाग दीजिये उसप्रमाण और क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश प्रमाण और काल एक समय कम एक पल्यप्रमाण है ।

कालविसेसेणवहिदखेत्तविसेसो धुवा हवे वड्ढी ।
अद्धुववड्ढी वि पुणो अविरुद्धं इट्ठकंडम्मि ।।४०८।।

कालविशेषेणावहितक्षेत्रविशेषो ध्रुवा भवेद्वृद्धिः ।
अध्रुववृद्धिरपि पुनः अविरुद्धा इष्टकांडे ।।४०८।।

टीका – विवक्षित कांडक के जघन्य क्षेत्र के प्रदेशों का प्रमाण, उसी कांडक के उत्कृष्ट क्षेत्र के प्रदेशों के प्रमाण में से घटानेपर जो प्रमाण रहता है, उसे क्षेत्रविशेष कहते हैं । तथा विवक्षित कांडक के जघन्य काल के समयों का प्रमाण, उसी कांडक के उत्कृष्ट काल के समयों के प्रमाण में से घटानेपर, अवशेष जो प्रमाण रहे, उसे कालविशेष कहते हैं । वहां क्षेत्रविशेष को कालविशेष का भाग देनेपर जो प्रमाण हो वही उस कांडक में ध्रुववृद्धि का प्रमाण जानना । सो प्रथम कांडक में ऐसे करनेपर घनांगुल को आवली का भाग देनेपर जो प्रमाण हो वह ध्रुववृद्धि का प्रमाण जानना।

सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण द्रव्य की अपेक्षा भेद होते हैं, तब क्षेत्र में एक प्रदेश बढ़ता है और आवली से भाजित घनांगुल प्रमाण प्रदेश बढ़ते हैं, तब काल में एक समय बढ़ता है । ऐसे प्रथम कांडक के अंत तक ध्रुववृद्धि से जितने समय बढ़े उनको जघन्य काल में मिलानेपर आवली के संख्यातवें भागप्रमाण उत्कृष्ट काल होता है । तथा जितने जघन्य क्षेत्र से प्रदेश बढ़े उतने जघन्य क्षेत्र में मिलानेपर घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण प्रथम कांडक का उत्कृष्ट क्षेत्र होता है । ऐसे ही सर्व कांडक में ध्रुववृद्धि के प्रमाण का साधन करना । विवक्षित कांडक में समान

प्रमाण युक्त प्रदेशों की वृद्धि होनेपर जहां समय की वृद्धि होती है, वहां ध्रुववृद्धि जाननी। तथा अध्रुववृद्धि भी यथायोग्य क्षेत्र-काल के अविरोध से साधनी ।

उसे कहते हैं -

अंगुलअसंखभागं संखं वा अंगुलं च तस्सेव ।
संखमसंखं एवं सेढीपदरस्स अद्धुवगे ।।४०९।।

अंगुलासंख्याभागः संख्यं वा अंगुलं तस्यैव ।
संख्यमसंख्यमेवं श्रेणीप्रतरयोरध्रुवगायाम् ।।४०९।।

टीका – अध्रुववृद्धि में पूर्वोक्त क्रम से घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण प्रदेश क्षेत्र में बढ़ते हैं तब काल में एक समय बढ़ता है; अथवा घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण प्रदेश क्षेत्र में बढ़ते हैं तब काल में एक समय बढ़ता है; अथवा घनांगुल प्रमाण अथवा संख्यात घनांगुल प्रमाण अथवा असंख्यात घनांगुल प्रमाण अथवा श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण अथवा श्रेणी के संख्यातवें भागप्रमाण अथवा श्रेणीप्रमाण अथवा संख्यात श्रेणीप्रमाण अथवा असंख्यात श्रेणीप्रमाण अथवा प्रतर के असंख्यातवें भागप्रमाण अथवा प्रतर के संख्यातवें भागप्रमाण अथवा प्रतरप्रमाण अथवा संख्यात प्रतरप्रमाण अथवा असंख्यात प्रतरप्रमाण प्रदेश क्षेत्र में बढ़ते हैं तब काल में एक समय बढ़ता है ऐसा अध्रुववृद्धि का अनुक्रम है । यहां कुछ नियम नहीं है कि इतने प्रदेश बढ़ने पर ही समय बढ़ता है, इसलिये इसका नाम अध्रुववृद्धि है ।

यहां इतना विशेष है कि जिस कांडक में जिस जिस प्रकार की वृद्धि होती है, उस उस प्रकार की ही अध्रुववृद्धि जाननी । जैसे प्रथम कांडक में घनांगुल के असंख्यातवें भाग वा घनांगुल के संख्यातवें भाग से ही अध्रुववृद्धि होती है । क्योंकि वहां उत्कृष्ट भेद में भी घनांगुल के संख्यातवें भागमात्र ही क्षेत्र है, तो वहां घनांगुलादि से वृद्धि कैसे हो सकती है ? पुनश्च अंतिम कांडक में घनांगुल के संख्यातवें (असंख्यातवें) भाग आदि संख्यात प्रतर तक सर्व प्रकार से अध्रुववृद्धि होती है । ऐसे ही अन्य कांडकों में यथासंभव अध्रुववृद्धि जाननी ।

कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं ।
उक्कस्सं खेत्तं पुण लोगो संपुण्णओ होदि ।।४१०।।

कार्मणवर्गणां ध्रुवहारेणैक वार भाजिते द्रव्यं ।
उत्कृष्टं क्षेत्रम् पुनः लोकः संपूर्णो भवति ।।४१०।।

टीका – कार्माणवर्गणा को एक बार ध्रुवहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणुओं के स्कंध को उत्कृष्ट देशावधि जानता है तथा क्षेत्र से सम्पूर्ण लोकाकाश को जानता है । लोकाकाश में जितने पूर्वोक्त स्कंध है और उनसे स्थूल हैं उन सब को जानता है ।

पल्ल समऊण काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु ।
दव्वस्स य पज्जाया वरदेसोहिस्स विसया हु ।।४११।।

पल्यं समयोनं काले भावेन असंख्यलोकमात्रा हि ।
द्रव्यस्य य पर्याया वरदेशावधेर्विषया हि ।।४११।।

टीका – देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट काल एक समय कम एक पल्य प्रमाण है । तथा भाव असंख्यातलोक प्रमाण है । सो यहां काल और भाव शब्द से उत्कृष्ट देशावधि के विषयभूत द्रव्य की पर्यायें जानना ।

भावार्थ – एक समय कम एक पल्य प्रमाण अतीत काल में जो अपने जानने योग्य द्रव्य की पर्यायें हुयी और उतने ही प्रमाण अनागत काल में अपने जाननेयोग्य द्रव्य की पर्यायें होंगी, उनको उत्कृष्ट देशावधिज्ञान जानता है । पुनश्च भाव से उन पर्यायों में से असंख्यातलोक प्रमाण पर्यायों को जानता है । इसतरह काल और भाव शब्द द्वारा द्रव्य की पर्यायें ग्रहण की । ऐसे ही अन्य भेदों में भी जहां काल और भाव का प्रमाण कहा है, वहां द्रव्य की पर्यायों का ग्रहण करना ।

पुनश्च यहां देशावधि के मध्यम भेदों में भाव का प्रमाण, आगे सूत्र कहेंगे उसके अनुसार जानना ।

काले चउण्ह उड्ढी कालो भजिदव्व खेत्तउड्ढी य ।
उड्ढीए दव्वपज्जय भजिदव्वा खेत्त काला हु ।।४१२।।

काले चतुर्णां वृद्धिः कालो भजितव्यः क्षेत्रवृद्धिश्च ।
वृद्ध्या द्रव्यपर्याययोः भजितव्यौ क्षेत्रकालौ हि ।।४१२।।

टीका – इस अवधिज्ञान की विशेषता में – जब काल की वृद्धि होती है तब तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों की ही वृद्धि होती है । पुनश्च जब क्षेत्र की वृद्धि होती है तब काल की वृद्धि भजनीय है अर्थात् वृद्धि होगी या नहीं भी होगी। पुनश्च जब द्रव्य की और भाव की वृद्धि होती है तब क्षेत्र की और काल की वृद्धि भजनीय है – होगी भी या न भी होगी । पुनश्च द्रव्य की और भाव की वृद्धि युगपत् होती है । यह सर्व कथन विचार युक्त ही है । इसप्रकार देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का प्रमाण कहा ।

आगे परमावधिज्ञान की प्ररूपणा करते हैं –

देसावहिवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे णियमा ।
परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिणदिट्ठं ।।४१३।।

देशावधिवरद्रव्यं ध्रुवहारेणावहिते भवेन्नियमात् ।
परमावधेरवरं द्रव्य प्रमाणं तु जिनदिष्टं ।।४१३।।

टीका – उत्कृष्ट देशावधिज्ञान के विषयभूत जो द्रव्य कहा, उसको एक बार ध्रुवहार का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उतने परमाणुओं के स्कंधरूप जघन्य परमावधिज्ञान का विषयभूत द्रव्य नियम से जिनदेव ने कहा है ।

अब परमावधि का उत्कृष्ट द्रव्य प्रमाण कहते हैं –

परमावहिस्स भेदा सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ ।
चरिमे हारपमाणं जेट्ठस्स य होदि दव्वं तु ।।४१४।।

परमावधेर्भेदाः स्वकावगाहनविकल्पाहततेजसः ।
चरमे हारप्रमाणं ज्येष्ठस्य च भवति द्रव्यं तु ।।४१४।।

टीका – अग्निकाय की अवगाहना के जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक जो भेदों का प्रमाण उससे अग्निकाय के जीवों के प्रमाण को गुणा करनेपर, जो प्रमाण हो, उतने परमावधिज्ञान के भेद हैं । वहां प्रथम भेद के द्रव्य को ध्रुवहार का भाग देनेपर दूसरे भेद का द्रव्य होता है । दूसरे भेद के द्रव्य को ध्रुवहार का भाग देनेपर तीसरे भेद का द्रव्य होता है । ऐसे अंतिम भेद तक जानना । अंतिम भेद में ध्रुवहारप्रमाण द्रव्य

है । ध्रुवहार का जो प्रमाण है उतने परमाणुओं के सूक्ष्म स्कंध को उत्कृष्ट परमावधिज्ञान जानता है ।

सव्वावहिस्सएक्को परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो ।
गंगामहाणइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो ।।४१५।।

सर्वावधेरेकः परमाणुर्भवति निर्विकल्पः सः ।
गंगामहानद्याः प्रवाह इव ध्रुवो भवेत् हारः ।।४१५।।

टीका – उत्कृष्ट परमावधिज्ञान का विषय ध्रुवहारप्रमाण, उसको ध्रुवहार ही का भाग दीजिये, तब एक परमाणुमात्र सर्वावधिज्ञान का विषय है । सर्वावधिज्ञान पुद्गल परमाणु को जानता है । यह ज्ञान निर्विकल्प है अर्थात् इसमें जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद नहीं है । पुनश्च जो वह ध्रुवहार कहा था, वह गंगा महानदी के प्रवाह के समान ही है । जैसे गंगा नदी का प्रवाह हिमाचल से निकलकर, विच्छेद रहित बहता हुआ पूर्व समुद्र को प्राप्त होकर रहता है, वैसे ध्रुवहार जघन्य देशावधि के विषयभूत द्रव्य से परमावधि के उत्कृष्ट भेद तक अवधिज्ञान के सर्व भेदों में प्राप्त होकर सर्वावधि के विषयभूत परमाणु तक आकर रहता है, क्योंकि सर्वावधिज्ञान भी निर्विकल्प है और इसका विषय परमाणु है, वह भी निर्विकल्प है ।

परमोहिदव्वभेदा जेत्तियमेत्त हु तेत्तिया होंति ।
तस्सेव खेत्तकाल वियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ।।४१६।।

परमावधिद्रव्यभेदा यावन्मात्रा हि तावन्मात्रा भवंति ।
तस्यैव क्षेत्रकाल विकल्पा विषया असंख्यगुणितक्रमाः ।।४१६।।

टीका – परमावधि के विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा जितने भेद कहे अर्थात् अग्निकाय की अवगाहना के भेदों के प्रमाण से अग्निकाय के जीवों के प्रमाण को गुणा करनेपर उतनेमात्र द्रव्य की अपेक्षा भेद कहे, इतनेमात्र ही परमावधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र की अपेक्षा और काल की अपेक्षा भेद हैं । जहां द्रव्य की अपेक्षा प्रथम भेद है वहां ही क्षेत्र-काल की अपेक्षा भी प्रथम भेद है, जहां द्रव्य की अपेक्षा दूसरा भेद है वहां क्षेत्र काल की अपेक्षा भी दूसरा ही भेद है । ऐसे अंतिम भेद तक जानना । जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक एक एक भेद में असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा

क्षेत्र और काल जानना ।

कैसा असंख्यातगुणा जानना ? वह कहते हैं –

आवलिअसंखभागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ ।
देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे ।।४१७।।

आवल्यसंख्यभागा इच्छितगच्छधनमानमात्राः ।
देशावधेः क्षेत्रे कालेऽपि च भवंति संवर्गे ।।४१७।।

टीका – परमावधिज्ञान के विवक्षित क्षेत्र के भेद में वा विवक्षित काल के भेद में जो उस भेद का संकलित धन हो, उतने आवली के असंख्यातवें भाग मांडकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह विवक्षित भेद में गुणकार जानना । इस गुणकार से देशावधिज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र को गुणा करनेपर परमावधि के विवक्षित भेद में क्षेत्र का प्रमाण होता है और देशावधिज्ञान के उत्कृष्ट काल को गुणा करनेपर, विवक्षित भेद में काल का प्रमाण होता है । संकलित धन किसे कहते हैं ?

जितनेवां भेद विवक्षित हो, वहां तक एक से लेकर एक एक अधिक अंक मांडकर, उन सब अंकों को जोड़नेपर जो प्रमाण होता है, उसे संकलित धन जानना। जैसे प्रथम भेद में एक ही अंक है । इसके पहले कोई अंक नहीं है । इसलिये प्रथम भेद में संकलित धन एक जानना । दूसरे भेद में एक और दो जोड़नेपर संकलित धन तीन हुआ । तीसरे भेद में एक, दो, तीन अंक जोड़नेपर संकलित धन छह हुआ । चौथे भेद में चार और जोड़नेपर संकलित धन दस हुआ । पांचवें भेद में पांच का अंक और जोड़नेपर संकलित धन पंद्रह हुआ । ऐसे सब भेदों में संकलित धन जानना । सो इस एक बार संकलित धन लाने का करणसूत्र पर्यायसमास श्रुतज्ञान का कथन करते समय कहा है, उससे संकलित धन का प्रमाण लाना । इस संकलित धन को गच्छधन वा पदधन इस नाम से भी कहते हैं ।

अब विवक्षित परमावधिज्ञान का पांचवां भेद, उसका संकलित धन पंद्रह, सो पंद्रह जगह आवली का असंख्यातवां भाग मांडकर परस्पर गुणा करने से जो प्रमाण होगा, वही पांचवें भेद में गुणकार जानना । इस गुणकार से उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र जो लोकाकाशप्रमाण है, उसको गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतना परमावधि के पांचवें

भेद के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण जानना । तथा इसी गुणकार से देशावधि के विषयभूत उत्कृष्ट काल, जो एक समय कम एक पल्य प्रमाण है, उसको गुणा करनेपर इस पांचवें भेद में काल का प्रमाण होता है । इसीतरह सब भेदों में क्षेत्र और काल का प्रमाण जानना ।

आगे संकलित धन का जो प्रमाण कहा था उसे अन्य प्रकार से कहते हैं-

गच्छसमा तक्कालियतीदे रूऊणगच्छधणमेत्ता ।
उभये वि य गच्छस्स य धणमेत्ता होंति गुणगारा ।।४१८।।

गच्छसमाः तात्कालिकातीते रूपोनगच्छधनमात्राः ।
उभयेऽपि च गच्छस्य च धनमात्रा भवंति गुणकाराः ।।४१८।।

टीका – जितनेवां भेद विवक्षित हो, उस प्रमाण को गच्छ कहते हैं । जैसे चौथा भेद विवक्षित हो तो गच्छ का प्रमाण चार कहते हैं । सो गच्छ के समान धन और गच्छ से तत्काल अतीत हुआ ऐसा विवक्षित भेद से पहला भेद, वहां विवक्षित गच्छ से एक कम का गच्छ धन अर्थात् संकलित धन, इन दोनों को मिलानेपर गच्छ का संकलित धन प्रमाण गुणकार होता है ।

यहां उदाहरण कहते हैं – जैसे विवक्षित भेद चौथा, सो गच्छ का प्रमाण भी चार, सो चार तो ये और तत्काल अतीत हुआ तीसरा भेद उसका संकलित धन छह इन दोनों को मिलानेपर दस हुये । वही दस विवक्षित गच्छ चार का संकलित धन है। वही चौथे भेद में गुणकार पूर्वोक्त प्रकार जानना। ऐसे ही सर्व भेदों में जानना।

परमावहिवरखेत्तेणवहिदउक्कस्सओहिखेत्तं तु ।
सव्वावहिगुणगारो काले वि असंखलोगो दु ।।४१९।।

परमावधिवरक्षेत्रेणावहितोत्कृष्टावधिक्षेत्रं तु ।
सर्वावधिगुणकारः कालेऽपि असंख्यलोकस्तु ।।४१९।।

टीका – उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं । द्विरूपघनाघनधारा में लोक और *(अग्निकायिक जीवों की)* गुणकारशलाका और वर्गशलाका और अर्धच्छेद शलाका और अग्निकाय के स्थिति का प्रमाण और अवधिज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण

ये स्थान क्रम से असंख्यात असंख्यात वर्गस्थान होनेपर उत्पन्न होते हैं । इसलिये पांच बार असंख्यात लोकप्रमाण प्रमाण से लोक को गुणा करने से जो प्रमाण होता है, उतना सर्वावधिज्ञान के विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है । इसे उत्कृष्ट परमावधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का भाग देनेपर जो प्रमाण होता है, वही सर्वावधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण लाने के लिये गुणकार होता है । इस गुणकार से परमावधि के विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र को गुणा करते हैं, तब सर्वावधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण होता है । पुनश्च काल प्रमाण लाने के लिये असंख्यातलोक प्रमाण गुणकार है । इस असंख्यातलोक प्रमाण गुणकार से उत्कृष्ट परमावधिज्ञान के विषयभूत काल को गुणा करते हैं, तब सर्वावधिज्ञान के विषयभूत काल का प्रमाण होता है ।

यहां कोई कहे कि रूपी पदार्थ तो लोकाकाश में ही पाये जाते हैं । यहां परमावधि-सर्वावधि में क्षेत्र का प्रमाण लोक से असंख्यातगुणा कैसे कहते हो ?

इसका समाधान पहले द्विरूपघनाघनधारा के कथन में कर आये हैं, उसे जानना। शक्ति अपेक्षा कथन जानना ।

अब परमावधिज्ञान के विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र का और उत्कृष्ट काल का प्रमाण लाने के लिये दो करणसूत्र कहते हैं -

इच्छिदरासिच्छेदं दिण्णच्छेदेहिं भाजिदे तत्थ ।
लद्धमिददिण्णरासीणब्भासे इच्छिदो रासी ।।४२०।।

इच्छितराशिच्छेदं देयच्छेदैर्भाजिते तत्र ।
लब्धमितदेयराशीनामभ्यासे इच्छितो राशिः ।।४२०।।

टीका - यह करणसूत्र है वह सर्वत्र संभवता है । इसका अर्थ दिखाते हैंह्न इच्छित राशि अर्थात् विवक्षित राशि का प्रमाण, उसके जितने अर्धच्छेद हो, उनको देयराशि के जितने अर्धच्छेद हो, उनका भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उसका विरलन कीजिये - एक एक जुदा स्थापिये । उस एक एक स्थान पर जिस देयराशि के अर्धच्छेदों का भाग दिया था, उसी देयराशि को मांडकर परस्पर गुणा कीजिये, तो विवक्षित राशि का प्रमाण होता है ।

प्रथम इसका उदाहरण लौकिक गणित द्वारा दिखाते हैं - इच्छित राशि दो सौ

छप्पन(२५६), इसके अर्धच्छेद आठ(८), देयराशि चौंसठ(६४) का चौथा भाग सोलह(१६), इसके अर्धच्छेद चार(४), कैसे ? भाज्य राशि चौंसठ उसके अर्धच्छेद छह, उसमें से भागहार चार के अर्धच्छेद दो घटानेपर अवशेष चार अर्धच्छेद रहे । *(भाज्य÷भागहार=लब्ध राशि; भाज्य के अर्धच्छेद-भागहार के अर्धच्छेद = लब्ध राशि के अर्धच्छेद ।)*

अब इन चार अर्धच्छेदों का भाग उन आठ अर्धच्छेदों को दीजिये, तब दो(२) आये । दो का विरलन करके (१,१) एक एक स्थान पर चौंसठ का चौथा भाग सोलह सोलह दिया, इसीलिये इसको देयराशि कहते हैं, सो इनका परस्पर गुणन किया तब विवक्षित राशि का प्रमाण दो सौ छप्पन हुआ ।

ऐसे ही अलौकिक गणित में विवक्षित राशि पल्यप्रमाण अथवा सूच्यंगुलप्रमाण अथवा जगत्श्रेणीप्रमाण अथवा लोकप्रमाण जो हो, उसके जितने अर्धच्छेद हो, उसको देयराशि जो आवली का असंख्यातवां भाग उसके अर्धच्छेदों का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है उसका विरलनकर - एक एक बिखेरकर, फिर एक एक स्थानपर एक एक आवली का असंख्यातवां भाग मांडकर परस्पर गुणा करते हैं, तब विवक्षित राशि पल्य वा सूच्यंगुल वा जगत्श्रेणी वा लोक प्रमाण होती है ।

दिण्णच्छेदेणवहिदलोगच्छेदेण पदधणे भजिदे ।
लद्धमिदलोगगुणणं परमावहिचरिमगुणगारो ।।४२१।।

देयच्छेदेनावहितलोकच्छेदेन पदधने भजिदे ।
लब्धमितलोकगुणनं परमावधिचरमगुणकारः ।।४२१।।

टीका - देयराशि के अर्धच्छेदों का भाग लोक के अर्धच्छेदों को देनेपर जो प्रमाण हो उसका विवक्षित पद के संकलित धन को भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उतने लोकमात्र प्रमाण मांडकर परस्पर गुणा करने से जो प्रमाण आता है, वह विवक्षित पद में क्षेत्र वा काल का गुणकार जानना । ऐसे ही परमावधि के अंतिम भेद में गुणकार जानना । यह कथन प्रथम अंकसंदृष्टि द्वारा दिखाते हैं ।

देयराशि चौंसठ का चौथा भाग, उसके अर्धच्छेद चार, उसका भाग दो सौ छप्पन के अर्धच्छेद आठ को देनेपर दो आये । उसका भाग विवक्षित स्थान तीसरा, उसका संकलित धन लाने के लिये पूर्वोक्त सूत्र से तीन, चार को दो, एक का भाग देनेपर

gH${bV YZ Nh, CgH$m XZna VrZ Am` ¡& gm VrZ OJh Xm gm NßnZ _mSH$a naña JUm H$aZ g Om à_mU hmVm h, dhr Vrga ñWmZ _ JUH$ma OmZZm¡& A~ `hm H$WZ h dh H$hV h -

X`am{e Amdbr H$m Ag»`mVdm ^mJ, CgH$s AYÀNXam{e Amdbr H$ AYÀNXm _ g ^mJhma^V Ag»`mV H$ AYÀNX KQmZna Om à_mU ahVm h CVZm OmZZm¡& gm Eg Bg X`am{e H$ AYÀNX g»`mV H$_ narVmg»`mV H$ _Ü` ^X à_mU hmV h ¡& CZH$m ^mJ bmH$à_mU H$ {OVZ AYÀNX hm CZH$m XZna Om à_mU Am`, CgH$m ^mJ {dd{j V Om H$mB na_md{YkmZ H$m ^X, CgH$ gH${bV YZ H$m XZna Om à_mU Am`, CVZ bmH$ _mSH$a naña JUm H$aZ g Om à_mU AmVm h dh Cg ^X _ JUH$ma OmZZm¡& Bg JUH$ma g Xemd{Y H$m CËH$îQ j Ì bmH$à_mU H$m JUm H$aZna Om à_mU hm dh Cg ^X _ j Ì H$m à_mU OmZZm¡&

nZü Bg JUH$ma g Xemd{Y H$m CËH$îQ H$mb EH$ g_` H$_ në`à_mU H$m JUm H$aZna Om à_mU hm, dh Cg ^X _ H$mb H$m à_mU OmZZm ¡& Eg hr na_md{Y H$ A{V_ ^X _ Amdbr H$ Ag»`mVd ^mJ H$ AYÀNXm H$m ^mJ bmH$ H$ AYÀNXm H$m XZna Om à_mU hm CgH$m, A{V_ ^X _ Om gH${bV YZ hm CgH$m ^mJ XZna Om à_mU Am`, CVZ bmH$ _mSH$a naña JUZ H$aZna Om à_mU AmVm h, dhr A{V_ ^X _ JUH$ma OmZZm ¡& `hm A{V_ ^X _ ndmo$ gH${bV YZ bmZ H$ H$aUgÌ H$ AZgma gH${bV YZ bmV h, V~ A{¾H$m{`H$ H$ AdJmhZm ^Xm g J{UV A{¾H$m{`H$ Ordm H$m à_mU _mÌ JÀN, gm EH$ A{YH$ JÀN Ama gånU JÀN H$m Xm, EH$ H$m ^mJ XZna Om à_mU hm, CVZm na_md{Y H$ A{V_ ^X _ gH$bZ YZ OmZZm ¡&

nZü Og Xm OJh gmbh gmbh _mSH$a naña JUm H$aZna Xm gm NßnZ hmV h, Vm Nh OJh gmbh gmbh _mSH$a naña JUm H$aZna {H$VZ Xm gm NßnZ hmJ ? Egm Ìam{eH$ H$aZna ngR hOma nmM gm NÎmrg à_mU Xm gm NßnZ hmJ¡& Eg hr "BpÀNXam{eÀNX' BË`m{X H$aUgÌ H$ AZgma Amdbr H$ Ag»`mVd ^mJ H$ AYÀNXm H$m bmH$ H$ AYÀNXm H$m ^mJ XZna Om à_mU hm, CVZ Amdbr H$ Ag»`mV ^mJ _mSH$a naña JUm H$aZ g EH$ bmH$ hmVm h, Vm `hm A{V_

भेद में संकलित धनप्रमाण आवली के असंख्यातवें भाग मांडकर परस्पर गुणा करनेपर कितने लोक होंगे ? ऐसा त्रैराशिक करना । वहां प्रमाणराशि में देयराशि आवली का असंख्यातवां भाग, विरलनराशि आवली के असंख्यातवें भाग के अर्धच्छेदों से भाजित लोक के अर्धच्छेदमात्र, फलराशि लोक, इच्छाराशि में देयराशि आवली का असंख्यातवां भाग, विरलनराशि अंतिम भेद का संकलन धनमात्र; यहां लब्धराशि का जितना प्रमाण आये उतने लोकप्रमाण प्रमाण होता है । वही अंतिम भेद में गुणकार जानना । इससे लोक को वा एक समय कम पल्य को गुणा करनेपर परमावधि के सर्वोत्कृष्ट क्षेत्र का और काल का प्रमाण होता है ।

पहले **'आवलि असंखभागा'** इत्यादि सूत्र से गुणकार का विधान कहा । तथा इस सूत्र में गुणकार का विधान कहा, इन दोनों का अभिप्राय एक ही है। जैसे अंकसंदृष्टि से पूर्व गाथा के अनुसार तीसरे भेद में संकलित धनप्रमाण छह जगह सोलह सोलह मांडकर परस्पर गुणा करेंगे, तो भी वही प्रमाण होता है । और इस गाथा के अनुसार तीन जगह दो सौ छप्पन मांडकर परस्पर गुणा करेंगे, तो भी वही प्रमाण होता है, ऐसे सर्वत्र जानना ।

आवलीअसंखभागा जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया ।
कालस्स जहण्णादो संखगुणहीणमेत्ता हु ।।४२२।।

आवल्यसंख्यभागा जघन्यद्रव्यस्य भवंति पर्यायाः ।
कालस्य जघन्यतः असंख्यगुणहीनमात्रा हि ।।४२२।।

टीका – जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य की पर्यायें *(यहां भाव की बात हो रही है)* आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । परंतु जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत काल का प्रमाण कहा है, उससे जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत भाव का प्रमाण असंख्यातगुणा हीन जानना ।

सव्वोहि त्ति य कमसो आवलिअसंखभागगुणिदकमा ।
दव्वाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ।।४२३।।

सर्वावधिरिति च क्रमशः आवल्यसंख्यभागगुणितक्रमाः ।
द्रव्यानां भावानां पदसंख्याः सदृशका भवंति ।।४२३।।

टीका – देशावधि के विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा जहां जघन्य भेद है, वहां ही द्रव्य के पर्यायरूप भाव की अपेक्षा आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण भाव को जाननेरूप जघन्य भेद होता है । पुनश्च जहां द्रव्य की अपेक्षा दूसरा भेद होता है, वहां ही भाव की अपेक्षा उस प्रथम भेद को आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उसप्रमाण भाव को जाननेरूप दूसरा भेद होता है। पुनश्च जहां द्रव्य की अपेक्षा तीसरा भेद होता है वहां ही भाव की अपेक्षा उस दूसरे भेद से आवली के असंख्यातवें भागगुणा तीसरा भेद होता है । इसी क्रम से सर्वावधि तक जानना । अवधिज्ञान के जितने भेद द्रव्य की अपेक्षा हैं, उतने ही भेद भाव की अपेक्षा हैं । जैसे द्रव्य की अपेक्षा पूर्व भेद संबंधी द्रव्य को ध्रुवहार का भाग देनेपर उत्तरभेद संबंधी द्रव्य होता है, वैसे भाव की अपेक्षा पूर्व भेद संबंधी भाव को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर उत्तर भेद संबंधी भाव होता है। इसलिये द्रव्य की अपेक्षा और भाव की अपेक्षा स्थानों की संख्या समान है ।

आगे नारक गति में अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं –

सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव ।
जाव य पढमे णिरये जोयणमेक्कं हवे पुण्णं ।।४२४।।

सप्तमक्षितौ क्रोशं क्रोशस्यार्धार्धं प्रवर्धते तावत् ।
यावच्च प्रथमे निरये योजनमेकं भवेत् पूर्णम् ।।४२४।।

टीका – सातवीं नरक पृथ्वी में अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र एक कोस है। पुनश्च आधा आधा कोस तब तक बढ़ता है, जब तक पहले नरक में सम्पूर्ण एक योजन होता है । इसप्रकार सातवें नरक में अवधिक्षेत्र एक कोस, छठवें में डेढ़ कोस, पांचवें में दो कोस, चौथे में अढ़ाई कोस, तीसरे में तीन कोस, दूसरे में साढ़े तीन कोस, पहले में चार कोस अर्थात् एक योजन जानना ।

आगे तिर्यंचगति, मनुष्यगति में कहते हैं –

तिरिये अवरं ओघो तेजोयंते य होदि उक्कस्सं ।
मणुए ओघं देवे जहाकमं सुणह वोच्छामि ।।४२५।।

तिरश्चि अवरमोघः तेजोंऽते च भवति उत्कृष्टं ।
मनुजे ओघं-देवे यथाक्रमं श्रृणुत वक्ष्यामि ।।४२५।।

टीका – तिर्यंच जीव में जघन्य देशावधिज्ञान होता है । पुनश्च इससे लेकर उत्कृष्टपने तेजसशरीर जिस देशावधि के भेद का विषय है, उस भेद तक सर्व सामान्य अवधिज्ञान के वर्णन में जो भेद कहे, वे सर्व होते हैं । पुनश्च मनुष्यगति में जघन्य देशावधि से सर्वावधि तक सामान्य अवधिज्ञान में जितने भेद कहे, उन सर्व भेदों युक्त अवधिज्ञान होता है ।

पुनश्च देवगति में जैसा अनुक्रम है उसे मैं कहता हूँ, तुम सुनो –

पणुवीसजोयणाइं दिवसंतं च य कुमारभोम्माणं ।
संखेज्जगुणं खेत्तं बहुगं कालं तु जोइसिगे ।।४२६।।

पंचविंशतियोजनानि दिवसांतं च च कुमारभौमयोः ।
संख्यातगुणं क्षेत्रं बहुकः कालस्तु ज्योतिष्के ।।४२६।।

टीका – भवनवासी और व्यंतर इनके अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र जघन्यपने तो पच्चीस योजन है और काल कुछ कम एक दिन प्रमाण है । ज्योतिषी देवों का क्षेत्र इस क्षेत्र से असंख्यातगुणा है और काल इस काल से बहुत है ।

असुराणमसंखेज्जा कोडीओ सेसजोइसंताणं ।
संखातीदसहस्सा उक्कस्सोहीण विसओ दु ।।४२७।।

असुराणामसंख्येयाः कोट्यः शेषज्योतिष्कांतानाम् ।
संख्यातीतसहस्रा उत्कृष्टावधीनां विषयस्तु ।।४२७।।

टीका – असुरकुमार जाति के भवनवासी देवों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र असंख्यात कोडि योजन प्रमाण है । पुनश्च अवशेष रहे नौ प्रकार के भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देव, उनके उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र असंख्यात सहस्र योजन प्रमाण है ।

असुराणमसंखेज्जा वस्सा पुण सेसजोइसंताणं ।
तस्संखेज्जदिभागं कालेण य होदि णियमेण ।।४२८।।

असुराणामसंख्येयानि वर्षाणि पुनः शेषज्योतिष्कांतानाम् ।
तत्संख्यातभागं कालेन च भवति नियमेन ।।४२८।।

टीका – असुरकुमार जाति के भवनवासियों के अवधि का काल की अपेक्षा उत्कृष्ट विषय असंख्यात वर्ष प्रमाण है । तथा इस काल के संख्यातवें भागमात्र अवशेष नौ प्रकार के भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी इनके अवधि के विषयभूत काल का उत्कृष्ट प्रमाण नियम से है ।

भवणतियाणमधोधो थोवं तिरियेण होदि बहुगं तु ।
उड्ढेण भवणवासी सुरगिरिसिहरो त्ति पस्संति ।।४२९।।

भवनत्रिकाणामधोऽधः स्तोकं तिरश्चां भवति बहुकं तु ।
ऊर्ध्वेन भवनवासिनः सुरगिरिशिखरांतं पश्यंति ।।४२९।।

टीका – भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी ये जो भवनत्रिक देव हैं उनके अधो अधो अर्थात् नीचे की दिशा के प्रति अवधि का विषयभूत क्षेत्र अल्प है। तथा तिर्यक् अर्थात् अपने स्थान के बराबर दिशाओं प्रति क्षेत्र *(आड़ा क्षेत्र)* बहुत है । पुनश्च भवनवासी अपने स्थान से ऊपर मेरुगिरि के शिखर तक अवधिदर्शन से देखते हैं ।

सक्कीसाणा पढमं बिदियं तु सणक्कुमारमाहिंदा ।
तदियं तु बम्हलांतव सुक्कसहस्सारया तुरियं ।।४३०।।

शक्रैशानाः प्रथमं द्वितीयं तु सनत्कुमारमाहेंद्राः ।
तृतीयं तु ब्रह्मलांतवाः शुक्रसहस्रारकाः तुरियम् ।।४३०।।

टीका – सौधर्म-ईशानवाले देव अवधि से प्रथम नरक पृथ्वी तक देखते हैं। सनत्कुमार –माहेन्द्रवाले देव दूसरी पृथ्वी तक देखते हैं । ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव-कापिष्ठवाले देव तीसरी पृथ्वी तक देखते हैं । शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रारवाले देव चौथी पृथ्वी तक देखते हैं ।

आणदपाणदवासी आरण तह अच्चुदा य पस्संति ।
पंचमखिदिपेरंतं छट्ठिं गेवेज्जगा देवा ।।४३१।।

आनतप्राणतवासिनः आरणास्तथा अच्युताश्च पश्यंति ।
पंचमक्षितिपर्यंतं षष्ठीं ग्रैवेयका देवाः ।।४३१।।

टीका – आनत-प्राणत के वासी *(निवासी)* तथा आरण-अच्युत के वासी देव पांचवीं पृथ्वी तक देखते हैं । पुनश्च नौ ग्रैवेयकवाले देव छठवीं पृथ्वी तक देखते हैं ।

सव्वं च लोयणालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा ।
सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च ।।४३२।।

सर्वां च लोकनालीं पश्यंति अनुत्तरेषु ये देवाः ।
स्वक्षेत्रे च स्वकर्मणि रूपगतमनंतभागं च ।।४३२।।

टीका – नौ अनुदिश विमान और पांच अनुत्तर विमान के वासी सर्व लोकनाली, जो त्रसनाली, उसको देखते हैं ।

भावार्थ – सौधर्मादिवासी देव ऊपर अपने अपने स्वर्ग के विमान के ध्वजदंड के शिखर तक देखते हैं । पुनश्च नौ अनुदिश, पांच अनुत्तर विमान के वासी देव ऊपर अपने विमान के शिखर तक और नीचे बाह्य तनुवात तक सर्व त्रसनाली को देखते हैं, सो अनुदिश विमानवाले तो कुछ अधिक तेरह राजू प्रमाण लम्बा और अनुत्तर विमानवाले के चार सौ पच्चीस धनुष्य कम इक्कीस योजन से हीन चौदह राजू लम्बे और एक राजू चौड़े अवधि के विषयभूत क्षेत्र को देखते हैं । ऐसा यहां क्षेत्र का प्रमाण कहा है वह स्थान का नियमरूप जानना । क्षेत्र के प्रमाण सहित नियमरूप न जानना । क्योंकि अच्युत स्वर्ग तक के वासी विहार करके अन्य क्षेत्र को जाते हैं और वहां अवधि हो तो पूर्वोक्त स्थान तक ही होता है । ऐसा नहीं है कि प्रथम स्वर्गवाला पहले नरक जाकर वहां से डेढ़ राजू और नीचे तक जाने । सौधर्मद्विक के प्रथम नरक तक अवधिक्षेत्र है, सो वहां जाकर भी वहां तक के क्षेत्र ही को जानते हैं, ऐसे सर्वत्र जानना । पुनश्च अपने क्षेत्र में से एक प्रदेश घटाना और अपने अवधिज्ञानावरण द्रव्य को एक बार ध्रुवहार का भाग देना, जहां सर्व प्रदेश समाप्त हो, वह उस अवधि का विषयभूत द्रव्य जानना ।

इसी अर्थ को नीचे दिखाते हैं –

कप्पसुराणं सगसगओहीखेत्तं विविस्ससोवचयं ।
ओहीदव्वपमाणं संठाविय धुवहरेण हरे ।।४३३।।

सगसगखेत्तपदेससलायपमाणं समप्पदे जाव ।
तत्थतणचरिमखंडं तत्थतणोहिस्स दव्वं तु ।।४३४।।

कल्पसुराणां स्वकस्वकावधिक्षेत्रं विविस्रसोपचयम् ।
अवधिद्रव्यप्रमाणं संस्थाप्य ध्रुवहरेण हरेत् ।।४३३।।

स्वकस्वकक्षेत्रप्रदेशशलाकाप्रमाणं समाप्यते यावत् ।
तत्रतनचरमखंडं तत्रतनावधेर्द्रव्यं तु ।।४३४।।

टीका – कल्पवासी देवों का अपना अपना अवधि क्षेत्र और विस्रसोपचय रहित अवधिज्ञानावरण का द्रव्य स्थापित करके अवधिज्ञानावरण द्रव्य को एक बार ध्रुवहार का भाग देकर क्षेत्र में से एक प्रदेश घटाना, ऐसे सर्व क्षेत्र के प्रदेश समाप्त होनेपर अंत में जो सूक्ष्म पुद्गलस्कंधरूप खंड हो, वही उस अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य जानना ।

यहां उदाहरण कहते हैं – सौधर्म ईशानवालों का क्षेत्र प्रथम नरक पर्यंत कहा है, सो प्रथम नरक से पहले-दूसरे स्वर्ग का उपरिम स्थान डेढ़ राजू ऊंचा है । इसलिये अवधि का क्षेत्र एक राजू लम्बा-चौड़ा, डेढ़ राजू ऊंचा हुआ । सो इस घनरूप डेढ़ राजू क्षेत्र के जितने प्रदेश हो, उन्हे एकत्र स्थापित करना । पुनश्च किंचित् कम डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सत्त्वरूप सब कर्मों के परमाणुओं का प्रमाण है । उनमें से अवधिज्ञानावरण नामक कर्म के जितने परमाणु हो, उनमें विस्रसोपचय के परमाणु नहीं मिलाना, ऐसे वे अवधिज्ञानावरण के परमाणु एकत्र स्थापित करना । पुनश्च इस अवधिज्ञानावरण के परमाणुओं के प्रमाण को एक बार ध्रुवहार का भाग दीजिये, तब उस क्षेत्र के प्रदेश के प्रमाण में से एक घटाना; पुनश्च एक बार ध्रुवहार का भाग देनेपर, एक भाग में जो प्रमाण आया, उसको दूसरे ध्रुवहार का भाग देना, तब उस प्रदेशों के प्रमाण में से एक और घटाना । पुनश्च दूसरे ध्रुवहार का भाग देनेपर एक भाग में जो प्रमाण रहा उसको तीसरे ध्रुवहार का भाग दीजिये, तब उस प्रदेशों के प्रमाण में से एक और घटाइये । ऐसे जहां तक सर्व क्षेत्र के प्रदेश पूर्ण हो, वहां तक ध्रुवहारका

भाग देते जाइये । देते देते अंत में जो प्रमाण रहे, उतने परमाणुओं का जो सूक्ष्म स्कंध है, उसको सौधर्म-ऐशान स्वर्गवाले देव अवधिज्ञान से जानते हैं। इससे स्थूल स्कंधों को तो जाने ही जाने ।

ऐसे ही सनत्कुमार-माहेन्द्रवालों के घनरूप चार राजूप्रमाण क्षेत्र के प्रदेशों का जो प्रमाण उतनी बार अवधिज्ञानावरण द्रव्य को ध्रुवहार का भाग देते देते जो प्रमाण रहे, उतने परमाणुओं के स्कंध को अवधिज्ञान से जानते हैं । ऐसे सभी के अवधि के विषयभूत क्षेत्र के प्रदेशों का जो प्रमाण हो, उतनी बार अवधिज्ञानावरण द्रव्य को ध्रुवहार का भाग देते देते जो प्रमाण रहे, उतने परमाणुओं के स्कंध को वे देव अवधिज्ञान से जानते हैं ।

वहां ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरवालों के साढ़े पांच राजू, लांतव-कापिष्ठवालों के छह राजू, शुक्र-महाशुक्रवालों के साढ़े सात राजू, शतार-सहस्रारवालों के आठ राजू, आनत-प्राणतवालों के साढ़े नौ राजू, आरण-अच्युतवालों के दस राजू, ग्रैवेयकवालों के ग्यारह राजू, अनुदिश विमानवालों के कुछ अधिक तेरह राजू, अनुत्तर विमानवालों के कुछ कम चौदह राजू क्षेत्र का प्रमाण जानकर, पूर्वोक्त विधान करनेपर, उन देवों के अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण आता है ।

सोहम्मीसाणाणमसंखेज्जाओ हु वस्सकोडीओ ।
उवरिमकप्पचउक्के पल्लासंखेज्जभागो दु ।।४३५।।

तत्तो लांतवकप्पप्पहुदी सव्वत्थसिद्धिपेरंतं ।
किंचूणपल्लमेत्तं कालपमाणं जहाजोग्गं ।।४३६।जुम्मं।।

सौधर्मैशानानामसंख्येया हि वर्षकोट्यः ।
उपरिमकल्पचतुष्के पल्यासंख्यातभागस्तु ।।४३५।।

ततो लांतवकल्पप्रभृतिसर्वार्थसिद्धिपर्यंतम् ।
किंचिदूनपल्यमात्रं कालप्रमाणं यथायोग्यम् ।।४३६।।

टीका – सौधर्म ईशानवालों के अवधि का विषयभूत काल असंख्यात कोडि वर्षप्रमाण है । उसके ऊपर सनत्कुमारादि चार स्वर्गवालों के यथायोग्य पल्य के असंख्यातवें

भागप्रमाण है । उसके ऊपर लांतव आदि सर्वार्थसिद्धिवालों तक के यथायोग्य कुछ कम पल्यप्रमाण है ।

जोइसियंताणोहीखेत्ता उत्ता ण होंति घणपदरा ।
कप्पसुराणं च पुणो विसरित्थं आयदं होदि ।।४३७।।

ज्योतिष्कांतानामवधिक्षेत्राणि उक्तानि न भवंति घनप्रतराणि ।
कल्पसुराणां च पुनः विसदृशमायतं भवति ।।४३७।।

टीका – ज्योतिषी पर्यंत जो भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी ऐसे तीन प्रकार के देव उनके जो अवधि का विषयभूत क्षेत्र कहा है, वह समचतुरस्र अर्थात् बराबर चौकोर घनरूप नहीं है । क्योंकि सूत्र में लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई समान नहीं कही है । इसी से अवशेष रहे मनुष्य, नारकी, तिर्यंच उनके जो अवधि का विषयभूत क्षेत्र है वह बराबर चौकोर घनरूप है । अवधिज्ञानी मनुष्य जहां स्थित है, वहां से अपने विषयभूत क्षेत्र के प्रमाण तक चौकोररूप घनक्षेत्र को जानता है । पुनश्च कल्पवासी देवों का जो अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र है, वह विसदृश आयत अर्थात् लम्बा बहुत, चौड़ा थोडा ऐसा आयत चतुरस्र जानना ।

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं ।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए ।।४३८।।

चिंतितमचिंतितं वा अर्ध चिंतितमनेकभेदगतम् ।
मनःपर्यय इत्युच्यते यज्जानाति तत्खलु नरलोके ।।४३८।।

टीका – **चिंतितं** अर्थात् अतीत काल में जिसका चिंतवन किया और **अचिंतितं** अर्थात् जिसका अनागत काल में चिंतवन करेगा और **अर्धचिंतितं** अर्थात् जो सम्पूर्ण चिंतवन हुआ नहीं, ऐसे जो अनेक भेदवाले अन्य जीव के मन में प्राप्त हुये अर्थ, उसको जो जाने, वह मनःपर्ययज्ञान है । **मनः** अर्थात् अन्य जीव के मन में चिंतवनरूप प्राप्त हुआ अर्थ, उसको पर्येति अर्थात् जाने, वह मनःपर्यय है, ऐसा कहते हैं । सो इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्यक्षेत्र में ही है, बाह्य नहीं है ।

पराये मन में स्थित जो अर्थ, उसे मन कहते हैं । उसको पर्येति अर्थात् जाने, वह मनःपर्यय जानना ।

मणपज्जवं च दुविहं उजुविउलमदि त्ति उजुमदी तिविहा ।
उजुमणवयणे काये गदत्थविसया त्ति णियमेण ।।४३९।।

मनःपर्ययश्च द्विविधः ऋजुविपुलमतीति ऋजुमतिस्त्रिविधा ।
ऋजुमनोवचने काये गतार्थविषया इति नियमेन ।।४३९।।

टीका – यह मनःपर्ययज्ञान सामान्यपने एक प्रकार का है तथापि भेद से दो प्रकार का है – ऋजुमति मनःपर्यय, विपुलमति मनःपर्यय ।

वहां सरलपने मन, वचन, काय द्वारा किया जो अर्थ, अन्य जीव के मन में चिंतवनरूप प्राप्त हुआ उसके जानने से उत्पन्न हुयी ऐसी **ऋज्वी** अर्थात् सरल है मति जिसकी, उसे ऋजुमति कहते हैं ।

पुनश्च सरल वा वक्र मन, वचन, काय द्वारा किया जो अर्थ, अन्य जीव के मन में चिंतवनरूप प्राप्त हुआ, उसके जानने से उत्पन्न हुयी या नहीं के बराबर उत्पन्न हुयी ऐसी विपुला अर्थात् कुटिल है मति जिसकी, उसे विपुलमति कहते हैं । ऐसे ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है ।

वहां ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान नियम से तीन प्रकार का है । ऋजुमन में प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला, ऋजुवचन में प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला, ऋजुकाय में प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला ऐसे ये तीन भेद हैं ।

विउलमदी वि य छद्धा उजुगाणुजुवयणकायचित्तगयं ।
अत्थं जाणदि जम्हा सद्दत्थगया हु ताणत्था ।।४४०।।

विपुलमतिरपि च षोढा ऋजुगानृजुवचनकायचित्तगतम् ।
अर्थं जानाति यस्मात् शब्दार्थगता हि तेषामर्थाः ।।४४०।।

टीका – विपुलमतिज्ञान भी छह प्रकार का है १) ऋजुमन को प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला, २) ऋजुवचन को प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला, ३) ऋजुकाय को प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला, ४) वक्रमन को प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला, ५) वक्रवचन को प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला, ६) वक्रकाय को प्राप्त हुये अर्थ को जाननेवाला । ये छह भेद हैं, क्योंकि सरल वा वक्र मन, वचन, काय को प्राप्त हुये

पदार्थ को जानता है ।

उन ऋजुमति विपुलमति ज्ञान के अर्थाः अर्थात् विषय हैं, वे शब्द को वा अर्थ को प्राप्त होनेपर प्रकट होते हैं । कैसे ? वह कहते हैं – कोई भी सरल मन से निष्पन्न होता हुआ त्रिकाल संबंधी पदार्थों का चिंतवन हुआ, वा सरल वचन से निष्पन्न होता हुआ उन्हें कहने लगा वा सरल काय से निष्पन्न होता हुआ उन्हें करने लगा पश्चात् भूलकर कालांतर में याद करने को समर्थ नहीं हुआ और आकर ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी को पूछने लगा अथवा याद करने के अभिप्राय को धारण कर मौन ही से खड़ा रहा, तो वहां ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान स्वयमेव सर्व को जानता है ।

वैसे ही सरल वा वक्र मन, वचन, काय से निष्पन्न होता हुआ त्रिकाल संबंधी पदार्थों का चिंतवन करने लगा, कहने लगा वा करने लगा । पश्चात् भूलकर कितने ही काल बाद याद करने को समर्थ न हुआ, आकर विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी के निकट पूछने लगा वा मौन से खड़ा रहा, वहां विपुलमति मनःपर्ययज्ञान सर्व को जानता है। ऐसा इनका स्वरूप जानना ।

तियकालविसयरूविं चिंतितं वट्टमाणजीवेण ।
उजुमदिणाणं जाणदि भूदभविस्सं च विउलमदी ।।४४१।।

त्रिकालविषयरूपि चिंतितं वर्तमानजीवेन ।
ऋजुमतिज्ञानं जानाति भूतभविष्यच्च विपुलमतिः ।।४४१।।

टीका – त्रिकालसंबंधी पुद्‌गल द्रव्य को वर्तमान काल में कोई जीव चिंतवन करता है, उस पुद्‌गल द्रव्य को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जानता है । पुनश्च त्रिकाल संबंधी पुद्‌गल द्रव्य को किसी जीव ने अतीत काल में चिंतवन किया था या वर्तमान काल में चिंतवन कर रहा है वा अनागत काल में चिंतवन करेगा ऐसे पुद्‌गल द्रव्य को विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है ।

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही ।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ।।४४२।।

सर्वांगांगसंभवचिह्नादुत्पद्यते यथावधिः ।
मनःपर्ययं च द्रव्यमनस्त उत्पद्यते नियमात् ।। ४४२ ।।

टीका – जैसे पहले कहा था, भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्व अंग से उपजता है और गुणप्रत्यय शंखादिक चिह्नों से उपजता है; तैसे मनःपर्ययज्ञान द्रव्यमन से उपजता है । नियम से अन्य अंगों के प्रदेशों में नहीं उपजता ।

हिदि होदि हु दव्वमणं, वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा ।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा ।।४४३।।

हृदि भवति हि द्रव्यमनः विकसिताष्टच्छदारविंदवत् ।
अंगोपांगोदयात् मनोवर्गणास्कंधतो नियमात् ।।४४३।।

टीका – वह द्रव्यमन हृदयस्थान में प्रफुल्लित आठ पांखुडी के कमल के आकार का, अंगोपांग नामकर्म के उदय से, तेइस जाति की पुद्गल वर्गणाओं में से मनोवर्गणा नामक स्कंधों से उत्पन्न होता है, ऐसा नियम है ।

णोइंदिय त्ति सण्णा तस्स हवे सेसइंदियाणं वा ।
वत्तत्ताभावादो मण मणपज्जं च तत्थ हवे ।।४४४।।

नोइंद्रियमिति संज्ञा तस्य भवेत् शेषेंद्रियाणां वा ।
व्यक्तत्वाभावात् मनो मनःपर्ययश्च तत्र भवेत् ।।४४४।।

टीका – उस मन का नोइन्द्रिय ऐसा नाम है । नो अर्थात् ईषत्, किंचित् मात्र इन्द्रिय है । जैसे स्पर्शनादि इन्द्रिय प्रकट हैं वैसे मन के प्रकटपना नहीं है । इसलिये मन का नोइन्द्रिय ऐसा नाम है । उस द्रव्यमन में मतिज्ञानरूप भावमन भी उपजता है और मनःपर्ययज्ञान भी उपजता है ।

मणपज्जवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं ।
एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु ।।४४५।।

मनःपर्ययश्च ज्ञानं सप्तसु विरतेषु सप्तर्धीनाम् ।
एकादियुतेषुभवेद्वर्धमानविशिष्टाचरणेषु ।।४४५।।

टीका – प्रमत्त आदि सात गुणस्थानों में *(छठवें से बारहवें तक)* १) बुद्धि २) तप, ३) वैक्रियिक, ४) औषध, ५) रस, ६) बल, ७) अक्षीण इन सात ऋद्धियों में से एक, दो आदि ऋद्धियों से संयुक्त तथा वर्धमान विशेषरूप चारित्र के धारी जो महामुनि, उनके मनःपर्ययज्ञान होता है, अन्यत्र नहीं ।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि ।
णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण ।।४४६।।

इंद्रियनोइंद्रिययोगादिमपेक्ष्य ऋजुमतिर्भवति ।
निरपेक्ष्य विपुलमतिः अवधिर्वा भवति नियमेन ।।४४६।।

टीका – ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है, वह अपने वा अन्य जीव के स्पर्शनादिक इन्द्रिय और नोइन्द्रिय–मन और मन, वचन, काय योग इनके सापेक्ष उपजता है । पुनश्च विपुलमति मनःपर्यय है, वह अवधिज्ञान की तरह उनकी अपेक्षा बिना ही नियम से उपजता है ।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि बिदिया हू ।
सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो दु ।।४४७।।

प्रतिपाती पुनः प्रथमः अप्रतिपाती हि भवति द्वितीयो हि ।
शुद्धः प्रथमो बोधः शुद्धतरो द्वितीयबोधस्तु ।।४४७।।

टीका – पहला ऋजुमति मनःपर्यय है, वह प्रतिपाती है । तथा दूसरा विपुलमति मनःपर्यय है, वह अप्रतिपाती है । जिसके विशुद्ध परिणामों की घटवारी होती है, उसे प्रतिपाती कहते हैं । जिसके विशुद्ध परिणामों की घटवारी नहीं होती, उसे अप्रतिपाती कहते हैं । ऋजुमति मनःपर्यय तो विशुद्ध है, क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों के क्षयोपशम से निर्मल हुआ है । तथा विपुलमति मनःपर्यय विशुद्धतर है क्योंकि अतिशय निर्मल हुआ है ।

परमणसि ट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय ।
पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा ।।४४८।।

परमनसि स्थितमर्थमीहामत्या ऋजुस्थितं लब्ध्वा ।
पश्चात् प्रत्यक्षेण च ऋजुमतिना जानीते नियमात् ।।४४८।।

टीका – पर जीव के मन में सरलपने चिंतवनरूप स्थित जो पदार्थ, उसे पहले तो ईहा नामक मतिज्ञान से प्राप्त होकर ऐसा विचार करता है कि अरे ! इस के मन में क्या है ? पश्चात् ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान से उस अर्थ को प्रत्यक्षपने से ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है, ऐसा नियम है ।

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं ।
ओहिं वा विउलमदी लहिऊण विजाणए पच्छा ।।४४९।।

चिंतितमचिंतितं वा अर्ध चिंतितमनेकभेदगतम् ।
अवधिर्वा विपुलमतिः लब्ध्वा विजानाति पश्चात् ।।४४९।।

टीका – अतीत काल में चिंतवन किया हुआ वा अनागत काल में जिसका चिंतवन होगा, ऐसा बिना चिंतित वा वर्तमान काल में कुछ आधासा चिंतित ऐसा दूसरे के मन में स्थित अनेक भेद सहित अर्थ उसको पहले प्राप्त होकर उसके मन में यह है ऐसा जानता है । पश्चात् अवधिज्ञान की तरह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान उस अर्थ को प्रत्यक्ष जानता है ।

दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि जीवलक्खियं रूवि ।
उजविउलमदी जाणदि अवरवरं मज्झिमं च तहा ।।४५०।।

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति जीवलक्षितं रूपि ।
ऋजुविपुलमती जानीतः अवरवरं मध्यमं च तथा ।।४५०।।

टीका – द्रव्य प्रति, क्षेत्र प्रति, काल प्रति वा भाव प्रति जीव द्वारा लक्षित अर्थात् चिंतवन किया हुआ जो रूपी पुद्गल द्रव्य वा पुद्गल के संबंध से युक्त संसारी जीव द्रव्य उसको जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से ऋजुमति वा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है ।

अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिणणसमयबद्धं तु ।
चक्खुंदियणिज्जिरण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ।।४५१।।

अवरं द्रव्यमौरालिकशरीरनिर्जीर्णसमयप्रबद्धं तु ।
चक्षुरिंद्रियनिर्जीर्णमुत्कृष्टमृजुमतेर्भवेत् ।।४५१।।

टीका – ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जघन्यपने से औदारिकशरीर के निर्जरारूप समयप्रबद्ध को जानता है । औदारिकशरीर में प्रति समय निर्जरा होती है, सो एक समय में औदारिकशरीर के जितने परमाणु निर्जरित होते हैं, उतने परमाणुओं के स्कंध को जघन्य ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जानता है । तथा उत्कृष्टपने से नेत्रइन्द्रिय की निर्जरामात्र द्रव्य को जानता है । वह कितना है ? औदारिकशरीर की अवगाहना संख्यात घनांगुल प्रमाण है । उसमें विस्रसोपचय सहित औदारिकशरीर के समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणु निर्जरारूप हुये तो नेत्रइन्द्रिय की अभ्यंतर निर्वृत्ति अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण है उसमें कितने परमाणु निर्जरारूप हुये, ऐसा त्रैराशिक करके जितने परमाणु आये, उतने परमाणुओं के स्कंध को उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जानता है ।

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं ।
खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ।।४५२।।

मनोद्रव्यवर्गणामनंतिमभागेन ऋजुगोत्कृष्टम् ।
खंडितमात्रं भवति हि विपुलमतेरवरं द्रव्यम् ।।४५२।।

टीका – पुनश्च तेइस जाति की पुद्गल वर्गणाओं में मनोवर्गणा के जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक जितने भेद हैं, उनको अनंत का भाग दीजिये, वहां जो एक भाग में प्रमाण हो, वह मनःपर्ययज्ञान के कथन में ध्रुवहार का प्रमाण जानना । सो ऋजुमति के उत्कृष्ट विषयभूत द्रव्य में जो प्रमाण कहा था, उसको इस ध्रुवहार से भाग देनेपर जो प्रमाण आये उतने परमाणुओं के स्कंध को जघन्य विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है।

अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं ।
धुवहारेणिगिवारं भजिदे बिदियं हवे दव्वं ।।४५३।।

अष्टानां कर्मणां समयप्रबद्धं विविस्रसोपचयम् ।
ध्रुवहारेणैकवारं भजिते द्वितीयं भवेत् द्रव्यम् ।।४५३।।

टीका – आठ कर्मों के समूहरूप जो समयप्रबद्ध का प्रमाण, उसमें विस्रसोपचय

के परमाणु नहीं मिलाना, उसको एक बार मनःपर्ययज्ञान संबंधी ध्रुवहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणुओं के स्कंध को विपुलमति मनःपर्यय का दूसरा भेदरूप ज्ञान जानता है ।

तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं ।
धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ।।४५४।।

तद्द्वितीयं कल्पानामसंख्येयानां च समयसंख्यासमम् ।
ध्रुवहारेणावहृते भवति हि उत्कृष्टकं द्रव्यम् ।।४५४।।

टीका – उस विपुलमति के दूसरे भेद संबंधी द्रव्य को उसी ध्रुवहार का भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उसको फिर से ध्रुवहार का भाग दीजिये । ऐसे असंख्यात कल्पकालों के जितने समय हैं, उतनी बार ध्रुवहार का भाग दीजिये, देते देते अंत में जो प्रमाण रहे, उतने परमाणुओं के स्कंध को उत्कृष्ट विपुलमतिज्ञान जानता है। ऐसे द्रव्य प्रति जघन्य उत्कृष्ट भेद कहे हैं ।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं ।
विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ।।४५५।।

गव्यूतिपृथक्त्वमवरमुत्कृष्टं भवति योजन पृथक्त्वम् ।
विपुलमतेश्च अवरं तस्य पृथक्त्वं वरं खलु नरलोकः ।।४५५।।

टीका – ऋजुमति का विषयभूत जघन्य क्षेत्र पृथक्त्व कोस प्रमाण है, वह दो, तीन कोसप्रमाण जानना । तथा उत्कृष्ट क्षेत्र पृथक्त्व योजन प्रमाण है, वह सात वा आठ योजनप्रमाण जानना । पुनश्च विपुलमति का विषयभूत जघन्य क्षेत्र पृथक्त्व योजन प्रमाण है, वह आठ वा नौ यौजनप्रमाण जानना, तथा उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्यलोक प्रमाण है ।

णरलोएत्ति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स ।
जह्मा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं ।।४५६।।

नरलोक इति च वचनं विष्कंभनियामकं न वृत्तस्य ।
यस्मात्तद्घनप्रतरं मनःपर्ययक्षेत्रमुद्दिष्टम् ।।४५६।।

टीका – यहां नरलोक ऐसा वचन कहा है, सो यहां मनुष्यलोक के विष्कंभ का जितना प्रमाण है, वह लेना । मनुष्यलोक तो गोल है और यह विपुलमति का विषयभूत क्षेत्र समचतुरस्र घनप्रतर अर्थात् समान चौकोर घनरूप प्रतर क्षेत्र कहा है; सो पैंतालीस लाख योजन लम्बा, उतना ही चौड़ा ऐसा प्रमाण जानना । यहां ऊंचाई थोडी है इसलिये घनप्रतर कहा है । क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य चारों कोणों में स्थित देव और तिर्यंच जीवों ने चिंतवन किये हुये पदार्थों को भी उत्कृष्ट विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है । ऐसे क्षेत्र प्रति जघन्य-उत्कृष्ट भेद कहे ।

दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं ।
अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ।।४५७।।

द्विकत्रिकभवा हि अवरं सप्ताष्टभवा भवंति उत्कृष्टम् ।
अष्टनवभवा हि अवरमसंख्येयं विपुलोत्कृष्टम् ।।४५७।।

टीका – ऋजुमति का काल की अपेक्षा विषय जघन्यपने अतीत-अनागतरूप दो, तीन भव हैं; उत्कृष्ट से सात, आठ भव हैं । तथा विपुलमति का विषय जघन्य आठ, नौ भव हैं, उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भागमात्र है । ऐसे अतीत, अनागत अपेक्षा काल के प्रति जघन्य उत्कृष्ट भेद कहे ।

आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं ।
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ।।४५८।।

आवल्यसंख्यभागमवरं च वरं च वरमसंख्यगुणम् ।
ततोऽसंख्यातगुणितमसंख्यलोकं च विपुलमतिः ।।४५८।।

टीका – ऋजुमति का विषयभूत भाव जघन्यपने आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण है । उत्कृष्टपने से भी आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण ही कहते हैं; तथापि जघन्य से असंख्यातगुणा है । पुनश्च विपुलमति का विषयभूत भाव जघन्यपने ऋजुमति के उत्कृष्ट से असंख्यातगुणा है । तथा उत्कृष्टपने असंख्यातलोकप्रमाण है । ऐसे भाव प्रति जघन्य-उत्कृष्ट भेद कहे ।

मज्झिमं दव्वं खेत्तं कालं भावं च मज्झिमं णाणं ।
जाणदि इदि मणपज्जवणाणं कहिदं समासेण ।।४५९।।

मध्यमद्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च मध्यमं ज्ञानम् ।
जानातीति मनःपर्ययज्ञानं कथितं समासेन ।।४५९।।

टीका – ऋजुमति और विपुलमति के जघन्य भेद और उत्कृष्ट भेद तो जघन्य वा उत्कृष्ट द्रव्य के क्षेत्र, काल, भावों को जानते हैं । और इन जघन्य और उत्कृष्ट के मध्यवर्ती जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनको ऋजुमति और विपुलमति के जो मध्य भेद हैं, वे जानते हैं । ऐसे मनःपर्ययज्ञान संक्षेप से कहा है ।

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्तसव्वभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं ।।४६०।।

संपूर्णं तु समग्रं केवलमसपत्नसर्वभावगतम् ।
लोकालोकवितिमिरं केवलज्ञानं मंतव्यम् ।।४६०।।

टीका – जीव द्रव्य के जो शक्तिरूप सर्व ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद थे वे सर्व व्यक्तरूप हुये, इसलिये सम्पूर्ण हैं । पुनश्च ज्ञानावरणीय और वीर्यांतराय नामक कर्म के सर्वथा नाश से जिसकी शक्ति रुकती नहीं वा निश्चल है इसलिये समग्र है। पुनश्च इन्द्रियों की सहायता से रहित है, इसलिये केवल है । पुनश्च प्रतिपक्षी चार घातिकर्म के नाश से अनुक्रम रहित सकल पदार्थों में प्राप्त हुआ है, इसलिये असपत्न है । पुनश्च लोकालोक में अज्ञान अंधकार रहित प्रकाशमान है । ऐसा अभेदरूप केवलज्ञान जानना ।

आगे ज्ञानमार्गणा में जीवों की संख्या कहते हैं –

चदुगदिमदिसुदबोहा पल्लासंखेज्जया हु मणपज्जा ।
संखेज्जा केवलिणो सिद्धादो होंति अदिरित्ता ।।४६१।।

चतुर्गतिमतिश्रुतबोधाः पल्यासंख्येया हि मनःपर्यायाः ।
संख्येयाः केवलिनः सिद्धात् भवंति अतिरिक्ता ।।४६१।।

टीका – चारों गति में मतिज्ञानी पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । श्रुतज्ञानी भी पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । मनःपर्ययज्ञानी मनुष्य संख्यात हैं। केवलज्ञानी सिद्धराशि में तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण मिलानेपर जो हो उस प्रमाण हैं । *(यहां मति, श्रुत आदि सम्यग्ज्ञानी जीवों की संख्या कही है।)*

ओहिरहिदा तिरिक्खा मदिणाणिअसंखभागगा मणुगा ।
संखेज्जा हु तदूणा मदिणाणी ओहिपरिमाणं ।।४६२।।

अवधिरहिताः तिर्यंचः मतिज्ञान्यसंख्यभागका मनुजाः ।
संख्येया हि तदूनाः मतिज्ञानिनः अवधिपरमाणम् ।।४६२।।

टीका – मतिज्ञानी जीवों की कही उसके असंख्यातवें भाग प्रमाण अवधिज्ञान रहित तिर्यंच हैं । अवधिज्ञान रहित मनुष्य संख्यात हैं । इन दोनों राशियों को मतिज्ञानी जीवों की जो संख्या कही थी उस में से घटानेपर जो अवशेष रहे, इतने चारों गति संबंधी अवधिज्ञानी जीव जानने ।

पल्लासंखघणंगुलहदसेढितिरिक्खगदिविभंगजुदा ।
णरसहिदा किंचूणा चदुगदिवेभंगपरिमाणं ।।४६३।।

पल्यासंख्यघनांगुलहतश्रेणितिर्यग्गतिविभंगयुताः ।
नरसहिताः किंचिदूनाः चतुर्गतिवैभंगपरिमाणम् ।।४६३।।

टीका – पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित घनांगुल से जगत्श्रेणी को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने तो तिर्यंच, संख्यात मनुष्य और घनांगुल के द्वितीयमूल से जगत्श्रेणी को गुणा करनेपर जो हो उतने नारकियों के प्रमाण में से सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों का प्रमाण घटानेपर अवशेष रहे नारकी तथा ज्योतिषी देवों के प्रमाण में भवनवासी, व्यंतर, वैमानिक देवों का प्रमाण मिलानेपर जो सामान्य देवराशि आती है उसमें से सम्यग्दृष्टि देवों का प्रमाण घटानेपर अवशेष रहे उतने देव, इन सब का जोड़ देनेपर जो प्रमाण आता है उतने चारों गति संबंधी विभंगज्ञानी जानने ।

सण्णाणरासिपंचयपरिहीणो सव्वजीवरासी हु ।
मदिसुदअण्णाणीणं पत्तेयं होदि परिमाणं ।।४६४।।

सज्ज्ञानराशिपंचकपरिहीनः सर्वजीवराशिर्हि ।
मतिश्रुताज्ञानिनां प्रत्येकं भवति परिमाणम् ।।४६४।।

टीका – सम्यग्ज्ञान पांच, उनसे संयुक्त जीवों का प्रमाण कुछ अधिक केवलज्ञानी जीवों के प्रमाणमात्र, उसे सर्व जीवराशि के प्रमाण में से घटानेपर जो अवशेष प्रमाण रहे उतने कुमतिज्ञानी जीव जानने तथा उतने ही कुश्रुतज्ञानी जीव जानने ।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक भाषा-टीका में जीवकाण्ड में प्ररूपित जो बीस प्ररूपणा उनमें से ज्ञानमार्गणा प्ररूपणा नामक बारहवां अधिकार पूर्ण हुआ ।।१२।।